सामयिक जीवन और साहित्य



डॉ० रामरतन भटनागर

साथी-प्रकाशन
सागर

प्रकाशक :

साथी प्रकाशन

महात्मा गाँधी मार्ग, सागर (म०प्र०)

प्रथम संस्करण :

जन्माष्टमी—१९६३ ई०

मुद्रक :

मनोज़ प्रिन्टिङ्ग प्रेस

के०३३/१६ भाट की गली वाराणसी-१

मूल्य सात रुपया

विज्ञप्ति

सामयिक लेखों, भाषणों, वार्त्ताओं, टिप्पणियों, पत्रों आदि रूप में मेरे इधर के स्फुट गद्य-लेखन का एक बड़ा अंश इन निबंधों के रूप में जा रहा है। ये निबंध विचार और भावनाओं के नए सूत्र खोजते हैं और दूर-दूर तक उनको लेकर चलते हैं। पता नहीं, इनकी सामयिकता में कितनी सर्वकालिकता है, परन्तु विचार, चिन्तन और स्वच्छंद मनःप्रवाह का खेल ही तो निबंध का कला-धर्म है। अतः सब कुछ, कुछ वैसा ही, कुछ बदल कर, निबंधनीय बन कर यहां आ गया है।

विषयानुसार वर्ग बना दिये हैं परन्तु ये वर्ग औपचारिक ही अधिक हैं क्योंकि सब जगह निबंधकार ने अपनी बात कहने की या स्वतंत्र बात कहने की छूट ले रखी है।

नयी पीढ़ी को इन निबंधों में कुछ विचारणीय या भावनीय मिलेगा, इस विश्वास के साथ।

हिन्दी विभाग,
सागर विश्वविद्यालय, सागर।
[श्रीकृष्ण जन्माष्टमी, १९६३]

रामरतन भटनागर

एक

भूमिका

निबंध : आधुनिक जीवन-चेतना का प्रतिनिधि साहित्य-रूप

साहित्य-जगत में निबंध के प्रवेश को ३५० वर्षों से अधिक समय हो गया है। बेकन और मॉन्टेन ने सोलहवीं शताब्दी के अंतिम वर्षों और सतरहवीं शताब्दी के आरंभ में गद्य-प्रयास या प्रयोग ('एसे') मात्र के रूप में जिस साहित्यिक विधा का आरंभ किया था वह आज व्यापकता, वैविध्य और प्रभाव के नाते किसी भी साहित्यिक कोटि से कम महत्वपूर्ण नहीं है परन्तु आश्चर्य का विषय यह है कि उसे विशुद्ध साहित्य के रूप में स्वीकार करने में अभी भी हमें संकोच बना है। निबंध अब प्रयोग मात्र नहीं है, वह स्वयंसिद्ध है। यह नहीं, लोकप्रियता में वह अन्य साहित्यकोटियों से स्पर्द्धा कर रहा है। प्रगीति, कहानी और एकांकी के साथ उसे स्पष्टतः रखा जा सकता है और जहां तक विस्तार, प्रक्रिया और प्रभाव का संबंध है, वह इनके बहुत निकट है, परन्तु आगे बढ़ कर वह उपन्यास के क्षेत्र को भी छूता है क्योंकि उसमें मानव-चरित्र और मानव-जीवन को अभिव्यंजित करने की क्षमता उपन्यास से कम नहीं है। बालज़ाक ने अपने उपन्यास-गुंफ 'द कॉमेडी ह्यूमेन' में मानव-चरित्र और जीवनस्थितियों को जिस बारीकी से परखा है वही बारीकी हमें मॉन्टेन के अनेक निबंधों में मिलती है। समाज-शास्त्रीय और मनोवैज्ञानिक गहराई में उतर कर ये निबंध अव्यक्तिगत सच्चाइयों को बड़ी जागरूकता से उभारते हैं। किसी एक निबंध में यह समस्त समारंभ नहीं समा सकेगा परन्तु श्रेष्ठ निबंधकार निबंध-शृंखला में बांध कर उतनी ही गंभीर जीवनदृष्टि चरितार्थ कर सकेगा। तात्पर्य यह है कि निबंध नगण्य वस्तु नहीं है। उसमें मानव-जीवन के गद्य ही नहीं, काव्य को भी वाणी देने की अपार क्षमता है। वह संपूर्णता से समग्र मनुष्य को सामने ला सकता है। उपन्यास, कहानी, नाटक और काव्य खण्ड मनुष्य ही हमें दे सकते हैं। परन्तु निबंध में सब कुछ के संबंध में सब कुछ कहा जा सकता

है। ऐसी लचीली, बहुबिधिक, आत्मिक और अभिव्यंजनात्मक साहित्यकोटि यदि आज पत्रकारिता से लेकर विशुद्ध साहित्य तक फैल गई है तो आश्चर्य ही क्या है? आश्चर्य की बात तो उसके संबंध में पण्डितों का हृदय-संकोच ही कहा जा सकता है। हमारी शिक्षा-संस्थाएँ उसके प्रति भय का भाव भरने में ही अपनी सार्थकता समझती हैं। कविता और कहानी के प्रति हम जिस साहित्यिक उत्साह का परिचय देते हैं, निबंध के प्रति उस तरह का उत्साह हम में नहीं जगता।

निबंध को परिभाषा में बांधने की अनेक चेष्टाएं हुई हैं परन्तु वे सब व्यर्थ गई हैं। एक ही बात निश्चित हुई है कि निबंध लघु-लेखन है। उसके लाघव को "नावक का तीर" माना गया है और इस दृष्टि से प्रगीति के पास रखा गया है। परन्तु क्या रवीन्द्रनाथ के निबंधों में यह लाघव है? क्या वे उत्कृष्ट कोटि की कलात्मक रचनाएं नहीं हैं? विषय के महाकाव्यात्मक और सामासिक विस्तार का अपूर्व सौन्दर्य क्या उनके निबंधों में प्रस्फुट नहीं है? आन्द्रे ज़ीद के "जर्नल" और "काल्पनिक भेंटों" से लेकर रवीन्द्रनाथ की "तपोवन" जैसी महाकृतियों तक हमें निबंध का विस्तार मिलेगा तो फिर उसकी केन्द्रीयता कहां रहेगी? यह कहा जाता है कि निबंध मन का स्वच्छंद प्रसार मात्र (loose sally of the mind) है। उसे अंतर्यात्रा भी कहा गया है परन्तु इस प्रकार के निबंधों को आत्मगत (व्यक्तिगत) अथवा कलात्मक निबंध की परिपाटी में बांधने का प्रयत्न हुआ है। मॉन्टेन के निबंध इसी श्रेणी की रचनाएं हैं परन्तु बेकन के निबंधों की अव्यक्तिगत, वैज्ञानिक और चिन्तनप्रधान भावगरिमा भी निबंध मानी गई। इस प्रकार निबंध विज्ञान और कला के दो ध्रुवों को अनायास ही छू लेता है और व्यक्तिगत से अव्यक्तिगत तक तथा आत्मनेपद से परस्मैपद तक उसका अपरिसीम विस्तार है। ऐसी स्थिति में आत्मगत-परगत या निर्बन्ध-परिबंध श्रेणियां बना कर हम संतोष कर लेते हैं।

परन्तु इस श्रेणी-विभाजन के पीछे हमारा आत्मसंकोच भी कम नहीं है क्योंकि हम आत्म-पर को दो विरोधी ध्रुव मान कर चलते हैं और निबंध की रचना

प्रक्रिया की मनोवैज्ञानिक भूमि को पूर्णतः स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हैं। पहला ध्रुव व्यक्तिगत और आत्मकथात्मक है जिसमें निबंधकार आत्म-विवृत्ति को प्रधानता देकर वस्तु-जगत को अपने व्यक्तित्व और अपनी अभि-रुचि के रंग में रँग कर देखता है। चार्ल्स लेम्ब के निबंध इसी कोटि की रचनाएं हैं। इस प्रकार के आत्मपरक निबंध की एक निम्न कोटि भी है जिसमें व्यक्तिगत कलाप्रवृत्तियों और अनुरंजनशील स्फुरणों की प्रधानता होती है। हिन्दी में पण्डित प्रतापनारायण मिश्र के निबंध इसी कोटि की रचनाएं कहे जा सकते हैं। इन निबंधों की प्रकृति प्रगीतात्मक है और उनमें निबंधकार का स्वालाप ही अधिक उभरता है। इनका आकर्षण यही है कि हम निबंधकार के भावजगत में प्रवेश कर उसके हृदय का अन्यतम स्पन्दन सुन सकते हैं। नैकट्य इन आत्मनेपदीय निबंधों का प्रमुख गुण कहा जा सकता है। निबंध का दूसरा ध्रुव परस्मैपदीय, वस्तुगत, तथ्यमूलक और विशेषीय है। इसमें वह सब सिमट जाता है जो निबंधकार के बाहर है और जिसे वह अपनी आंखों के एकदम सामने लाकर सूक्ष्म एवं अनुवीक्षणीय दृष्टि से देखता है। इसमें भाव की अपेक्षा वस्तु पर अधिक बल दिया जाता है। इस कोटि के निबंधों में जहां एक ओर मेकाले के वस्तुपरक, ऐतिहासिक अथवा जीवनीमूलक निबंध मिलते हैं वहां ऐसे भी निबंध हैं जो केवल परिचयात्मक अथवा सूचनात्मक हैं। इन निबंधों का एक श्रेष्ठ प्रकार आलोचनात्मक निबंध है परन्तु इस कोटि के निबंध भी पांडित्य के आडम्बर और शास्त्रीयता के बोझ से कलुषित हो सकते हैं। निबंध की तीसरी कोटि भावात्मक, विचारात्मक एवं सार्वभौमिक चिन्तन की कोटि है जो अव्यक्तिगत, निर्विशेष, मूलगत तथा दार्शनिक भावानुबंधों पर आश्रित है। अधिकांश निबंधकार इनमें से दो श्रेणियों की रचनाएं देने में समर्थ हैं परन्तु उनके स्फुट निबंधों में किसी एक ही शैली की प्रधानता रहती है। आत्मनेपदी निबंधकार विचारात्मक आत्मचरित्र के खण्ड हमें देते हैं और वार्त्ताओं एवं वर्णनों के भीतर से ही संसार को देखते हैं। व्यक्तित्व की खिड़की में से झांकने पर उन्हें जितना और जैसा दिखलाई देता है वही उनका प्रदेय रहता है। इसके विपरीत परपदीय निबंधकार आत्ममुखी नहीं होते, न चित्र में सीधा अपने को लाते हैं। उनकी दृष्टि किसी साहित्यिक,

राजनीतिक अथवा वैज्ञानिक विषय पर टिकी रहती है। वे तथ्यों का चयन करते हैं और उनके आधार पर निष्कर्ष निकालते हैं। तीसरी श्रेणी के निबंध-कार स्थापनाओं के संसार में विचरण करते हैं और न व्यक्तिगत भूमि पर उतरते हैं, न तथ्यों के फेर में पड़ते हैं। वे मकड़ी के भांति अपने चिन्तन का ही ताना-बाना बुनते हैं और उसे ही सूक्ष्म से सूक्ष्मतर बनाने में अपनी सामर्थ्य प्रकट करते हैं। तीनों प्रकार के निबंधों के अपने गुण-दोष हैं परन्तु श्रेष्ठतम निबंध वही हैं जिनमें निबंधकार तीनों शैलियों का सुविधाजनक ढंग से उपयोग करता है और व्यक्तिगत से अव्यक्तिगत तथा तथ्यगत से सूक्ष्मगत तक के तीनों सप्तकों पर एक ही सांस में दौड़ जाता है। वह एक साथ तीन जगतों में रहता है और निबंध के तीनों ध्रुवों में उसकी एक-सी गति होती है। परन्तु यह आवश्यक है कि उसकी कला मुक्त, अप्रयासी और अनायासी हो,—भावना और विचारणा का सामासिक उपयोग उसमें हो। इस दिशा में मॉन्टेन के निबंध आज भी आदर्श प्रस्तुत करते हैं। उनमें कला-चेतना से नियंत्रित अंतश्चेतना का मुक्त प्रवाह हमें मिलता है। निबंधकार कहीं-से-कहीं उड़ जाता है परन्तु अंत में वह आश्चर्यजनक रीति से सम पर आ जाता है और अपनी केन्द्रीय धारणा को विराट मानवीय अनुभूतियों एवं अनुभवों से सूक्ष्म रूप में जोड़ देता है। व्यापक उपपत्तियों को कथा, वार्त्ता, उपदेश और आत्मचरित्रात्मक जीवन-स्मृतियों से बांध कर वह सचमुच एक आश्चर्य-जगत की सृष्टि कर डालता है और सार्वभौमिक सत्य को कलात्मक ढंग से तथ्यमण्डित कर उसे ऋषिवाणी (इलहाम) से भी अधिक प्रभावशाली बना देता है। उसकी सूक्तियों में मानव-जीवन का सत्य ही नहीं, कलाकार का हृदय भी बोलता है। जीवन की गंभीरता को जीवन के व्यंग से बांध कर वह हमारी जीवनानुभूति को तलस्पर्शीय और नवपार्श्वीय बनाता है। वह तथ्यगती ही नहीं तथागती भी बन जाता है।

ऊपर जो कहा गया है उससे यह स्पष्ट है कि निबंध के संबंध में हमारी धारणा उपयोगितावाद से जकड़ी है। हम उसे कला का ऊँचा सिंहासन देने से डरते हैं। प्रगीतात्मक एकतानता से लेकर अंतश्चेतनामूलक स्वालाप (या प्रलाप ?) तक निबंध का प्रसार है। आकार की लघुता को भी

आज हम निबन्ध का पारिभाषिक सत्य नहीं मान सकते क्योंकि "लघु निबन्ध" ने जहां एक ओर इस लघुता को सूक्ति-बन्ध की सीमा तक पहुंचा दिया है, वहां इस सीमा के भीतर भी भाव-व्यंजना के अनेक चक्र चल सकते हैं। निबन्ध "जड़ की बात" से लेकर "बात की बात" तक फैल गया है और उसे बांधने वाले सूत्र निबन्धकार के व्यक्तित्व के सूत्र ही नहीं, शैली और विषय के भीतर चलने वाले अव्यक्तिगत कला और जीवन के सूत्र भी हैं। "कहनी-अनकहनी" से लेकर "इतस्ततः" तक सब कुछ निबन्ध की बाहुओं में सिमट आया है।

शैली की दृष्टि से निबंध कम महत्वपूर्ण नहीं है। इलियट ने काव्य में तीन आवाज़ों की कल्पना की है और एक चौथी आवाज़ की ओर भी इंगित किया है जो "एपिस्टल" [epistles] पत्र में मिलती है। ये चारों आवाज़ें हमें निबन्ध में मिल जाती हैं। निबन्धकार अपने से बातचीत करता है, या किसी एक निकटतम व्यक्ति से, या श्रोता-वर्ग से, या पात्रोन्मुख बन कर पात्रों के माध्यम से। इस प्रकार प्रगीत से लेकर नाटकीय एकालाप अथवा नाटक तक निबन्ध का शैलीगत प्रसार है। डॉ० हज़ारीप्रसाद द्विवेदी के "बसन्त फिर आ गया है" निबन्ध से लेकर बालमुकुन्द गुप्त के "शिवशंभु के चिठ्ठे" तक निबन्ध काव्य की सारी भूमियां अपना लेता है। कहा जा सकता है कि आज निबन्ध कविता का स्थान ग्रहण करता जा रहा है और वह धीरे-धीरे अन्य साहित्य-कोटियों को क्षेत्र से हटा रहा हे। गद्य-काव्य से काव्यगद्य तक निबन्ध का "सरगम" है। "लिरिक" के लिए इलियट ने "मेडीटेटिव पोएटरी" (meditative poetry) नाम हमें देना चाहा है। वास्तव में इलियट की प्रगीत-सम्बन्धी विचारणा आधुनिक निबन्ध पर अधिक लागू होती है और हम उसे उचित अर्थों में "मेडीटेटिव प्रोज़" कह सकते हैं। हो सकता है उसकी रचना-प्रक्रिया में अव्यक्त को व्यक्त करने और अरूप को रूप में ढालने की वह रहस्यमयता नहीं है जो इलियट द्वारा संदर्भित (Gottfried Benn) के निबन्ध (problem der lyric) प्रगीत की समस्या में मिलती है और जिसमें भाव सर्जना के साथ रूप में ढलता चलता

है, परन्तु बहुत मात्रा में प्रक्रिया वही है और प्रगीत-रचना के निकट है, यह विवादीय नहीं है। श्रेष्ठतम निबन्ध में "न कुछ" "होने की" पीड़ा पंक्ति-पंक्ति में बोलती है और "मैं" ही खुल कर सर्जना के आनन्द में मूर्तिमान हो जाता है।

निबन्ध चाहे आत्मगत हो या विषयगत या बोधगत (एब्सट्रेक्ट), उसमें निबन्धकार के अहम् का विसर्जन या प्रकाशन ही अंतिम ध्येय रहता है। ये दोनों प्रक्रियाएँ एक ही सिक्के के दो पहलू हैं, अतः कतिपय निबन्धों में उन्हें साथ-साथ भी देखा जा सकता है। उत्कृष्टतम आत्मचिन्तन और व्यापकतम निष्कर्षों को एक साथ झेलने की प्रतिभा कम साहित्यकोटियों में है। इसीलिए निबन्ध की आदर्श शैली में गुरु-गम्भीरता और हास्य-विनोद की आंखमिचौली चला करती है। जीवन की वास्तविक और दुःखांतकीय अनुभूति यदि त्रासकी का विषय है तो उसकी सूक्ष्म और आनंदनीय अनुभूति निबन्धों का। सच तो यह है कि निबन्ध जीवन के संदर्भ में ही महार्घ बनता है और उसमें हमारी जीवनानुभूति को प्रसार, परिष्कार और गहराई देने की अद्भुत क्षमता है। आवश्यकता है कि हम निबन्ध को स्वतंत्र और महत्वपूर्ण कलाकोटि के रूप में ग्रहण करें और कवि, नाटककार अथवा उपन्यासकार की तरह निबंधकार भी हमारी निःसंकोच अभिवेदना का विषय हो। गद्य के प्रसार और उसके उत्तरोत्तर अधिक महत्व स्थापन के साथ निबन्ध अन्य साहित्य-कोटियों की अपेक्षा अधिक लोकप्रिय होगा और उसमें कलात्मक संभावनाओं की अभिवृद्धि होगी, यह निःसन्देह कहा जा सकता है। उसे आधुनिक जीवन चेतना का प्रतिनिधि साहित्य-रूप मान कर ही हम उसके प्रति न्याय कर सकेंगे।

दो

सामयिक जीवन और साहित्य

जीवन की प्रवाहमयता में सामयिकता का क्या अर्थ होता है और साहित्य में वह किस प्रकार, कितनी और कहाँ प्रतिफलित होती है, यह जानना सरल काम नहीं है। सामयिक जीवन अधिक-से-अधिक एक पीढ़ी का जीवन होगा परन्तु उसकी सामयिकता विवेचनीय क्षण को लेकर होगी क्योंकि हम उसे गतिशीलता में ही देख सकेंगे। एक पीढ़ी का अंतर देकर ही हम उसका सम्यक् मूल्यांकन कर सकते हैं। परन्तु काल किसी के भी मूल्यांकन के लिए बैठा नहीं रहता। वह ज्वार की तरह आता है और भाटे की तरह तट पर घोंघे, सीप और मोती छोड़ता हुआ सुदूर अनन्त में विलीन हो जाता है। जो काल के अश्व पर सवार है वह किसी भी वस्तु पर देर तक अपनी दृष्टि टिका ही नहीं सकता। साहित्य और कला काल-प्रवाह के निरंतर वेग से उद्वेलित होते रहते हैं और अनेक आन्दोलनों, अंतर्विरोधों, प्रयोगों तथा असफलताओं के भीतर से उनका स्वरूप बदलता चलता है। बदलने की इस प्रक्रिया में ही उनकी सामयिकता है।

आज के परिवेश में सामयिकता का अर्थ विज्ञान, राजनीति, अर्थशास्त्र, धर्म और दर्शन के क्षेत्रों की वे नई हलचलें हैं जो हमारी चेतना पर क्षण-क्षण आघात करती हैं और उसे भीतर से बदलने के लिए प्रयत्नशील हैं। विज्ञान प्राविधिक ज्ञान के द्वारा हमारे भौतिक परिवेश को आश्चर्यजनक गति से बदल रहा है। उसके साथ हमारी अंतःप्रकृति ने हारी होड़ लगा दी है क्योंकि हमारी अंतश्चेतना काल की दौड़ में पीछे रह जाती है। प्राकृतिक परिवेश का स्थान मनुष्य निर्मित परिवेश ने ले लिया है। हम उसी में जन्म लेते, जीते और मरते हैं। प्रकृति से बलात् छीन कर हमने विकास के सूत्र अपने हाथ में ले लिये हैं यद्यपि सूत्रधार बनने की क्षमता हम में नहीं है। अपने क्षितिज को नीहारिकाओं तक फैला कर भी हम राग-द्वेष, स्वप्न और धिक्कार में रँगे

हुए हैं। फलतः हम सापेक्ष सत्य ही पा सकते हैं। ऋत्‌चित्ती चेतना ही हमें निरपेक्ष सत्य दे सकती है, परन्तु हम ऋषि नहीं हैं। हमारा स्रष्टा का दंभ खोखला है।

स्वप्न और सत्य में हम कैसे पटरी बिठाएँ ? सामयिक जीवन की राग-रंजित तात्कालिकता को क्षणवादी चेतना से मुक्त कर हम उसे राग-विराग से परे के शाश्वत जीवन-बिन्दु पर कैसे स्थापित करें ? सामयिकता में जिसे जीना है वह प्रथित जीवन-दर्शन की बैसाखी लेकर कैसे चल सकता है ? उसे तो घर-फूंक मस्ती की लुकाठी चाहिये।

परन्तु क्या हम काल की वास्तविकता की ओर से आँखें मूंद सकते हैं ? क्या आज की सर्वग्रासी राजनीति और उसकी वज्रमुष्टि में बँधे आणविक विज्ञान के आतंक से हम मुक्त हो सकेंगे ? क्या हम फिर प्रकृति की सहकारिता और तादात्मिकता पर लौट सकते हैं ? क्या हमारी भाषा और कला हमारी चेतना के विस्फोट को वहन कर सकती है। मेलार्मे की तरह हम अपनी चेतना की दरारों में से झाँक कर पार के सत्य की झाँकी लें या सार्त्र की तरह अवसाद और उत्पीड़न को ही जीवन-धर्म मान कर छुरे की धार पर चलते रहें ?

सामयिक जीवन को अस्वीकार करना कछुआ-धर्म हो सकता है तो उसका स्वीकार हमें अतिसंवेदित, संशयग्रस्त और क्षण-क्षण उद्वेलित बना सकता है। परन्तु इन दोनों के बीच में कोई मध्यम मार्ग कहां है ? ऐसे कितने हैं जो गाँधी जी की तरह काल के स्तंभन में समर्थ हों ? सामान्य जन तो बीत रहे क्षण को ही ओढ़-बिछा सकता है। वह विवर्त्त में है। व्यतीत में उसकी सार्थकता नहीं है, न भविष्य में। इसीलिए सामयिक जीवन को, जितना बन सके, बाहुओं में भरना होगा और उसे अंतर का प्यार देकर जीने-योग्य ही नहीं, रमणीय भी बनाना होगा। साहित्य और कला हमारे इस प्रयत्न के ही फल हैं। उन्हीं के भीतर से युगधर्म और नया दर्शन झांकेंगे।

सामयिक जीवन के निर्माण के तत्व क्या हैं ? कौन-से उपसर्ग हैं जिनमें मानव-चेतना प्रति युग में उद्‌घाटित होती है ? विज्ञान, कला और साहित्य, शिक्षा

और संस्कृति, राजनीति और समाजनीति, धर्म और दर्शन। इनके द्वारा ही हम परंपरा को प्रयोग से जोड़ते हैं और नए जीवन का मार्ग प्रशस्त करते हैं। परंपरा इतिहास-चेतना है जो हमारे अर्जित व्यक्तित्व का प्रमुख अंग हैं। उससे स्वतंत्र और सर्जनात्मक बनने का ही प्रयत्न प्रयोग है। परंपरा और प्रयोग मिल कर ही किसी युग के जीवन का दो-तल्ला घर बनाते हैं। इस घर के विभिन्न कक्षों में आने-जाने की जितना सुविधा होगी और बाहर के संसार में झांकने के लिए जितने खिड़कियाँ-दरवाज़े होंगे वे ही हमारी अंतर्दृष्टि की संपन्नता के साधन होंगे। भारतवर्ष जैसे सहस्रों वर्षों की अनेक परंपराओं को लेकर चलने वाले देश का या अर्थ कई-मंज़िलों-उठे सांस्कृतिक भवन के भीतर रहना है। सब के लिए सब मंज़िलों पर पहुँचना चाहे कठिन हो परन्तु जितने भी जन पहुँच सकें उतना ही हमारा सामयिक जीवन इतिहासनिष्ठ और समृद्ध होगा। आज हमारे इस विशाल सांस्कृतिक प्रासाद में अनेक नए कक्ष जुड़े हैं। सब से नया कक्ष मनोविश्लेषण-शास्त्र और सामाजिक मनोविज्ञान का है। परन्तु विज्ञान, मानव-शास्त्र, प्राविधिक ज्ञान (टेक्नॉलॉजी), भाषा-विज्ञान आदि कक्ष भी अपेक्षाकृत नए कक्ष ही हैं। उनका ढाँचा पश्चिमी है और अभी उन पर हम नक्काशी और पच्चीकारी का वैसा सुन्दर काम नहीं कर सके हैं जैसा पुरानी पीढ़ियों के कक्षों में कर सके थे। कालांतर में हम पश्चिमी ढाँचे को भारतीय जीवन-चिन्ता और कला-चेतना का सौन्दर्य भी देंगे और इस प्रकार पश्चिम की उपलब्धि हमारे घर की चीज़ बन जायेगी। आवश्यकता इस बात की है कि हम सामयिक जीवन के इन नए उपकरणों को सम्यक् रूप से समझें और उन्हें अपनी जिज्ञासा का ही नहीं, अंतरंगी तप और प्रेम का विषय भी बनाएँ। सामयिक को शाश्वत के अंचल में बाँधने का प्रयत्न हमारी जीवन-चेतना का प्रमाण ही होगा।

साहित्य हमारे इस प्रयत्न का एक महत्वपूर्ण माध्यम है। उसमें परंपरा मूल-बद्ध है क्योंकि वह शब्दों का उपयोग करता है जो पुरानी पीढ़ियों से आते हैं और अपने साथ पुराने संवेदन, सुख-दुख, जय-पराजय लाते हैं। नए शब्द भी जुड़ते हैं जो नए जीवन के प्रतीक ही नहीं, प्रमाण भी होते हैं। इस प्रकार शब्दों के भीतर से हम परंपरा को नूतन से और अपरा को परा से जोड़ते हैं। नए शब्द, नए छंद, नए प्रतीक, नए साहित्य-रूप हमारी जीवन की नई पह-

चान के स्मरण-चिह्न हैं। उन्हीं को लेकर हमारा चिन्तन प्रौढ़ बनता है और हमारी संवेदनाएँ प्रामाणिकता की छाप से मुद्रित होती है। भाषा मनुष्य-कृत है परन्तु हम उसी के माध्यम से संसार को देख पाते हैं। प्रत्येक देश, युग और कृतिकार का अपना जगत होता है। फलतः न हम एक ही जगत में रहते हैं, न हम एक ही चीज़ देखते हैं। जीवन की गतिविधि में जिस तीव्रता से परिवर्त्तन होता है उसी गति से हमारे दृष्टिकोण में परिवर्त्तन नहीं हो पाता क्योंकि हम बहुत बड़ी संख्या में पुराने शब्दों का ही उपयोग करते रहते हैं जिसका अर्थ है अतीत में जीना। सामयिक जीवन में जीना उसी समय संभव है जब हम नए शब्दों, बिंबों, संवेदनाओं तथा आकांक्षाओं के माध्यम से उसे जियें। वस्तुतः किसी भी युग में जो चीज़ महत्वपूर्ण होती है वह जीने की विशिष्टता, उसकी प्रकृति तथा तरतमता है। सामयिक जीवन की इस जीवन-प्रक्रिया को काव्य, कला और साहित्य परवर्त्ती युगों के लिए सुरक्षित रखते हैं। यद्यपि यह सत्य है कि साहित्यिक वर्त्तमान में अनेक शताब्दियों का विस्तार समाहित रहता है परन्तु समसामयिक युग का उसके भीतर अंतर्भुक्त होना अनिवार्य बात है।

यूरोप-अमरीका के नए अर्थात् सामयिक जीवन को एज़रा पाउन्ड, इलियट, चार्ल्स मेज, डी० एच० लारेन्स, जेम्स ज्वॉइस, ऑडन, एम्पसन, प्रॉउस्त, रिल्के, मायकोब्स्की, लुई आरागां और पाल एलुअर्ड जैसे प्रतिभावान कवियों-लेखकों तथा पिकासो जैसे महान कलाकारों द्वारा अभिव्यक्ति मिली है। इलियट के "वेस्ट लेण्ड" (१९२२) में इंग्लैण्ड के जिस सामयिक जीवन की नागर-औद्योगिक संस्कृति के शब्दों एवं प्रतीकों के द्वारा अभिव्यक्त करने का प्रयत्न किया है वह आज चालीस वर्षों बाद संसार की सभी राजधानियों का सामयिक जीवन बन गया है। एक प्रकार से आज हम सच्चे अर्थों में "समसामयिक" हैं क्योंकि हम एक ही वैज्ञानिक-प्राविधिक-औद्योगिक-नागरिक नैरंतर्य में जीते हैं, चाहे हम पूर्व में हों या पश्चिम में। हमारे जीने का एक बड़ा अंश मूल्यगत नहीं, वस्तुगत है। जीवन की त्वरा जीने के लिए अवकाश ही नहीं छोड़ती। एक लहर के बाद दूसरी लहर हमारे ऊपर से निकल जाती है और इन लहरों के गिनने का अवकाश भी हमारे पास नहीं है। ऐसी स्थिति में काव्य, कला और साहित्य से यह आशा करना व्यर्थ है कि वह सामयिक

जीवन का सच्चा चित्र हमें देंगे और उनमें हम प्रवहमान जीवन का सब कुछ संपुटित कर सकेंगे। "नयी कविता" ने क्षणवादी चेतना को पकड़ने का प्रयत्न किया है परन्तु कितने "क्षण" उसमें बँध सके हैं। गतिधर्मी वर्त्तमान का आलेखन नवलेखन का धर्म हो गया है परन्तु वह अभी मर्म नहीं बन पाया है। इमेजिज़्म, सुररियलिज़्म, न्यो-रोमान्टिज़्म, एक्सिसटेन्श्यलिज़्म, सिम्बॉलिज़्म, क्यूबिज़्म आदि अनेकानेक पश्चिमी "वाद" सामयिक जीवन की रेत को मुठ्ठी में बंद करने का असफल प्रयत्न मात्र हैं। फ्रॉयड और फ्रेज़र ने हमें जो दिया था वह भी पीछे पड़ता जा रहा है और कवि तथा कलाकार से आशा की जाती है कि वह हमें नूतनतम, एकदम "तत्ता" संवेदन दे। उन्नीसवीं शताब्दी के रोमांटिक कवि अपनी एकदम निजी संवेदना को नितांत व्यक्तिगत अनुभूति की भाषा में बाँधते थे, परन्तु आज फ्रायड के मनोविश्लेषण ने इस भ्रम को चकनाचूर कर दिया है कि हम अपने को जानते हैं या सामान्यता अथवा प्रेषणीयता हमें परस्पर जोड़ भी सकती है। हमारा अंतर्मन विघटित, वैचित्र्यमय और महाशून्य की तरह कल्पनातीत बन कर अबूझा रह गया है। अवचेतन के दुर्ग्राह्य को पकड़ने के आग्रह में हम प्रतिदिन अधिक रहस्यमय होते जा रहे हैं।

इस भूमिका पर सामयिक बनने की मजबूरी हमारे सामने है। आवश्यकता इस बात की है कि हम विज्ञान, कला, साहित्य, शिक्षा, संस्कृति, धर्म, दर्शन, राजनीति और समाजनीति आदि अनेक जीवनदृष्टियों को एक बिन्दु पर लाने की चेष्टा करें और चेतन मन के संबंध में अपनी खोई हुई आस्था को फिर एक बार टटोलें। मनुष्य के व्यक्तित्व को खण्डित कर हमने कितना बड़ा सत्य पाया है, यह कहना कठिन है क्योंकि सत्य सामग्रिक, अखण्ड और शाश्वत-धर्मी ही हो सकता है। बुद्धि ने हमें खंडित किया है, श्रद्धा हमें जोड़ेगी परन्तु वह कहीं बाहर से नहीं, हमारे भीतर से ही जन्म लेगी। हम श्रद्धावान और एकनिष्ठ होकर अपने खण्डित ज्ञान-निकायों के बीच मे सेतुबंध तैयार करें और कहे की दरारों में से अकहे की ओर झांकें। "योग: कर्मसु कौशलम्"। हमें नये कर्म का योग चाहिए जो कल हमारा मर्म बन सके।

रामरतन भटनागर

अनुक्रमणिका

विषय | पृष्ठ संख्या

विज्ञान

कला और साहित्य

विषय | पृष्ठ संख्या

विषय | पृष्ठ संख्या

सामयिक जीवन
और
साहित्य

विज्ञान और संस्कृति

विज्ञान और संस्कृति को प्राय: विरोधी माना जाता है। साधारणत: लोग समझते हैं कि विज्ञान उपयोगितावादी और तात्कालिकतावादी है। उसे संस्कृति से कोई मतलब नहीं; क्योंकि संस्कृति भविष्यधर्मी होती है और उसके साधक आज की सुविधा पर कल के आनन्द का बलिदान नहीं कर देते। साहित्य और कला, धर्म और दर्शन, शील और सदाचार संस्कृति के अनिवार्य अंग हैं। प्रश्न यह है कि इनसे विज्ञान का क्या संबंध है ? क्या विज्ञान की दुनिया कोई दूसरी दुनिया है जिसमें साहित्य, कला आदि से कोई संबंध नहीं है ? संक्षेप में, विज्ञान संस्कृति का पूरक है या विरोधी ?

यह ठीक है कि विज्ञान ने हमें संहारक अस्त्र-शस्त्र दिये हैं और नये आणविक अस्त्रों के कारण मानव-जाति का भविष्य ही संकट में पड़ गया है। विज्ञान निर्वैयक्तिक है, वह धर्म और नीति के बंधन से मुक्त रहना चाहता है। उसकी सत्यम् की उपासना शिवम् और सुन्दरम् को लेकर नहीं चलती। इसीलिए उसका सत्य दुराग्रह की सीमा तक पहुँच गया है। ये कुछ आक्षेप हैं जो विज्ञान को मानव-संस्कृति का शत्रु बना देते हैं। कहा जाता है कि विज्ञान मानव-मूल्यों के संबंध में अविश्वासी है अथवा तटस्थ है। उसने मनुष्य की समस्त पुरातन उपलब्धियों को अंधविश्वास या रूढ़िवाद मानकर अपनी चेतना से बहिष्कृत कर दिया है। जहाँ विज्ञान है वहाँ संस्कृति का प्रश्न ही नहीं उठता। आधुनिक विचारकों का एक वर्ग ऐसा है जो इतनी दूर तक जाने के लिए तैयार नहीं है। उसके अनुसार आज विज्ञान ने दर्शन का स्थान ले लिया है और अध्यात्म ने धर्म का। प्राचीन युगों में जिसे धर्म कहा गया है वह बहुत कुछ पुराण था या अंधविश्वास। यह निश्चय है कि उसमें अध्यात्म भी बहुत कुछ था और धर्म तथा दर्शन के केन्द्र में उसी की प्रतिष्ठा थी। परन्तु वह सबके लिए सुलभ वस्तु नहीं है। सामान्य जनता कर्मकाण्ड को ही धर्म मानती है। इससे उसकी आस्था का प्रश्न हल हो जाता था, परन्तु वह रूढ़िवाद और

अंधविश्वास से अपनी चेतना को पुष्ट नहीं कर सकती। फलत: वह पुरोहितों और "पोपों" का शिकार बन जाती थी। आधुनिक युग में हमें नई आध्यात्मिकता चाहिये जो शायद "वेदांत" की आध्यात्मिकता होगी। उसमें ईसाई धर्म का मानववाद, बौद्ध धर्म की करुणा और इस्लाम का बन्धुत्वभाव भी होगा। परन्तु इस अध्यात्म को हमें सार्वभौमिक मानव-चेतना बनाना होगा। विज्ञान को अध्यात्मनिष्ठ करने की समस्या इसी के बाद उठती है। जब हम विज्ञान की खोजों को मानव-कल्याण की ओर उन्मुख कर सकेंगे तो विज्ञान और धर्म की विभिन्न और विरोधी भूमिकाएँ समाप्त हो जायेंगी और हम नए युग में प्रवेश करेंगे। उस समय विज्ञान संस्कृति का विरोधी न होकर उसका प्रतीक बन जायेगा। विज्ञान मानव-मूल्यों का परिवर्द्धक हो, वह मानव-कल्याण के लिए हो, वह अपनी सीमाओं को समझे और अपने ऐतिहासिक महत्व को चरितार्थ करे, यही आज वांछनीय है।

सच तो यह है कि विज्ञान संस्कृति का वाहक भी है और उसका आत्मिक अंग भी। संस्कृति के वाहक के रूप में वह भौतिक सुख-संपन्निता की सृष्टि करता है और सभ्यता का निर्माण करता है। जिस नई औद्योगिक सभ्यता को विज्ञान ने जन्म दिया है, वह पिछली सभी सभ्यताओं से भिन्न होते हुए भी विकासमान वस्तु है। उसने देशकाल पर नियंत्रण कर हमें अत्यंत सशक्त बना दिया है और हमारे परिवेश को एकदम बदल दिया है। परन्तु मूल वस्तु है वह परिवर्त्तन जो विज्ञान हमारे जीवन-मूल्यों में करता है। ये परिवर्त्तन ही संस्कृति की बदलती हुई भूमिका की ओर इंगित करते हैं। ये क्या हैं ? क्या विशुद्ध बुद्धिवाद, विकासवाद या प्रयोग-निष्कर्ष पद्धति से प्राप्त ज्ञान मात्र विज्ञान की देन है। कुछ विद्वानों का विचार है कि विज्ञान की देन वैज्ञानिक दृष्टि ही हो सकती है जो हमें भावना और कल्पना के कुहासे से निकाल कर विवेक-बुद्धि और मूल्यगत चिन्तन के क्षेत्र में खड़ा कर देती है। यह स्पष्ट है कि वैज्ञानिक दृष्टि की अपनी सीमाएँ हैं क्योंकि वह आंतरिक जीवन और परीक्षा के लिए कोई मानदण्ड हमें नहीं दे सकती। परन्तु यह भी प्रश्न है कि क्या मानव-जीवन के विकास में भावना और कल्पना का कोई स्थान ही नहीं है ? क्या नई वैज्ञानिक संस्कृति अतिमानवों की संस्कृति होगी जो निर्वैयक्तिक और बौद्धिक मानदण्डों को ही अंतिम मूल्य मानेगी।

संस्कृति सामाहारिक योजना है—सब ले-देकर वह बनती है। मनुष्य के भीतर ज्ञान, इच्छा और कर्म के जो स्रोत हैं उन्हें संपूर्ण रूप से आत्मसात् करना ही संस्कृति का काम है। वे संस्कृतियाँ एकांगी कही जायेंगी जो इनमें से किसी एक या दो तत्वों को लेकर चलेंगी। इसीलिए वैज्ञानिक संस्कृति की कल्पना ही एकांगी है; क्योंकि संस्कृति वैज्ञानिक और अवैज्ञानिक नहीं हो सकती। वह मानव-संस्कृति ही हो सकती है। मनुष्य की उपलब्धि के नाते विज्ञान उसकी अन्य उपलब्धियों की उपेक्षा नहीं कर सकता।

विज्ञान के समर्थकों का कहना है कि औद्योगिक प्रगति के लिए वैज्ञानिक शिक्षा का प्रसार आवश्यक है। ऐसी शिक्षा में राजनीति और धर्म की शिक्षा को कोई स्थान नहीं मिल सकता और साहित्य तथा कला की शिक्षा विद्यार्थी के ऊपर लादी हुई चीज होगी। उसका विज्ञान से कोई केन्द्रीय संबंध नहीं है। विरोधियों का पक्ष है कि वैज्ञानिक विषयों की शिक्षा हमें सुसंस्कृत नहीं बना सकती; क्योंकि वह जीवन की उच्चस्तरीय समस्याओं को स्पर्श नहीं करती। यही नहीं, वैज्ञानिक प्रयोगों और परीक्षणों में निरंतर लगे रहने से एक प्रकार की संकीर्णता उत्पन्न हो जाती है और अनुसंधित्सु यह समझने लगता है कि सब प्रकार के सत्यों तक वैज्ञानिक पद्धति से पहुँचा जा सकता है। क्या यह संकीर्णता नहीं कि विज्ञान अपने क्षेत्र से साहित्य और कला संबंधी शिक्षा का एकदम बहिष्कार करता है ? क्या विशेषज्ञता का दावा ही वैज्ञानिक को जीवन के शाश्वत प्रश्नों के प्रति तटस्थ या अनुत्तरदायी बना देता है ? इसके उत्तर में वैज्ञानिकों के दो दल हैं। एक का कहना है कि मात्र वैज्ञानिक शिक्षा साहित्य-कला की शिक्षा से कम संस्कृतिनिष्ठता नहीं देती, परन्तु यहाँ प्रश्न यह है कि संस्कृति की हमारी परिभाषा क्या है। दूसरे दल के विचार में साहित्य-कला की शिक्षा वैज्ञानिक अनुशासन से सीधा संबंध नहीं रखती और उससे व्यर्थ का समय नष्ट होगा जो वैज्ञानिक खोजों में लगाया जा सकता है। इन दृष्टिकोणों पर हमें विचार कर लेना होगा।

१८८० ई० में बर्मिंघम के सर जोशिया मेसन साइंस कालेज का उद्घाटन करते हुए प्रसिद्ध वैज्ञानिक टॉमस हेनरी हक्सले (१८२५–१८९५) ने विज्ञान और संस्कृति के पारस्परिक संबंध पर अपने अभिभाषण में विचार किया था।

उन्होंने मैथ्यू आर्नाल्ड की संस्कृति संबंधी विचारधारा को अपना मूलाधार बनाया था। आर्नाल्ड के अनुसार संस्कृति का अर्थ यह है कि हम संसार की सर्वश्रेष्ठ विचारणा और लिपिबद्ध ज्ञान से परिचित हों। आर्नाल्ड के मत में संस्कृति जीवन की साहित्यबद्ध समीक्षा है। हक्सले ने आर्नाल्ड की प्रपत्तियों को दो भागों में बाँट कर विचार किया। एक—संस्कृति का सारतत्व जीवन-समीक्षा है, दूसरे—साहित्य में इस जीवन-समीक्षा के निर्माण के लिए पर्याप्त सामग्री है। पहली प्रपत्ति को हक्सले ने मान लिया है। वह मानता है कि संस्कृति वैज्ञानिक या प्राविधिक ज्ञान मात्र नहीं है, क्योंकि उसके लिए कोई आदर्श होना आवश्यक है और यह भी चाहिए कि हम किसी निश्चित मूल्य के समकक्ष रख कर ही तात्कालिक वस्तु या सुविधा की समीक्षा कर सकें। परिपूर्ण संस्कृति समग्रगत जीवनदर्शन है और उसमें संभावनाओं तथा सीमाओं का ठीक-ठीक ज्ञान अनिवार्य शर्त है। परन्तु आर्नाल्ड की दूसरी प्रपत्ति से—कि साहित्य संस्कृति का प्रतीक या परिशीर्ष है, वह सहमत नहीं हैं। उनके विचार में ग्रीक, रोम और पूर्व की समस्त कला और साहित्य की ज्ञानराशि भी हमें वह व्यापक और गंभीर मूलाधार नहीं दे सकती जो ऐसी जीवन-समीक्षा के लिए आवश्यक है, जिसे संस्कृति का अंग कहा जा सके। यह स्पष्ट है कि हक्सले वैज्ञानिक जगत की महान उपलब्धियों को भी मानव-संस्कृति का अनिवार्य अंग बनाना चाहते हैं और उन्होंने ग्रीकों के उदाहरण से यह सिद्ध भी करना चाहा है कि ग्रीक साहित्य, दर्शन और कला के पीछे विज्ञान की गंभीर चेतना है और इसीलिए वे अतिवाद से बच सके हैं। यूरोपीय सांस्कृतिक चेतना का इतिहास उद्घटित करते हुए उन्होंने यह सिद्ध किया कि मध्ययुग में दार्शनिकों ने अपने चिन्तन को चर्च की मान्यताओं से सीमित कर दिया था और उनका काम यही रह गया था कि वे उन्हें तर्कसिद्ध कर दिखलाएँ। इस प्रकार धर्म दर्शन का नियामक बन गया था और उसने हमारी जीवन-समीक्षा को भ्रांत और दुर्बल बना दिया। विज्ञान ने ईसाई पुराणवाद की प्रलय, सर्ग, दैवत-वाद, आदि अनेक धारणाओं को झकझोर दिया और आज हमारी विश्वसंबंधी कल्पना आईन्स्टाइन की खोजों पर आधारित है। जहाँ मध्ययुग में संस्कृति संतत्व की पर्यायवाची थी, वहाँ आज इस पृथ्वी का जीवन ही हमारे लिए महत्वपूर्ण हो गया है और प्रत्येक जन अपने भौतिक अधिकार और सुख-सुविधा के संबंध में जागरूक है।

इसमें संदेह नहीं कि उन्नीसवीं शताब्दी के मानववादियों की भाँति हम क्लासिकल शिक्षा या साहित्य मात्र को संस्कृति का प्रवेशद्वार नहीं मान सकते। तीन शताब्दियों के बौद्धिक और वैज्ञानिक विकास ने हमारे ज्ञान के क्षितिज को बड़ा विस्तार दे दिया है। यही नहीं, विज्ञान ने आधुनिक साहित्य, चित्र-कला और संगीत के रूप में इन क्षेत्रों की प्राचीन परम्परा में एकदम नवीन अध्याय जोड़ दिये हैं जिन्हें अस्वीकार नहीं किया जा सकता। हमारा दैनिक जीवन ही नहीं, करोड़ों की संख्या में मनुष्यों की संपन्नता और सुख-सुविधा ही नहीं, ज्ञाताज्ञात रूप में हमारा संपूर्ण जीवनदर्शन ही विज्ञान ने बदल दिया है; क्योंकि भौतिक जगत के संबंध में हमारी धारणा ही हमारे जीवनदर्शन का निर्माण करती है और आज उसमें मध्ययुग का कुछ भी नहीं रहा है। सच तो यह है कि वैज्ञानिक चेतना को अस्वीकार करना हमारे लिए संभव ही नहीं है।

परन्तु पिछले ३०० वर्षों से पहले की मानव-संस्कृति में क्या कुछ ऐसा नहीं है जो आज की वैज्ञानिक संस्कृति में जुड़ सके? क्या विज्ञान का धर्म और दर्शन से अनिवार्यतः विरोध है? क्या अध्यात्म को हम रूढ़िवाद ही मानते रहेंगे; क्योंकि हमारी प्रयोग और निष्कर्ष की पद्धति अथवा बुद्धिवाद को विज्ञान उस क्षेत्र में लागू नहीं कर सकता। वस्तुतः मानव-संस्कृति के चिरकालिक विकास में हमने श्रेष्ठतम मानव-मूल्यों का आविष्कार किया है जो ऋत्, अहिंसा, तप, करुणा, भक्ति और सदाचार के नामों से धर्म का अंग थे। आध्यात्मिक संस्कृति का मूल मंत्र यही तत्व हैं, परन्तु ये मानवीय तत्व भी हैं। आत्मा के प्रति चाहे हम अविश्वासी हों परन्तु मानवीयता के नाते इन तत्वों का बहिष्कार हमारे लिए आज भी संभव नहीं है। आनन्द, सौन्दर्य और शिवत्व (लोकमंगल) के आयामों से जुड़ कर ही विज्ञान अपनी भौतिक उपलब्धियों को आत्मिकता दे सकेगा। जब वह जड़ की ओर न देखकर चैतन्य की ओर देखने लगेगा तो विज्ञान और संस्कृति के विरोध का शमन हो जायेगा। स्वयं विज्ञान के भीतर से जड़वाद समाप्त हो रहा है; क्योंकि भौतिक विज्ञान की नई प्रपत्तियाँ आकस्मिकता और शक्तिमत्ता के नए सिद्धांतों का निर्माण कर रही हैं और आणविक जगत में चैतन्य के नियम उद्घटित हो रहे हैं। विराट् और सूक्ष्म को एक ही शक्ति-स्रोत और आंतरिक नियमों में

बाँधनेवाली एकता ही यदि अध्यात्म में ब्रह्म कह दी गई है तो उससे वैज्ञानिक क्यों अपदस्थ हों ? यह स्पष्ट है कि आज मानव-संस्कृति को परिपूर्णता में ग्रहण करना होगा और विज्ञान तथा अध्यात्म उसके दो पूरक पक्ष होंगे। वैज्ञानिकों को साहित्य, कला और अध्यात्म के द्वारा अपनी जीवन-चेतना को परिष्कार एवं विस्तार देना होगा और साहित्य, कला और अध्यात्म का विद्यार्थी विज्ञान के द्वारा सत्य के निर्विशेष रूप का साक्षात्कार करेगा। इस प्रकार वैज्ञानिक चेतना मानव-संस्कृति को अद्यतन उपलब्धियों के शीर्ष पर प्रतिष्ठित करेगी और सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् के साथ आनन्दम् और अद्वतम् का प्रकाश भी उसके द्वारा हमें मिलेगा। नई मानव-संस्कृति विज्ञान को आत्मसात् कर उसका अतिक्रमण कर सकेगी और उसे अखण्ड मानव-चेतना से संपृक्त बनायेगी।

विज्ञान और धर्म

विज्ञान और धर्म मानव-चेतना की दो बड़ी इकाइयाँ हैं और उनके पारस्परिक संबंध पर मानव-जाति का भविष्य निर्भर है। परन्तु यह आवश्यक है कि हम जानें कि "विज्ञान" क्या है और "धर्म" क्या है; क्योंकि सामान्यतः इन दोनों शब्दों के अर्थों में बड़ी भ्रांति है। "विज्ञान" से हम यहाँ किसी विशेष शाखा की बात नहीं लेते; न किसी विशेष वैज्ञानिक सिद्धांत, जैसे विकासवाद या गुरुत्वाकर्षण से हमारा संबंध है। विभिन्न विज्ञानों से जो एक संपूर्ण एवं सामान्य मानचित्र बनता है उसीसे हमारा तात्पर्य है। इसी प्रकार "धर्म" से हमें धर्म-विशेष या कर्मकाण्ड-विशेष का बोध नहीं लेना है। वह अंततः ऐसी जीवनदृष्टि है जो हमें विराट् के प्रति पूजा-भाव से भर देती है। जहाँ तक विज्ञान और धर्म की प्रक्रियाओं का संबंध है, वे परस्पर विरोधी हैं। विज्ञान तर्कबद्ध चिन्तन, प्रयोग-निष्कर्ष अथवा बुद्धिवाद पर आधारित है और धर्म विशुद्ध अनुभूति का विषय है जो अंतर्ज्ञान (अंतर्दृष्टि) से उद्भूत है। विज्ञान का फल चमत्कृति है, धर्म का प्रणति। देखना यह है कि क्या इन दोनों तत्वों में विरोध है? क्या ज्ञान (विज्ञान) और अंतर्दृष्टि दो एकदम विभिन्न और विरोधी चेतनाएँ हैं? विज्ञान को निर्वैयक्तिक और धर्म को वैयक्तिक भी कहा जाता है, परन्तु किस सीमा तक यह स्थापना ठीक है, यह भी जानना होगा। क्या निर्वैयक्तिक ही सत्य है और व्यक्तिगत झूठा है? या इसके विपरीत ही सत्य है? ये कुछ महत्वपूर्ण प्रश्न हैं।

पहली बात तो यह है कि हम विज्ञान और धर्म को परस्पर संघर्षशील समझने लगे हैं। पिछले सौ वर्षों में इन दोनों का विरोध बढ़ा ही है और अब हम इस बिन्दु पर आ गये हैं कि या तो हम विशुद्ध विज्ञान को अपनाएँ, या विशुद्ध धर्म को। वैज्ञानिकों और धर्मवेत्ताओं के अलग-अलग अखाड़े बन गये हैं और एक-दूसरे को अस्वीकार करने की ही बात नहीं है, एक दूसरे को जड़-मूल से उखाड़ने का भी प्रयत्न है। आश्चर्य यह है कि दोनों सत्य के नाम

पर ही संघर्षशील हैं और दोनों हमारी सहानुभूति चाहते हैं। हृदय और मस्तिष्क या निर्वैयक्तिक और व्यक्तिगत सत्य के नाम पर इस विरोध में नित्यप्रति वृद्धि सी हो रही है।

मान लिया जाता है कि विज्ञान सार्वभौमिक है, वह सबके लिए है। परन्तु क्या धर्म भी सार्वभौमिक नहीं है और क्या उसकी उपलब्धियाँ मानव-मात्र के लाभ के लिए नहीं हैं? जब विज्ञान और धर्म ऐसी व्यापक इकाइयाँ हैं कि वे देशकालविनिमुक्त मानवीय चेतना का अंग बन सकती हैं तो दोनों में विरोध का होना अकल्याण का ही सूचक होगा। इसी से हमें विज्ञान और धर्म को मानव-चेतना के पूरक अंगों की तरह देखना होगा। विरोध से हटकर समाहार की ओर दृष्टि जाय उसी समय ऐसा संभव है। तो क्या हम प्रतीक्षा करें? क्या हम हाथ पर हाथ धरे बैठे रहें कि विज्ञान और धर्म कब समन्वित होंगे? ऐतिहासिक अध्ययन से यह स्पष्ट हो जायगा कि विज्ञान और धर्म का यह द्वन्द्व पश्चिम की उपज है; क्योंकि वहीं सत्रहवीं शताब्दी में विज्ञान धर्म को चुनौती देने में सफल होता है। परन्तु छठी शताब्दी में ही ईसाई धर्म में नई खोजों के आधार पर सुधार होता आ रहा है। लोक में प्रचलित विश्वास धर्म का अंग बन जाते हैं और विज्ञान की नई खोजों से उन विश्वासों को धक्का भी लगता है। परन्तु धर्म सदैव रूढ़िवाद का समर्थक नहीं रहा है और लोकमान्यता के बदलने पर धर्म द्वारा उसकी स्वीकृति भी असंभव नहीं रही है। तात्पर्य यह है कि विज्ञान और धर्म दोनों निरंतर प्रगतिशील या विकासमान रहे हैं और यद्यपि दोनों में द्वन्द्व भी बराबर चलता रहता रहा है, परन्तु दोनों पास भी आते रहे हैं। १७ वीं और १८ वीं शताब्दी में विज्ञान ने धर्म से डटकर मोर्चा लिया और अनेक वैज्ञानिकों को प्राणदण्ड अथवा घोर कष्ट भोगना पड़ा, परन्तु आज धर्म विज्ञान के प्रकाश को अपना कर रूढ़िमुक्त ही हुआ है। वह सच्चे अध्यात्म पर टिकता जा रहा है। यही नहीं कि धर्म ही बराबर ग़लती पर रहा हो, विज्ञान ने भी ग़लतियाँ की हैं और वह भी अपनी स्थिति में सुधार करता रहा है। आज गैलीलियो अथवा न्यूटन के सिद्धांत बहुत पीछे पड़ गये हैं और आईन्स्टाइन के जीवन में ही उनका सापेक्षवाद का सिद्धांत क्वान्टेम थ्यौरी के द्वारा विस्थापित हो गया था। परिवर्त्तनशील जीवन में सब कुछ बदलता रहता है, विज्ञान भी और धर्म भी। धर्म और दर्शन दोनों

में बहुत कुछ जुड़ा है, घटा है या बदला है और हज़ारों वर्षों से यह प्रक्रिया चल रहा है। "अहिंसा" को हम लें। उससे आज हम कुछ और ही अर्थ ले रहे हैं। जनदर्शन और बौद्ध करुणावाद की लक्ष्मण-रेखा लाँघकर वह राज-नीति के क्षेत्र में आ गई है। इसी प्रकार 'सहज' और 'शून्य' जैसे धार्मिक शब्दों का बड़ा लंबा इतिहास है और इस इतिहास से उनका विकासशील रूप ही व्यंजित होता है। स्थूल से सूक्ष्म की ओर बढ़ना मानवीय चेतना का धर्म है और यह प्रगति धर्म और इतिहास दोनों क्षेत्रों में हुई है। यही प्रगति एक दिन इन दोनों विरोधी समझी जानेवाली इकाइयों को एक बिन्दु पर ला सकती है। धर्म का मूल है आध्यात्मिकता। ऋषियों और तत्ववेत्ताओं के सहज अंतर्ज्ञान से अध्यात्म का जन्म होता है। वह अनुभूतिपरक वस्तु है। इसी से व्यक्तिगत संवेदन ही उसे महार्घ बनाता है। वह स्वसंवेद्य है। गुरु उसकी ओर इंगित कर सकता है, उसे दे नहीं सकता। यूरोप में जिन दिनों विज्ञान और धर्म का संघर्ष छिड़ा था उन दिनों ईसाई धर्म के प्रचारकों और पादरियों में सत्य को सहने की शक्ति नहीं रह गई थी। वे भीतर की दुर्बलता से त्रस्त थे। इसी लिए वे दलबंदी के शिकार हो गये। वे अपने आध्यात्मिक संदेश को पुरातन संदर्भों और दुर्वह प्रतीकों से अलग नहीं कर सके। उन्होंने अर्द्धसत्यों को स्वीकार कर समझौता कर लिया था और सत्य उनसे बहुत दूर था। उसकी चकाचौंध वे नहीं सह सकते थे।

हमें यह समझ लेना चाहिये कि धर्म मानव-जाति की मूलगत अनुभूतियों का एक सुन्दर स्वरूप है। यह भी मानना होगा कि धर्म की भाषा अधिक स्पष्ट, मूर्त्त और परिष्कृत होती गई है और इसके लिए बहुत हद तक विज्ञान ही उत्तरदायी हैं। विज्ञान ने धर्म पर से कुहासे का आवरण हटा दिया है और उसके भीतर विशुद्ध अध्यात्म की ज्योतिर्रेखा खींच दी है। वास्तव में आज हमें फिर एक बार विज्ञान के आलोक में धर्म की परिभाषा देनी पड़ रही है। प्राचीन युगों में धर्म के पीछे भय की भावना थी क्योंकि शास्ता के रूप में ईश्वर की कल्पना कठोरता की ही परिचायक है। प्रकृति के पीछे जिस दैवी शक्ति की कल्पना भयग्रस्त मानव ने की थी वह आज अपनी सामर्थ्य खो बैठी है। विज्ञान ने भय के कारणों को दूर कर दिया है या उनका विश्लेषण कर हमारे मन से भय का भूत ही उतार दिया है। मानव द्वारा ईश्वर का

खोज का ही दूसरा नाम धर्म है। परन्तु ईश्वर की यह खोज व्यक्तिगत और आत्मिक वस्तु है। धर्म के द्वारा मानव-जीवन को व्यवस्थित करने की चेष्टा की गई है और अंत में व्यवस्था ही सब कुछ हो गई है। सम्यक व्यवहार का स्थान सामाजिक सुविधा और वर्ण-व्यवस्था ने ले लिया है। आज विज्ञान ने हमें धर्म को देखने के नवीन दृष्टि दी है। हमें ज्ञात हो गया है कि कर्मकाण्ड धर्म का आनुषंगिक अंग नहीं है, वह धर्मेतर है, या धम के बाहर है। इसीलिए आधुनिक युग में प्रत्येक धर्म कर्मकाण्ड के प्रति विद्रोही हो उठा है। जहाँ व्यवस्था और चर्या ही सब कुछ है वहाँ निश्चय ही धार्मिक अनुभूति तीव्र नहीं होगी। सच तो यह है कि धार्मिक जीवन सुविधा और व्यवस्था का जीवन नहीं है, वह सतत प्रयत्न का जीवन है। धर्मवेत्ता को योद्धा की तरह जीना होता है। जीवन के क्षण-परिवर्त्तित प्रवाह के पीछे, परे और भीतर जो शाश्वत और अबूझ तथा तरल चेतना है या साक्षात्कार (व्हिज़न) है, वही वास्तविक धर्म है। "तद्दूरे तदवन्तिके।" वह दूर रहता हुआ भी पास है। वह आदर्श है जो निरंतर प्रयत्न करते रहने पर भी हमारी पहुँच से बाहर रहता है। प्रयत्न ही उसकी सार्थकता है। इस अप्रत्याशित, रहस्य-मय और निकटतम के प्रति संवेदित होने का नाम ही पूजा है। यह पूजा भय की सृष्टि नहीं, प्रेम की उपज है। आदि मानव से आज तक दैव के प्रति मनुष्य का पूजाभाव सुसंस्कृत होता हुआ परिष्कार के सर्वोच्च धरातल तक पहुँच गया है। ज्ञान-विज्ञान से उसकी हानि नहीं हुई है; क्योंकि प्रत्येक बार वह अधिक संपन्न और निर्मल बन सका है। मानव-जीवन की सारी आस्था-प्राणता और आशावादिता इसी धार्मिक साक्षात्कार पर खड़ी है। नहीं तो इस जीवन में दुःख और उत्पीड़न के भयावह कान्तार हैं जिनमें हमारी चेतना खो जाती है। उपनिषद् के ऋषियों ने "तमसो मा ज्योतिर्गमय" कह कर जिस चिरंतन सत्य की ओर इंगित किया था वह मानव की गहरी धार्मिक अनुभूति से ही निःसृत है। यह सत्य केवल प्रणति चाहता है, वह प्रेम का प्रतिदान माँगता है। हमारी अंतश्चेतना में संतुलन और ऐक्य स्थापित करना ही उसका काम है। इसे बलात् प्राप्त नहीं किया जा सकता। जिस धर्म में कर्मकाण्ड और विचार इसी साक्षात्कारी प्रेम की अनुभूति को हमारे भीतर जाग्रत कर सकता है वही सच्चा धर्म है। संक्षेप में कहें तो इष्ट की पूजा सुविधा की वस्तु नहीं है, वह आत्मा का अभियान है, अग्राह्य को पकड़ने की

चेष्टा है। जहाँ मानव-चेतना अपनी अनन्त उड़ान के लिए उन्मुक्त है वहीं धर्म जीता है। विज्ञान धर्म के लिए चुनौती नहीं है, चुनौती धर्म के भीतर कर्मकाण्ड, अंतर्शैथिल्य या पूजाभाव के दौर्बल्य में है। यह निश्चय है कि विज्ञान और धर्म के द्वन्द्व को पार कर मानव-चेतना एक दिन उच्चतर चेतना में पर्यवसित हो जायगी। तब धर्म और विज्ञान का विरोध अज्ञान का चिह्न बन जायगा।

समझ में नहीं आता कि हम धर्म और विज्ञान के विरोध की क्यों कल्पना करें? क्यों हम यह नहीं मानें कि धर्म अंधविश्वास और रूढ़िवाद का नाम नहीं है? पश्चिम में विज्ञान और धर्म का विरोध रहा हो; क्योंकि वहाँ ईसा के मूल संदेश को कब का भुला दिया गया था और मध्ययुग में धर्म पापाचार और अविवेक का अड्डा बन गया था। पूर्वी देशों में, विशेषतः भारतवर्ष में, धर्म विवेक और बुद्धि पर आधारित रहा है और शास्त्र की अपेक्षा आप्त वचनों का महत्व अधिक है। धर्म को उच्च अध्यात्म की भूमिका देकर उसे साक्षात्कारी दिव्य चेतना से जोड़ दिया गया है और वह मूल रूप से आत्मिक, परसेवी और आत्मदानी वस्तु है। ऐसे धर्म से विज्ञान का कोई विरोध नहीं हो सका। धर्म के दस लक्षणों में से कोई भी ऐसा नहीं है जो करोड़ों मनुष्यों के जावन और दैनिक व्यवहार में परीक्षित नहीं हो सकता हो। उनमें मनुष्य के व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन के श्रेष्ठतम आचार संकलित हैं। भौतिकतावादी विज्ञान भी आज मानव-बन्धुत्व की इसी कल्पना की ओर बढ़ रहा है। विकासवाद और बुद्धिवाद ने धर्म के शुद्ध रूप की ओर हमें आकर्षित किया है और आज धर्म विशुद्ध अध्यात्म की ओर बढ़ रहा है। नव्य वेदांत के जीवनदर्शन को हम किस प्रकार अवैज्ञानिक कहेंगे? क्या महात्मा गांधी का जीवन धर्म से ओतप्रोत नहीं था और उन्होंने उसे "सत्य के प्रयोग" का नाम नहीं दिया? व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन में सत्य के प्रयोगों का नाम ही धर्म है। वह कोई परलोकवादी वायवी वस्तु नहीं है। इसी लोक में हमें धर्म का जीवन जीना है और यह जीना कोरा भौतिक जीवन जीना नहीं हो सकता। विज्ञान इस आत्मिक जीवन के लिए हमें तैयार कर सकता है और अपने संपन्न साधनों से हमें तप, करुणा और प्रेम के प्रसार में सहायता दे सकता है। विज्ञान साधन बनेगा और धर्म साध्य।

•

विज्ञान और साहित्य

एक प्रकार का साहित्य होता है जिसे वैज्ञानिक साहित्य कहा जाता है और जो विज्ञान की शोधों, पाठ्य-पुस्तकों एवं इतिहास को हमारे सामने प्रस्तुत करता है। यहाँ हम साहित्य शब्द की विस्तृति देखते हैं—साहित्य से यहाँ पठनीय सामग्री या लिपिबद्ध ज्ञान ही तात्पर्य है। यह नहीं कि इस वैज्ञानिक साहित्य में तथ्य ही अंतिम वस्तु हो, यद्यपि वैज्ञानिक लेखन का आदर्श यही है कि हम तथ्यों, प्रयोगों और निष्कर्षों को कम-से-कम शब्दों में लिख दें। निर्वैयक्तिकता वैज्ञानिक लेखन की सबसे बड़ी विशेषता है। परन्तु डार्विन की "ओरिजिन ऑफ़ इस्पेसीज़" (१८५९) में वैज्ञानिक शोधों को भी अत्यंत रोचक और आकर्षक ढंग से लिखा गया है। लेखक अपने चारों ओर के प्राणी-जगत और प्रकृति के प्रति पर्याप्त संवेदनशील है और उसके कथन तथ्य से ऊपर उठ गये हैं। वे अंतर्दृष्टिसंपन्न कहे जा सकते हैं। विज्ञान को जितनी आवश्यकता थी उतना देकर ही लेखक ने संतोष नहीं कर लिया, उसने हार्दिकता उभारी और अपनी रचना से हमें तोष दिया तथा हमारी जीवनानुभूति को संपन्न बनाया। इस प्रकार वैज्ञानिक साहित्य की ऐसी कोटि उसने हमें दी जो विज्ञान के साथ साहित्य भी है। इस श्रेणी की चीजें कम हैं, परन्तु उनका एकदम अभाव है, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता।

परन्तु विज्ञान और साहित्य पर विचार करते हुए हमें सीमांती चीजों को नहीं लेना है, न ऐसे साहित्य को जो विज्ञान के प्रभाव में लिखा गया है। विज्ञान की देन है विश्लेषण, निर्वैयक्तिकता तथा तटस्थता। पिछले सौ वर्षों से विज्ञान की चिन्तन और लेखनपद्धति साहित्य का अंग बन गई है और उसने समीक्षा, इतिहास और शोध को बहुत दूर तक प्रभावित किया है। वैसे सर्जनात्मक साहित्य (कविता, उपन्यास, कहानी, नाटक आदि में) में भी वैज्ञानिकता का दावा किया जाने लगा है; क्योंकि आज "वैज्ञानिकता" को अतिरिक्त श्रेय प्राप्त है। परन्तु धीरे-धीरे वैज्ञानिकता का

मोह भी दूर हो रहा है। हमारे सर्जक साहित्यकार अब यह समझने लगे हैं कि विशुद्ध साहित्य में वैज्ञानिकता का आरोप न आवश्यक है, न संभव है। वस्तुतः पिछले कुछ दिनों से विज्ञान और साहित्य की विभिन्न और विरोधी भूमिकाएँ अधिक स्पष्ट होने लगी हैं और इन्हीं भूमिकाओं को हमें पहले सुस्पष्ट कर लेना है। इस द्वन्द्व को आगे बढ़ा कर विज्ञान और "ह्यमिनिटीज़" (कला) का नया अखाड़ा खड़ा किया गया है।

साहित्य और विज्ञान का अंतर लक्ष्य को लेकर है। साहित्य का लक्ष्य है आनन्द जिसका माध्यम है सौन्दर्य। अतः साहित्य सौन्दर्यान्वेषी है। जो काव्य और कला हमें आत्मिक आनन्द न दे सके वह निरर्थक है। परन्तु विज्ञान आनन्द को अपना लक्ष्य नहीं बनाता, वह सत्य से ही तुष्ट हो जाता है। वस्तुगत ज्ञान में अभिवृद्धि से हमारे भीतर जो परितोष उत्पन्न होता है वही हमारे लिए अलम् है। इस प्रकार विज्ञान और साहित्य में जीवन भौतिक और आत्मिक विभागों में वँट गया है और एक दूसरे के प्रति भी अविश्वासी है। इसीसे यह भी निष्कर्ष निकलता है कि विज्ञान भी प्रजातंत्रीय है और उद्देश्य एवं प्रक्रिया के भीतर से प्रजातंत्रवाद (या मानववाद) का समर्थक है। इसके विपरीत साहित्य की प्रवृत्ति और आत्मा अभिजाती है। वह सबके लिए नहीं है, कुछ के लिए है। विज्ञान की सुविधाएँ सबको प्राप्त हो सकती हैं, परन्तु साहित्य के जगत में प्रवेश करने से पहले लंबी तैयारी की आवश्यकता है। साहित्य संस्कारनिष्ठ है, वह सांस्कृतिक है। विज्ञान वाह्य जीवन को बदलता है और साहित्य अंतर्जीवन को। यह निश्चित है कि उत्कृष्ट संस्कृति के वाहक के रूप में विज्ञान साहित्य का स्थान नहीं ग्रहण कर सकता।

आज के युग में विज्ञान को अस्वीकार करना असंभव है। उसके महत्व के संबंध में दो मत संभव ही नहीं हैं, परन्तु यह मानते हुए भी कि विज्ञान ने हमारे अनेक अंधविश्वासों को दूर कर दिया है और आज हम सत्य के अधिक निकट हैं, यह नहीं कहा जा सकता कि वस्तुजगत के संबंध में हमारा नया ज्ञान हमें उत्कृष्टतर कोटि का साहित्य दे सकता है। महान साहित्यों के युग आज के ज्ञान में पिछड़े थे, परन्तु वे सामग्रिक और आस्थावान युग थे। बाइ-

बिल, शेक्सपियर, दांते और 'गीतगोविन्द' विज्ञान के युग में अधिक पूर्ण होते, यह संभावना ही भ्रामक है। प्रश्न यह है कि विज्ञान ने हमें कौन-से महान आदर्श दिये हैं अथवा किन नैतिक और आत्मिक सच्चाइयों के दर्शन हमें कराये हैं। क्योंकि यही वह मूलाधार है जिस पर साहित्य का महल खड़ा होता है। कुछ वैज्ञानिकों का दावा हो सकता है कि विज्ञान विशुद्ध संस्कृति के क्षेत्र में भी योग दे सकता है और हमारी नैतिक और बौद्धिक प्रकृति के आध्यात्मीकरण का अस्त्र बन सकता है। यह मान लें तो भी यह नहीं कहा जा सकता कि वह महान साहित्य का स्थानापन्न बन सकेगा। साहित्य के द्वारा एक महान चरित्र, एक महान आत्मा से हमारा जो परिचय होता है वह नैतिक और आत्मिक धरातल पर विज्ञान की बड़ी-से-बड़ी खोज के ज्ञान से अधिक श्रेष्ठ है। महान साहित्य हमारे मन को उदार बनाते हैं, हमारे हृदय को उदात्त भावनाओं से भरते हैं और हमें अच्छे विचारों की ओर प्रेरित करते हैं। उनके अध्ययन से हमारी अंतर्दृष्टि परिष्कृत और संपन्न बनती है और हमारा चरित्र दृढ़ होता है। जैसे वर्षा का जल धरती में सोखा जा कर सड़ी-गली पत्तियों को खाद बनाकर नवजीवन की हरीतिमा को उभारता है, उसी प्रकार हमारे जीवन के भीतर की प्रसुप्त और मृत चेतनाएँ साहित्य से प्रेरणा पाकर नवीन सुषमा में जाग्रत और स्पन्दित हो जाती हैं।

साहित्य हमें आज भी जीवन से सीधा संपृक्त कर सकता है। इसका कारण यह है कि वह "आंखों देखे" सत्य का साक्षात्कार है, "कागदलेखी" या यांत्रिक सत्य उसमें नहीं है। यह कहा जाता है कि दूरवीक्षण और अणुवीक्षण यंत्रों ने नये जगतों की झलक हमें दी है और आज हम करोड़ों-अरबों मील तक नीहारिकाओं तथा अणुजगत के सूक्ष्मतम स्पन्दन से परिचित हो जाते हैं। यह नया ज्ञान हमारे भाव-जगत का विस्तार करता है; क्योंकि उसमें हमें चमत्कृत करने की क्षमता है। परन्तु यह नहीं भूलना होगा कि विज्ञान का यांत्रिक ज्ञान बलात् प्राप्त ज्ञान है। हमने प्रकृति से उसे प्राप्त किया है परन्तु प्रेम और प्रतीक्षा के द्वारा नहीं। वह एक प्रकार की हिंसा है, या शव-परीक्षा है और चीड़-फाड़ की प्रक्रिया में सत्य का स्वरूप कुछ विकृत हो गया है। अनुर्वर विश्लेषण से प्राप्त सत्य मानवीय नहीं रह जाता। वह जीवन-चेतना का अंग नहीं है; क्योंकि वह अधिकाधिक यांत्रिक है और उससे हमें भौतिक जगत की

यांत्रिक अनुभूति ही उपलब्ध हो सकती है। कवि और उपन्यासकार जीवन के प्रति उन्मुख होता है। वह अपने मानस-प्रत्यक्ष को वाणी का रूप देता है और उसका साक्षात्कार नैरंतरिक, चिर स्पन्दित और सजीव होता है। वैदिक ऋषियों ने प्रकृति की असंख्य अनुभूतियों को जिन वर्णच्छटाओं में बाँधा था वे आज भी निराला के काव्य में हमें उपलब्ध हैं और भावी युगों के सहृदय पाठक उन्हें इन स्रोतों से तद्वत प्राप्त कर सकेंगे। साहित्य की भाषा प्रतीकों, बिंबों और रूपकों की भाषा है जिसे हम आदिम चेतना की भाषा कह सकते हैं। विज्ञान के युग में इस भाषा की क्षमता नष्ट नहीं हुई है। वास्तव में प्रत्येक युग के समर्थ कवि अपने युग के समस्त ज्ञान को (और विज्ञान को भी) कल्पना के नये पंख देते हैं। युग के अनुरूप प्रतीकों, बिंबों, रूपकों में परिवर्तन हो जाता है, परन्तु इस प्रकार सत्य को स्वप्न बनाकर अधिक ग्राह्य और संवेदनीय बना दिया जाता है। मानवीय बन कर ही सत्य सार्थक होता है। साहित्य सत्य को मानवीय और आनंदनीय बना कर जीवन का प्रत्येक क्षण नवनवोन्मेषित कर देता है।

हमारे पूर्वजों ने ज्ञान को हृदय से प्राप्त किया था, हमारे पास ऐसे ज्ञान का अतिरेक है जो मस्तिष्क की उपज है। यदि हम पूर्वजों की मान्यताओं को बालकों का खेल या भ्रम समझते हों और उनकी पुराण-कथाओं को आदिम मनुष्यों की कल्पना मानते हों तो आज हमारा बहुत-सा वैज्ञानिक ज्ञान भी कम नीरस, दुर्वह, व्यर्थ और कठोर नहीं है—उसने हमारे सामने मरुभूमि की योजनविस्तृत असार्थकता फैला दी है जहाँ नाम मात्र को हरियाली नहीं है। तथ्यों की हड्डियाँ चिचोड़ने में ही कौन-सा आनन्द है? धुने हुए को हम कब तक धुनते रहेंगे? पिछले सौ वर्षों में हजारों प्रयोगशालाओं और प्राविधिक शिक्षाकेन्द्रों से ज्ञान की इतनी विपुल राशि पुस्तकाकार या शोध-पत्रों के रूप में प्रकाशित हुई है कि उसकी कल्पना ही हमारी चेतना को थका देती है। यह सारा ज्ञान आत्मा पर बोझ ही तो रहेगा। इसीलिए हमने विशेषज्ञता का आविष्कार किया है जहाँ प्रत्येक व्यक्ति विज्ञान के एक अत्यंत संकीर्ण क्षेत्र को लेकर बैठ जाता है और न्यूनतम को सर्वाधिक जान कर ज्ञान का गर्व करता है। जहाँ यह विशेषज्ञता है वहाँ धूप नहीं उतरती और मलय पवन नहीं बहती। साहित्य में ओसभीगी कमल-पँखुड़ी का जा अछूता सौन्दर्य है, वह

विशेषज्ञता का विषय नहीं है। फलस्वरूप विज्ञान साहित्य की अभिवृद्धि में बाधक ही सिद्ध हुआ है। उसने हमें अपने से दूर कर दिया है और मानवीय संबंधों तथा संवेदनाओं से असंपृक्त होकर हम तथ्यों की मरुभूमि में खो गये हैं। आज हम आश्चर्य अधिक करते हैं, परन्तु प्रेम, घृणा, सहानुभूति, भय और आकांक्षा के द्वार हमारे लिए बंद हैं। नये-नये आश्चर्यों को उद्घाटित कर आज कदाचित् हमारी चकित होने की क्षमता भी कम हो गई है। कल्पना और भावना के चिर नवीन रहस्यलोक को हम पीछे छोड़ आये हैं।

विज्ञान और साहित्य जीवन के दो भिन्न दृष्टिकोणों को स्पर्श करते हैं। जहाँ विज्ञान वस्तुओं और प्राणियों को प्रकृति से विच्छिन्न कर उन्हें जड़ इकाई के रूप में देखता है वहाँ साहित्य उन्हें प्रकृति के बीच में, उनकी स्वाभाविक स्थिति में, जीवित-जाग्रत रूप में हमारे सामने लाता है। इस प्रकार विज्ञान प्रकृति को चीरफाड़ कर हमारे औत्सुक्य और हमारी विश्लेषण-प्रवृत्ति को संतुष्ट करता है और यहीं समाप्त हो जाता है। यह अजायबघर का दृष्टिकोण कहा जा सकता है। तालिकाओं और सूचनिकाओं में घिर कर हम व्यक्तित्वहीन और नीरस बन जाते हैं। जीवित प्राणी अन्य जीवित प्राणियों और प्रकृति के कार्यव्यापार से अनन्यतः संबंधित होता है और यही उसकी स्वाभाविक स्थिति है। इसीलिए सामान्य ग्रामीण मनुष्य या आखेटक हमें पशु-पक्षियों के संबंध में प्राणीशास्त्री से कहीं अधिक बता सकता है। साहित्यकार का कर्त्तव्य है कि वह शास्त्र को पीछे छोड़ कर सीधा जीवन तक पहुँचे और हमें उसका गहनतम स्पन्दन दे।

साहित्य रसात्मक है। यदि काव्य या कथा से हमें आत्मिक आनन्द की उपलब्धि नहीं हुई तो वह बेकार है। परन्तु विज्ञान से हम ज्ञानोपलब्धि चाहते हैं और इतने से ही संतुष्ट हो जाते हैं। कहा जा सकता है कि विज्ञान शक्ति-साधना है और साहित्य रस-साधना। इसीलिये वैज्ञानिक कवियों को भावुकता और ऐन्द्रियता का दोषी बताते हैं और साहित्यकार वैज्ञानिकों को जड़वादी समझते हैं। साहित्य पर अभिजातत्व का दोष भी लगाया जाता है और विज्ञान को प्रजातंत्री सिद्ध किया जाता है। इसमें संदेह नहीं कि विज्ञान ने सर्वसामान्य के जीवनस्तर को ऊँचा किया है और सबके लिए सामान्य सुवि-

धाएँ पैदा की हैं, परन्तु यह कहना उचित नहीं होगा कि साहित्य की अपील शिक्षित और विशिष्ट जनों की वस्तु है।

सच तो यह है कि विज्ञान और साहित्य का द्वन्द्व बहुत कुछ अनावश्यक है; क्योंकि दोनों जीवन के प्रति दो दृष्टिकोणों के सूचक होने के कारण परस्पर पूरक कहे जा सकते हैं। वैज्ञानिक संस्थानों में साहित्य की शिक्षा की कोई व्यवस्था नहीं है और पुराने संस्थानों की क्लासिक्स की शिक्षा के प्रति विज्ञानवादी आश्वस्त नहीं हैं। परन्तु यह स्पष्ट है कि विज्ञान उच्च संस्कृति के निर्माण और प्रसार का साधन नहीं बन सकता। वह वस्तुगत अध्ययन पर बल देकर ज्ञान की वृद्धि कर सकता है, प्रज्ञा का विकास उसके द्वारा संभव नहीं है।

विज्ञान के मूलगत महत्व और सभ्यता के विकास में उसके योगदान के संबंध में हमें कुछ नहीं कहना है। परन्तु कवि, कथाकार और नाटककार के संबंध में अनेक मत हो सकते हैं। क्या ज्ञान-विज्ञान के विकास के साथ इनकी रचनाएँ पीछे नहीं पड़ गई हैं ? क्या वे भ्रांतिपूर्ण नहीं हैं ? नयी जीवन-व्यवस्था विज्ञान की उपज है, उसे हम प्राचीनों के ग़लत जीवन-दर्शन पर कैसे खड़ा कर सकेंगे ? प्राचीन युगों में विज्ञान प्रारंभिक स्थिति में था और महान स्रष्टाओं तथा कलाकारों की स्फूर्तिप्राण रचनाएँ भी कल्पनाओं, रूढ़ियों तथा भौतिक संसार सम्बन्धी भ्रामक धारणाओं पर आधारित हैं। परन्तु क्या इसी से इन रचनाओं की ऊर्जा नष्ट हो जाती है ? जहाँ तक मनुष्य की बौद्धिक (प्रज्ञात्मक) और नैतिक प्रौढ़ता का सम्बन्ध है, ये रचनाएं यह सूचित करती हैं कि ज्ञान-भाण्डार में वृद्धि होने पर भी आज मनुष्य इन क्षेत्रों में पूर्वजों से आगे नहीं बढ़ा है। सोफ़ोकिल्स, व्यास, शेक्सपिअर, दांते, कालिदास और तुलसी जन-सामान्यों की असिद्ध और भ्रांतिपूर्ण मान्यताओं को लेकर चलते हैं। परन्तु क्या इनकी रचनाएँ आज के वैज्ञानिक युग में संभव भी थी ? विज्ञान वस्तुस्थितियों पर समाप्त हो जाता है, उसे जीवन की संभावनाओं से कोई मतलब नहीं। बाइबिल, कुरान और उपनिषद् हमें भौतिक सृष्टि और मानव-देह के सम्बन्ध में सही सूचना नहीं दे सकते, परन्तु मानव-जाति की नैतिक और अंतरंगी चेतना के विकास में उनका योगदान

आज भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। जो ज्ञान प्रज्ञात्मक सत्य बनकर हमारे व्यक्तिगत जीवन का रक्त-मांस बन सकता है, वह त्रिकाल-सत्य है, यह मानना पड़ेगा।

आज हम विज्ञान से भी यह चाहते हैं कि वह हमें उदात्त आदर्श दे और नैतिक तथा आत्मिक सच्चाइयों के वृहद् संसार में हमें ले जाय। यही उसका शैक्षिक मूल्य होगा। जिस सीमा तक वह हमारी जीवन-क्षमता को विकसित कर सकेगा, उस सीमा तक वह साहित्य के निकट रहेगा। उसे नयी जीवन-दृष्टि को नैतिकता से हटा कर चिन्मयता पर टिकाना होगा। निःसंदेह नयी भौतिकी ने विश्वप्रपंच के सम्बन्ध में हमें नयी और गहरी दृष्टि दी है जो आध्यात्मिक ही कही जा सकती है; क्योंकि उसमें जीवन के सूक्ष्म और नैरंतरिक प्रवाह की प्रज्ञात्मकता प्रस्फुटित है। धीरे-धीरे विज्ञान विशुद्ध संस्कृति का साधक बनता जा रहा है और वह मनुष्य की नैतिक तथा बौद्धिक प्रवृत्ति का अध्यात्मीकरण कर रहा है, परन्तु यह निश्चय ही साहित्य, धर्म और दर्शन का स्थानापन्न नहीं हो सकता। साहित्य और विज्ञान का विरोध मूलगत नहीं कहा जा सकता; क्योंकि दोनों एक ही लक्ष्य पर पहुँच रहे हैं।

साहित्य के माध्यम से हम महान चरित्रों और गहनतम मानवीय संवेदनाओं को अपनी अनुभूति का विषय बनाते हैं और इस प्रक्रिया में हमें जो नैतिक और आत्मिक प्रेरणा मिलती है वह विज्ञान के किन्हीं भी सिद्धांतों या प्राकृतिक जीवन के किसी भी विश्लेषणात्मक अध्ययन से नहीं मिलती। संसार के महान साहित्यों में ऐसा बहुत कुछ है जिससे हमारी प्रज्ञा पुष्ट हो, मस्तिष्क खुले, उदात्त कोटि के संवेदन एवं विचार मिलें और हमारा अंतर्जीवन विकसित हो। वे हमारे चरित्र पर विज्ञान की अपेक्षा कहीं गहरी छाप छोड़ते हैं। उनसे हमें व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन के लिए नया खाद्य—मधु मिलता है। महान सर्जक अपनी कृतियों को जीवन की खाद बना देते हैं। वे पीयूषवर्षी मेघों की तरह हमारे मन की भूमि पर बरसते हैं और हमारे जीवन के मरुप्रदेश को शाद्वल में बदल देते हैं। जब तक विज्ञान संवेदनशील नहीं होता और हमारे हृदय-मन को कल्पना तथा भावना से मंडित नहीं करता तब तक वह जड़ पदार्थ-ज्ञान मात्र है। संवेदनशील बनकर तथा कल्पना-

भावना से पुष्ट होकर वह साहित्य बन जाता है; क्योंकि इस तरह वह जीवन-धर्मी होकर हमारे रसकोषों की पुष्टि करने लगता है।

साहित्य सृष्टि को चेतना से मण्डित करता है। विज्ञान का सृष्टि-सम्बन्धी यांत्रिक दृष्टिकोण चाहे जितना वैज्ञानिक कहा जाय, उसमें आत्मतोष तथा कल्पना का आनन्द देने की शक्ति नहीं है। वह हमें न द्रवित कर सकता है, न वस्तु-जागतिक अनुभव से ऊपर उठा सकता है। अनुवीक्षक और दूरदर्शक प्रकृति को भ्रामक तालमेल तथा नया अनुपात देकर विकृत बना देते हैं। हम जीवन के तारतम्य और स्वास्थ्य से हट जाते हैं। यांत्रिक ज्ञान अंशतः कृत्रिम, बलात्कारी एवं शवपरीक्षात्मक होता है। वह प्रज्ञात्मक ज्ञान की परिपूर्णता, अबोधता तथा पवित्रता को नष्ट कर देता है। उसे हम प्राकृतिक ज्ञान नहीं कह सकते; क्योंकि वह आरोपी और एकांती है। वह मानवीय और जीवित संदर्भों एवं शक्तियों से निष्कासित होकर नीरस तालिकाओं और एकांगी सिद्धान्तों में बँध जाता है। साहित्यकार का कर्त्तव्य है कि वह इस जड़ता से ज्ञान-विज्ञान को उबारे और उसे प्रज्ञात्मक भूमिका तक ऊपर उठाये।

कवि और कलाकार जीवन के प्राथमिक संस्पर्श को जगाकर हमें आदिम मनुष्य के विस्मय-बोध से संपर्कित करते हैं। मनुष्य ने प्रकृति को नामों-रूपों से भरकर और वस्तुओं के अंबार लगा कर उसे बहुत कुछ बदल दिया है; परन्तु सायं-प्रात, ऋतु-चक्र, मानवीय संवेदन और हार्दिक व्यापार नहीं बदले हैं। इन्हीं के माध्यम से हम प्रकृतिस्थ होते हैं। ऋग्वेद के ऋषियों ने प्रकृति में इन्द्र, वरुण, अग्नि, सोम आदि देवताओं की जो गंभीर तथा सुन्दर कल्पना की थी वह वैज्ञानिक न होकर भी आत्मिक है और आज भी वह हमें अनुभूति प्रदान करती है। ऋग्वेद की उषा-संबंधी ऋचाएँ जीवन की सरसता, शक्ति और सौन्दर्य से ओतप्रोत मानव का अन्यतम कृतज्ञताज्ञापन हैं। बाल्मीकि, कालि-दास, वर्जिल, शैली, कीट्स, गेटे और रवीन्द्रनाथ जिस सौन्दर्य को उद्‌घटित करते हैं वह वैदिक ऋचाओं के ऋषि-दर्शन से किंचित् मात्र भी भिन्न नहीं है। प्रत्येक श्रेष्ठ कवि, कथाकार और कलाकार जीवन के अंतरंग में गहरा उतरता है और उससे अपना सीधा और ताजा संबंध स्थापित करता है। वह अपने युग के समस्त जीवन-बोध को अपने दृष्टिकोण में सिमेटता है और उसकी

रचना में पहले प्यार की ताज़गी और नवीनता रहती है। इसीलिए यह आवश्यक है कि प्रत्येक युग का अपना कवि और कलाकार हो और वैज्ञानिक विकास तथा ज्ञान-विज्ञान के विस्तार को हम उसकी चेतना के द्वारा संगठित करें। ऐज़रा पाउन्ड और इलियट के काव्य में आज का वैज्ञानिक युग और नागरिक जीवन जिस नूतनता और विस्मयकारिता से वाणी प्राप्त कर सका है वह कवि की प्रज्ञात्मक शक्ति और प्रतिभा का प्रमाण है। कवि और वैज्ञानिक की यह स्पर्द्धा ही जीवन के लिए मंगल-सूत्र बन सकती हैं। विज्ञान द्वारा उद्घाटित नया सत्य उस समय तक मृत है जब तक उसे कवि-वाणी द्वारा जीवन नहीं प्रदान किया जाता।

यह कहा जा सकता है कि साहित्य सभ्यता की होड़ में जीत नहीं सका है। आज हमारे सभ्यता के उपकरण प्रत्येक नये दशक में इतने सुविधाजनक और अग्रगामी बन जाते हैं कि हमें आश्चर्य होता है। कृषि-इंजीनियरिंग, सर्जरी, भौतिक विज्ञान, रसायन और सामरिक शास्त्र आदि सभी क्षेत्रों में हमारी नयी उपलब्धियाँ अत्यन्त श्रेयस्कर हैं। परन्तु क्या मनुष्य का रूप बदला है, या वह नैतिक तथा आत्मिक दृष्टि से आज अधिक श्रेष्ठ है? क्या जीवन अधिक पुष्ट तथा मधुर बना है? देश-काल के व्यवधान को दूर कर क्या हम सचमुच निकट आ गये हैं अथवा हमने अवकाश प्राप्त कर लिया है? सच तो यह है कि यंत्र-जगत का इस्पात हमारी आत्मा में उतर गया है और हमारा जीवन नीरस एवं वैयक्तिक हो गया है। हमारी कर्मचेतना में वृद्धि हुई है, परन्तु सौन्दर्य, शक्ति, चरित्र और शील के क्षेत्र में हम आगे नहीं बढ़े हैं। धन और अवकाश यदि हमें अधिक नैतिक तथा अधिक भावसंपन्न मनुष्य नहीं बना सकें तो उनकी उपादेयता ही क्या है? जब तक ज्ञान-विज्ञान हमारी जीवनस्फूर्ति, चरित्र, संवेदना, प्रेम, शील तथा मानवीय क्षमताओं में अभिवृद्धि नहीं करता तब तक वह साहित्य का अंग नहीं बन सकता। साहित्य मानवधर्मी है। मनुष्य के आकर्षण का अंतिम और अन्यतम विषय मनुष्य ही हो सकता है। वास्तव में जीवन का जो संश्लिष्ट और चक्रव्याजी रूप आज गढ़ा जा रहा है वह मनुष्य की सरसता और सरलता को नष्ट कर रहा है। इसीलिए यह आवश्यक है कि साहित्य और कला मनुष्य के मूलभूत सरल और संवेदनशील, ऋजुधर्मी एवं ऋतंभरा जीवन को अभिव्यंजना दें और हमें एक बार फिर

जीवन के प्रति स्वास्थ्यमूलक तथा स्फूर्त्तिप्राण विस्मय-भावना से भरें। क्यों हम सरलता चाहते हैं ? क्यों हम प्रकृति की ओर लौटना चाहते हैं ? इसीलिए कि हम प्रकृतिपुत्र हैं; प्रकृति के स्तन्य-पान में ही हमारा कल्याण निहित है। प्रकृति और ईश्वर में ही हमारा अस्तित्व सार्थक है और हमारा जीवन इनके नैकट्य, इनकी स्फूर्त्ति तथा पवित्रता पर अवलंबित है। केन्द्र को छोड़ कर परिधि के पकड़ने में हमारा निर्वाह नहीं है। इसीलिए साहित्य कुटियों की ओर देखता है, महलों की ओर नहीं। वह अविकृत भूमा की उपज है। आदिम, सरल और सरस में ही उसकी जड़ें हैं। जैसे-जैसे जीवन प्रकृति से हटता गया है, मनुष्य के लिए अपने साहित्य में बार-बार उस तक लौटना अनिवार्य होता गया है।

विज्ञान हमें तटस्थता और सत्य-जिज्ञासा का मंत्र देता है। वह हमारे मस्तिष्क से रूढ़ियों के मकड़ी-जाले हटाता है और हमें अंध-विश्वासों के गिरि-गह्वरों के बाहर निकाल लाता है। परन्तु प्रश्नमूलकता को लेकर किसी उत्कृष्टतम कला अथवा अन्यतम साहित्यिक कृति की रचना नहीं की जा सकती। अनास्था और संशय साहित्य और कला के उपकरण नहीं हैं। आधुनिक साहित्य की आधुनिकता पर हमारी मानसिक उन्मुक्ति की गहरी छाप है, परन्तु प्रकृत्यः भिन्न होकर भी आधुनिक साहित्य वहीं बड़ा है, जहाँ वह प्राकृतिक और हार्दिक को छूता है। जहाँ वह असाधारण और असामान्य से खेल करता है, वहाँ वह वैचित्र्य और विशृंखलता का ही सृजन कर सकता है।

सच तो यह है कि सच्चा वैज्ञानिक साहित्यकार के साथ ही है। उसका विरोधी वह नहीं है; क्योंकि वह प्रयोगशालाओं में ही बंदी नहीं रहता। वह समस्त जीवन को अपनी प्रयोगशाला बनाता है और अपनी जिज्ञासा को खेतों, खलियानों और महाकांतारों तक ले जाता है। विज्ञान की अनेक नयी शाखाएँ वस्तु के जीवंत तथा विकासमान प्राकृतिक स्वरूप का अध्ययन करती हैं और इस अध्ययन से साहित्य और कला की अपरिसीम पुष्टि संभव है। इस भूमिका पर पहुँचकर विज्ञान और साहित्य एक हो जाते हैं।

•

विज्ञान और विश्वशांति

विश्वशांति की समस्या को सीधे-टेढ़े विज्ञान से जोड़ दिया गया है; क्योंकि पहले महायुद्ध से यह माना जाने लगा है कि विज्ञान ही मनुष्य के सारे रोगों की जड़ है और यदि युद्ध रोग है तो उसका कारण विज्ञान है। इस सारे तर्क के पीछे कोई सुनिश्चित चिन्तन है या नहीं, इसका पता नहीं चलता। परन्तु जन-मानस में विज्ञान एक साथ वरदान और अभिशाप है। उसके अमृत को हमने प्रसन्नता से पीना चाहा है, परन्तु उसके गरल के लिए हम किसी नीलकण्ठ की बाट जोह रहे हैं। विज्ञान के वरदान घरेलू जीवन की जानी-पहचानी चीजें बनकर भुला दिये गये हैं, परन्तु उसके अभिशाप हमारे दुःस्वप्न बन गये हैं।

सत्रहवीं शताब्दी के आरम्भ से वैज्ञानिक शोध और आविष्कार निरंतर वृद्धि पाते रहे हैं। फलस्वरूप मानव-जाति का पिछले ३५० वर्षों का इतिहास प्राचीन इतिहास से भिन्न है। अतीत और वर्त्तमान के बीच की खाई पीढ़ी-दर-पीढ़ी बढ़ती गई है और आज तो एक दशक जैसे दूसरे दशक को पहचानता भी नहीं। स्पेन्डर ने अपने एक निबंध में लिखा है कि आज पाँच वर्षों में वैज्ञानिक प्रगति हमें विकास के क्षेत्र में इतना दूर फेंक देती हैं जितना कभी डायनोसोर से मनुष्य दूर था। इस तीव्र गति से टूटता अधिक है, बनता कम है। प्रश्न यह है कि क्या मानव-जाति इस त्वरा को सहन कर सकेगी ? क्या इससे मानव-मूल्यों का पोषण और उनकी सुरक्षा संभव है ? पिछली पीढ़ियों में जो विश्वास मनुष्य को सुसंस्कृत और सभ्य बनाते थे और समाज को स्थायित्व देते थे वे क्या हमारे समय के गत्यात्मक जीवन में टिके रहेंगे या वैसी आस्था क्या कभी संभव है ? वस्तुतः हमारा भौतिक परिवेश जिस विद्युद्गति से बदलता है उतनी तीव्रता से हमारे आचार-विचारों और व्यवहार-सरणियों में परिवर्त्तन संभव ही नहीं है। फल यह हुआ है कि हम नामों—रूपों का एक नया संसार ही गढ़ते जा रहे हैं जिससे हम स्वयं अपरिचित हैं। विशेषज्ञता के

इस युग में हम प्रति दिन कम-से-कम वस्तुओं से परिचित होते जाते हैं और अंत में हमारा अकेलापन हमें खाने लगता है। आवाज़ आने लगी है कि हमें विज्ञान से बचाओ और आधुनिक युग के एक श्रेष्ठ विचारक बर्ट्रान्ड रसेल ने स्पष्ट लिखा है कि विज्ञान से बचाने वाला विज्ञान हमें चाहिये।

क्या यह संभव नहीं है कि विज्ञान की प्रगति चरम सीमा पर पहुँच कर एकदम बंद हो जाय या इस प्रगति की चाल ही धीमी हो जाय ? यदि यह संभव है तो संभवतः प्रगति की दौड़ में मानव-मन कभी उसे पकड़ सकेगा और अपनी संस्थाओं को विज्ञान के अनुरूप गढ़ सकेगा ? परन्तु वैज्ञानिकों के विचार में यह आत्मप्रवंचना ही है। पिछली तीन शताब्दियों में हमने विज्ञान को जो गति दी है वह किसी भी प्रकार रुकेगी नहीं। उसमें हाथ लगानेवालों की संख्या बढ़ती ही जायगी। एक तरह से हम शेर पर सवार हैं और उतरना मौत के मुँह में जाना है। परन्तु इस तरह टिके रहना भी कब तक संभव है ? यह कहा जाता है कि आज विज्ञान का युग है। वैज्ञानिक आविष्कारों में चाहे असामान्य प्रतिभा का हाथ रहा है, उन्हें उपयोग में लाने के लिए साधारण अध्यवसाय और सामान्य मेधा की ही आवश्यकता है। आज विज्ञान के हाथ में विद्रोह का झंडा नहीं है जैसा दो शताब्दियों पहले था। आज वह समाज और सरकार में पूर्णतः मान्य है। सरकार और विश्व-विद्यालयों के सहयोग से आज विज्ञान सामाजिक जीवन में अंतर्भुक्त हो गया है। वैज्ञानिक अनुसंधानों में लगे हुए लोगों की संख्या दिनों-दिन वृद्धि पर है और जब तक सामाजिक अथवा आर्थिक स्थितियाँ बदलती नहीं, विज्ञान की यह अग्रगामिता बनी ही रहेगी। आज हमारे पास ऐसे साधन हैं कि हम वर्षों के ज्ञान को कुछ दिनों में ही प्राप्त कर सकते हैं और फिर विशेषज्ञता ने उप-लब्ध ज्ञान की परिधि तक पहुँचना हमारे लिए सरल कर दिया है। यही नहीं, विज्ञान के अनेक नये आविष्कार हमें अचानक ही हाथ लग गये हैं और उन्होंने विज्ञान को प्रगति ही नहीं दी है, उसकी दिशा ही मोड़ दी है। उदा-हरण के लिए, हम अणुविकिरण की प्रक्रिया को ले सकते हैं। वह किसी पूर्व-परंपरा का फल नहीं है, उसे बहुत कुछ अप्रत्याशित ही कहा जा सकता है। एक दूसरी बात सामाजिक जीवन में विज्ञान की मान्यता से संबंधित है। आज प्रतिभाशाली तरुण विज्ञान की ओर ही झुक रहे हैं और पिछले युगों में जो

प्रतिभाएँ विभिन्न सामाजिक परिवेश के कारण काव्य और कला की ओर झुकीं वे आज विज्ञान को अपना अशेष दान दे रही हैं।

यह स्पष्ट है कि विज्ञान की प्रगति रुकती नहीं और यदि विज्ञान नाशकारी है तो हमारा विश्वशांति का स्वप्न ही झूठा है। देखना यह है कि विज्ञान ने विश्वशांति को किस प्रकार संकट में डाल दिया है। विज्ञान की एक बहुत बड़ी देन औद्योगीकरण है जिसने आरम्भ में अमरीका और इंग्लैण्ड की जीवन-पद्धति को आमूल बदल दिया। ये सबसे पुराने औद्योगिक राष्ट्र हैं और उनमें नयी जीवन-दृष्टि तथा जीवनपद्धति का विकास इस प्रकार हुआ है कि परम्पराएँ एकदम झटका खाकर टूटी नहीं हैं। इन राष्ट्रों में मनोवैज्ञानिक तनाव के वे चिह्न दिखलायी नहीं देते जो उन राष्ट्रों में दिखलायी देते हैं जिन्होंने और औद्योगीकरण को बाद में प्राप्त किया। उद्योग-धंधों को अपने भीतर पचाने की शक्ति यदि समाज में है तो वह उन पर हावी रह सकता है, नहीं तो वे उसके लिए समस्या बन जाते हैं। बाद के दिनों में जब विज्ञान और औद्योगीकरण विकसित तंत्र के रूप में अन्य देशों के विभिन्न और अर्द्ध-विकसित समाज में पहुँचे तो उन्होंने प्राचीन राष्ट्रीय आचार-विचार का ताना-बाना एकदम नष्ट कर दिया और एक भयावह विस्फोट को जन्म दिया। जर्मनी, रूस और जापान इस प्रक्रिया के उदाहरण कहे जा सकते हैं। जर्मनी से १८४८ ई० में साम्यवाद के रूप में एक नया जीवनादर्श सामने आया और एक नया समाज ही उठ खड़ा हुआ जिसमें "कम्यूनिस्ट मैनीफ़ैस्टो" ने बाइबिल का स्थान ले लिया। डार्विन का विकासवाद का सिद्धान्त इंग्लैण्ड में प्रतियोगिता के स्वाभाविक रूप में लिया गया, परन्तु जर्मनी में उसे राष्ट्रीय क्षेत्र में भी लागू किया गया। फलतः सार्वभौमिक जीवनदृष्टि का प्रतीक विकासवाद राष्ट्रीय प्रतिद्वन्द्विता का ध्वजवाहक बन गया और औद्योगीकरण से राष्ट्रीयता का गठबंधन कर समाजवाद के रूप में एक नया समाजदर्शन ही खड़ा कर दिया गया। इस विचारणा में राष्ट्र ही व्यक्ति-जीवन का नियामक बन गया और व्यक्ति बड़े परिश्रम से अर्जित अपनी स्वतंत्रता खो बैठा। साम्यवाद, नाज़ीवाद, जापानी सैनिकवाद आदि विचारधाराएँ अपरिपक्व और अविकसित समाजतंत्रों के क्षेत्र में विज्ञान और प्राविधिक ज्ञान के क्षेत्र में विज्ञान और प्राविधिक ज्ञान के क्षेत्र में उत्पन्न समस्याओं का समाधान मात्र

हैं। ये समाधान कितने विस्फोटक रहे हैं यह इसीसे स्पष्ट है कि इन्होंने क्रांति, महायुद्ध और शीतयुद्ध को जन्म देकर विश्वमानव के जीवन को कीचड़ में ला घसीटा है। विज्ञान की संभावनाओं ने सामूहिक उन्माद की स्थिति पैदा कर दी है और नये वैज्ञानिक वातावरण को विकास का अवसर ही नहीं मिल रहा है। बिना किसी नैतिक और आध्यात्मिक तैयारी के हम आणविक जगत में कूद पड़े हैं और ब्रह्मास्त्रों से सज्जित होकर मानव-जीवन के लिए संकट बन गये हैं।

वास्तव में विश्वशांति की समस्या विज्ञान के उपयोग की समस्या है। विज्ञान की प्रकृति, उसकी देन तथा उसके सार्वभौमिक स्वरूप से उसका कोई संबंध नहीं है। उपयोगकर्त्ता मनुष्य है जो विज्ञान की भौतिक शक्तियों से बाहर की वस्तु है। वह स्वयं एक परिपूर्ण इकाई है। प्रश्न यह है कि क्या विज्ञान हमें कोई स्थायी सुसंस्कृत समाज दे सकता है जैसा पिछली संस्कृतियों ने हमें दिया या विज्ञान की संहारक शक्ति मानवचेतना की सर्जनात्मक शक्ति पर विजय प्राप्त कर लेगी। यह प्रश्न विज्ञान के क्षेत्र से बाहर नीतिशास्त्र और आचार-दर्शन के क्षेत्र में चला जाता है और जन-मानस से उसका सीधा संबंध जुड़ जाता है। मनुष्य की कोई भी उपलब्धि नीतिनिरपेक्ष नहीं हो सकती। अपने में कोई वस्तु न अच्छी है न बुरी, न पाप है न पुण्य। विस्फोटक पदार्थों के बीच में धूम्रपान निरपेक्ष वस्तु नहीं रह जाता। वह शैतानी कृत्य बन जाता है। विज्ञान ने कुछ परंपरागत आचार-विचारों को अंधविश्वास और अतर्कित सिद्ध कर दिया। परन्तु उसने हमारे लिए नये कर्त्तव्य भी गढ़ दिये हैं। उन नये कर्तव्यों को हम अस्वीकार नहीं कर सकेंगे। यह अवश्य है कि हमारे आचार-विचार हमारे पूर्वजों के आचार-विचार से भिन्न होंगे, परन्तु पुरानी नीति मान्यताओं के स्थान पर नयी नीति मान्यताएँ एक दिन में नहीं आ जातीं। विज्ञान से उत्पन्न खतरों से जो हमें बचा सके वह हमारा नया नीति-बोध होगा। आज का संसार एक अखण्डित इकाई है और युद्धतत्पर राष्ट्रों के पास पिछले युगों की तुलना में असंख्य गुना अधिक शक्ति है। परन्तु इस शक्ति-अर्जन के साथ हमारे कर्त्तव्यों में भी वृद्धि हुई है। आज हम यह भूलते जा रहे हैं कि मनुष्य सर्वशक्तिमान नहीं है और हमारा अहंकार हमें खाने को तैयार है। मनुष्य आज आत्महंता बनने चला है।

•

परन्तु ठंडे हृदय से हम सोचें तो विज्ञान विश्वशांति का सबसे बड़ा साधन बन सकता है। यह ठीक है कि भौतिक शास्त्र, रसायन शास्त्र, प्राणीशास्त्र और सामूहिक मनोविज्ञान के क्षेत्र में मनुष्य को संहारक शक्तियों की अपरिसीम उपलब्धि हो गयी है और निकट भविष्य में राज्यतंत्र जनता के मनःनियंत्रण के अनेक साधन विकसित कर लेगा। जिस अपार शक्ति को विज्ञान ने जन्म दिया है उसे राष्ट्रीय सरकारों के हाथ में देकर हमने अराजकता की सृष्टि कर डाली है। राज्यतंत्र पर जिनका नियंत्रण हो वे उदारचेता और आदर्शप्राण मनस्वी हों तो संसार का भविष्य सुखमय हो। अन्यथा अबौद्धिक और विस्फोटक मनःस्थितियाँ चाहे-अनचाहे हमें सर्वनाश के गर्त्त में ढकेल सकती हैं। परन्तु केवल कोरा बुद्धिवाद ही काम नहीं देगा। हमें मानव-कल्याण को सदैव ध्यान में रखना होगा। हमारे अधिनायक (चाहे वे निर्वाचित हों या सत्ताधारी) किस प्रकार के लोग हैं? क्या वे मानव-जीवन के प्रति आस्थावान और मंगलाशी हैं? क्या वे तर्कवाद से ऊपर उठ कर मानव-जाति को अखण्डित और अव्याहृत इकाई के रूप में देखने को तैयार हैं? क्या वे तात्कालिक परिस्थितियों और उद्देश्यों से ऊपर उठ सकते हैं? हम संघर्ष चाहते हैं या सहयोग? हम विजय को अधिक मूल्य देते हैं या सदाशयता को? हम शांति से ऊब तो नहीं गये हैं और अशांति हमारे लिए मानसिक आवश्यकता तो नहीं हो गयी है? ये कुछ प्रश्न हैं जिन पर विश्वशांति निर्भर है। मनुष्य की घृणा का कोई अंत नहीं है तो उसके प्रेम का भी कोई अंत नहीं है। परन्तु यह प्रश्न तो रहेगा ही कि वह घृणा करता है या प्रेम? चुनना उसे है, विज्ञान को नहीं; क्योंकि विज्ञान जड़ भौतिक शक्तियों का खेल है। वह आत्मिक चेतना नहीं है। चेतन चुनता है, जड़ निष्क्रिय है। वह भोगा जा सकता है और इसी में उसकी सार्थकता है। सच तो यह है कि राष्ट्रों की नीतियाँ और उनके फ़ैसले ही विश्वशांति के लिए संकट को जन्म देते हैं और इनका उद्गम अधिनायकों का मानस ही है। हमारे अधिनायक कैसे हैं, इस पर हमारी शांति निर्भर है। "युद्ध या शांति" की समस्या मानव के बाहर की समस्या नहीं, भीतर की समस्या है; क्योंकि होगा वही जो हम चाहेंगे जब तक कि हम मन पर से विवेक का सारा नियंत्रण न उठा लें और विस्फोटक एवं अराजक न हो जायँ। विज्ञान यह तय नहीं कर सकता कि उसका उपयोग किस प्रकार हो। इसीलिए विश्वशांति की समस्या विज्ञान की समस्या नहीं, संस्कृति की समस्या

हैं। विज्ञान हमें नीतिशास्त्र नहीं दे सकता। वह हमारे सामने कई समाधान रख सकता है और उनके लिए अनेक साधन जुटा सकता है, परन्तु चुनना हमें होगा और उसके लिए वैज्ञानिक समाधान अनावश्यक हैं। हम मानव-जीवन को नष्ट करना चाहें तो विज्ञान उसके संबंध में कोई आदेश नहीं दे सकता; क्योंकि वह उसके क्षेत्र का प्रश्न ही नहीं है। परन्तु यदि जीवन मृत्यु से श्रेष्ठ है और स्वतंत्रता परतंत्रता से अधिक श्रेयस्कर है तो उनका उपयोग हम तक ही क्यों सीमित हो? विज्ञान यह सिद्ध कर सकता है कि मानव-जाति आज एक बड़ा कुटुम्ब बन गयी है और सबको संपन्न और सुखी बनाये बिना हम भी संपन्न और सुखी नहीं बन सकते। हम सुखी रहना चाहते हैं तो दूसरों को भी सुखी देखने के लिए तैयार हों। परन्तु क्या हम संपन्न और सुखी होना चाहते हैं? इसे हम तर्क से सिद्ध नहीं कर सकते। एक बार अपने जीवन और सुख को संग्रहणीय मान कर हम दूसरे के प्रति अपने कर्त्तव्य से बच नहीं सकते। यह सिद्धांत व्यक्तिगत और राष्ट्रीय दोनों भूमिकाओं पर लागू है। यही बौद्धों का "उपाय" है, अर्थात् करुणा। कोरी प्रज्ञा (विवेक-बुद्धि) अंध स्पर्द्धा है। वह कोल्हू के बैल की दौड़ है। उसे करुणा से अनुशासित करना होगा। मानव-जीवन के प्रति आस्थावान् और मानव के प्रति प्रेमपूर्ण तथा करुणावान् होकर ही हम अशांति और संहार के आणविक बादलों को दूर कर सकेंगे। विश्वशांति का एक ही साधन है, कि हम विश्वमानव बनें; क्योंकि सुख भूमा में ही है, अल्प में नहीं। राष्ट्रीय और जातीय स्वार्थों से ऊपर उठ कर ही हम विज्ञान को निर्दोष सिद्ध कर सकेंगे; क्योंकि तब विज्ञान संहारात्मक न होकर सर्जनात्मक बनेगा।



विज्ञान का भविष्य

विज्ञान का भविष्य मानव-जाति के भविष्य से निकटतम रूप से सम्बन्धित है क्योंकि तात्कालिक प्रश्न तो यही है कि विज्ञान की संहारक शक्तियों से हम कैसे बच पाते हैं। औद्योगिक क्रांति के दिनों में विज्ञान ने पहली बार प्राविधिक ज्ञान (टेक्नोलॉजी) में अपना सम्बन्ध जोड़ा और शीघ्र ही मनुष्य के व्यापारिक और व्यावसायिक जीवन में क्रांति प्रस्तुत कर दी। उत्पादन के साधन सिमट कर कुछ थोड़े से व्यक्तियों के हाथ में आ गये और पूँजीवाद तथा उससे सम्बन्धित महाजनी सभ्यता का जन्म हुआ। यह महाजनी सभ्यता पैसे को ही ईश्वर मानती थी। इसने धर्म और नीति के स्थान पर पैसा-धर्म चलाया और सहयोग के स्थान पर प्रतियोगिता का मंत्र फूँका। प्रतियोगिता का अर्थ है संघर्ष। फलतः "संघर्ष ही जीवन है" नारा ऊँचा हुआ। प्रतियोगिता के कारण स्पर्द्धा, द्वेष, घृणा और व्यक्तिगत और सामाजिक क्षेत्रों में कटुता का जन्म अनिवार्य हो गया। पूंजीपति-समाज की सुविधाओं के लिए साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद का जन्म हुआ, क्योंकि कच्चे माल और बाज़ार की समस्या इसी प्रकार हल हो सकती थी।

इस प्रकार विज्ञान ने औद्योगिक क्रांति और प्राविधिक ज्ञान को जन्म देकर पूर्व युग के मानवीय मूल्यों को संकट में डाल दिया। कृषि-संस्कृति में भाई-चारे के मूल्य चलते हैं; क्योंकि खेतिहर समाज पारस्परिक सदाशयता और सहानुभूति पर ही पनप सकता है। ऐसे समाज में सहयोग और श्रम की प्रधानता होती है। परन्तु औद्योगिक समाज का मूलाधार पैसा होने के कारण शोषक और शोषित वर्ग में बँट गया। मानव-मूल्य पीछे डाल दिये गये। निर्वैयक्तिकता और तटस्थता को आदर्श जीवन-व्यवहार माना जाने लगा। बुद्धिवादी समाज नीति-अनीति से परे व्यक्तिगत सुविधा के जगत में रहने लगा। राष्ट्रवाद के जन्म के साथ राष्ट्रीय स्वार्थों के संघर्षों ने महा-युद्धों का रूप धारण कर लिया और दो युद्धों के बाद आज तीसरे महायुद्ध

के आणविक बादलों की आशंका से हम त्रस्त हैं। भौतिक और रासायनिक विज्ञान ने जहाँ आणविक शस्त्रास्त्रों और प्रेक्षणास्त्रों का निर्माण कर संसार को श्मसान बनाने की धमकी दी है, वहाँ कृमि-विज्ञान उसे नरक बना डालने की चुनौती देता है। प्राथमिक शक्तियों और मनुष्य के प्राथमिक शत्रु कीटाणुओं को साध कर वैज्ञानिक आज और भी आगे बढ़ कर मृत्युकिरणों की खोज में हैं। ऐसी स्थिति में विज्ञान के भविष्य को कौन अंधकारपूर्ण नहीं कहेगा ? विज्ञान की जययात्रा कहीं मानव-जाति की श्मसान यात्रा सिद्ध न हो ?

परन्तु काल सीधी रेखा में नहीं चलता। यह ठीक है कि वर्त्तमान में ही भविष्य भी छिपा रहता है, परन्तु भविष्य का निर्माता स्वयं मनुष्य ही है। मनुष्य वर्त्तमान को इस प्रकार मोड़ दे सकता है कि विज्ञान मानव-जीवन के लिए चुनौती न बनकर वरदान बन जाये। विज्ञान ने हमारी मनुष्यता को चुनौती दी है। प्राकृतिक शक्तियों पर विजयी मानव आज यदि आत्मविजयी न बन सका तो उसका अस्तित्व ही संकट में पड़ जाता है। वह कालजयी बनने चला था, परन्तु उसकी क्षुद्रता उसे निकलने के लिए तैयार है। इस क्षुद्रता का सामूहिक रूप राष्ट्रवाद है जो हमारी व्यापक मानवीयता को खण्डित कर रहा है। विज्ञान ने देशकाल के व्यवधान को नष्ट कर संपूर्ण मानव-समाज को एक अखण्डित इकाई बना दिया है, परन्तु हम अब भी राष्ट्रीय स्वार्थों में बँधे हैं। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र का शत्रु है। विजेता राष्ट्र विजित राष्ट्र का रक्त तक चूसना चाहता है। स्थिति इतनी भयावह है कि राष्ट्रवाद के नाम पर दो महायुद्ध हो चुके हैं और फिर भी अंतर्राष्ट्रीयता अभी स्वप्न ही है। जातिवाद, गोरे-काले, पूर्व-पश्चिम का भेद इसी राष्ट्रवाद की उपज है। चारों ओर भय और आशंका का राज्य है। आवश्यकता इस बात की है कि मनुष्य अपने को "मानव" सिद्ध करे और "समता, स्वतंत्रता और बन्धुत्व" के आदर्श को राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय जीवन में चरितार्थ करे। व्यक्तिगत जीवन में जिन्हें "धर्म" का लक्षण बताकर संग्रहणीय माना गया है, वे ही मूल मानव-धर्म के अंग हैं। विज्ञान उसका विरोधी नहीं हो सकता। उसकी पहुँच भौतिक और प्राकृतिक शक्तियों तक है। जब मनुष्य ने सामाजिक जीवन का आविष्कार कर लिया तो उसने विज्ञान से बड़ी और भिन्न वस्तु खोज निकाली। यह वस्तु थी सहयोग, करुणा, प्रेम और बंधुत्व

की मानवीय विशेषता। सांस्कृतिक जीवन प्राकृतिक देन नहीं है। वह मनुष्य का आविष्कार है। विज्ञान यदि इस सांस्कृतिक जीवन को पुष्ट करता है तो वह अपने को ही सार्थक नहीं करता, अपने भविष्य को भी उज्ज्वल बनाता है।

यह निश्चय है कि पिछले डेढ़-सौ वर्षों में विज्ञान की जितनी उन्नति हुई है उतनी नैतिकता के क्षेत्र में नहीं। नैतिक मनुष्य आज बौना ही दिलखायी पड़ता है; क्योंकि संघर्षशील जीवन के बदलते हुए मूल्यों ने उसे मानव-धर्म से च्युत कर दिया है। आज विज्ञान और धर्म का द्वन्द्व बौद्धिक मनुष्य की नैतिक दुर्बलता का ही सूचक है। विज्ञान मानव-हित के लिए है। सांप्रदायिक और राष्ट्रीय मनुष्य के लिए नहीं, वह सार्वभौमिक मनुष्य के लिए है। इसके विपरीत विज्ञान यदि मानव के शोषण या परतंत्रता का कारण बनता है तो वह अनिष्टकर ही कहा जा सकता है। मनुष्य का कोई भी कर्म नीति-अनीति के परे नहीं हो सकता; क्योंकि मनुष्य कर्म करने में स्वतंत्र है और अपने कर्म के प्रति उत्तरदायी है। जीवन यदि प्रकृति की देन है तो उसके प्रति उत्तरदायित्व का निर्वाह ही मानव-धर्म हो सकता है। जीवन का संकोच अधर्म है, उसका प्रसार धर्म। विज्ञान यदि विकासवाद का समर्थक है तो वह ऐसे प्रयोगों और संहारक आविष्कारों का समर्थक नहीं हो सकता जो विकास को बंद गली में उतार दें और मानव को सत्यानाश की ड्योढ़ी पर पहुँचा दें। इसीलिए विज्ञान के भविष्य के साथ मानवता का भविष्य जुड़ा है और मानव के विकास के साथ विज्ञान की प्रगति बँधी है।

आवश्यकता इस बात की है कि हम विज्ञान को नीति-अनीति से परे नहीं समझें। विज्ञान मानव-हित के लिए हो। मनुष्य को भौतिक सुख-सुविधा देना या प्रकृति पर विजय पाना ही विज्ञान का लक्ष्य नहीं होना चाहिए। उसका लक्ष्य और भी बड़ा हो। वह मनुष्य के नैतिक और संस्कारी जीवन को भी पुष्ट करे। उसे मानव-हित के प्रति आस्थावान और सक्रिय बनाये। लोकधर्मी बनकर ही विज्ञान मानव के भविष्य को सुन्दर बना सकता है और इसी में स्वयं विज्ञान का भविष्य अंतर्निहित है। संहार के देवता रुद्र ही मंगल के देवता शिव भी बन सकते हैं। वास्तव में नाश और निर्माण

सिक्के के दो पहलू हैं। वैज्ञानिक अनुसंधान को मानव-कल्याण में लगा कर ही हम निर्माण की शक्तियों को बल दे सकेंगे। फ्राइड के विचार में प्रेम (एरॉस) और मृत्यु की प्रवृत्तियाँ नैसर्गिक रूप से मानव को प्राप्त हैं। इन दोनों के द्वन्द्व में ही मानव-प्रगति चरितार्थ होती है। पिछले डेढ़-सौ वर्षों से विज्ञान जीवन से अधिक मरण की ओर उन्मुख है, परन्तु काल के अश्व की वल्गा मोड़कर हम जीवन और प्रेम को भी अपना लक्ष्य बना सकते हैं। आणविक शक्ति के निर्माणात्मक उपयोग से मानव इसी पृथ्वी पर स्वर्ग की अवतारणा कर सकता है। अणु-शक्ति से भी अधिक संपन्न शक्तियों के उद्-घाटन की संभावना भी सामने आ रही है और वह दिन दूर नहीं है जब मनुष्य अंतरिक्ष का स्वामी बन जायगा। जिस वरुण देवता की उसने कभी कल्पना की थी वह स्वयं उसके भीतर विराजमान है और उसे गरुत्मान पंख देकर दूर-सुदूर ग्रह-पिंडों की ओर साहसी अभियान के लिए तैयार कर रहा है। मनुष्य यदि अपनी क्षुद्रताओं और असंयत चेष्टाओं से अपने को नष्ट नहीं कर देता तो वह देवता बन कर रहेगा। विज्ञान उसकी आत्मसाधना का प्रथम सोपान बनेगा। महाकवि डाक्टर इक़बाल ने ठीक ही कहा है:

सितारों के आगे जहाँ और भी हैं। अभी इश्क के इम्तहाँ और भी हैं॥

(मनुष्य की संभावनाएँ अभी समाप्त नहीं हुई हैं। नक्षत्रों के आगे की बड़ी दुनिया पड़ी है। जैसे-जैसे मनुष्य प्रेम की परीक्षा में उत्तीर्ण होता जायेगा, प्रकृति के नए-नए रहस्य पर उस पर खुलते जायेंगे।)

सच है, अभी हम मानव-प्रगति के प्रथम सोपान पर ही खड़े हैं और संभाव-नाओं की आकाशचुम्बी ऊँचाइयाँ हमारे सिर के ऊपर हैं। साहस चाहिये। प्रेम और सद्भाव की अशेष कल्पना चाहिये। तब विज्ञान चुनौती नहीं, वरदान बनेगा। विष्णु का तीसरा पद अभी अनन्त आकाश को कहाँ नाप पाया है? अभी तो वह उठा ही है?

इसमें संदेह नहीं कि विज्ञान का भविष्य मानवता के भविष्य के साथ जुड़ा है। विज्ञान मनुष्य की अंतिम उपलब्धि बने, या और भी बड़ी उपलब्धि

के लिए सोपान हो, यह तभी निश्चय होगा जब मनुष्य विज्ञान की भस्मासुरी शक्तियों पर विजय प्राप्त कर आत्मजयी बन सकेगा। धर्म, दर्शन, अध्यात्म, कला, साहित्य और विज्ञान सभी आत्मा की विवृत्तियां हैं। भीतर का चैतन्य ही इनमें अपने इन्द्रधनुषी पंख खेलता है। यह चैतन्य सीमाओं में नहीं बँधता। उसका विस्तार ब्रह्म की भांति ही असीम है क्योंकि वह ब्रह्म की सच्चिदानन्दी अभिव्यक्ति ही तो है। चैतन्य से अनुशासित होने पर विज्ञान क्या नहीं कर सकेगा? परन्तु चैतन्य को खण्डित करने पर विज्ञान ही कहाँ रहेगा? विज्ञान की बाँसुरी में हम चैतन्य की फूंक भरें या जड़ता की? यह है सब प्रश्नों का प्रश्न जो किसी भी प्रकार अतिप्रश्न नहीं कहा जा सकता। बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध को इसका उत्तर देना होगा। आज हमें ऐसे विज्ञान की आवश्यकता है जो हमें विज्ञान से बचाए। यह विज्ञान आत्मज्ञान ही हो सकता है। यह दूसरी बात है कि हम उसे दर्शन और धर्म के प्रथित मूल्य नहीं देना चाहें। परन्तु विज्ञान का आविष्कर्त्ता और माध्यम भी मनुष्य ही है और इसलिए उसे अपने आविष्कारों से पहले अपने को ही समझना होगा। अपनी क्षुद्रताओं को विज्ञान पर लाद कर हम विज्ञान को ही छोटा कर रहे हैं। उसे सदाशयता और करुणा से जोड़ कर हम सच्चे बौद्धिक बन सकेंगे। बौद्ध धर्म में प्रज्ञोपाय ही अंतिम लक्ष्य था। प्रज्ञा का अर्थ है निर्वाण का सत्य और उपाय का अर्थ है करुणा। आज विज्ञान निष्करुण हो गया है और हमारी सत्य की खोज हमारे लिए घातक सिद्ध हो रही है। सत्य के प्रयोग प्रयोगशाला तक ही क्यों सीमित हों? हम उन्हें अपनी कारुण्य-साधना का माध्यम क्यों न बनाएँ। विज्ञान का भविष्य सत्य-साधना में ही नहीं है, उसे लोकमंगल और करुणा को भी पुष्ट करना होगा।

विज्ञान की चुनौती

विज्ञान आज हमारे लिए बहुत बड़ी चुनौती बन गया है। पुराणों की भस्मासुर की कहानी आज उस पर सब प्रकार से चरितार्थ होती है। शिव-देवता से सर्वनाश का वर प्राप्त कर विज्ञान का भस्मासुर उसे अपने ऊपर परीक्षित करने चला है। उसका आत्मघाती उत्साह किसी भी प्रकार के बन्धन नहीं मानता। उन्नीसवीं शताब्दी में भौतिक विज्ञान की खोजों से मानव-हृदय जिस गर्व, आस्था और विस्मय से भर गया था, वह आज बहुत पीछे की चीज़ है। आज विज्ञान की प्रत्येक नई खोज हमें शंका से भर देती है, कहीं वह राजनीति का शिकार बन कर मानव-संहार का साधन तो नहीं बन जायेगी। ऐसी स्थिति में हम प्रत्येक क्षण विज्ञान से शंकालु हैं। आज वैज्ञानिक और प्राविधिक विशेषज्ञ स्पृहा की वस्तु हैं। प्रत्येक राष्ट्र उनका स्वागत कर रहा है। परन्तु विज्ञान के प्रति यह आकर्षण मानव-कल्याण के लिए नहीं, राजनीतिक विचार-धाराओं और राजनीतिक तंत्रों के प्रसार के लिए है। विशेषज्ञता आज के वैज्ञानिक का नशा है और जब तक वह समझे कि उसकी खोज हिंसाधर्मी राजनीतिक के हाथ में पड़ कर मानव-जाति के लिए भयावह बन गई है तब तक नशे का दूसरा दौर शुरू हो जाता है और वह विज्ञान को नैतिकता से परे मान कर सत्यान्वेषी के दंभ से संतोष कर लेता है।

आधुनिक युग के दो बड़े वरदान विज्ञान और प्रजातंत्र कहे जा सकते हैं और दोनों पश्चिमी बुद्धिवाद की उपज हैं। यद्यपि दोनों का अद्यतन इतिहास आशा और निराशा का धूपछांही खेल रहा है परन्तु अब भी मानव-जाति का भविष्य उसके हाथ में है। प्रजातंत्र राजनीतिक और सामाजिक शृंखलाओं से मनुष्य को मुक्त करता है जो उसकी मानवीय क्षमता और महत्ता पर आघात करती हैं। विज्ञान अज्ञान, अंधविश्वास और मानसिक धुंध को दूर करता है और प्रकृति के नियमों तथा शक्तियों को उद्घाटित कर उन्हें मानव की सेवा में लगाता है। विज्ञान और प्रजातंत्र एकदम असंपृक्त और स्वतंत्र चेतनाएं नहीं

हैं। उनके शक्ति के स्रोत एक हैं और लक्ष्य में भी समानता है। दोनों में साधन और साध्य का भी संबंध है। विज्ञान प्रजातंत्र के लक्ष्य की भी पूर्ति करता है और यह लक्ष्य है सद्‌जीवन जिसका तात्पर्य है कि आधुनिक सभ्यता के सांस्कृतिक और भौतिक उपकरण समस्त जन के लिए समान रूप से सुलभ हो जाएं। विज्ञान इस उद्देश्य की पूर्ति के साधन जुटाता है। वह उस शक्ति का स्रोत है जो भौतिक जीवन की समृद्धि के लिए साधन इकठ्ठे करती है और संस्कृति के उपकरणों को सामान्य जन तक पहुँचाती है। विज्ञान ने यातायात के साधन उपलब्ध किए हैं, देशकाल की दूरी नष्ट की है और रेडियो, टेलीविज़न, समाचारपत्र ओर सिनेमा के द्वारा संस्कृति को करोड़ों स्त्री-पुरुषों तक पहुँचाया है। यह दूसरी बात है कि इन साधनों से संस्कृति सस्ती चीज़ हो गई है और उसका स्तर भी गिर गया है परन्तु आज समाज का कोई विशेष वर्ग संस्कृति का दावा नहीं कर सकता। उसके निर्माण में चाहे प्रत्येक जन का हाथ नहीं हो परन्तु उसके फल सभी को प्राप्त हैं।

चुनौती कहाँ है? चुनौती तब उत्पन्न होती है जब हम विज्ञान को मनुष्य के शोषण के लिए लगाते हैं और उसके द्वारा राष्ट्रों के बीच में भेद-भाव की दीवारें उठाते हैं। उपनिवेशवाद, साम्राज्यवाद, काले-गोरे का समस्या, जीवनमान में अंतर, जातिवाद और राष्ट्रवाद आज मनुष्य को उसी प्रकार खण्डित कर रहे हैं जिस प्रकार मध्ययुग में अनेक धर्म और संप्रदाय उसकी एकता की चेतना को नष्ट-भ्रष्ट करते थे। विज्ञान को राष्ट्रीय चेतना या राष्ट्रीय स्वार्थ का साधन बना कर हमने मनुष्य को छोटा करना चाहा है। फलस्वरूप विज्ञान बन्धन बन गया है और वह आज भय तथा आकांक्षा का विषय है।

मध्ययुग की प्रगतिशील धार्मिक चेतना ने जिस प्रकार सामाजिक जीवन में समानता और उन्मुक्ति का संदेश दिया था उसी प्रकार विज्ञान का भी एक सामाजिक और मानवीय पहलू है जो देशकालजातिविनिर्मुक्त सार्वभौम मानवचेतना का वाहक है। भारत में आज हम जिस औद्योगिक क्रांति को जन्म दे रहे हैं वह आधुनिक विज्ञान की ही देन है परन्तु हम उसके द्वारा भारतीय अर्थमत्ता का पुर्ननिर्माण करना चाहते हैं और तैंतालीस करोड़ नागरिकों की खाने-कपड़े और आवास की समस्या को हल करने में प्रयत्नशील हैं। जिस

नई संस्कृति का निर्माण राजा राममोहनराय से महात्मा गाँधी तक चलता रहा है उसे हम वैज्ञानिक साधनों के द्वारा सब तक पहुँचा देना चाहते हैं। इसीलिए हम विज्ञान को जागरूक और सच्ची नागरिकता का निर्माता समझते हैं। आचार्य विनोवा भावे और प्रधानमंत्री पण्डित जबाहरलाल नेहरू जब विज्ञान को अध्यात्मगर्भित करने की बात कहते हैं तो उनका तात्पर्य यही होता है कि विज्ञान लोककल्याण का साधन बने। वैज्ञानिक साधनों द्वारा प्राप्त भौतिक संपन्नता हमें प्रमादग्रस्त और भोगवादी नहीं बनाये, उससे हम आत्मिक एक्य और अपरिग्रही जीवन चेतना का लाभ करें। पश्चिम ने विज्ञान को सत्य की खोज का साधन बनाया है परन्तु वह वैज्ञानिक सत्य को शिवम् और सुन्दरम् से संपृक्त नहीं कर सका। लोककल्याण का स्थान राष्ट्रीय स्वार्थ ने ले लिया और परिग्रह के आग्रह ने संसार को स्वतंत्र राष्ट्रों और उपनिवेशों की दो इकाइयों में बाँट दिया तथा स्वयं औद्योगिक राष्ट्रों के भीतर पूँजीवादी एवं सर्वहारा समाज के दो विरोधी वर्ग खड़े कर दिये। पश्चिमी विज्ञान ने अहंता को जन्म दिया है और हमारी विस्मय की भावना पूजा (श्रद्धा) और प्रेम की भावना नहीं बन सकी है। फलतः पश्चिमी विज्ञान अनीश्वरवादी है और उसका मानववाद प्रकृति के सहयोग पर नहीं, संघर्ष पर आधारित है। प्रकृति की उदारता में उसे विश्वास नहीं है। वह उससे छीन कर ही, उसे निःशेष करके ही समृद्ध बनना चाहता है, परन्तु निश्चय ही यह छीना-झपटी की संपन्नता आत्मिक नहीं बन सकती। ईश्वर, प्रकृति और मानव के सहयोग से ही ऐसी श्रेष्ठ संस्कृति की नींव पड़ सकती है जो अप्रमादी हो और मानव-कल्याण ही जिसका लक्ष्य हो। यही सच्ची आध्यात्मिकता है। मानव मात्र के प्रति सच्ची तादात्म्यता की अनुभूति और प्रकृति से चमत्कृत एवं आनन्दित होने की क्षमता ही जीवन के काव्य का निर्माण करने वाले उपकरण हैं। इनमें से पहली चीज़ प्रजातंत्र की मानवीयता से बहुत दूर नहीं है क्योंकि "सर्वजनहिताय सर्वजनसुखाय" का प्रजातंत्री महामंत्र वेदान्ती लोकसेवाव्रत से भिन्न वस्तु नहीं है। स्वामी विवेकानन्द की नव्य वेदांती चेतना यहीं पश्चिमी मानववाद और विज्ञानवाद से संपृक्त होती है। प्रज्ञावाद की अनुभूति में ही वेदांत और करुणा की साधना सन्निहित है। गाँधी और विनोवा का अध्यात्म पलायनवाद नहीं है—वह लोकजीवन के भीतर से आत्मस्वातंत्र्य की चेष्टा है। मुक्ति क्या है? आत्मस्वातंत्र्य! परन्तु यह आत्मस्वातंत्र्य क्या

हमें मिल सकेगा जब तक एक भी मनुष्य दरिद्र, दुःखी और अंधसंस्कारों में बंदी है ? इसीलिए आज प्रजातंत्र की साधना बोधिसत्वी साधना बन जाना चाहती है। उसने पूर्व-पश्चिम, काले-गोरे, ऊँचे-नीचे का भेद मिटा दिया है। विज्ञान उसका साथी है। संपूर्ण भूगोल एक इकाई बन गया है—एक बड़ा परिवार जो समता, स्वतंत्रता और बंधुत्व का जीवन जीना चाहता है और इसी पृथ्वी पर स्वर्ग का निर्माण करने का व्रत लेकर उठा है। पंत ने अपने काव्य में जिस भू-चेतना का निर्माण किया है वही आज के वैज्ञानिक और प्रजातंत्री युग की एक मात्र सार्थकता है। वही सच्चा और अंतरंगी मानववाद है। पश्चिम का मानववाद अनीश्वरवादी और प्रकृति के शोषण पर आधारित होने के कारण श्रद्धा और प्रेम से हमें वंचित करता है। वह आत्मतोषी है, आत्मदानी नहीं। भारतवर्ष में हमें विज्ञान और अध्यात्म के आंतरिक ऐक्य के आधार पर नए मानववाद की स्थापना करनी होगी। यह नव्य वेदांती मानववाद विवेकानन्द, तिलक, गाँधी और अरविन्द की चेतना और क्रियाशीलता में मूर्त्तिमान हो चुका है। पश्चिम के विज्ञान को भौतिक उपलब्धियों का विषय बना कर ही हम संतुष्ट नहीं होंगे। उसके द्वारा हम मानव मात्र की एकता, आत्मिकता एवं प्रेममयता को चरितार्थ करेंगे। आज का विज्ञान यही चुनौती लेकर सामने आया है। आत्मिक जगत की शक्तियाँ आणविक जगत की शक्तियों से कम प्राणद नहीं हैं। विज्ञान के प्रजात्मक (लोकतंत्री) उपयोग से मानव का आत्मिक जगत करुणा, प्रेम और ईश्वर-विश्वास से स्पन्दित होगा। तभी विज्ञान अध्यात्म का अंग बन कर सार्थक बन सकेगा।

विज्ञान की अनेक चुनौतियों में से एक चुनौती स्वयं उसके भीतर से आई है। यह विशेषज्ञता के नाम से प्रसिद्ध है। स्पेन के प्रसिद्ध दार्शनिक जोसे आर्टेगा गेसे ने अपने एक ग्रंथ "द रिवोल्ट आफ़ द मासेज़" में इस विषय पर गंभीरतापूर्वक विचार किया है। उनका कहना है कि उन्नीसवीं शताब्दी ने ही प्रजातंत्र के साथ यंत्रवाद भी हमें दिया है और इस यंत्रवाद ने धीरे-धीरे विशेषज्ञता को जन्म देकर वैज्ञानिकों की भारी संख्या पैदा कर दी है जो जन-समूह की भाँति ही अज्ञानी और बर्बर है। सोलहवीं शताब्दी के अंत में गैलीलियो द्वारा प्रयोगात्मक विज्ञान का जन्म हुआ और एक शताब्दी

बाद न्यूटन के समय में वह निश्चय रूप से सवमान्य बन चुका था। अठ्ठारहवीं शताब्दी के मध्य में उसका विशेष विकास हुआ और धीरे-धीरे विशेषज्ञता की आवश्यकता पड़ने लगी। वैसे विज्ञान किसी प्रकार की एकांगिता को स्वीकार नहीं करता और अपने क्षेत्र से बाहर जा कर गणित, तर्क और दर्शन से भी सहारा लेता है। परन्तु प्रतिदिन के कार्य में व्यावहारिकता और दक्षता का तक़ाज़ा है कि वैज्ञानिक कोई सीमित क्षेत्र अपना ले और उसी में जीवन भर लगा रहे। उन्नीसवीं शताब्दी में प्राविधिक ज्ञान के प्रसार के साथ विशेषज्ञता की बाढ़ आ गई और पीढ़ी-दर-पीढ़ी वैज्ञानिक का मानसिक जगत संकीर्ण होता गया। वह अपने विशेषज्ञता के क्षेत्र में ही सिमट कर रह गया। विज्ञान की अनेक शाखाओं से उसका संपर्क घटता गया और सृष्टि-व्यापार के सामग्रिक विवेचन के क्षेत्र में उसकी देन कम होती गई। यह भुला दिया गया कि सब से बड़ा विज्ञान संस्कृति ही है जो जीवन-विज्ञान है। इस ज्ञान-संकोच ने सांस्कृतिक जीवन में भी संकोच को जन्म दिया और वैज्ञानिक अपनी देन के नैतिक परिणामों की ओर से विमुख हो गया। वह यूरोप और अमरीका के विशाल वैज्ञानिक यंत्र का एक निरर्थक पुतला मात्र रह गया। इस प्रकार विज्ञान ने वैज्ञानिक को जीवन की व्यापकता से हटा कर विशेषज्ञता के रूप में बर्बरता को जन्म दे दिया। इस संकट से उबर कर ही हम विज्ञान को मानव-संस्कृति का उपयोगी अंग बना सकेंगे। परन्तु कठिनाई यह है कि कोई नहीं जानता यह कैसे हो!

विशेषज्ञता आज विज्ञान के क्षेत्र का ही नहीं, साहित्य और कला के क्षेत्र का भी फ़ैशन होती जा रही है। कम-से-कम का अधिक-से-अधिक जानना ज्ञान कहा जाने लगा है। इस प्रकार ज्ञान और अज्ञान की सीमाएँ ही मिटती जा रही हैं। वैज्ञानिक ज्ञानी और अज्ञानी के बीच में कहीं है क्योंकि वह "वैज्ञानिक" है और अपनी निजी छोटी-सी दुनिया का सब कुछ जानता है, परन्तु प्रश्न यह है कि यह सब कुछ है कितना! धर्म, दर्शन, इतिहास, साहित्य, कला, सभी मानवीय ज्ञान-क्षेत्र उसके जगत से वहिष्कृत हैं। इनके संबंध में उसे न जानना है, न कहना है। वह अपने क्षेत्र का अधिकारी है। इसीलिए अपने ज्ञान के प्रति वह गर्वीला है परन्तु अज्ञान के लिए विनयशील नहीं है क्योंकि वह जानता ही कहाँ है कि उसके विशेषज्ञता के बाहर कितना

बड़ा संसार पड़ा है ! जीवन के लगभग सभी क्षेत्रों में वह अनधिकारी की तरह जीता है और उसकी प्रतिक्रियाएँ अशिक्षित जन-साधारण से भिन्न नहीं होतीं। इस स्थिति का फल यह हुआ है कि आज विज्ञान राजनीति का पिछलग्गू है और वैज्ञानिक राजनीतिक के हाथ की कठपुतली है। आज सांस्कृतिक कहे जाने मनुष्यों की संख्या उतनी भी नहीं है जितनी अठ्ठारहवीं शताब्दी के मध्य में थी क्योंकि अज्ञान के आधार पर हम कोई भी संस्कृति खड़ी नहीं कर सकते। उन्नीसवीं शताब्दी तक हमें सर्वज्ञ या वहुज्ञ लोग बड़ी संख्या में मिल जाते थे और विज्ञान संस्कृति का पोषक ही था, विरोधी नहीं। आज विशेषज्ञता स्वयं विज्ञान को कुण्ठित कर रही है। उसकी प्रगति यांत्रिक बन गई है परन्तु जिसे मौलिक देन कहा जा सकता है यह चीज़ अधिक नहीं है। आईन्स्टाइन जैसे वहुज्ञ और सुसंस्कृत वैज्ञानिक हमें चाहिये जो विभिन्न क्षेत्रों के ज्ञान से अपने मन को उन्मुक्त होने का अवसर दें और जिनके द्वारा विज्ञान को अकल्पित नई दिशाएँ मिलें।

विज्ञान ने हमारे जीवन को अप्रत्याशित रूप से सुविधाजनक बना दिया है और रोगों पर नियंत्रण तथा स्वस्थ आवासों एवं विश्रामस्थलों की योजना के द्वारा पृथ्वी पर स्वर्ग उतारने का दावा किया है। परन्तु पश्चिमी प्राविधिक विज्ञान ने मानव-जाति की जन-संख्या में भी अभूतपूर्व वृद्धि की है और आज तीन सौ करोड़ मनुष्य हमारी किसी भी योजना में बँध नहीं पा रहे हैं। विज्ञान और प्रजातंत्र ने मिलजुल कर सामूहिक मनुष्य 'मास-मेन' को जन्म दिया है। केवल संख्या की बात ही नहीं है, चुनौती इसमें है कि जिन प्रजाओं को हम निरंतर चक्रव्याजी गति से बढ़ा रहे हैं उनके लिए जीवन के उच्च मानदण्ड प्रस्तुत करना हमें दूभर हो रहा है। केवल वैज्ञानिक साधनों के उपयोग से न हम जन-संख्या सीमित कर सकेंगे, न इस बढ़ती "जनता" को संस्कृति दे सकेंगे। यह निश्चित है कि विज्ञान की इन चुनौतियों का समाधान संस्कृति में ही है क्योंकि संस्कृति मानव-मूल्यों की सृष्टि कर हमें भीतर से नियोजित करती है और मनुष्य का संकल्प ही उसे पशु की भूमिका से ऊपर उठा कर देवत्व के सिंहासन पर प्रतिष्ठित कर सकता है।

विज्ञान और आधुनिक जीवन

आधुनिक जीवन विज्ञान की ही देन है क्योंकि उसका आधार वैज्ञानिक और बौद्धिक संस्कृति है। मानव-जीवन के आरम्भ से अब तक मनुष्य ने प्रकृति की विशृङ्खलता पर सुनिश्चित योजना और सुबुद्धता का अनेक बार आरोप किया है और इस प्रक्रिया में संस्कृति के अनेक रूप उद्घटित हुए हैं। वैदिक ऋषियों ने ऋत् की कल्पना के द्वारा मानव-जीवन में नैतिक तत्वों को प्रधानता दी और यम-नियम के द्वारा मानवीय सम्बन्धों को अनुशासित करना चाहा। जैन तीर्थङ्करों ने तप तथा अहिंसा और भगवान बुद्ध ने करुणा के द्वारा मनुष्य की सर्जनात्मक धारणा को चुनौती दी। वैष्णव भक्तों के लिए परम प्रिय के लिए आत्मसमर्पण-भाव ही मानव-सम्बन्धों का वाहक बन गया। इस प्रकार प्रत्येक संस्कृति, समाज और युग में सन्तुलन और समाधान के रूप भिन्न रहे हैं और मनुष्य अपनी सर्जनात्मक कल्पना के द्वारा नव-नव संस्कृतियों को जन्म देने में सफल रहा है। विज्ञान ने हमें जो संस्कृति दी है वह भौतिक शक्तियों को नियन्त्रित कर शक्ति की उपासना करती है। वैज्ञानिक चिन्तन शाक्तधर्मी और उसकी सार्थकता यही है कि वह हमें प्राकृतिक शक्तियों पर शासन करने की क्षमता दे। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि वैज्ञानिक संस्कृति परिवेश को चुनौती देती है और हमारी देश-काल की सीमाओं को तोड़कर हसे सार्वभौम जीवन के लिए तैयार करती है। परन्तु सृष्टि को हम जो रूप दें वह हमारी परिपूर्ण जीवन-दृष्टि पर निर्भर रहेगा, केवल निर्वैयक्तिक और एकांगी सन्दर्भों पर नहीं। संस्कृति भीतर से बल पाती है। वह अंतश्चेतना की उपज है जिसमें युग के सर्वश्रेष्ठ ज्ञान, इच्छा और कर्म का समाहार हो जाता है। अब तक विज्ञान ने मानवीय उपकरणों का अपनी बौद्धिक, प्रायोगिक और प्राविधिक संस्कृति में समावेश नहीं किया है क्योंकि वैज्ञानिक तटस्थता और स्वतन्त्रता का दम्भ भरते हैं। उन्हें यह समझ लेना होगा कि विज्ञान अपने में संस्कृति नहीं है, वह मानव-संस्कृति का सर्जनात्मक माध्यम मात्र है। वह मानव-जीवन

विकास का ऐतिहासिक चरण है जिसका आना अनिवार्य था। इसीलिए आधुनिक जीवन को हम जब वैज्ञानिक संस्कृति का पर्याय मानते हैं तो इसी ऐतिहासिक सत्य को स्वीकार करते हैं।

परन्तु अब ऐसा जान पड़ता है कि अहंकार के अजगर ने हमें अपनी कुंडली में बाँध लिया है और हम अपनी बुद्धि के गढ़ में ही बन्दी हो गये हैं। मानव-मन अपनी चरम सीमा तक चला गया है और उसने जिन आत्मिक संघर्षों और आत्मिक खाइयों को जन्म दिया है वे आज मनुष्य के भाग्य का अनिवार्य अंग बन गई हैं। आज हम वहाँ पहुँच गये हैं जहाँ यह आवश्यक हो गया है कि हम भौतिक वातावरण को ही नहीं बदलें, अपनी प्रकृति को बदलने की प्रक्रिया को भी उद्घटित कर सकें। शक्ति-साधना के साथ मूल्यों की साधना भी आवश्यक हो गई है। हम चाहते हैं कि विज्ञान हमें मानव-जाति के भविष्य का चित्र भी दे सके। उस चित्र में हमारी सभी उपलब्धियाँ यथास्थान आ जाएँ।

परन्तु क्या विज्ञान हमें परिपूर्ण और समन्वित जीवनदृष्टि दे सकता है? क्या उसमें विभिन्न क्षेत्रों के अनुभवों और अनुभूतियों को बाँधने की शक्ति है? क्या वह धर्म की तरह एक सार्वभौमिक और मानवीय तंत्र हमें दे सकेगा जो उसे अनास्था और निरपेक्षता से ऊपर उठा कर मानव की कल्याण-साधना का महामंत्र बना सके? ये कुछ प्रश्न हैं जो आज प्रत्येक वैज्ञानिक विचारक के सामने हैं। अब तक विज्ञान एकांगिता का दोषी रहा है। उसे मूल्यों के प्रति अनासक्ता, निरपेक्ष एवं असंग्रही कहा गया है। उसने सत्य को सुन्दर और शिव का साधन नहीं बनाया है, न उसकी सत्य की खोज मात्र सत्य के लिए है। सत्य की शोध के रूप में उसने शक्ति की साधना की है, परन्तु इसके लिए उसे अपने अनुभव के उन स्वरूपों को लेकर चलना पड़ा है जो उसके इस कार्य में सहायक हो सकते थे। जिस प्रकार सरिता का उद्दाम प्रवाह कवि के लिए "निर्झरेर स्वप्न-भंग" (रवीन्द्र) या "धारा" (निराला) की अनुभूति की सृष्टि करता है उसी प्रकार इंजीनियर के लिए वह जलविद्युत का स्रोत बन कर सार्थक होता है। विज्ञान वस्तुओं में नहीं, उनके अनुभव से उत्पन्न चेतनता या जागरूकता को महत्ता देता है। वह संबंधों, प्रतीकों और मानदण्डों से बँधा

है। वह हार्दिक नहीं है, इसी से वह हमारी आत्मा को तोष नहीं देता। वह सूचना बन कर रह जाता है और बौद्धिकता के धरातल से ऊपर नहीं उठता।

यदि विज्ञान को सर्जनात्मक और पूर्णकामी बनना है तो हमें कल्पना और सत्य के बीच की गहरी खाई को पाटना होगा और मनुष्य के विभिन्न क्षेत्रों के अनुभवों को एक हार्दिक सूत्र में बाँधना होगा। यह कहने से काम नहीं चलेगा कि विज्ञान हमारी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करेगा और धर्म या अध्यात्म हमारे आत्मिक जगत की देखरेख करेगा। मानव-चेतना के खण्ड नहीं किये जा सकते। लगभग तीन सौ वर्ष हुए, विज्ञान ने मनुष्य के धारणाजगत को चुनौती देते हुए प्रवेश किया और भौतिक परिवेश को बदलने वाले यंत्र के रूप में उसके उपयोग को डेढ़ शताब्दी से अधिक समय नहीं हुआ। फिर भी इस थोड़े से समय में उसने मानव-संस्कृति की भूमिका ही बदल दी है। उसने पुरातन विश्वासों और संस्कारों के स्थान पर नए विश्वासों और संस्कारों को हमें दिया है और मानव-मस्तिष्क को ऐसी संजीविनी-शक्ति भी उससे प्राप्त हुई है कि वह नई उपलब्धियों के प्रकाश में अपनी धारणाओं में परिवर्त्तन भी कर सकता है। न्यूटन से आईस्टाइन तक ही विज्ञान की प्रगति नहीं है, संभावनाओं का एक विस्तृत संसार अभी आगे बड़ा है। सामान्यत: लोगों का विचार है कि विज्ञान धर्म का स्थान नहीं ले सकता। वह हमें परिपूर्ण जीवन-दर्शन देने में असमर्थ है। परन्तु यह निश्चित है कि विज्ञान केवल "टेकनीक" ही नहीं है। वह जीवनविधि भी है। उसने हमारे मनोवैज्ञानिक, संवेदनात्मक और बौद्धिक जीवन को भी पर्याप्त मात्रा में बदल दिया है। जिन क्षेत्रों में विज्ञान का प्रवेश कल नहीं था, वहाँ भी वह आज पहुँच गया है। मन:विश्लेषण और अतिमानसीय विज्ञान (पारासाइकोलॉजी) ने जहाँ मानव-व्यक्तित्व के गहरे पर्त्तों में उतरने का साहस किया है वहाँ सामाजिक मनोविज्ञान ने मानव-समूहों को इकाई मान कर उनके पारस्परिक एवं द्वन्दात्मक संबंधों के विषय में खोज की नई पद्धतियां आविष्कृत की हैं। यह निश्चय है कि विज्ञान इससे आगे बढ़ेगा और वह एक संपन्न और परिपूर्ण जीवन-दृष्टि का रूप धारण कर लेगा। उस समय विज्ञान धर्म और नीति का विरोधी नहीं रह जायेगा। लोकतंत्र, उदार शिक्षा और प्रगति के सम्बन्ध में हमारी धारणाएं

विज्ञान की ही देन हैं या वे विज्ञान की भाँति ही बुद्धिवाद की उपज हैं। यह अवश्य है कि इन सभी क्षेत्रों में हम अतिवादी सीमा तक पहुँच गये हैं। हमने ज्ञान की शक्ति को तो समझा है परन्तु उस शक्ति को संवेदनात्मक अनुभूति का विषय नहीं बनाया है। हमारे लोकतंत्र या तो व्यक्तिवाद की चट्टान से टकरा कर टूट रहे हैं या राष्ट्रीयता और समाजवाद के भावात्मक और तांत्रिक विधानों के हाथ में कठपुतली बन कर नाच रहे हैं। लोकतंत्र जीवनचर्या ही नहीं है, वह सर्जनात्मक जीवन भी है, यह आज हम थोड़ा-बहुत जानने लगे हैं। लोकतंत्र भौतिक नहीं आत्मिक वस्तु है, इसे जिस दिन हमने समझ लिया उस दिन हमारे राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय संघर्ष समाप्त हो गये। इसी तरह हमने उद्योग-धंधों और सरकारों के चलाने के लिए शिक्षा-पद्धति को विकृत कर लिया है और वह विद्यार्थियों को नौकरी के लिए तैयार करती है, उस सर्जनात्मक भूमिका के लिए नहीं जो समाज के भीतर हममें से प्रत्येक के लिए निश्चित है। यही नहीं, हमारी शिक्षा अतिबौद्धिक है क्योंकि हमारे जीवन का समस्त परिवेश बौद्धिक और तार्किक है। हम नहीं जानते कि सर्जनात्मक मूल्यों की उपेक्षा करते हुए बुद्धि की पूजा भयावह वस्तु है। मानव-प्रकृति के अतार्किक और रहस्यमय अंग को भी हमें परितोष देते चलना है। हमारे बुद्धिवाद ने मानव-व्यक्तित्व की विचित्रता और भिन्नता पर अधिक बल दिया है, मानव की समानता की ओर से हमारी दृष्टि हट गई है परन्तु यही दृष्टि सहकारिता को जन्म देती है। इस प्रकार अभी तक हम विज्ञान के हामी होते हुए भी सच्चे अर्थों में वैज्ञानिक दृष्टि से संपन्न नहीं हो सके हैं। यह दृष्टि मर्यादा, संतुलन, समन्वय और सार्वजनीनता चाहती है। यह दृष्टि एकांगी नहीं हो सकती। इसीलिए आज विज्ञान अपने प्रथित क्षेत्र से बाहर निकल कर जीवन और ज्ञान के अन्य क्षेत्रों को भी स्पर्श करने लगा है। आधुनिक जीवन के भीतर द्वन्दों की सृष्टि इसीलिए हुई है कि हमने विज्ञान को पूर्णतः नहीं अपनाया है। एक तरह से हम पूरे-पूरे बौद्धिक और वैज्ञानिक नहीं बन पाये हैं। अध्यात्म और विज्ञान में कोई विरोध नहीं है। इसी प्रकार धर्म के कर्मकाण्डी और रूढ़िवादी पक्षों को हटाने पर जो शेष रह जाता है वह अवैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता। विकासवाद के सिद्धान्त को धर्म, दर्शन और अध्यात्म के क्षेत्र में लागू कर आज हम इन उपलब्धियों के विषय में अधिक ज्ञानवान हो गये हैं। जो सड़ा-

गला था वह झड़ गया है और कसौटी पर कसा सत्य का खरा सोना हमारे हाथ लगा है।

विज्ञान के आधुनिक जीवन को भौतिकता की दृष्टि से सम्पन्न बनाया है और देशकाल के व्यवधान को दूर कर मानवता को एक बड़ा कुटुम्ब बना दिया है। कमी यह है कि अभी आर्थिक और भौतिक सुविधाओं के क्षेत्र में मानव-समाज बहुत पीछे है और करोड़ों की संख्या में मनुष्य अन्न-वस्त्र और आवास के लिए अभी लालायित ही हैं। अणु-युग ने इस क्षेत्र में क्रांतिकारी परिवर्त्तनों की आशा बँधाई है और भौतिक दृष्टि से मानव-जाति संपन्नता के नए युग में निश्चय ही प्रवेश कर रही है। परन्तु परस्पर पास आने से हमारी सांस्कृतिक एकता का भी प्रश्न उठा है। क्या मानव-संस्कृतियों जातीय और राष्ट्रीय संस्कृतियों से विच्छिन्न रहेगी और क्या हम पूर्वी संस्कृतियों के नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों को वैज्ञानिक जीवन के मूल्यों से संपृक्त नहीं कर सकेंगे ? विज्ञान को निर्मूल्य कहा जाता है, परन्तु यह निश्चय ही सत्य बात नहीं है क्योंकि विज्ञान "टेकनीक" ही नहीं, वह जीवनदृष्टि भी है। इस जीवन-दृष्टि से धर्म, नीति, दर्शन और आचार का संस्कार होना अनिवार्य है परन्तु इनमें से किसी को भी नष्ट करने की क्षमता उसमें नहीं है। अब हम सभी ज्ञान-क्षेत्रों को विकासवादी दृष्टि से देखने लगे हैं और हमारे मानदण्ड बौद्धिक होते जा रहे हैं। अतिवादी बौद्धिकता में मानव-जाति का कल्याण नहीं है, उसे अहिंसा और करुणा से पुष्ट बौद्धिकता चाहिये। उसे हम अध्यात्मनिष्ठ विज्ञान कहें या विज्ञाननिष्ठ अध्यात्म, यह कहना आवश्यक है कि भावी मानवता का धर्म वही होगा। विज्ञान आधुनिक जीवन को यह नई दृष्टि दे सके तो उसका भविष्य उज्ज्वल ही कहा जायेगा। मानव-जाति की अद्यतन उपलब्धियों को आत्मसात करने में ही उसका कल्याण है क्योंकि वह भविष्यती है। उसके आगे संभावनाओं का विशाल संसार फैला है। बौद्धिकता को सांस्कृतिक और मानवीय धरातल देकर ही विज्ञान धर्म का स्थानापन्न बन सकेगा।

सत्य और स्वप्न

सत्य वह है जो सत् को लेकर है, अर्थात् जिसमें सब होने की सार्थकता है। सारे विरोध, समस्त द्वन्द्व सत्य में आ कर समाप्त हो जाते हैं। राम नाम सत्य है। अर्थ यह लगा कि ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है। "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" कह कर ऋचा ने ब्रह्म के सार्वभौमिक, सर्वस्वतंत्र और निरपेक्ष अस्तित्व की ओर संकेत किया है। सत्य सम्पूर्ण है। इसीलिए उसमें से पूर्ण निकाल लेने पर भी वह रंच मात्र घटता नहीं है। आधुनिक युग ब्रह्म या चरम सत्ता की बात नहीं उठाना चाहता परन्तु सत्य से वह इनकार भी नहीं कर सकता। इसीलिए महात्मा गाँधी को अपनी जीवन-कथा को आत्मसाक्षात्कार या ब्रह्मसाक्षात्कार की कथा न कह कर "सत्य के प्रयोग" नाम देना पड़ा। हम ब्रह्म की बात छोड़ ही देते हैं।

प्रश्न यह है कि हम सत्य तक कैसे पहुँचें? पहुँच भी सकेंगे या नहीं? क्या तथ्य मात्र सत्य है या सत्य तथ्य से भिन्न और बड़ा है? जिसे कुछ लोग वैज्ञानिक सत्य कहते हैं वह क्या वस्तु है? क्या सत्य के विभिन्न और विरोधी रूप कल्पित हो सकते हैं? यदि सत्य विरोधाभासी है तो वह सत्य ही कैसे हुआ? क्या सत्य भी ब्रह्म की तरह विरोधी-धर्माश्रयी मान लिया जाये?

पिछली शताब्दी में कुछ लोग यह समझते थे कि हम विज्ञान के चरम सत्य तक पहुँच सकेंगे। आज इस विश्वास के नीचे की धरती ही हिल गई है। पिछले पचास वर्षों में वैज्ञानिकों ने अपनी मान्यताओं में व्यापक रूप से हेर-फेर किया है। यद्यपि ये हेर-फेर विशेष रूप से भौतिकी से सम्बन्धित हैं, परन्तु इन्होंने प्राणी-शास्त्र और समाज-शास्त्र को भी प्रभावित किया है। भौतिक विज्ञान ने धीरे-धीरे दर्शन के क्षेत्र में प्रवेश किया है और उसे उन

दार्शनिक धारणाओं की मरम्मत करनी पड़ रही है जो अब तक उसका पथ-प्रदर्शन करती थीं और उसे सत्य की खोज की ओर अग्रसर करती थीं। आज का वैज्ञानिक यह मानता है कि प्रयोग और निष्कर्ष की पद्धति के द्वारा प्राप्त भौतिकी सत्य भी आपेक्षिक ही है, या वह शोधी की अपनी ही आकांक्षाओं का प्रतिफलन मात्र है। कारण-कार्य के अकाट्य माने जाने वाले सत्य के प्रति भी आज वैज्ञानिक शंकालु हो उठा है और अणुजगत की खोजों ने उसे अप्रत्याशित और असंभाव्य के सिद्धान्त की ओर इंगित किया है। अणु-जगत में कुछ भी निश्चित नहीं है। वहाँ अघटित ही क्षण-क्षण घटता है और किसी पूर्व निश्चय या कारण-कार्य की योजना में नहीं बँधता। परन्तु यह कारण-कार्य-निरपेक्ष अघटित-घटना-घटीयसी किस प्रकार वृहत्तर समवाय को प्राप्त कर निश्चित योजना का रूप धारण कर लेती है यह अभी भी उद्घटित नहीं हुआ है।

शांकराद्वैत में इसे "माया" कह कर ब्रह्म (सत्य) की आवरण-शक्ति मान कर संतोष कर लिया गया था। नयी भौतिकी भी वहीं पहुँच रही है। सब प्रश्नों का प्रश्न यह है कि मानव-मन विराट सत्यों को उपलब्ध भी कर सकता है या नहीं क्योंकि विराट् सत्य विराट् मानस के प्रतीक हैं। अल्प क्या भूमा की कल्पना भी कर सकता है? छोटे-से पात्र में अपार समुद्र-राशि कैसे समायेगी? मानव-मन की अपनी सीमाएँ हैं और उनका अतिक्रमण कभी भी संभव नही हो सकेगा। फलतः हमारे सत्य खण्ड (या खण्डित) सत्य ही हो सकते हैं। प्रयोग और परीक्षण के लिए हम वस्तुओं को प्रयोग-नलिकाओं में डालते हैं परन्तु इसके लिए हमें उन्हें विराट् जीवन से विच्छिन्न करना पड़ता है। वे खण्ड-खण्ड ही हमें प्राप्त होती हैं। फिर उनका परीक्षण हमें चरम सत्य कैसे दे सकता है? इसी से कहा गया है कि वैज्ञानिक सत्य बलात् प्राप्त एकांगी और खण्डित सत्य है। उसमें हमारे पूर्वग्रह ही मूर्त्तिमान होते हैं, सत्य का निर्विकारी स्वरूप बाहर ही रह जाता है। वैज्ञानिक का कहना है कि हम सत्य को बार-बार संशोधित करते रहेंगे और इस प्रकार हम कालांतर में सत्य के बहुत समीप पहुँच जायँगे, परन्तु सत्य सम्भवतः अग्राह्य ही रहेगा। सत्य क्या है, यह कोई नहीं जानता, न कोई जान सकेगा। इसलिए हमारे सत्य सत्याभास ही रहेंगे। जैन दर्शन में सत्य को

अनेकांती माना गया है और इसीलिए मनुष्य के लिए स्यादवादी सप्तभंगिमाओं की योजना है। तात्पर्य यह है कि हम दूसरे के सत्य के प्रति सहनशील रहें और अपने सत्य को ही अंतिम सत्य न समझ लें।

कविता की तरह विज्ञान का जन्म भी विस्मय की भावना से हुआ है। अन्य प्राणियों के विपरीत मनुष्यों में चमत्कृत होने की क्षमता है। जहाँ कविता ने इस विस्मय-भाव को अक्षुण्ण बनाये रखने की चेष्टा की है वहाँ विज्ञान ने इसे नष्ट कर अपरिचय को परिचय में बदलना चाहा है। परन्तु आज भी विज्ञान पदार्थों के सभी कंचुओं को भेद नहीं सका है। प्रश्न-चिन्ह अभी भी उसी तरह खड़े हैं। उनकी आँखों में व्यंग की मुसकान है। सच तो यह है कि जीवन से रहस्य को वहिष्कृत करना एकदम असम्भव है। जीवन स्वयं रहस्यमय वस्तु है। रहस्य हमें चारों ओर से घेरे ही नहीं है हमारे भीतर भी वह विराजमान है। अपरिचित और अकल्पित हमारे कण-कण को ओतप्रोत किये है। वह निकटतम और अन्यतम है। वह प्राणों का प्राण और श्रोतों का श्रोत है। क्या मृत्यु जीवन की अन्तिम सीमा है? कहीं ऐसा तो नहीं है कि मृत्यु के क्षण ही हम जीवन से परिचित हों जिस प्रकार खेल की समाप्ति पर उसमें भाग लेने वाले समाधि से जाग कर अपनी ओर लौटते हैं या दृश्यान्तर में हम रंगमंच को देख कर चकित हो जाते हैं कि जो देखते थे वह रूपकमात्र था? देशकाल के रंगमंच पर जो रूपक दिन-रात चल रहा है उसका कभी पटाक्षेप नहीं है, परन्तु परदे के पीछे कोई सूत्रधार भी है। कथा में व्यथा है जो अबूझ की पीड़ा है। उसी में रहस्य बोलता है। अंततः रहस्य ही सार्थक वस्तु हो सकता है परन्तु जीवन का खेल खेलते हुए तो हमें क्रीड़ांगन को यथार्थ मान कर चलना और नियमों का पालन करना होगा। सच तो यह है कि व्यवहार में रहस्य काम में नहीं आता, खण्डित सत्य से ही हम काम चला लेते हैं। शायद इसीलिए आद्य शंकराचार्य ने पारमार्थिक और व्यावहारिक सत्यों की दो कोटियाँ कल्पित की थीं। यह दूसरी बात है कि इस विभाजन से द्विधा का जन्म होता है और हमारे व्यक्तित्व तथा व्यवहार खण्डित हो जाते हैं। परन्तु यह होने की मजबूरी है। महाकवि ग़ालिब ने ठीक ही कहा है :—

न था मैं जब खुदा था, जब न होता तो खुदा होता,
डुबोया मुझको होने ने, न मैं होता तो क्या होता।

सत्य रहस्यमय बन कर ही सत्य है क्योंकि हमारे जाने हुए सत्य में जाना बिन्दु मात्र है, अजाना समुद्र-जैसा बड़ा है।

सत्य चाहे वैज्ञानिक हो या दार्शनिक, वह हमारे भीतर संभावनाओं के रहस्यमय जगत को जन्म दे सके तो वह सत्य है, अन्यथा हम सतह को ही छू रहे हैं। दृश्यमान जगत उस चरम सत्य के महासमुद्र पर तैरता हुआ बुद्बुद मात्र है। इसीलिए न दार्शनिक दुराग्रही हो सकेगा, न वैज्ञानिक क्योंकि सत्य को धारणा-सूत्रों में बाँधने का दावा हास्यास्पद होगा। परन्तु मानव-मन के अवचेतन में छिपी हुई दुर्बलताएँ जिन अंधसंस्कारों, रूढ़ियों और प्रवंचनाओं को जन्म देती हैं उनके नाश के लिए उतना सत्य बहुत है जो दर्शन और विज्ञान की परिधि में आता है। विज्ञान सच्चे अध्यात्म का विरोधी नहीं है, उसका विरोध धर्म के नाम पर प्रचलित भौतिक प्रवृत्तियों और स्वार्थ-साधनाओं से है। अपने विशिष्ट क्षेत्र में यही काम दर्शन भी करता है। चरम सत्य या अन्तिम सत्य के फेर में न पड़ कर हम सत्य के सुन्दरम् और शिवम् रूप से ही सन्तोष कर सकते हैं। सौन्दर्य और लोक-मंगल की साधना के भीतर से ही हमें सत्य की झलक प्राप्त हो सकती है। कलाकार और सन्त ही नहीं, प्रत्येक मनुष्य के लिए सत्य की खोज के ये मार्ग खुले हैं। यह जान लेना होगा कि विज्ञान तथ्यों से जूझता है। वह "क्यों" का उत्तर नहीं देता, वह केवल तथ्यों और वास्तविकताओं के पारस्परिक सम्बन्धों और आपेक्षिक सम्बन्धों का वर्णन भर कर देता है। "क्या" और "कैसे" में जितना सत्य सिमट आये, उतना ही उसका सत्य है। व्यावहारिक जगत के दैनंदिन जीवन में इतने से ही काम चलेगा। चरम सत्य तो क्षितिज-रेखा के सामने निरन्तर दूर ही रहेगा क्योंकि हम देश-काल की अनुभूति में निबद्ध साधारण प्राणी हैं, परन्तु उसके प्रति हम आकांक्षावान अवश्य बने रहेंगे। प्रसाद के शब्दों में :—

तुम हो कौन और मैं क्या हूं, इसमें क्या है धरा, सुनो।
मानस-जलधि रहे चिर चुम्बित, मेरे क्षितिज, उदार बनो॥

•

क्षितिज की सुदूर रेखा पर सत्य और स्वप्न मिल जाते हैं क्योंकि आकांक्षित सत्य का नाम ही स्वप्न है। इसीलिए सर्ग से प्रलय तक मनुष्य बराबर स्वप्न देखता रहेगा और अपने सत्य की परिधि को विस्तार देता रहेगा। कल्पना मानव-मन की निसर्गगत प्रवृत्ति है और उससे मनुष्य सत्य को स्वप्न बना लेता है। आज की कल्पना कल का सत्य है। आकांक्षा अभाव की सूचक है और कल्पना अभाव को अनुरंजित कर उसे अत्यन्त आकर्षक बना देती है। परन्तु प्रश्न यह है कि क्या कल्पना के हिरण्यमय पात्र से ढका हुआ सत्य हमें पूर्ण तोष दे सका है। इस ढक्कन को कौन हटाये ? किसमें सामर्थ्य है ? सच तो यह है कि सत्य ने अपने को नहीं छिपाया है, हमारी इन्द्रियों की सीमाओं ने ही उसे हमारे अनुभव के क्षेत्र से बाहर कर रक्खा है। हम अपनी इन्द्रियों में बन्दी हैं। हम केवल प्रार्थी ही हो सकते हैं कि सत्य हम पर खुले। इसीलिए उपनिषद् का ऋषि गाता है :—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखं।
तत्त्वं पूषन्न पावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥
पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्रजापत्य
व्यूह रश्मीन् समूह।
तेजोयत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि
योसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि ॥
(ईशोपनिषद्)

(सुवर्णमय पात्र से सत्य का मुँह ढका हुआ है। हे विश्वपोषक प्रभो, मुझ सत्य-धर्म उपासक के दर्शन के लिए उसे तू खोल। तू इस विश्व का पोषक और तू ही एकमात्र निरीक्षक है। तू नियमकर्त्ता और तू उत्तम प्रवर्त्तनकर्त्ता है। तू सबका प्रजावत् पालन करता है। अपनी रश्मियाँ खोल कर और एकत्र कर दिखा। तेरा वह तेजस्वी और परम कल्याण रूप मैं अब देख रहा हूँ। वह जो परात्पर है, सो मैं हूँ।)

———

वैज्ञानिक का उत्तरदायित्व

आधुनिक युग की समस्त विडम्बनाओं के लिए वैज्ञानिक को ही उत्तरदायी ठहराया जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि हम उसे प्रशंसा की दृष्टि से देखते आए हैं और विज्ञान द्वारा प्रस्तुत नैतिक सुख-सुविधाओं को हमने कृतज्ञता-पूर्वक स्वीकार ही नहीं किया है, हमारी आज की सभ्यता का ढाँचा उसी के द्वारा निर्मित है। इसे दुर्भाग्य ही समझिए कि कल का मुक्तिदाता आज बलि-पशु बन गया है। ऐसी स्थिति में यह आवश्यक है कि हम वैज्ञानिक के क्षेत्र को ठीक तरह से समझ लें और जीवन के विभिन्न क्षेत्रों के प्रति विज्ञान के उत्तरदायित्व को भी हृदयंगम कर लें। इस उत्तरदायित्व को समझे बिना हम आधुनिक युग के मर्म तक नहीं पहुँच सकेंगे। वैज्ञानिक की खोज सत्य की खोज रही है और इसके लिए उसने जिस उत्साह और तटस्थता से कार्य किया है वह अतुलनीय है परन्तु यही सत्य की खोज आज ऐसा अस्त्र भी बन गया है जो उस पर चोट कर रहा है। आज विज्ञान आत्महंता ही नहीं, सर्वहंता भी बना जा रहा है। उसी से प्राप्त आणविक अस्त्रों ने मानव-जाति का जीवन संकट में डाल दिया है। पश्चिमी विज्ञान ने उस सीढ़ी को पैरों से ठुकरा दिया है जो पुनर्जागरण-युग (रेनेसां) की मानववादी दृष्टि कही जा सकती है। एक प्रकार से सोलहवीं से उन्नीसवीं शताब्दी तक का सारा नैतिक और बौद्धिक ढांचा एकाएक बदल गया है और संक्रान्ति की स्थिति आ गई है। बीसवीं शताब्दी इस परिवर्त्तन के लिए उत्तरदायी है। परिवर्त्तन विज्ञान के भीतर से नहीं आया है। उसके मूल में अन्य क्षेत्रों की मान्यताएं हैं जिन्होंने हमारे संवेदन-जगत में हलचल मचा दी है।

विज्ञान का आरम्भ इस इच्छा से हुआ कि वह वहिर्जगत (संसार) की व्याख्या के द्वारा मानव की अनुभूतियों का परिपूर्ण विवेचन प्रस्तुत करेगा। वह प्रकृति से मनुष्य तक पहुँचना चाहता था। धीरे-धीरे विज्ञान पर यह

रहस्य खुला कि मनुष्य विश्व-प्रपंच का छोटा-सा पुर्ज़ा भी नहीं है। उसकी नगण्यता से परिचित होकर वह सृष्टिकर्त्ता के प्रति अविश्वासी और अपने प्रति अनास्थावान बन गया। फलस्वरूप मनुष्य विज्ञान के अध्ययन के बाहर जा पड़ा और उसने वैज्ञानिक के मनःजगत में द्वन्द की सृष्टि कर डाली। मनुष्य और प्रकृति परस्पर विरोधी माने गए। विज्ञान का अर्थ हो गया शक्ति-संचय। वह प्रकृति का प्रेमी और शोधी नहीं बना रह सका, प्रकृति का शोषण उसका धर्म बन गया। जहाँ मनुष्य की पुरानी पीढ़ियां प्रकृति से सहयोग चाहती थीं, वहाँ नई पीढ़ी प्रकृति पर ही हावी होने लगी। इस दिशा में वह पर्याप्त रूप से सफल भी हुई। आज हम विशुद्ध विज्ञान के आग्रही नहीं हैं, हम जीवन और जगत के चिरन्तन सत्यों से मुँह मोड़ बैठे हैं। टेक्नीकी और व्यावहारिक विज्ञान ही हमारे लिए सब कुछ है। विशुद्ध सत्य-जिज्ञासा को उपयोगितावाद की ओर मोड़ कर हमने विज्ञान के साथ अन्याय ही किया है।

प्रश्न यह है कि ऐसा क्यों हुआ? क्या इसमें विज्ञान का दोष है, या परिस्थिति का? कहना कठिन है, परन्तु यह स्पष्ट है कि विज्ञान ने मानव समाज के प्रति अपने उत्तरदायित्व के अर्थ को ठीक तरह से नहीं समझा और उसकी सत्य की खोज वास्तविकता से दूर जा पड़ी। वह उसका दंभ बन गई। एकांगी सत्य जीवन की परिपूर्णता को चुनौती नहीं दे सकता, परन्तु वैज्ञानिकों के जीवन से पलायन कर विज्ञान की निरपेक्षता और स्वतंत्रता से एक बड़ा संकट मोल ले लिया है। वैज्ञानिक का व्यक्तित्व और उसका स्वातंत्र्य ही नष्ट नहीं हुआ, वह सांस्कृतिक परिप्रेक्षण भी खो बैठा। उसने नैतिक, राजनैतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक संदर्भों को अस्वीकार कर अपने भविष्य को ही संकटपूर्ण बना लिया। शक्ति राजनीतिज्ञों के हाथ में सिमट आई और राजनीतिज्ञ वैज्ञानिकों से मनचाहा काम लेने लगे। राष्ट्र और राष्ट्रीयता के नाम पर विज्ञान को उपनिवेशवाद, साम्राज्यवाद और राष्ट्रीय युद्धों का वाहन बना लिया गया। फलस्वरूप जो विज्ञान एक ओर मानव-जाति के एकीकरण का दावेदार है उसने दूसरी ओर उसे भीतर और बाहर से खण्डित भी किया है। ऐतिहासिक चेतना और विकासात्मक दृष्टि-कोण से भाई-चारे का सूत्र उतना नहीं बढ़ा है जितना जातिगत भेद-भाव,

राष्ट्रीय या वर्गीय स्वार्थों तथा व्यक्तित्व का पोषण। अर्थ और काम को मानव की प्रसुप्त चेतना और उसके संस्कारी जीवन में प्रतिष्ठित कर हमने धर्म को स्वार्थ-नीति (जीवन-संघर्ष) तक सीमित कर दिया और मोक्ष को अस्वीकार किया। आज हम विमूढ़चेतस् और दिग्भ्रमित हैं। हमारा ध्रुव-निर्देशक यंत्र टूट गया है।

वैज्ञानिक सत्य चाहता है, अमिश्रित और तटस्थ सत्य। इस सत्य को पाने के लिए वह चारों ओर से हट कर पदार्थों में डूब जाता है। वह वस्तुओं और पदार्थों के स्वतंत्र और निर्पेक्ष नियमों को उद्घाटित करता है। वह अपने लिए एक अत्यंत संकीर्ण सीमा बना लेता है और उसी को सब कुछ समझ लेता है। फलतः उसका निष्कर्ष सत्य होते हुए भी आपेक्षिक, एकांगी और अव्यावहारिक रहता है। अपनी इस तटस्थ वृत्ति पर उसे गर्व भी होता है। परिपूर्ण बौद्धिक ईमानदारी के लिए वह निःसंग रह कर तत्वगत या तथ्यगत चिन्तन का तप करता है। परन्तु वह यह नहीं जानता कि बौद्धिक जगत में तात्विक समानता है। वैज्ञानिक भी दार्शनिक, गणितज्ञ या अर्थशास्त्री की तरह मनुष्यों के बीच में रह कर ही उनके लिए कार्य कर रहा है। वह ग़ैर-जिम्मेदार नहीं हो सकता क्योंकि वह स्वयं सांस्कृतिक परिवेश का एक अंग है। संस्कृति की तरह विज्ञान भी मनुष्यगत है, अतः सामाजिक है। हममें से कोई भी नदी का द्वीप नहीं है; वैज्ञानिक भी नहीं है। क्या करे, किस दिशा में करे, कब और कैसे करे,—ये प्रश्न विज्ञान को भी उसी तरह रँगते हैं जिस तरह मनुष्य के अन्य कार्य-व्यापार को। वैज्ञानिक आविष्कारों के पीछे जातीय, राष्ट्रीय और सांस्कृतिक मनोभूमियां रही हैं, चाहे आज वे भुला दी गई हों, और इसी लिए हम तटस्थ और अपरिबद्ध वैज्ञानिक की कल्पना नहीं कर सके। जो जीवन से परिबद्ध है वह अपने ज्ञान के क्षेत्र के लिए ही समस्त मानवता के प्रति उत्तरदायी है। यह परिबद्धता चेतन भी हो सकती है और अवचेतन भी। परन्तु वैज्ञानिक बराबर प्रकृति से वही उत्तर पाता रहा है जो उसका चेतन या अवचेतन मन चाहता रहा है। उसने प्रकृति से वही पूछा है जो उसके युगधर्म ने चाहा है, या जो समाज के अवचेतन में अनिर्दिष्ट था और उत्तर भी उसे युगचाहा मिला है। जिस संस्कृति में उसका जन्म हुआ है उसके स्वरूप तथा उसकी सीमाओं ने उसकी खोज की दिशा निर्धारित की

हैं। पश्चिमी देशों में वैज्ञानिक की परिबद्धता पूंजीपतियों के साथ है तो रूस में मार्क्सवादियों और लेनिनवादियों के साथ। दोनों जगह शक्ति की उपासना चल रही है, यद्यपि उसके रूप भिन्न हैं। वैज्ञानिक पराधीन है। वह यंत्रवत् बना रह कर ही यंत्रों को जन्म दे सकता है और जितनी दूर तक उसके यंत्र राष्ट्रनीतियों से बँधे हैं उतनी दूर तक वह भी परिबद्ध है। वैज्ञानिक का उत्तरदायित्व है कि वह इन बंधनों को तोड़े और ऐसी परिस्थितियों को जन्म दे जिनमें स्वतंत्र विचार तथा पराक्षण के क्षेत्र मिल सकें। स्वतंत्रता विज्ञान की पहली शर्त्त है; नहीं, वह प्रत्येक प्रयास की पहली शर्त्त है वही हमें ज्ञान की केन्द्रीयता और प्रभावशीलता देती है। बौद्धिक चेतना पर किसी भी प्रकार का अंकुश रहने पर जीवन-विकास की गति बंकिम हो जाती है।

विज्ञान को स्वतंत्र होना है। उसे राजनीति का पिछलग्गा नहीं बनना है। हमें विज्ञान को भविष्यत् संस्कृति का रूप देना है। कला और संस्कृति के प्रचुर परिचय से ही वैज्ञानिक एकांगीपन के अभिशाप से मुक्त होकर समाज का कल्याणकारी अंग बन सकता है। आज वैज्ञानिक स्वयं विज्ञान का शत्रु बन गया है क्योंकि विशुद्धता, निरपेक्षता और बौद्धिकता के दावे ने उसे कहीं का नहीं रखा है। वह राजनीतिक के हाथ की कठपुतली बन गया है। यह कहना भ्रामक है कि कला, साहित्य और दर्शन वैज्ञानिक को कुछ नहीं दे सकते और उसकी सत्य की खोज को इनसे नये आयाम नहीं मिल सकते। नैतिक, सामाजिक, दार्शनिक और आध्यात्मिक सत्य युग के वैज्ञानिक बोध को बदल ही नहीं देते,—विज्ञान की भाषा, उसकी विकास-दिशा, उसकी चिन्तन-शैली सब कुछ नया बन जाता है। मानसिक और संवेदनात्मक घटनाएं मनुष्य, प्रकृति और परिवेश के प्रति हमारे दृष्टिकोण को कुछ इस तरह प्रभावित कर देती हैं कि इनके सम्बन्ध में हमारी सत्य की खोज भी रँगे बिना नहीं रह सकती।

कहना यह है कि वैज्ञानिक को समाजधर्मी बनना है। मानव-जाति के प्रति अपने उत्तरदायित्व को उसे समझना है। सत्य को स्वतंत्र और निरपेक्ष मान कर हम उसे राष्ट्रों के स्वार्थी हाथों में देते हैं और राष्ट्रों ने विज्ञान के विशुद्ध सत्य को संहारक शस्त्रास्त्रों का रूप दे दिया है। ऐसी स्थिति में

विज्ञान का सत्य सत्य कहाँ रहा ? टेक्नीकी और व्यावहारिक विज्ञान पर जिस राष्ट्र का अधिकार है वह विशुद्ध सत्य को उसी दिशा में जाने देगा जो उसके लिए हितकर होगी। प्रत्येक नई टेक्नीकी (प्राविधिक) उपलब्धि सत्य के स्वरूप, खोज की दिशा और वैज्ञानिक की मानव-जाति को हानि-लाभ पहुँचाने की क्षमता में अभूतपूर्व परिवर्त्तन कर देती है। इसीलिए वैज्ञानिक को अपने प्रति और अपने ज्ञान-क्षेत्र के प्रति उत्तरदायी होना है। वह सत्य को बेचेगा नहीं। राष्ट्र की टेक्नीकी और व्यावहारिक नीति पर उसका अंकुश रहेगा। वह अपने परिश्रम-साध्य विशुद्ध सत्य को करोड़ों के लिए मारक नहीं बनने देगा। जब राजनीतिक जीवन के प्रति उत्तरदायी है तो वही क्यों उत्तरदायी नहीं है ? उसका उत्तरदायित्व छीन कर, उसे तटस्थ बना कर, राजनीतिज्ञ उसकी सत्य की खोज को रक्त-कींच में क्यों घसीटे ? संक्रांति के इस युग में हमें वैज्ञानिक को प्रबुद्ध करना है कि वह अपने कर्त्तव्य की सीमा को समाज तक फैलाए और राष्ट्रीय स्वार्थी को चुनौती देकर विज्ञान के रथ की वल्गा लोक-कल्याण और जीवन-संस्कार की ओर मोड़े।

वैज्ञानिक भी समाज का प्राणी है और उसकी मनःचेतना, सुविधा तथा निर्माण के पीछे सामाजिक प्रबुद्धता एवं सामाजिक लक्ष्य हैं। समाज के प्रत्येक प्राणी के भीतर सांस्कृतिक चेतना रहती है जो समाज की देन कही जा सकती है। इस चेतना से मुक्ति पाना कर्त्तव्यच्युत होना नहीं है, वह जीवन के प्रति अपने उत्तरदायित्व को स्वीकार करना है। यही नहीं, समाज शिक्षा के द्वारा वैज्ञानिक को पूर्वजों का ज्ञानराशि से परिचित कराता है और उसके भरण-पोषण का भार लेकर उसे सत्य की शोध की ओर प्रवृत्त करता है। प्रयोगशाला, यंत्र, टेक्नीक, सहयोगी, धन आदि प्रदान कर वह उसे पर्याप्त साधन उपलब्ध कर देता है जिससे वह विशुद्ध सत्य के पथ का दावेदार बन सके। भौतिक, रासायनिक और प्राणीशास्त्रीय विज्ञानों के संबंध में यह सत्य है तो समाज-विज्ञान के संबंध में तो और भी सत्य है जहाँ मनुष्य और उसका समाज ही शोध के विषय हैं। तार्किक ज्ञान सामाजिक भूमिका पर ही पल्लवित होता है और सामाजिक प्रबुद्धता की धार को तीक्षणता देकर ही वैज्ञानिक अपने कर्त्तव्य का निर्वाह कर सकता है। यह अवश्य है कि वह राज-नीतिज्ञ की अपेक्षा अधिक तटस्थ होगा क्योंकि राजनीतिज्ञ की भाँति व्यवस्था

बनाए रखने की कोई ज़िम्मेवारी उसकी नहीं है, परन्तु इस व्यवस्था के मूल्यों को वह अनदेखा नहीं कर सकता। राजनीति और धर्म के मूल्य विज्ञान के मूल्य से भिन्न होंगे क्योंकि विज्ञान जीवन को एक दूसरे ही दृष्टिकोण या भूमिका से देखेगा परन्तु यह असंभव है कि वैज्ञानिक के दृष्टिकोण पर उसकी जीवन-संबंधी आस्था का प्रभाव नहीं पड़े। विज्ञान मूलतः पदार्थ-परीक्षा है परन्तु क्या पदार्थ जीवन के भीतर नहीं आते या जीवन-व्यवस्था के निर्माण में उनका कोई भाग नहीं है। सच तो यह है कि सूक्ष्म रूप से विज्ञान में विज्ञान में मनुष्य की प्रकृतिगत धारणाओं और सामाजिक उद्देश्य का प्रभाव पड़ता है और विभिन्न राष्ट्रों के वैज्ञानिक विशुद्ध सत्य के दावेदार होते हुए भी अपने राष्ट्र की समाज-व्यवस्था को ही अपनी शोधदृष्टि में प्रतिबिंबित करते हैं। हम यहाँ व्यक्तिगत उपलब्धियों को नहीं ले रहे हैं, हम समष्टिगत उपलब्धि की बात कर रहे हैं। मानव-केन्द्रित दृष्टि का तात्पर्य समाजधर्मी मनुष्य ही है क्योंकि मनुष्य पदार्थ नहीं है। आस्था, आकांक्षा और व्यवहार के साथ आदर्श भी हैं। समाज को मनुष्य के सर्जनात्मक प्रयत्नों का सामूहिक बोध कहा जा सकता है और मानवधर्मी विज्ञान अंततः सामाजिक आस्था पर आधारित होगा। यदि सामाजिक मान्यता वैज्ञानिक की आस्था के विरुद्ध है तो यह विरोध वैज्ञानिक की सत्य की शोध को भी कुण्ठित करेगा और वह अंततः विशुद्धता के कूर्म-कवच को ओढ़ कर जीवन के प्रति पलायनशील, नृशंस तथा यांत्रिक बन जायेगा। इसीलिए हमें विज्ञान-दर्शन की आवश्यकता है। विज्ञान और दर्शन एक ही सिक्के के दो पहलू हैं क्योंकि दोनों जीवन के प्रति जागरूकता और प्रकृति के प्रति चिन्मयता के दृष्टिकोण पर टिकते हैं।

विज्ञान का सत्य एकांगी सत्य नहीं हो सकता। वह समन्वित सत्य है। दूर-दूर के वैज्ञानिक संस्थानों में तथ्यों को सिमेट कर जो सत्य उद्घाटित किया जाता है उस सब की संश्लिष्टि ही परिपूर्ण सत्य है। अतः विज्ञान का सत्य सर्वभौमिक है। तथ्य सत्य नहीं, वे साधन हैं। वे मार्ग हैं जिन पर चल कर हम सत्य तक पहुँचते हैं। वैज्ञानिक का धर्म है कि वह तथ्यों को जोड़ने वाली रांगोलियों का आविष्कार करे और जीवन के गोरखधंधे को व्यवस्था दे। विज्ञान धारणाओं और टेक्नीकों को जन्म देकर हमें वस्तुस्थिति के प्रति जागरूक बनाता है और जीवन के प्रति व्यवस्थात्मक जागरूकता देता है।

•

इस प्रकार अंततोगत्वा विज्ञान सामाजिक प्रक्रिया बन जाता है। जीवन-प्रक्रिया के दो रूप हैं, समष्टिगत रूप विज्ञान है, व्यक्तिगत साहित्य और कला। इन दोनों का सहभाव ही जीवन की परिपूर्णता और चरितार्थता है। वैज्ञानिक का उत्तरदायित्व है कि वह प्राणपन से इस परिपूर्णता और चरितार्थता की रक्षा करे और अपने ऊपर किसी भी बन्धन को स्वीकार नहीं करे। विज्ञान के द्वारा समस्त समाज भविष्यत् की ओर बढ़ता है। इसके लिए चेतन मन की प्रबुद्ध शक्तियों द्वारा लक्ष्यनिर्माण और तद्गत आचरण की आवश्यकता है। विशेषज्ञ इतने लंबे पचड़े में पड़ना नहीं चाहता। वह तथ्य से चिपकता है और सत्य उसके हाथ से निकल जाता है। पल्ले पड़ती है राजनीतियों की आधीनता। निश्चय है कि यह स्थिति सम नहीं है। सामाजिक शक्तियों को पहचान कर ही वैज्ञानिक विचार और धारणा को भविष्य के स्वर्ग की ओर संचालित कर सकेगा।

विज्ञान की देन

हमारा आधुनिक जीवन ही एक प्रकार से विज्ञान की देन है क्योंकि वह उस औद्योगिक क्रांति की उपज है जो विधान के विकास के द्वारा ही सम्भव हुई है। पिछले तीन सौ वर्षों से मनुष्य विज्ञान से उत्पन्न धारणाओं का उपयोग कर रहा है और इससे डेढ़ सौ साल पीछे जाकर भी हम उसे व्यवहार-क्षेत्र में विज्ञान को अपनाते पाते हैं। इस प्रकार सोलहवीं शताब्दी से आरम्भ हो कर आज तक विज्ञान निरन्तर विकसित होता रहा है और उसने मानव-जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में धीरे-धीरे आधिपत्य प्राप्त कर लिया है। भौतिक-जगत और प्राणी-जगत के बाद विज्ञान ने मानसिक-जगत और सामाजिक जीवन के क्षेत्र को अपनाया है। डार्विन, मार्क्स, फ्रायड और फ्रेज़र आज के शिक्षित मनुष्य की चेतना के अनिवार्य अंग बन गये हैं और भौतिक सुख-सुविधाओं के लिए ही नहीं, विश्वासों और धारणाओं के लिए भी आज हम विज्ञान का मुँह जोहते हैं।

भौतिक क्षेत्र में विज्ञान की देन को कौन नहीं जानता? यातायात के साधनों से विज्ञान ने देश के अन्तर को दूर कर दिया है और आज के जेट जहाज़ ६०० से ८०० मील प्रति घण्टे की गति से कहीं भी जा सकते हैं। निकट वर्त्तमान में स्पूत्निकों के द्वारा यह गति अकल्पित रूप से बढ़ गयी है और मनुष्य ८७-८८ मिनटों में पृथ्वी का चक्कर लगा सका है। यही नहीं, राकेटों द्वारा उसने चन्द्रमा और उपग्रहों तक पहुँचने का प्रयत्न किया है और शीघ्र ही सौर-चक्र उसके पद-चिन्ह में समा जायगा। उसने काल पर विजय प्राप्त की है क्योंकि आज का मनुष्य शताब्दियों का विकास | जीता है और वह धीरे-धीरे समय को पीछे छोड़ता जा रहा है। महाशून्य में पहुँच कर वह काल को स्थगित भी कर देगा। देश-काल के बन्धन से मुक्त होकर मानव का भौतिक शरीर प्रकृति की दुर्लंघ्य सीमाओं से ऊपर उठ रहा है। विज्ञान ने उसे निःरोगता भी प्रदान की है और स्वास्थ्य

के आँकड़े यह सिद्ध करते हैं कि पिछले वर्षों में मनुष्य की जीवनस्फूर्ति में पर्याप्त वृद्धि हुई है। कीटाणुओं को नष्ट कर और चीर-फाड़ के सूक्ष्म यंत्रों का आविष्कार कर प्लास्टिक सर्जरी, हारमोन तथा विटामेन के द्वारा मनुष्य ने मृत्यु को चुनौती दी है। वह उसे परास्त तो नहीं कर सका है परन्तु आयुमान की वृद्धि इस बात का प्रमाण है कि काल से उसकी होड़ चल रही है। मनोविश्लेषणीय चिकित्सा और हिप्नासिस (विमोहन) के द्वारा आज हम मन के सूक्ष्म कोनों को छू सकते हैं और उपचेतन भी हमारे प्रभाव-क्षेत्र में आ जाता है। यह स्पष्ट है कि देह, मन और बुद्धि को विज्ञान नयी शक्ति से सम्पन्न करता है और मृत्यु से अमृत तथा तम से प्रकाश की ओर बढ़ता है। मूलतः विज्ञान की खोज सत्य की खोज है और अमृत से सत्य की ओर जाने की वैदिक प्रार्थना वैज्ञानिक की प्रार्थना है। सत्य बुद्धि का धर्म है, प्रकाश मन का और अमृतत्व देह का। यह दूसरी बात है कि बौद्धिक सत्य ही विज्ञान का मानदण्ड है और प्रज्ञात्मक सत्य उसे अमान्य है। फलतः तथ्य प्रयोग और आँकड़े महत्वपूर्ण हो गये हैं और चक्रव्याजी गति से बढ़ कर भी आज विज्ञान चक्रायुधी ही बना हुआ है। उसने एकांगी सत्यों को जोड़कर सत्य को परिपूर्णता में प्राप्त करने का प्रयत्न किया है और उस ऋषिदृष्टि की अवहेलना की है जो कविर्मनीषी की परिभूः और स्वयम्भू दृष्टि है जो सम्पूर्ण को घेर लेती है अथवा वस्तुओं के अंतः-धर्म में प्रविष्ट हो उन्हें भीतर से खोलती है। विज्ञान इन्द्रियात्मक बोध तक ही सीमित है क्योंकि वह बुद्धि से परे किसी आत्मा का विश्वासी नहीं है और उसकी चेतना सर्वग्राही नहीं बन सकी है। वह देह और बुद्धि को प्रमाण मान कर चला है। मन को उसने बुद्धि के द्वारा पकड़ना चाहा है और इस प्रयत्न में सफल रहा है क्योंकि जिन नैतिक, सौन्दर्यचेतस् तथा आनन्दनीय भावजगतों का सृजन मन करता है वे बुद्धि की जाँच नहीं सह सकते। अभी भी नीति, सौन्दर्य, कला और धर्म के सूक्ष्म बोध विज्ञान के प्रयोगों का विषय नहीं बन सके हैं, न भविष्य में ऐसी सम्भावना है कि वे विज्ञान के क्षेत्र में आ सकें। ऐसी स्थिति में अकेले अपने बल पर विज्ञान किसी परि-पूर्ण संस्कृति को जन्म दे सकेगा, इसमें सन्देह है। ये धर्म, दर्शन साहित्य और कला के क्षेत्र हैं। यह ठीक है कि विज्ञान के इन क्षेत्रों में प्रवेश किया है। परन्तु इन क्षेत्रों की नयी उपलब्धियों में अराजकतामूलक वैचित्र्य ही

आया है, सामन्जस्य और सौन्दर्य में वृद्धि नहीं हुई है। बुद्धिमूलक होने के कारण विज्ञान विश्लेषण पर समाप्त हो जाता है और उसमें संश्लेषात्मक भूमिकाओं का निर्वाह नहीं हो सकता। यह विज्ञान की सीमा है। यह ठीक है कि मनोविश्लेषकों की खोजों ने प्रयोग, तर्क और उन्मुक्त चेतना-प्रवाह को पकड़ कर मन के भीतर गहराई में उतरने का प्रयत्न किया है और फ्रायड, ऐडलर, युंग आदि मनोवैज्ञानिकों ने मन के सूक्ष्म अध्ययन के लिए हमें नए शब्द, सन्दर्भ और उपकरण दिए हैं, परन्तु एक-चौथाई चेतन के द्वारा तीन-चौथाई उपचेतन की थाह लेने का प्रयत्न हास्यास्पद नहीं तो भ्रान्तिमूलक तो रहा ही है।

जो हो ये विज्ञान की सीमाएँ हैं। परन्तु देह को सुविधा देकर क्या विज्ञान ने हमें अन्ततः दुर्बल भी नहीं बनाया है? प्रकृतिगत विकास को अपने हाथ में लेकर उसने देह के विकास की संभावनाओं पर विराम लगा दिया है या बौद्धिकता का अधिक श्रेय देकर देह-मन की शक्तियों के प्रति अन्याय किया है। ये कुछ महत्वपूर्ण प्रश्न हैं, परन्तु यह निःसंदेह कहा जा सकता है कि विज्ञान की प्रगति ने जीवन के कक्ष में नई खिड़कियाँ खोली हैं और आज वह नये प्रकाश और नई हवा से भर गया है।

विज्ञान की सबसे बड़ी देन रूढ़ियों और अंधविश्वासों का नाश है। मध्ययुगीन मानस में न जाने कितने प्रेत बसे हुए थे। उन गुह्य गह्वरों में आज बुद्धि का प्रकाश पहुँच गया है और हम अपने व्यक्तिगत और समाजगत व्यवहार को तर्क और चिन्तन से पुष्ट करते हैं। परम्परा आज हमारे लिए अकाट्य सत्य नहीं है। हम उसे प्रयोगों की कसौटी पर कसते हैं और बुद्धि की आँच देते हैं। सत्य का खरा सोना हमें चाहिये। परन्तु यह सत्य चमकता अधिक है, प्रकाश कम देता है क्योंकि वह हार्दिक नहीं बन पाता। फिर भी हमने अंधकार को छोड़ कर प्रकाश में प्रवेश किया है। कारण-कार्य और प्रयोग-निष्कर्ष की पद्धति ने हमें ऐसे सत्य दिये हैं जो प्रज्ञावाद तथा चिन्तन-मनन से उपलब्ध नहीं हो सकते। धर्म प्रज्ञात्मक है, दर्शन चिन्तनात्मक। धर्म और दर्शन सत्य के दो पहलू हैं। एक तीसरा पहलू

है काव्यानुभूति जो सौन्दर्य-चेतना के द्वारा भावसत्य को प्रगट करती है। सत्य का चौथा पहलू विज्ञान की देन है और उसे बौद्धिक, प्रयोगात्मक-निष्कर्षात्मक कहा जा सकता है। जीवन की इस चतुरंगी रूपरेखा में विज्ञान का स्थान महत्वपूर्ण है परन्तु वह जीवन का स्थान नहीं ले सकता। वस्तुतः नदी का प्रवाह जिस तरह कवि और इंजीनियर के लिए दो प्रकार के अर्थ रखता है,—एक उसे उपयोगिता में बाँधता है, दूसरा उसे निरर्थकता का चमत्कारी सौन्दर्य देता है,—उसी तरह जीवन की अनेकान्ती भूमिका हर पहलू से नई है। परन्तु अपनी सीमाओं के भीतर विज्ञान हमें जो देता है वह आधुनिक जीवन को सब प्रकार से विशिष्ट बनाता है।

विज्ञान ऋत्धर्मी है। वह संतुलन, साम्य, एकत्व और नियमन का प्रचारक है वह विविधताओं को एकता देता है, अनियम में नियम की स्थापना करता है। वह व्यवहार और कल्पना के बीच की कड़ी है क्योंकि इन दोनों को सिद्धांत के सूत्र में बांध कर वह विशृंखल जीवन को क्रम-विकासक और कार्यकारणिक अर्थ देता है। आरम्भ से ही वह प्रकृति और परिवेश पर हावी होने की सिद्धता लाया है। भारतवर्ष ने गणित और ग्रीस ने ज्यामिति का आविष्कार कर प्राचीन विज्ञान के दो अस्त्र गढ़े, परन्तु उस युग में इनका उपयोग मनुष्य की विस्मय-भावना की तुष्टि और नियतिवादी फलित-ज्योतिषीय मान्यताओं का स्पष्टीकरण रहा। प्रकृति को जीत कर नहीं, उससे पराजित होकर तंत्र, अभिचार और मंत्र-शक्ति से भविष्यत् के प्रति निश्चयता प्राप्त करने के लिए ही प्रारम्भिक विज्ञान का उपयोग हुआ। ग्रीक दुःखांत मनुष्य की इस पराजय के महागीत हैं। वास्तविक जगत को बदलने में असमर्थ पा कर मनुष्य ने प्रतीक-जगत की सृष्टि की और पृथ्वी के जीवन को मायात्मक माना। मनुष्य के जिस अहंभाव को ग्रीक नाटककार निरंतर तोड़ता रहा है, वही आधुनिक विज्ञान में नए बुद्धिवाद और व्यक्तिवाद का आश्रय पा कर मनुष्य का नया तारुण्य बन गया है। आज का वैज्ञानिक अपने को अपराजित समझता है और उसने आणविक अस्त्रों के द्वारा मनुष्य के दम्भ को भस्मासुरी अभिशाप बना दिया है।

परन्तु आधुनिक विज्ञान के इस दंभ का एक उज्ज्वल पक्ष भी है क्योंकि वह देवता के स्थान पर मनुष्य को केन्द्र में रखता है और उसके निश्रेयस्

को जीवन का चरम लक्ष्य मानता है। मानव का अपरिसीम अभ्युदय आज विज्ञान का लक्ष्य है और उसके बर्द्धमानी स्वरूप का उसे गर्व है। प्राचीन युगों में मनुष्य में प्रच्छन्न देवत्व की कल्पना की गई या उसे वर्द्धमान, जिन, अर्हत्, तीर्थङ्कर, केवली मान कर उसकी अंतरंगता, इन्द्रियजितता, चिन्मयता तथा आत्मिकता का प्रचार किया है। मनुष्य की दुर्बलताओं को हमने स्वाभाविक और मूलगत नहीं माना क्योंकि हम उसकी पशुभूमिका को प्रमुखता नहीं देना चाहते थे आज हम मनुष्य की मानवीयता पर बल देते हैं और उसकी दुर्बलता को चरितार्थ करने में लगे हैं। यह दूसरी बात है कि इस दुर्बलता को हमने अंतिम वस्तु नहीं माना है और मनुष्य की संस्कारिता की संभावनाओं को महत्व दिया है। परन्तु अर्थ और काम को प्रश्रय देकर आज हम मनुष्य की पशु-भमिका को प्रथम सत्य मानते हैं। दृष्टिकोण का यह परिवर्त्तन विज्ञान की ही देन है और उसने हमारे आदर्शों एवं स्वप्नों पर गहरा आघात किया है। डार्विन ने हमें पूँछ दिखा दी तो मार्क्स ने हमारे हाथों में रोटी पकड़ा दी। अब फ्रायड का कहना है कि हमारे भीतर का मन पराजित पशु है जिसकी गंभीर हुंकार हमें सुनाई नहीं देती परन्तु जो यूप से बंधे बलि-पशु की भांति निरंतर विद्रोही है। फ्रायड के कुण्ठित काम और मरण-कामना को यदि हम मानव-जीवन का अंतिम सत्य मान लें तो हमारी समस्त उपलब्धियाँ कामचेतस् और मरणधर्मी बन जाती हैं। एडलर ने मनुष्य को पग-पग पर आत्मभीरुता से लड़ाया और महानता में क्षुद्रता की गाँठ देखी। युंग और भी आगे जा कर मानव-मन को आदिम प्रतीकों तथा सामूहिक अर्थात् जातिगत चेतना प्रवाह का खेल बना देते हैं। यह स्पष्ट है कि नया विज्ञान मनुष्य को अधिकाधिक खण्डित करता गया है। फलस्वरूप, भौतिक जगत और चेतन मन की महान सिद्धियों के बाद भी आज मनुष्य भीतर से छोटा और टूटा है। यही आधुनिक जीवन की विडम्बना है। लोकतंत्र, जनवाद, समाजवाद और कल्याण-राज्य मनुष्य के लिए भौतिक सुख-सुविधाएँ उत्पन्न कर रहे हैं और उसका प्रेयस् आकर्षक और उत्कर्षमय बन गया है परन्तु श्रेयस् के सम्बन्ध में हमारा विश्वास डिगा ही है। हम जीवन की चिन्मयता और आत्मिकता के प्रति अनास्थावान और क्षुद्रता के प्रति आग्रही बन गये हैं। हमारी प्रवृत्तियों के केन्द्र में पुरुषोत्तम नहीं हैं, लघु-मानव है। हम किन्नरीय अथवा वानरीय (खर्वनरीय) मुद्राओं में ही आनन्द लेने लगे हैं। पिछले तीस वर्षों का कला और साहित्य

का इतिहास हमें मनुष्य की क्षुद्रता ही अधिक देता है, उसकी महानता के प्रति हमें आस्थावान नहीं बनाता। दोस्तोवस्की से सार्त्र तक हम निरंतर अधिक अंतश्चेतनीय, क्षुद्र और भीरु होते गये हैं।

संक्षेप में, विज्ञान की देन को हमें अपनी भौतिक जगत की बाहरी उपलब्धियों और आत्मिक जगत की भीतरी कदर्थनाओं के रूप में देखना है। हम बाहर से बड़े बने हैं और भीतर से छोटे हैं। अपने प्रति हमारी आस्था टूटी है। इसका कारण विज्ञान नहीं है, कारण है कि हमने विज्ञान को ही सब कुछ मान लिया है। विज्ञान परिपूर्ण संस्कृति नहीं देता, यह हम मानना नहीं चाहते। मनुष्य के नीतिबोध, उसकी सौन्दर्य-चेतना और उसके प्रज्ञात्मक भावजगत को सुरक्षित और संपन्न रखकर ही हम विज्ञान की एकांगिता को दूर कर सकते हैं। विज्ञान हमारी भीतर की मांग को पूरा नहीं कर सकता। इसलिए हमें धर्म, दर्शन, कला और अध्यात्म की ओर देखना होगा। विज्ञान को सामाजिक और मानवीय बनाकर, उसे जीवनसापेक्ष तथा सौन्दर्यचेतस् बना कर ही हम नई वैज्ञानिक संस्कृति को जन्म दे सकेंगे जो सत्य, अहिंसा, न्याय, समता और बन्धुत्व के आदर्शों को नई दिशाओं में पल्लवित करेगी।

कला और साहित्य

कला का स्वरूप और लक्ष्य

कला मानव-संस्कृति की उपज है। निसर्ग से युद्ध करते हुए मानव ने श्रेष्ठ संस्कार के रूप में जो कुछ सौन्दर्य-बोध प्राप्त किया है, वह "कला" शब्द में अंतर्भावित है। परिस्थितियों को इष्ट आकार दे कर ही मनुष्य ने मानव-संस्कृति को जन्म दिया और उसे विकास के पथ पर आरूढ़ किया। पशु और मनुष्य में सबसे बड़ा अंतर ऊर्ध्वोन्मुख चेतना का है जो उसे प्रकृति पर विजय प्राप्त करने और परिस्थिति को इच्छित स्वरूप देने में समर्थ बनाती है। आहार-भय-मैथुनादि सामान्य पशु-क्रियाओं से ऊपर उठ कर मनुष्य ने जब आत्मचैतन्य को प्राप्त किया तब उसमें एक नई दीप्ति का आविर्भाव हुआ। जीवन-कलह से थोड़ा अवकाश पाते ही मनुष्य अपने संघर्षपूर्ण अनुभवों से लाभ प्राप्त करता हुआ सुख-सुविधा की ओर बढ़ता है। पर्णकुटी से प्रासाद तक बढ़ते हुए मनुष्य ने अपनी निरंतर वृद्धिमान आवश्यकताओं की पूर्त्ति ही नहीं की, उसने अपने भीतर उत्कृष्ट सौन्दर्य-चेतना का विकास किया और शारीरिक आवश्यकताओं से ऊपर उठकर मन की संतृप्ति को अपना लक्ष्य बनाया। पक्वान्न और सुगंधित द्रव्यों का आविष्कार, रंगोली की कला, चांदी-सोने के आभूषणों का वैचित्र्य, चित्र और मूर्त्ति का निर्माण, इष्ट-मित्रों के हास-विनोद, कथा और काव्य, ये सब मानव की सतत विकसित कला-चेतना के ही विभिन्न स्वरूप हैं। मानसिक दृष्टि से आह्लादकारक ये चेष्टाएं मनुष्य के भाव-जगत को निरंतर तरलता और सुन्दरता प्रदान करती रही हैं।

कला का "उपयोगी कला" और "ललित कला" में विभाजन किया जाता है और यह बतलाया जाता है कि उपयोगी कला व्यवहारजनित और सुविधा-बोधी है, ललित कला मन के संतोष के लिए है और उसमें उस विशिष्ट मानसिक सौन्दर्य की योजना है जो उपयोगितावाद से भिन्न वस्तु है। परन्तु यह स्पष्ट है कि कला के इन दोनों भेदों का विकास साथ-साथ हुआ और

मानव के सहजीवन और उसकी माधुर्य-साधना के फलस्वरूप ही ये दोनों नित्य विकासमान रहे। कला है कर्म-कुशलता। "योग: कर्मसु कौशलम्"। कला और मनुष्य का संबंध अविभाज्य है। मानव के द्वारा कला की प्रतिष्ठा हुई और कला के द्वारा मानव ने आत्मचैतन्य एवं आत्मगौरव प्राप्त किया। पाशविक विचारों की तीव्रता कम करने में "साहित्य, संगीत, कला" का योगदान अप्रतिम रहा है। कला के द्वारा ही मानव-जीवन में माधुर्य और सौन्दर्यशीलता का जन्म हुआ और कर्त्तव्य-कर्म सुन्दर एवं मधुर बना।

कला का उद्गम है सौन्दर्य की मूलभूत प्रेरणा। सौन्दर्याभिरुचि का प्रमाण मनुष्य की अनुकरणप्रवृत्ति है। प्रकृति का अनुकरण और अतिक्रमण मानव की सर्वोपरि चेतना है। प्रकृति के रमणीय दृश्य जैसे सूर्योदय-सूर्योस्त, मानव-मन को आनन्द से भरते रहे हैं। इन दृश्यों का वह स्वत: भी निर्माण करे, ऐसी इच्छा मनुष्य के मन में जाग्रत हुई। कोकिल के पंचम स्वर ने उसे संगीत की प्रेरणा दी। इसी प्रकार निर्झर ने उसे नृत्य के लिए अग्रसर किया। दुर्दम्य शत्रुओं के पराभव के उपरांत अपने उल्लास को प्रगट करने के लिए अथवा दैव की कृतज्ञता में बलि के अवसर पर मनुष्य ने सामूहिक नृत्य-गीत-अभिनय के आयोजन से नाट्यकला को जन्म दिया। दु:खमय परिस्थिति को कल्पना में डुबाकर जीवन के संघर्षों में मनुष्य ने रस लिया और हर्ष-शोक, सुख-दुख को रस-निष्पत्ति का विषय बनाया। कला में क्षोभ और श्रम का परिहार है, मन का रंजन और उद्बोधन है, गतानुभवों की सुखद पुनरावृत्ति है, यह जब मनुष्य ने जाना तभी तो आकांक्षामधुर कलानिर्मिति और कलानंद का जन्म हुआ।

कला की निर्मिति में कलाकार को एक विशिष्ट आनन्द की उपलब्धि होती है और आनन्द-दान ही कला का उद्देश्य है। इस कलानंद में अनेक कोटियां हैं। परन्तु कलानंद शास्त्र-ज्ञान से उत्पन्न आनन्द (ज्ञानानंद) से भिन्न और उत्कृष्ट है। ज्ञानानंद अपने श्रेष्ठ स्वरूप में अमूर्त्त और कष्ट-साध्य है। कठिन बौद्धिक श्रम के बाद ही उसकी उपलब्धि होती है परन्तु कलानंद भावनात्मक और मूर्त्त स्वरूप होने के कारण सरल-ग्राह्य और सार्वजनीन है। शास्त्र में जहां तात्विक सत्य का विकास है, वहां कला में अनुभूत सत्य अथवा

काल्पनिक सत्य का प्रसार है। एक तरह से ज्ञानानंद का मूल खण्डानुभवों का संबंध-निर्धारण है, परन्तु कलानंद समग्र-दर्शन है। दोनों के मूल में उत्कंठा का भाव है परन्तु यह उत्कंठा दो प्रकार की है। ज्ञान में ज्ञेय वस्तु की पर-परता लक्षित है तो कलाप्रसूत आनन्दानुभूति में उसकी आत्मपरता अथवा स्वीयता की स्वीकृति है। इस प्रकार कलानंद ज्ञानानंद से श्रेष्ठतर है। इसीलिए उसे लोकोत्तर एवं "ब्रह्मानंद-सहोदर" कहा गया है।

कला का एक लक्ष्य कुतूहलपूर्त्ति भी है। मनुष्य को इन्द्रिय-बंधनों एवं देश-काल-परिस्थितियों की मर्यादाओं से ऊपर उठाकर कला कल्पना की सहायता से कलाकार की कुतूहलपूर्त्ति एवं इच्छापूर्त्ति का साधन बनती है। इस कुतूहलपूर्त्ति एवं इच्छापूर्त्ति से जिस उत्कर्षमय आनन्द का जन्म होता है, वही कला का आनन्द है। अतः कला में प्रत्यक्ष की अपेक्षा अप्रत्यक्ष, वस्तुस्थिति की अपेक्षा संभाव्य और सत्य की अपेक्षा कल्पना का अधिक महत्व है। कल्पना द्वारा मनुष्य अपनी अनुभूति में नए प्रत्यय जोड़ता है, नए अनुभवों में जीता है। फलस्वरूप उसमें नव चैतन्य का जन्म होता है। यही कला का आनन्द है। मनुष्य समाजप्रिय प्राणी है। अतः उसका सुख-दुख अन्य प्राणियों के सुख-दुख से बँधा है। इसलिए उसका व्यक्तित्व समरस नहीं हो पाता। भावनाओं और विचारों के संघर्ष-स्वरूप उसके भीतर जो आन्दोलन होते रहे हैं, वे उसे अपूर्णता की दुःखद सूचना देते हैं। ऐसी स्थिति में "कला" उसके भीतर संतुलन स्थापित करती है। प्रणय-भंग, महत्वाकांक्षा का विरोध, किंकर्त्तव्यमूढ़ता, अंतर्मन का क्षोभ, ये कुछ ऐसे कारण हैं जिनपर मनुष्य का बस नहीं चलता। इसी से मनुष्य अंतर्मुख बनता जाता है और अपने भीतर ऐसे लोक का निर्माण करता है जहाँ इन दुःखों का बाध है अथवा अखण्ड आनन्द की स्थिति है। यहीं से कला का जन्म होता है। कला के द्वारा मनुष्य का मानस-क्षितिज उदार, व्यापक-और उन्नत बना है। उसने दुःख में भी सुख की अनुभूति की है। पीड़ा उसके लिए चंदन बन गई है।

क्यों मनुष्य त्रासकीय कला में आनन्द प्राप्त करता है? कारण है मन की अंतर्मुखता जो सुखद घटना की अपेक्षा करुण-गंभीर घटना से अधिक रस-

ग्रहण करती है। प्रेक्षक क्षुद्र दुःखों को भूलकर रंगमंच पर स्थित महान व्यक्ति (नायक) के दुःख में विभोर हो जाता है और इस प्रकार समरसत्व को प्राप्त करता है। मानव-मन का एक भव्य पहलू यह है कि वह तटस्थ वृत्ति ग्रहण कर सकता है और साधारणीकरण द्वारा सब के सुख-दुख अपना सकता है। कला इस अतिक्रमण में उसकी सबसे बड़ी सहायिका है। कला के आस्वाद से श्रम-परिहार और मन के उद्‌बोधन की भी सृष्टि होती है। कला के नंदन-बन में प्रवेश करते ही भावक का सारा मनःताप गल जाता है और परिस्थितियों से ऊपर उठ कर प्रेक्षक अप्रत्याशित सफलताओं का अनुभव करता है। इस प्रकार कलानंद के स्वरूप और कार्य के सम्बन्ध में अनेक प्रकार से विचार किया जा सकता है।

कलाएँ अनेक हैं परन्तु सर्वत्र कला का ध्येय एक ही है। सौन्दर्य का अनुसंधान अथवा रसानुभूति। कला का जन्म मन की जिस मधुमती भूमिका पर से होता है वह सर्वत्र एक है। प्रणय-वंचना के दारुण दुख की अभिव्यक्ति चाहे नृत्याभिनय में हो, या मूर्त्ति में, या चित्र-संगीत में, अभिव्यंजना का स्वरूप भिन्न होने पर भी मूल संवेदना में कोई भेद नहीं होगा। समस्त कलाएँ परस्पर निबद्ध हैं और उनका लक्ष्य समान है। चित्र, नाट्य, संगीत, काव्य इत्यादि कलाप्रकारों में तरतमता स्थापित की गई है परन्तु यह भुला दिया गया है कि प्रत्येक कला में आंशिक रूप में सभी कलाओं का उपयोग संभव है। संगीत में स्वर प्रधान है, काव्य में शब्द, परन्तु श्रेष्ठ काव्य में गेयता का कम उपयोग नहीं है। संगीत स्वतंत्र कला है परन्तु कविता में वह शब्द-रस-परिपोषक बन कर ही सार्थक होता है। प्राचीनों ने गीत-नृत्य और वाद्य का संगीत के भीतर ही समावेश किया था क्योंकि उनका मूलाधार है गतिमानता। यही गतिमानता छन्दपद्धति के द्वारा प्रकट होती है। चित्रकला की भाषा है "रंग" अथवा "रेखा", परन्तु वाङ्मय में शब्दचित्रों का कम महत्व नहीं है। शिल्प को तो मूक काव्य ही कहा जा सकता है। वास्तव में महान कलाकृतियाँ समान रूप से सभी कलाओं को प्रभावित करती रही हैं। समस्त भारतीय चित्रकला और शिल्पकला रामायण और महाभारत पर आधारित है और महान कला-मंदिरों एवं चित्रों ने कवियों को बराबर स्फूर्त्ति दी है। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न उठता है कि कला के भिन्न-भिन्न प्रकार-भेद किन आधारों

पर अवलंबित किए जाएँ। वास्तव में कलाम्रों का अंतिम ध्येय एक होने पर भी माध्यम की विभिन्नता और उसकी मर्यादा उनकी अभिव्यंजना-शैली एवं सामर्थ्य को सीमित कर देती है। इसी से उनके आकार और वैशिष्ट्य भिन्न-भिन्न होते हैं। जैसे शिल्प की साकारता चित्र में नहीं है और न चित्र का रंगवैशिष्ट्य चित्र में है। नृत्य की गतिमयता शिल्प, चित्र और अन्य स्थिर कलाओं में नहीं है। संगीत श्राव्य कला है, उसके श्रुति-माधुर्य का अनुभव चित्रकला में कहाँ मिलेगा! केवल नाट्य ऐसी कला है जिसमें संगीत, नृत्य, शिल्प और वाङ्मय सबकी संहिति है। इसीलिए नाट्य-कला जैसी सार्व-जनीनता अन्य कलाओं में नहीं है। नाट्यकला भिन्न-भिन्न रुचि के रसिकों में जिस प्रकार प्रियता प्राप्त कर सकती है, वैसा शेष कलाओं के लिए संभव नहीं है। अन्य कलाओं में माध्यम बदलने से ही कला का स्वरूप और उसका शास्त्र बदल जाता है।

कलानुभूति एकरस और अखण्ड है, यह हम ऊपर बता चुके हैं, परन्तु प्रश्न यह है कि कलानुभूति का स्वरूप क्या है। पहली वस्तु जो स्पष्ट है वह यह है कि कलानुभूति निर्वैयक्तिक है। उत्कृष्ट कलाकृति हमें व्यक्तिगत संकीर्णताओं से ऊपर उठा देती है और हम आत्मविभोर हो जाते हैं। कलानंद (रस) के आस्वादन में प्राथमिक स्तरों पर चाहे जितनी भी चेष्टा करनी पड़े, यह स्पष्ट है कि कलानुभूति के अन्यतम क्षणों में रसिक कलाकृति मात्र से साक्षात्कार प्राप्त करता है। उसके लिए जैसे शेष संसार की स्थिति है ही नहीं। दूसरी बात यह है कि भावक को व्यक्तित्व से मुक्ति देकर अथवा आत्मविभोर कर कला उसके भीतर लोकोत्तर आनन्द का संचार करती है। ब्रह्मानंद की कल्पना भी कुछ ऐसी ही है, परन्तु ब्रह्मानंद स्थायी वृत्ति है, कलानुभूति (रसानुभूति) क्षणिक और स्वल्प है। दोनों प्रकार के आनन्द का आधार "भूमा" (आत्मविस्तृति) का सुख है। "भूमा में सुख है, अल्प में नहीं," ऐसा श्रुति कहती है। साथ ही ब्रह्मानंद में सत्य का भी प्रत्यक्षीकरण है अथवा प्रत्यक्ष (वास्तव) का दार्शनिक ज्ञान भी सम्मिलित है तथा नैतिक दृष्टि-कोण का भी समावेश है। कलानुभूति निर्विशेष रसानुभूति मात्र है। उसके लिए न दर्शन-ज्ञान की अपेक्षा है, न उसके साथ कोई नैतिक दायित्व चिपटा हुआ है। वह अपने में पूर्ण है। मोक्ष-सुख से वह कमतर इसलिए है कि वह

अचिरस्थायी है और उसका स्रोत भोक्ता के बाहर है, भीतर नहीं। फिर भी अनुभूति की एकान्विति और उसकी विचक्षणता उसे सामान्य लोकानुभूति से उत्कृष्ट बना देती है।

यह कहा जा सकता है कि कला जीवन से पराङ्मुख हो सकती है, वह नीति-निरपेक्ष बन सकती है परन्तु ब्रह्मानंद में जीवन और नीति दोनों का अंतर्योजन है। परन्तु इसी से कला सार्वजनीन और सहजसाध्य भी है। कलाकार का दायित्व केवल मात्र कला के प्रति है। इसी प्रकार कला-रसिक अपनी अनुभूति की सच्चाई के प्रति ही उत्तरदायी है। जहाँ रसानुभूति जीवन से पराङ्मुख न होकर जीवन को अंतर्योजित करने में समर्थ हो जाती है अथवा उच्च नैतिक भूमियों का उद्घाटन करने लगती है, वहाँ वह अपनी सीमा का विस्तार ही करती है। उत्कृष्ट कला का स्थायी मान मानवीयता है जिसमें लोक-मंगल और नीतिमयता का समाहार है। वह समग्र और समष्टिगत अनुभव है। इस दृष्टि से वह मानव की विशुद्धतर और चरमतर संवेदना है। संभवतः इसी-लिए श्रुति "कविर्मनीषी" कह कर कवि और द्रष्टा (ऋषि) को एकीकृत कर देती है।

कला में जीवन के प्रति पलायन नहीं हैं, उसमें जीवन की रसपूर्ण स्वीकृति है। जहाँ कला जीवन-वैषम्य से भाग कर कल्पना के आदर्श लोक का निर्माण करती है, वहाँ वह अंततः जीवन की ओर लौट कर उसे देवोपम बनाना चाहती है। इसी से उत्कृष्ट कवि और कलाकार जीवन के प्रति अपने दायित्व की अवहेलना नहीं करते। उत्कृष्ट कला में दुःखवाद को कोई स्थान नहीं है क्योंकि कला जीवन के प्रति आस्था को पुष्ट करती है और जीवन के प्रति आस्था मनुष्य के प्रति आस्था का ही दूसरा नाम है। कलाकार का विशद एवं गहन मानव-प्रेम ही उसे देवत्व प्रदान करता है। कलाकार मूर्त्त के भीतर से उस अमूर्त्त सौन्दर्य और अक्षय प्रेम की झाँकी देता है जो समस्त दृश्यमान वस्तुओं को एक सूत्र में ग्रथित करता है। इसीलिए कला में ही मनुष्य वस्तून्मुख जगत और मानव-स्वभाव की दुर्बलताओं एवं असंगतियों का अतिक्रमण करने में सफल होता है।

कलानुभव की प्रक्रिया के संबंध में भी पूर्व-पश्चिम में विस्तारपूर्वक विचार हुआ है। कलानुभव में कलाकार के मन की स्थिति क्या है? कलाविदों का विचार है कि कलानुभवी मानस कला-विषय की समग्र अनुभूति को प्राप्त होता है। यह "समाधि" की अवस्था में ही संभव है जब कलाकार का मन अनुभूत विषय से तद्रूप हो जाता है। परन्तु यहाँ प्रश्न यह होता है कि क्या मन द्वारा सौन्दर्यानुभूति और रसास्वादन पूर्वपर प्रक्रियाएँ हैं अथवा उनमें नैरंतर्य तथा तादात्म्य है। भारतीय कला-मत में सौन्दर्यानुभूति और रसास्वादन की प्रक्रिया तात्क्षणिक और एकान्वित है और इसीलिए कलासृजन एवं रसास्वादन की प्रक्रिया में निरंतर आनन्द-बोध होता चलता है। इसी नैरंतर्य के कारण कला-चेतन समीक्षात्मक है अर्थात् सृजन-बेला में कलाकार का मन अपनी कृति को अपने सम्मुख रख कर उसके गुण-दोष की सूक्ष्म विवेचना करते हुए निर्माण के अग्र चरणों की ओर अग्रसर होता है।

भारतीय कलादर्शन के अनुसार कला-चेतना भावमूलक है। इसीलिए स्थायी भावों का कला में महत्वपूर्ण स्थान है। जीवन में भी इन स्थायी भावों की अनुभूति हमें होती है, परन्तु यह अनुभूति व्यक्तिगत स्तर पर होती है और उसमें रसानुभव का निर्लेपण एवं साधारणीकरण नहीं होता। कला-चेतना हमारे भावोद्रेक को व्यक्तिगत चेतना से ऊपर उठा कर उसे तटस्थता एवं सार्वभौमिकता प्रदान करती है। इसी में त्रासकीय दुख का लोकोत्तर आनन्द में परिहार हो जाता है। परन्तु यह कहना उचित नहीं है कि रसानुभव में बुद्धि का बाध है अथवा मानवीय चेतना के अन्य अंगों का उसमें किंचित् मात्र भी उपयोग नहीं होता। ध्वनिकार ने वस्तुध्वनि, अलंकार-ध्वनि और रस-ध्वनि के रूप में कलानुभूति के तीन स्वरूपों का निर्देश किया है जिनमें कला-चेतना की सर्वसंहृति है। इनमें रसध्वनि की प्रमुखता होने के कारण "रस" को ही कलानुभूति मान लिया गया है। परन्तु इस मानने में अन्य चेतनाओं की अस्वीकृति नहीं है। फिर भी यह आवश्यक नहीं है कि पश्चिमी कलादर्शन भी "रस" के उसी रूप को स्वीकार करे जो भारतीय कला-दर्शन ने माना है। पश्चिम में कलात्मक सौन्दर्य को बुद्धिग्राह्य ही माना गया है और वहाँ अलंकार-ध्वनि की भूमिका पर ही रसानुभूति की स्थापना की गई है।

मनुष्य की समग्रगत चेतना को "सत्यं शिवं सुन्दरम्" सूत्र में ही बांधा जा सकता है। सत्यं दर्शन का विषय है, शिवं धर्म का अनुसंधान है और सुन्दरम् की शोध कला का मूल स्रोत है। इस प्रकार मानवीय चेतना का एक प्रमुख अंग ही कला से परितोष प्राप्त करता है। दर्शन ज्ञानमूलक है तो धर्म नीति-मूलक। कला ज्ञान और नीति से पुष्ट होकर अपने सीमित क्षेत्र का अतिक्रमण करती है। ज्ञान और नीति से उसका प्रकृतिगत विरोध नहीं है, परन्तु अपने मूल रूप में वह बुद्धिनिरपेक्ष और नीति-पराङ्मुख है। कला की इन सीमाओं को समझ कर ही हम उसके साथ न्याय कर सकेगें।

साहित्य में कलापक्ष और भाव पक्ष

साहित्य तथा काव्य का अंतरंग उसका बोधपक्ष है और वहिरंग कलापक्ष। दोनों ही महत्वपूर्ण हैं। वहिरंग काव्य को उत्कर्षमय बनाते हैं तो अंतरंग कलापक्ष अथवा वहिरंग को सार्थकता प्रदान करते हैं। काव्य के संबंध में एक प्राचीन रूपक है जिसमें कविता की तुलना लावण्यवती युवती से की गई है शब्दार्थ जिसका शरीर है, अलंकार आभूषण हैं, रीति अवयवों का गठन है, गुण स्वभाव और रस आत्मा। इस रूपक में शरीरस्थ आत्मा की तरह रस को सर्वश्रेष्ठ स्थान दिया गया है। काव्य के वाह्यांग छंद (वृत्त), शब्दार्थ, अलंकार और गुणरीति हैं। काव्य का अंतरंग भावना, कल्पना और विचार के अंतर्भाव से निर्मित होता है तो वहिरंग छंद, अलंकार और गुण-रीति से। कुछ रसिक जन वाह्यांग को अधिक श्रेय नहीं देते। परन्तु असुन्दर वाह्यांग में सुन्दर आत्मा की कल्पना बहुत कुछ भ्रांत है। यह अवश्य है कि अंतरंग सौन्दर्य का वाह्यांग से अधिक महत्व है परन्तु खराद पर चढ़ने के बाद मणि का सौन्दर्य द्विगुणित हो जाता है। वास्तव में वाह्य सौन्दर्य की प्रतीति वहिरंग और अंतरंग दोनों के समन्वय से होती है और ये विविध अंग परस्पर पूरक हैं तथा इनके समग्रगत प्रभाव से ही रस-निष्पत्ति होती है। काव्य-स्वरूप समग्रगत है, अखण्डित है, अतः कलापक्ष का स्वतंत्र अस्तित्व ही नहीं है। अध्ययन की सुविधा के लिए ही उसे अलग कर लिया गया है।

वैसे कलापक्ष में गद्य-पद्य दोनों प्रकार की रचनाओं का विवेचन संभव है, परन्तु गद्य में कलापक्ष का उतना विस्तार नहीं है जितना पद्य में। गद्य विचार-शक्ति को जाग्रत करता है, पद्य कल्पना-शक्ति को। गद्य का उद्देश्य है अर्थबोध, पद्य का उद्देश्य है आनन्द। गद्य तर्कनिष्ठ है, पद्य भावनानिष्ठ। अतः जहाँ गद्य में व्यवहारोपयोगिता देखी जाती है, वहाँ पद्य में संगीतोपयोगिता और भावोत्कृष्टता। ओजस्विता और समास-प्राचुर्य श्रेष्ठ गद्य के गुण हैं तो पद्य का गुण है "मधुर कोमलकांत पदावली"। इसीलिए कलानिष्ठा पद्य का विषय है, गद्य का नहीं।

•

पद्य का कलापक्ष छंदबद्धता से आरंभ होता है क्योंकि कविता के लिए लयबद्ध होना अनिवार्य है। मनुष्य के भीतर आन्दोलन की जो मूल इच्छा है उसकी तृप्ति छंद के द्वारा ही होती है। प्रदीप्त भावना लयबद्धता और तालबद्धता का ही आश्रय लेती है। क्रौंच-बध का शोक "श्लोक" के रूप में प्रगट हुआ, यह कोई चमत्कार नहीं था। प्रकृति की योजना ही ऐसी है कि उद्दीप्त भावना छंद का रूप ग्रहण कर लेती है। नाद और लय में विचक्षण सामर्थ्य है और इसीलिए छंद मन को अधिक भावनाग्राही और संवेदनामूलक बना लेता है। अनुकूल छंद पाकर कवि की भावना अत्यंत आकर्षणमयी बन जाती है। छंद की नादमयता और उसका आन्दोलन गद्यानुवाद में नहीं आता। इसीलिए उत्कृष्ट काव्यकृति का रसास्वादन मूल में ही संभव है। इस प्रकार छंदोमयता में ही काव्य का महत्व सन्निहित है। छंद में ही काव्य माधुर्य और गति को प्राप्त होता है। कविता का गूढ़ गुंजन बहुत कुछ छंदोमयता और गतिमानता पर ही आधारित है। अर्थ के सम्बन्ध में विद्वानों में भले ही मतभेद हो, परन्तु "छन्द" (नाद-लय) के प्रभाव को अस्वीकार करना सबके लिए कठिन है।

वृत्त (छंद) और विषय की अनुरूपता आधुनिक काव्य में भी स्वीकृत है यद्यपि वह प्राचीन कलावादिता के विपरीत एक नई प्रकार की कलाप्रणाली की सृष्टि करती है। वास्तव में कलापक्ष का एक महदंश छंद-योजना पर परिसमाप्त हो जाता है।

परन्तु कला-योजना का एक दूसरा रूप काव्यगत शब्द-योजना को लेकर है। पारिभाषिक शब्दावली में इसे शब्दालंकारों का उपयोग कह सकते हैं। यमक, अनुप्रास, श्लेष तीन प्रमुख शब्दालंकार हैं। यमक और अनुप्रास के समुचित उपयोग से काव्य की शोभा बढ़ती है, इसमें किंचित् मात्र भी शंका नहीं है। संवादी स्वरों के उच्चारण से एकतानता और सुरीलेपन का आभास होता है और काव्य की सुश्लिष्टता एवं सौष्ठव की वृद्धि होती है। यमक और अनुप्रास काव्य को अर्थगौरव भले ही नहीं दें, वे उसे स्मरणीय और रमणीक बना देते हैं। नाद-माधुर्य के निर्माण में अनुप्रास का महत्व कम नहीं है। फिर भी यह

निश्चित है कि इन अलंकारों के अतिरेक से काव्य शोभाहीन बन जाता है। श्लेष में कौतुक सृष्टि है। उसमें भी संयम अनिवार्य शर्त है।

प्राचीन कविता में अलंकारों का प्राबल्य था और प्रतिक्रिया में आधुनिक काव्य में अनलंकृत रचना की चाल चल पड़ी है। आधुनिक जीवन जिस प्रकार अनपेक्षित भार को उतार फेंकने में समर्थ हुआ है, उसी प्रकार आधुनिक काव्य की चाल भी चपल है और उसमें गरिमा को छोड़ कर चपलता का आदर्श ग्रहण किया गया है। यह कहा जाता है कि आधुनिक साहित्य सुसंस्कृत समाज के लिए नहीं रचना जाता, वह सामान्य जन के लिए है। परन्तु सामान्य अशिक्षित स्त्री-पुरुष भी पद-पद पर आलंकारिक भाषा का आश्रय ग्रहण करते हैं। समाचार पत्र जैसे व्यवहारोपयोगी वाङ्मय में भी आलंकारिकता की छाप रहती ही है। यह संभव है कि यह आरोप कृत्रिम हो। कला मात्र कृत्रिम है। उसमें सत्य की अपेक्षा सत्याभास का अधिक महत्व है। अलंकार कृत्रिमत्व का सृजन करते हैं तो शोभा की वृद्धि भी करते हैं। कलावंत का कौशल कृत्रिमता को इस प्रकार छिपा लेता है कि वह घनीभूत वास्तविकता बन जाती है। यह भी आक्षेप लगाया जाता है कि अलंकार भावना के मारक हैं, पोषक नहीं, परन्तु केवल अतिरेक होने पर ही यह सिद्ध होता है। श्रेष्ठ कवि और कलाकार अलंकार से अभिव्यक्ति में सहायता लेते हैं। ऐसे सैकड़ों उदाहरण दिए जा सकते हैं जहां अलंकृत प्रयोग द्वारा विवेच्य आकर्षक और मनोरम बन गया है। साहित्य की सौन्दर्य वृद्धि में अलंकार निश्चय रूप से सहायक हैं और उनके समुचित उपयोग से काव्यानुभूति सुसज्जित और प्रभावशील बनती है।

काव्य में स्पष्ट अर्थ-बोध की अपेक्षा सूचकता अथवा ध्वन्यर्थ का अधिक महत्व है क्योंकि शास्त्रीय विवेचना में जिस स्पष्ट प्रतिपादन की आवश्यकता होती है वह काव्य से भिन्न वस्तु है। पूर्ण विकसित फूल की अपेक्षा अस्फुट कली में अधिक प्रियता है क्योंकि उसमें अभी विकास की संभावनाएं सन्निहित हैं। इसी प्रकार अभिधार्थ की अपेक्षा व्यंगार्थ अधिक सूक्ष्म और आकर्षक होता है। सच तो यह है कि सभी कलाओं में व्यंजना-तत्व की प्रधानता है, चाहे चित्र-कला हो या संगीत या मूर्त्तिकला। काव्यगत प्रत्येक शब्द के उच्चारण से भावक में अनेक भाव कल्पना-तरंग आन्दोलित होते हैं, तभी शब्द-प्रयोग सार्थक होता

है। जलाशय के स्थिर जल में कंकड़ मारने से जिस प्रकार दूरगामी आवर्त्तों का जन्म होता है। उसी प्रकार प्रत्येक व्यंजक शब्द सहृदय के मानस में अनेक भावावर्त्तों की सृष्टि करता है। अपने विशिष्ट मानसोपकरण के अनुकूल सहृदय उनमें से कुछ तरंगावर्तों को ग्रहण कर लेता हैं।

ध्वनि रस-निर्मिति में भी सहायक होती है। वास्तव में रस को अभिधेय ही नहीं, व्यंग्य भी माना गया है। रस अंतर्वत्तिनी भावस्थिति है और ध्वनि या सूचकता अंतर्मन के निगूढ़ अनुभवों और सूक्ष्म भावावर्त्तनों को तल पर उभारने में समर्थ होती है जिससे भावस्थिति पुष्ट होकर रस का रूप ग्रहण करती है। ध्वनि-काव्य के संबंध में गूढ़ता अथवा विलष्टता की लांक्षा उपस्थिति की जाती है। परन्तु ध्वनिमूलक गूढ़ गुंजना दुर्बोधता नहीं है, उसमें ही रस-प्रतीति की संगीत-धारा अंर्तानिहित है। उसमें वाचक (पाठक) की बुद्धिमता अथवा प्रज्ञाशीलता के विषय में समादर भी समाहित है। ध्वनि-काव्य का मूलाधार भाषा का विचक्षण और चमत्कृत प्रयोग है और इसीलिए उसके वाचक को रसज्ञ ही नहीं, विदग्ध भी होना चाहिए।

कला-पक्ष में भाषा का अध्ययन भी आता है। काव्य के माध्यम से प्रसंग, स्वभाव, भावना, विचार, अंतर्द्वन्द इत्यादि भाषा में ही द्यौतित होते हैं, अतः भाषा काव्य या साहित्य का व्यवहार-पक्ष है। काव्य में किस भाषा का उपयोग हो, इस संबंध में कोई भी नियम बनाना कठिन है परन्तु लयबद्ध, नादानुकूल, आलंकारिक एवं व्यंजक भाषा आदर्श काव्यभाषा है। भाषा भावाभिव्यक्ति का एक साधन है, परन्तु यह एक अत्यंत लचीला साधन है। व्यक्ति के मनःसंगठन एवं स्वभाव का परिणाम ही उसकी भाषा-शैली है। अतः भाषा-शैली में व्यक्तित्व का संपूर्ण प्रकाश और उसके माध्यम से व्यक्तित्व का भी अध्ययन हो सकता है। व्यक्तिनिष्ठ होने के कारण साहित्य के बोधपक्ष और रूपपक्ष को अलग करना संभव नहीं है क्योंकि भाषा और विचार अन्योन्याश्रित हैं।

भाषासंबंधी विशेषता शब्दार्थ-संबंध को लेकर है अर्थात् भाषा इष्टार्थबोध का परम साधन हैं, परन्तु जहाँ विचार-दारिद्रच है वहाँ शब्दों का व्यर्थ इंद्रजाल

भी खड़ा हो सकता है। अतः योग्य शब्द का संगत प्रयोग ही अभीष्ट है और यही कलापक्ष का प्रथम सोपान है। परन्तु भाषा की सामर्थ्य उसकी व्यंजना-शक्ति में ही हैं। इसी व्यंजना-तत्व के पोषण से अर्थगौरव की सृष्टि होती है। रीति और गुण भाषा के ही तत्व हैं। प्रसाद, ओज और माधुर्य अथवा वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली के रूप में प्राचीन काव्य-शास्त्र ने जिन भाषा-तत्वों की ओर संकेत किया था, वे सार्वदेशिक और सार्वकालिक हैं। इन्हीं के व्यक्तिगत प्रयोग से विशिष्ट लेखन-शैली का निर्माण होता है।

परन्तु काव्य में इन गुणों के अतिरिक्त एक और भी गुण है जिसे "गेयता" कह सकते हैं। गेयता का आधार नाद-माधुर्य है जो अनुकूल शब्द-योजना के द्वारा माधुर्यमयी चित्तवृत्ति को जन्म देता है। शृंगार, शांत और करुण रसों में माधुर्य गुण की प्रतीति विशेष होगी। गीतिकाव्य में कलापक्ष का महत्व कुछ अधिक बढ़ जाता है क्योंकि उसमें कवि की अंतर्मुखी दृष्टि और तज्जन्य भाववृत्ति को शब्द का रूप देना होता है। अस्फुट, मधुर और अव्यक्त भाव संगीत के सूक्ष्मतम आवर्त्तों-विवर्त्तों में बँध कर ही श्रेष्ठ "गीति" की सृष्टि करते हैं।

प्राचीनों ने काव्य-गुण और काव्य-दोष के रूप में जो विस्तृत आलेखन उप-स्थित किया है उसमें बहुत कुछ ऐसा है जो कविता (या साहित्य) के कलापक्ष पर लागू होता है। गुण-दोष अनेक हैं और कला-पारखी के लिए उनका अध्ययन अनिवार्य हो जाता है। यतिभंग वृत्त-दोष, पुनरुक्ति, असंगत कल्पना आदि अनेक दोषों का विस्तृत विवेचन हुआ है। गुणों को ध्यान में रख कर और दोनों से ऊपर उठ कर ही कलापक्ष को समृद्ध बनाया जा सकता है।

अंत में हमें "औचित्य" के सम्बन्ध में भी कुछ निर्देश कर देना है जिसे एक संप्रदाय विशेष काव्य का प्रमुख उपकरण मानता है। जहां तक कला-पक्ष का सम्बन्ध है, औचित्य अतिरेक में नहीं, संयम में है। देश-काल-परिस्थिति के अनुसार शब्द, अलंकार, वर्णन इत्यादि का सम्यक् प्रयोग औचित्य कहलाता है। उत्कृष्ट कोटि के शैलीकार के लिए शब्द-संपत्ति इतनी महत्वपूर्ण नहीं जितनी उस मानसिक गुण की आवश्यकता है जो उपयुक्त स्थान पर योग्यतम

शब्द की स्थापना करा सके। छंद, अलंकृति, भाषा, शैली सभी क्षेत्रों में उपयुक्त रूपविन्यास और सम्यक् योगायोग औचित्य की योजना पर ही आश्रित है।

कलापक्ष को बहुधा भावपक्ष से स्वतंत्र और श्रमसाध्य समझा जाता है परन्तु वह वस्तुतः कवि के व्यक्तित्व और उसके मनःसंगठन से अनन्यतः सम्बन्धित है। कवि अथवा साहित्यकार के व्यक्तित्व की विभिन्नता से ही कलापक्ष में विभिन्नता आ जाती है क्योंकि रुचि-वैभिन्न्य और दृष्टिकोण की विलक्षणता के अनुसार कोई कवि छन्द पर बल देता है, किसी को अलंकार प्रिय है, कोई रीतिवादी है, किसी को वाग्वैचित्र्य अथवा गूढ़ व्यंजना प्रिय है। भाव की तरलता, गहनता और अनन्यता के अनुरूप भी कलापक्ष में विशदता, संकोच अथवा गूढ़ता का योग हो जाता है। वस्तुतः भावपक्ष से स्वतंत्र कलापक्ष की कोई स्थिति है ही नहीं।

भाव-पक्ष से हमारा तात्पर्य साहित्य या काव्य के अंतरंग से है जिसे एक प्रकार में हम कविता की "आत्मा" कह सकते हैं। भावपक्ष का सर्वश्रेष्ठ स्वरूप रस-निष्पत्ति है। भाव रस-कोटि पर पहुँच कर आस्वाद्य बनते हैं। फलतः, साहित्य अथवा काव्य के अंतर में भाव की ही प्रतिष्ठा है। रस-निष्पत्ति मुख्यतः भावना के परिपोषण और उसके आस्वादन पर अवलंबित है। मानवी अंतःकरण में अनेक भावनाओं का एक समुद्र सदैव हिल्लोलित है। इस भाव-समुद्र में अनेकानेक लहरियां उठा करती हैं परन्तु सभी क्षुद्र और क्षणजीवी भावनाएं "रस" नहीं बन पातीं। जो भावना स्थायी, मूलभूत और व्यापक होगी, वही परिपुष्ट होकर रस-निष्पत्ति में समर्थ होगी। साहित्य के अंतर्गत स्थायी भाव के रूप में रति, क्रोध, शोक, हास, भय, जुगुप्सा, विस्मय, निर्वेद और वात्सल्य भावों की प्रतिष्ठा है जो रस-स्थिति पर पहुँच कर क्रमशः शृंगार, वीर, करुण, हास, भयानक, वीभत्स, अद्भुत, शांत और वत्सल रसों का रूप धारण करते हैं। स्थायी भाव को रस की स्थिति तक ले जाने में प्रमुख (या रस के अंग) आलंबन, उद्दीपन, अनुभाव और संचारी (व्यभिचारी) भाव हैं। जैसे-जैसे हम नवीन युग में प्रवेश करते हैं, वैसे-वैसे रस के सम्बन्ध में हमारा दृष्टिकोण बदल जाता है। मानस-शास्त्र के आविर्भाव और विकास ने रस-व्यवस्था को अपूर्ण सिद्ध कर दिया और "नवरस" के

बाद भी कुछ अन्य रसों की कल्पना हुई। साथ ही गीतिकाव्य की प्रधानता के कारण रसदृष्टि में भी अंतर पड़ा क्योंकि "गीति" में रस के समस्त अवयवों की समाहिति असंभव है। गीतिकाव्य में रस केवल व्यंजित ही हो सकता है। अनेक गीतों में केवल उद्दीपन अथवा अनुभाव अथवा संचारी भाव वर्णित हैं। ऐसी स्थिति में या तो "रस" को व्यंजित माना जाए या भावसंवेदन को ही काव्य की परिणति समझ लिया जाए। आधुनिक मनोविज्ञान ने "रस" सम्बन्धी हमारी मान्यता को बेतरह झकझोरा है क्योंकि वह किसी भी लोकोत्तर तत्व में आस्था नहीं रखता। उसके अनुसार काव्य-पाठ या काव्य-श्रवण से मन में एक "वृत्ति" (एटीट्यूड) का जन्म होता है जिसे "रस" कह दिया गया है। यह वृत्ति रसिक के मन में पहले से ही तैयार होती है और उसी के अनुसार वह काव्य से रसग्रहण करता है। काव्यगत शोक रसिक के लिए हर्ष का विषय बन जाता है क्योंकि शोक के विषय में उसकी एक अपनी कल्पना है उसके अनुरूप जीवनस्थिति या काव्य-स्थिति से उसमें तादृशी भावना का जन्म होता है जो सुख का कारण होती है। जहाँ रसिक की मन:कल्पना के विपरीत काव्यगत कल्पना सामने आती है वहाँ तद्विरोधी कल्पना उद्दीप्त होती है जिससे संघर्ष मूलक प्रक्षोभ का जन्म होता है। नया काव्य अनुरूपता की अपेक्षा विपरीतता में अधिक रस ग्रहण करता है। फलत: नए साहित्य में प्रक्षोभ ही संवेद्य बन गया है।

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट है कि कवि अपने मन की भावना अथवा कल्पना से वाचक या श्रोता को आक्रांत करता है और उसे नई दृष्टि देता है। भौतिक सृष्टि में मन अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों का इंद्रजाल है परन्तु कवि उनमें से कुछ विशिष्ट क्षणों की मन:स्थिति, वातावरण, भावना, कल्पना, सुख-दुख लेकर अनेक मनों को संक्रांत करता है। कला को संसर्ग-कारक और संस्कारक्षम कहा गया है,—इसीलिए कि कला के माध्यम से कलाकार के मन के विशिष्ट क्षण पाठक या श्रोता के विशिष्ट क्षण बन जाते हैं। कवि अपनी चित्तवृत्ति को व्यक्त करने के लिए अनेक विषयों, प्रसंगों, व्यक्तियों और वातावरणों का उपयोग करता है। इन विशिष्ट प्रसंगों, चरित्रों एवं वातावरण-संदर्भों से पाठक या श्रोता की वह विशिष्ट वृत्ति निर्मित होती है जिसे "रस" कहते हैं। इसी दृष्टि से काव्यविषय का महत्व है। वह-

रसोद्रेक या भावोद्रेक का साधन-मात्र है। प्राचीन काव्य में मानव-जीवन की अंतःस्थितियों एवं प्रकृति के अनेक रूपों को ही काव्यविषय माना गया है, परन्तु आज काव्य या साहित्य का कोई निश्चित विषय नहीं है। आज कोई भी विषय कवि अथवा साहित्यकार की रस-संवेदना को छू कर काव्य अथवा साहित्य का विषय बन सकता है।

साहित्य अथवा काव्य के भावपक्ष में एक अन्य वस्तु का भी अपरिसीम महत्व है। वह है कल्पना। कल्पना का लक्ष्य है अपूर्वत्व की स्थापना। कहीं-कहीं यह अपूर्वत्व चमत्कार का रूप ग्रहण कर लेता है और हीन काव्य की सृष्टि करता है, परन्तु जहाँ यह भावपक्ष या विचार-पक्ष को पुष्ट करता है, वहां निश्चय ही श्लाध्य है। श्रेष्ठकाव्य अथवा श्रेष्ठ साहित्य में भावना, कल्पना अथवा विचार अन्यतम रीति से एकीकृत हो जाते हैं, परन्तु जहां ऐसे आदर्श समन्वय की स्थापना नहीं होती, वहां हम काव्य या साहित्य को भावनाप्रधान, कल्पना-प्रधान अथवा विचारप्रधान मान लेते हैं। काव्य में विचार की अपेक्षा भावना और कल्पना का अधिक महत्व है। जहां विषय की सज्जा मात्र के लिए कल्पना का उपयोग होता है, वहां वह रसाविष्कार में सफल नहीं होती और कला मात्र बन कर रह जाती है। परन्तु रसानुकूल सज्जा में कल्पना सहायक ही होती है। उदाहरण के लिए हम "मेघदूत" को ले सकते हैं। "मेघदूत" का हेतु विरहसाधना का चित्रण है, परन्तु इस विरह-भावना की अभिव्यक्ति के लिए कवि ने मेघों द्वारा यक्षपत्नी को संदेश पहुँचाने की कल्पना की है और इससे विरहभावना को मूर्त्त रूप मिल सका है। प्रसाद के "आंसू" में इसी भावना का चित्रण है। परन्तु कल्पना का सहारा न पाकर यह भावना बहुत कुछ अस्पष्ट रह गई है। इसमें संदेह नहीं कि काव्य में कल्पना का अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान है। संभाव्य, सुसंगत, समर्पक और रसानुकूल कल्पना से ही काव्य का कलात्मक स्वरूप पुष्ट होता है।

कलात्मक कल्पना और सत्य में अंतर हो सकता है, परन्तु कल्पना को हम मिथ्या नहीं मान सकते क्योंकि उससे भावपक्ष की पुष्टि ही होती है। सत्य

के दो रूप हैं, एक वस्तु-जागतिक, दूसरा भाव-जागतिक। इन दोनों रूपों में से कौन अधिक सत्य है, यह कहना असंभव बात है। वास्तव में वस्तुजगत और भावजगत में बराबर आदान-प्रदान चला करता है। सत्य और कल्पना के मिश्रण में ही कला की स्थिति है। व्यावहारिक जीवन के तथ्यों, घटनाओं, अनुमानों इत्यादि में एक संगति लाना ही कल्पना का काम है। इस प्रकार संभाव्य और संगति (साम्य) के आधार पर कल्पना जिस मनोज्ञ काव्य-मूर्त्ति का निर्माण करती वह कवि के भावजगत का सत्य होने के कारण भ्रामक नहीं कही जा सकती। कल्पना सत्य पर आधारित होने के कारण ही सार्थक होती है। कवि अपने मन की भावना या विचार के बलिष्ठ आरोप के द्वारा कल्पनानिष्ठ जगत को वस्तुजगत से अधिक वास्तव और ठोस बना लेता है और भौतिक सृष्टि को एक नितांत अभिनव अर्थ देने में समर्थ होता है। अपनी भावना अथवा अपने विचार को सुसज्जित करने के लिए भी कवि रूपक या प्रतीक की सहायता ग्रहण करता है परन्तु उसे यह शंका नहीं रहती कि इससे सत्य की हानि होगी। सच तो यह है कि कल्पना के अंतर्गत वास्तव की ही प्रतिष्ठा है और उसके द्वारा ही वास्तव अद्भुत, रसात्मक और सहज-ग्राह्य बनता है। भावनात्मक या विचारात्मक सत्य अद्भुत का स्पर्श पाकर ही लोकोत्तर आनन्द की सामग्री बनता है और अतिशयोक्ति के माध्यम से हृदयंगम होता है।

रूपक और प्रतीक कल्पना के दो प्रमुख उपकरण हैं। इनकी योजना से वस्तु-सत्य प्रभावशील और मनोरम बनता है। अपने मन के आशय को सुस्पष्ट सज्जा देने के लिए कवि रूपक का आश्रय ग्रहण करता है। रूपक को हम अलंकार मात्र न समझ कर पद्धति-विशेष भी मान सकते हैं। रूपक का आधार स्वरूप-साम्य है। उसमें मानवेतर सजीव एवं निर्जीव जगत मनोमय बन कर मानवीयता प्राप्त करता है। रूपक के परम्परित रूप में साम्य का एक ही पहलू प्रदर्शित होता है परन्तु उसके सांगरूपक रूप में साम्य के एक से अधिक पार्श्व उद्घटित होते हैं। जो हो, यह निश्चित है कि भाव-बोध का एक अत्यंत सशक्त रूप "रूपक-पद्धति" है और उसमें कल्पना का जो प्रौढ़ और संयत रूप समाविष्ठ है, उसकी उपेक्षा करना श्रेष्ठ कवि के लिए असं-भव वस्तु है।

प्रतीकात्मक काव्य में रूपक जैसे विस्तार की आवश्यकता नहीं है। सूक्ष्मता और व्यंजकता "प्रतीक" के विशिष्ट गुण हैं। जिस प्रकार ध्वजा-जैसी अल्प वस्तु महान राष्ट्र का प्रतीक बन जाती है, उसी प्रकार छोटी-छोटा वस्तुएँ और घटनाएँ महान आशयों की व्यंजना में प्रतीक का काम करती हैं। प्रतीक की योजना में ही कवि-कौशल के दर्शन होते हैं। प्रणय की उत्कटता दिखलाने के लिए दीप-पतंग जैसे प्रतीक आदिम काल से चले आते हैं। नए-नए प्रतीकों की खोज और पुराने प्रतीकों का नए संदर्भ में उपयोग कविता की भावपक्ष-संबंधी वृद्धि के लिए अनिवार्य है। प्रतिभा का अर्थ ही "अपूर्ववस्तु-निर्माणक्षम प्रज्ञा" है और यह अपूर्वता रूपक और प्रतीकपद्धति में स्पष्ट ही झलकती है।

जीवन की घटनाओं और अनुभूतियों का पृथक्करण और अपनी विशिष्ट हेतु-पूर्ति के लिए उनका स्वतंत्र रूप से संयोग कल्पना का काम है। इसी को कवि-प्रतिभा कहा गया है। वास्तव में कवि-प्रतिभा और कल्पना साम्यवाची बन गए हैं और "कल्पना" काव्य का अनिवार्य अग है। अतः कल्पना को हम पृथक्करण-संकलन शक्ति कह सकते हैं। अनुभूत और स्मृत अनेक उप-करणों को कल्पना नए योगायोगों में बाँध कर एक अभिनव स्वप्नलोक की सृष्टि करती है जो वास्तविक जगत से भी अधिक सुन्दर और चमत्कारक है। विभिन्नताओं में संगति बिठलाना भी कल्पना का ही काम है। इस प्रकार उसके द्वारा विशदीकरण (इन्टरप्रिटेशन) की क्रिया भी संपादित होती है।

सामान्यत: यह विश्वास किया जाता है कि कविता या साहित्य के प्रमुख तत्व भावना और कल्पना हैं और विचार अथवा विद्वता तथा काव्य को परस्पर शत्रु माना जाता है। इसी विरोध के आधार पर गंभीर और ललित वाङ्मय का विभाजन है और यह कहा जाता है कि बुद्धिमत्ता के विस्तार अथवा सभ्यता के विकास के साथ काव्य का ह्रास होता जाता है। इस प्रकार के अनेक विचार हैं परन्तु इस समस्त विचारसरणी में छोटा-मोटा हेत्वाभास है। काव्य विचारप्रधान है परन्तु विचारशून्य नहीं। तर्क और भावना को दो अनन्यतः विराधी तत्व समझना भ्रांति है। यह कहा जाता है कि किसी वस्तु के संबंध में शास्त्रीय ज्ञान प्राप्त कर लेने से उसका भावनात्मक आकर्षण लुप्त

हो जाता है। यह सिद्धान्त मान लें तो कोई भी ध्वनिशास्त्रज्ञ संगीत-कला-प्रवीण नहीं हो सकेगा। भावनात्मकता और तर्कमूलकता मानवीय व्यक्तित्व के दो अंग हैं। एक ही व्यक्ति में दोनों का विकास संभव है। वास्तव में ये वस्तुमुखता के दो दृष्टिकोण हैं। शंकराचार्य जैसे दार्शनिक ने "सौन्दर्यलहरी" की सृष्टि की है और कालिदास जैसे सौन्दर्यनिष्ठ कवि का विचारपक्ष भी अत्यंत सजीव एवं सबल है। काव्यात्मक दृष्टिकोण मुख्यतः भावनात्मक और कल्पनानिष्ठ होने पर भी विचारसरणि का परित्याग नहीं कर सकता। सच तो यह है कि विचार का अपना सौन्दर्य है और कल्पना एवं भावना के योग से उसके सौन्दर्य एवं रूपसंगठन में समृद्धि ही होती है। प्राचीन काव्यलेखन में शास्त्रीय ज्ञान का विशद योग हुआ है और आज के विज्ञान-युग में भी उसकी अनिवार्यता स्पष्ट है। आधुनिक काव्य में विचार का महत्व बढ़ा ही है। काव्य को गंभीरता प्रदान करने में अथवा भावना को स्थिरता देने में विचार निरंतर सहायक हुआ। काव्यलेखन के क्षणों में भी तर्कयुक्त विचारसरणी सहायक सिद्ध होती है। काव्यरसिक केवल भावुक प्राणी नहीं है, वह विदग्ध और पंडित रसिक है। परन्तु यह समझ लेना होगा कि काव्यगत विचार और शास्त्रीय सत्य विभिन्न श्रेणियों की वस्तुएँ हैं। काव्यगत विचार भावनागर्भित होता है। काव्य में भाव और विचार एक रूप होकर व्यक्तिगत स्वातंत्र्य से ऊपर उठ जाते हैं। यह तादात्म्य ही विचार को भावपक्ष की चीज़ बनाता है। काव्यगत विचार तर्कशुद्धता पर पूरा न उतरने पर भी हमें सत्य की झलक देने में समर्थ होता है। इस प्रकार भावपक्ष के अंतर्गत भावना, कल्पना और विचार तीनों का विवेचन अपेक्षित है। काव्य के अंतरंग में इन तीनों की समग्रगत समन्वयात्मक प्रतिष्ठा ही वांछनीय है।

साहित्य और जीवन

साहित्य मनुष्य के सांस्कृतिक विकास का महत्वपूर्ण चरण है। उसमें मनुष्य के सौन्दर्यबोध, कर्म और विचार का महदांश आ जाता है। ज्ञान, क्रिया और इच्छा की त्रिवेणी उसमें उस संगम को प्राप्त करती है जो मानव-जीवन कहा जा सकता है। जीवन का अर्थ प्राणीशास्त्रीय ढंग से जीना नहीं है, वह जीने के संबन्ध में अनुभव करना है, जीने को मूल्यबद्ध करना है। इसीलिए जीना मनुष्य से ही आरंभ होता है क्योंकि वही उसे अनुभव कर मूल्यांकित करता है और इस प्रक्रिया में उसे वाणी में भी बाँध देता है। जीवन की अनुभूति ही उसके अस्तित्व को सार्थक करती है और उसे व्यक्तित्व देती है। कर्म और भाव दोनों मिल कर मानव-जीवन का निर्माण करते हैं क्योंकि होना ही मनुष्य का जीवन नहीं है, होने की संभावना भी उसमें आ जाती है। संघबद्ध मानव-जीवन ही संस्कृति का मूल स्रोत है। साहित्य सांस्कृतिक है क्योंकि वह मनुष्य की समष्टिगत चेतना का प्रतीक है। इस प्रकार साहित्य और जीवन दोनों ही मानव-संस्कृति के पर्याय बन जाते हैं। लोक जीता है, व्यक्ति जीता है और इस प्रक्रिया में ही संस्कृति विकसित एवं चरितार्थ होती है। लोक और व्यक्ति के जीवन की शब्दगत अभिव्यक्ति ही साहित्य है। भावोत्कर्षमय और मूलबद्ध होकर वह काव्य है।

कवि और साहित्यकार का उद्देश्य क्या है ? उद्देश्य है व्यक्ति-चेतना का रूपायन और व्यष्टि का उन्नयन। मूलतः काव्य और साहित्य उन्नयन के लिए हैं यद्यपि वे प्रथमतः रचयिता के लिए ही हैं। साहित्य-निर्माता नर-नारियों के द्वारा जीवन पर प्रभाव डालता है। वह सैकड़ों नर-नारियों द्वारा जीवन को देखता है और उसके अनुरूप अपनी आकांक्षा का निर्माण करता है। उसका साहित्य समाज के विरुद्ध प्रतिरोध भी हो सकता है और प्रस्ताव भी। अनुकूलता और विपरीतता उतनी महत्वपूर्ण बातें नहीं हैं जितनी यह कि उसमें जीवन के प्रति श्रद्धा-भाव की स्वीकृति हो। वह साहित्य ही नहीं है जो हमें जीवन के प्रति

घृणा से भर दे। कुंठा, अवसाद और निराशा जीवन के अंग होने के नाते साहित्य के भी अंग हैं परन्तु उनकी सार्थकता इसी में है कि हम उनसे ऊपर उठ सकें। इसीलिए साहित्य वर्त्तमान जीवन की तद्रूपता नहीं है, वह भविष्यत् की कल्पना है। आवश्यक है कि कवि और कलाकार जीवन को अखण्डित इकाई के रूप में देखें और उसे खण्डित बना कर अपनी चेतना को ही विकार-ग्रस्त नहीं बना लें।

इसमें संदेह नहीं कि आज हम जीवन की आँखों में सीधा नहीं देख पाते। बुद्धि हमारे बीच में आ गई है। हम उतना ही देख पाते हैं जितना देखना चाहते हैं। जीवन दृष्टिकोण का ही दूसरा नाम है क्योंकि उसके बदलते ही जीवन बदल जाता है। इसीलिए आज साहित्य में संपूर्ण के स्थान पर एकांगी ही प्रतिष्ठित है। आज का जीवन पिछले युगों का जीवन नहीं है। वह संश्लिष्ट है, सामासिक है, उलझ कर रह गया है। विज्ञान, टेकनीक और यौन ने हमें आक्रांत कर रखा है और इनके बोझ से हमारी चेतना दबी जा रही है। अपनी सदाशयता पर ही नहीं, अपनी इन्द्रियों पर भी हमें विश्वास हो गया है। मनुष्य आज श्रद्धावनत नहीं है। वह छीन कर पाना चाहता है, प्रकृति से भी, ईश्वर से भी। फल स्वरूप वह विध्वंसक बन जाता है। अंत में वह यौन पर टिकना चाहता है परन्तु वहाँ भी संततिनिरोध की मर्यादाएँ हैं। ऐसी स्थिति में आधुनिकता का अर्थ ही उलझन हो गया है, उलझन यानी निरोध, आत्मदमन और विस्फोट। इसीलिए आज साहित्य में सुचेतना का स्थान अवचेतना ने ले लिया है और अप्रत्याशित ही जीवन की मर्यादा बन गया है। धर्म और अध्यात्म के कुहासे से निकल कर आज हम तर्क और प्रयोग की तेज़ धूप में आ खड़े हुए हैं। जीवन के प्रति हमारी श्रद्धा ही खण्डित हो गई है। ऐसी स्थिति में समाज के प्रति विद्रोह का झंडा उठाना अनिवार्य हो जाता है और पश्चिमी के "बीतनिक" और "ऐंग्री यंगमैन" इसी विद्रोह के ध्वजवाहक हैं। यह स्पष्ट है कि हमारे कवि और लेखक विभिन्न और विरोधी प्रश्नों में उलझ गये हैं और उनकी स्थिति दिग्भ्रांत कस्तूरी मृग जैसी है। उन्होंने जीवन को अखण्ड और अविभाजित इकाई के रूप में देखना छोड़ दिया है। व्यक्तित्व उनके लिए कवच है, शोभा की वस्तु नहीं है।

नया कवि (और साहित्यकार) जीवन से कतरा कर निकल जाना चाहता है। वह पैग़म्बर बन जाता है। विधाता की सृष्टि को अस्वीकार कर वह नई सृष्टि रचने का उपक्रम करता है। यह नई सृष्टि शब्दों की सृष्टि है। मानव-संस्कृति के आरंभ से ही मनुष्य ने जीवन को अपने हाथ में लेना चाहा है। कला, संगीत, साहित्य, धर्म, दर्शन, राजनीति आदि इसी प्रयत्न के फल हैं। इन्हीं से संस्कृति बनती है और विधाता की सृष्टि अर्थात् जीवन की जड़ता और निरर्थकता से बच कर हमारे कवि, कलाकार, विचारक असंख्य भाव-जगतों का निर्माण कर चुके हैं। साहित्य में मनुष्य के भावजगत का स्वातंत्र्य सब से अधिक प्रगट हुआ है। जीवन की खण्डनीयता वहाँ नहीं है। वह पूर्ण है, विराट् है, सम और सरस है। यहीं वह जीवन से भिन्न है। कवि पैग़म्बर नहीं है। वह अपने से बाहर किसी का दूत नहीं है। वह जीवन को बदलने का संकल्प नहीं करता, वह उसकी चरितार्थता चाहता है। इसीलिए वह रसधर्मी और आत्मधर्मी है। उसके मूल्य आनंद के मूल्य हैं, शिव के नहीं। पैग़म्बर शिवत्व का उपासक है, कवि और चित्रकार आनंद के भोक्ता हैं क्योंकि वे स्रष्टा हैं। सत्य का एक रूप वह है जो शिवत्व में से होकर निकलता है और एक वह जो आनन्द का वेणुगीत बन जाता है। आधुनिक काव्य और कला की विडम्बना यह है कि कवि और कलाकार अपने स्रष्टा-धर्म को छोड़ कर पैग़म्बरी में फँस गया है। कृति में आनन्द न लेकर वह कर्म में आनन्द लेना चाहता है। उसका कर्म भी बौद्धिक होने के कारण अबूझ है।

"नयी कविता" कविता से कहीं अधिक विचार है। उसे दर्शन भी कहा जा सकता है परन्तु वह कविर्मनीषी का साक्षात्कारी दर्शन न होकर नये कवि का तर्कजाली दर्शन है जो बुनता अधिक है परन्तु छांह कम देता है। यही बात नई कला और नए विचार के संबंध में भी कही जा सकती है। साहित्य जीवन की परिपूर्णता और सार्थकता का संदेशवाहक न होकर उसकी अशक्तता का बोध बन गया है। इसीलिए उसने वहिर्जीवन का प्रतिनिधित्व छोड़ कर अंतर्मन की पाताल-नगरी में शरण ली है। उसके हाथ में मशाल नहीं है, मूसा की लकड़ी है जो साँप बन कर हमें खा भी सकती है। साहित्य की यह पैग़म्बरी हमें प्रतिदिन मँहगी पड़ रही है क्योंकि उससे आत्मा में नागफनी के जंगल उगते हैं और जीवन की शस्यश्यामला तरलता का कहीं पता भी नहीं लगता।

जीवन के प्रति अश्रद्धा आज का मूल मंत्र है। दो महायुद्धों ने हमें निर्मम बना दिया है। जीने-मरने को हमने अंकों में बाँध कर अपने हृदय का बोझ हलका कर डाला है। विज्ञान ने हमें बुद्धि की सीमा में बाँधा और टेकनीकी ज्ञान ने हमें एकदम निर्वैयक्तिक और यांत्रिक बना दिया। इसीलिए आज जीवन उतना ही रह गया है जितना हमारे क्षण-संवेदनों में सिमट आए।

साहित्य का उद्देश्य क्या है ? परन्तु जीवन का ही उद्देश्य क्या है ? जीवन निरर्थक है तो साहित्य कैसे सार्थक हो सकता है ? अनास्था के युगों में साहित्य में आस्था, आशा और उल्लास कहां से आयेंगे ? अनुभूति को पिछले युगों से उधार नहीं लिया जा सकता। उसे भीतर से पाना होता है। हम भीतर को कैसे बदलें ? जो टूट गया है उसे कैसे जोड़ें ? जान कर भी बुद्धि हमें पीड़ा से नहीं बचा सकती तो उसकी सार्थकता ही क्या है ? ये कुछ महत्वपूर्ण प्रश्न हैं जिन्हें साहित्य और जीवन के अंतरंगी संबंधों में हमें उतारना होगा।

भारतीय संस्कृति के कुछ प्राचीन मूल्य उसके शब्दों में अंतर्निहित हैं—ऋत्, सत्य, तप, अहिंसा, करुणा। पंच महाव्रतों में जीवन के प्रति श्रद्धा ही व्यंजित है अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह। और भी ऊँचे मूल्य हैं सत्यं, शिवं, सुन्दरम्, अद्वैत्म और आनन्दम्। जिन, अर्हंत, महावीर, तीर्थन्कर, वर्द्धमान जैसे शब्द जैन संस्कृति के मूर्धन्य आदर्शों के प्रतीक हैं तो निर्वाण, बोधिसत्व, बुद्ध जैसे शब्द बौद्ध धर्म के आदर्शों को सोने के सिक्कों में ढालते हैं। राम और कृष्ण के व्यक्तित्वों में हमारी संस्कृति के ऊर्ध्वतम आदर्श उदाहृत हैं। इस लंबी परंपरा को हमने पिछले कुछ वर्षों से छिन्न-भिन्न कर दिया है। पुरुषार्थ चतुष्ट्यी में हम अर्थ और काम को लेकर ही चल रहे हैं और वे भी खण्डित ही हैं। वे जीवन के संवर्द्धक न होकर उसके विकास में बाधक हैं। "प्रगति-वाद" और "प्रयोगवाद" अर्थवादी और यौनवादी चेतना को ही साहित्यिक मर्यादा देते है। एक में हमारी चेतना सर्वोदयी न होकर वर्गबद्ध है तो दूसरे में हमने काम को आत्मशैथिल्य का पर्यायवाची अथवा आत्मरति का प्रसारक मान लिया है। हमारी बड़ी पुरानी कंथा में आज नए जोड़ लग गये हैं।

हम जीवन को बदलें या साहित्य को बदलें ? बदलने की प्रक्रिया कहां से शुरू हो ? अपने से या "पर" से ? सांस्कृतिक संक्रांति के इस युग में हम निश्चेष्ट नहीं बैठे रह सकते । अर्थ और काम का साहित्य निरर्थक और अकाम का साहित्य भी हो सकता है यदि वह जीवन-निर्माण तक नहीं पहुँचा, रास्ते में वैचित्र्य और मनोरंजक पर ही अटक गया । साहित्य के लोकोत्तर आनन्द (रस) को हमने क्षतिपूर्ति या दिवास्वप्न ही मान लिया है । हमारे लिए उतना ही है जितना इंद्रियात्मक है । इसीलिए हमारा इन्द्रियात्मक जगत असंख्य नामों और अगणित रूपों से भर गया है । नामों-रूपों के नए विधाता के रूप में नई असार्थकता से घिर कर हम ईश्वरत्व का दावा कर रहे हैं परन्तु हमारी सृजन-शीलता आनन्दमुखी न होकर कुंठाग्रस्त रह गई है । विशृंखल और अनाम में सौन्दर्य और माधुर्य के अर्थ भरने वाले मानव-व्यक्तित्व को हमने आज छोटा कर दिया है और वह उदात्त का उपासक न होकर क्षुद्र का प्रेमी बन गया है । हमें इस आत्महंता अश्रद्धा को तिलांजलि देकर आस्था और उत्साह के कमल खिलाना होंगे । केक्टस नहीं, हमें कमल चाहिये; गुलाब चाहिये । योजनाएं हमें गेहूँ दे सकती हैं, गुलाबों के लिए हमें स्वप्नद्रष्टा कवियों और कलाकारों की ओर देखना होगा जो सच्चे अर्थों में जीवन के विधाता हैं । जीने की तैयारी नहीं, हमें जीना चाहिये । स्वस्थ और संपन्न जीने पर आधारित साहित्य सच्चे अर्थों में जीवनधर्मी साहित्य होगा ।

जीवनधर्मी साहित्य और आत्मधर्मी साहित्य विरोधी इकाइयां नहीं हैं । व्यक्ति-निरपेक्ष और व्यक्तिगत अथवा क्लासिकल और रोमांटिक का द्वन्द साहित्य के जीवनधर्म और आत्मधर्म के लेकर ही है परन्तु दोनों जीवन के सिक्के के दो पहलू हैं । "पर" यहाँ कहाँ है क्योंकि साहित्य में वह "स्व" होकर ही आता है ? सृष्टि द्रष्टा के बिना भी रह सकती है परन्तु जीवन द्रष्टागत है । इसी लिए हमारा भीतर-बाहर सब एकाकार बन कर साहित्य बनता है । एक ओर अतिमानस और दूसरी ओर अवचेतन के रूप में मन के दो ध्रुवों की कल्पना है और इनके बीच में चेतन मन का प्रसार है । बाहर के संसार को हम मन की इन्हीं तीन भूमिकाओं पर ग्रहण करते हैं । प्राचीन साहित्य में चेतन मन की प्रधानता है परन्तु मन के दोनों छोर भी उसमें कम स्थान नहीं पाये हैं । आधुनिक साहित्य में बुद्धि की भूमिका निरन्तर दुर्बल होती जा रही है और

हमारा नवलेखन अवचेतन का क्रीड़ा-कन्दुक बन गया है। चेतन मन के प्रति अनास्था का भाव हमें अपने प्रति शंकावान बना देता है और हम प्रबुद्धता को पीछे छोड़ कर आकस्मिक तथा अन्यमनस्क के हाथों बिक जाते हैं। हमारे बिंब अस्पष्ट होने लगते हैं और नित्य नये प्रतीकों की खोज हमें कूट बना देती है। हम व्यक्तिगत प्रतीकों और अबूझ उलटबाँसियों में उलझ जाते हैं।

इसीलिए श्रेष्ठ काव्य स्वगत है। उसमें कवि का अपना कण्ठस्वर ही प्रधान है। परन्तु स्वगत होने पर भी वह जीवनगत है और व्यक्तिमत्ता के सबसे ऊँचे शिखरों को छू कर वह निर्वैयक्तिक भी बन जाता है। यह कहा गया है कि सब साहित्य सामयिक है, उसमें युग की भूमिका अनिवार्यतः आ जाती है। परन्तु साहित्य की सामयिकता यह नहीं कि उसमें युग का वस्तून्मुखी चित्र हो या युग-जीवन का प्रतिबिंब हो; वह युग के संकल्पों और आशाकांक्षाओं का निचोड़ भी होता है। "रामचरितमानस" में युगबोध के साथ कवि का भविष्यती स्वप्न भी कम नहीं है। "क्या है" नहीं, "क्या होना चाहिये" ही साहित्य की सार्थकता है और सामान्यतः यह भावाभावी योगायोग ही कृति को विशेषत्व प्रदान करता है। एक तरह से देखें तो साहित्य जीवन की अनुकृति या पुनर्निर्मिति नहीं हैं, वह जीवन की क्षतिपूर्त्ति भी है। कवि और साहित्यकार के भावजगत में स्वप्न सत्य बनता है और सत्य स्वप्न का आकर्षक और मनोमय रूप धारण कर लेता है। साहित्य जीवन का दर्पण है परन्तु आगे बढ़ कर वह स्वयं जीवन है। साहित्य और जीवन की यह अंतरंगी तद्रूपता ही उसकी चिरन्तनता का प्रमाण है। मानसी और आत्मिक भूमिकाओं पर उठ कर आज का साहित्य प्रकृति पर मनुष्य की विजय का ही मंगलघोष करता है।

परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि वह चैतन्योन्मुख भी है। अवचेतन को यौन में केन्द्रित कर हमने जड़ोन्मुख प्रवृत्तियों के लिए मार्ग प्रशस्त कर दिया है। हमारी उदात्त सौन्दर्य-दृष्टि कामकुण्ठा से वैचित्र्यमयी हो गई है। आज नारी हमारे लिए सौन्दर्य की दीपिशिखा नहीं जिसकी दीप्ति क्षण-क्षण नूतन होती है। वह पथ की संगिनी है परन्तु उसके प्रति हमारी दृष्टि लालसा के इन्द्रधनुषी रंगों से रंगी है। प्रकृति के सौन्दर्य की ओर आज हम उन्मुख नहीं हैं क्योंकि हमारा नागर भाव पराजित होना नहीं जानता, न प्रकृति

से, न प्रेम से, न ईश्वर से। फलतः प्रकृति को हम अपने ईर्ष्या-द्वेष में रंग कर उसके रूपों में विद्रूपता पढ़ने लगते हैं। हमने अहं के चमड़े से अपने पैरों को मढ़ कर संसार को ही चर्ममय बना दिया है। जहाँ हम इस प्रयत्न में सफल नहीं हुए हैं वहां हम कश्यपधर्मी बन गये हैं, अपने अंगों को सिमेट कर सुरक्षा को हमने सब कुछ मान लिया है। जीवन दुस्साहस है, वह सुरक्षा नहीं हैं। इक़बाल ने ठीक ही कहा है :

न बचा बचा के तू रख इसे, तेरा आइना है वह आइना
कि शकिस्ता हो तो अज़ीज़तर है निगाहे आईनासाज़ में।

परन्तु हम दर्पण को बराबर सहेजे रहते हैं, उसे टूटने ही कब देते हैं। निस्सन्देह हम अहम् के शीशमहल में बंदी हैं। हमारा साहित्य भी हमारे जीवन का प्रतिरूप ही हो सकता है।

साहित्य जीवन का समतुल्य नहीं होता, वह उससे कुछ छोटा होता है या बड़ा। महान जीवनोद्देश्य से साहित्य बड़ा होता है और उद्देश्यहीन साहित्य प्रत्यंचा पर चढ़े लक्ष्यहीन तीर की तरह अपदार्थ बन जाता है। जीवन की सोद्देश्यता ही साहित्य को सप्राण बनाती है, नहीं तो वह मनोरंजन, चमत्कार या वाग्विलास मात्र रह जाता है। साहित्य की वागार्थसंपृक्ति महान उद्देश्य की शाब्दी अभिव्यक्ति ही है। परन्तु मूल वस्तु है महान की अनुभूति क्योंकि वही अभिव्यंजना बनकर साहित्य बनती है। साहित्य की साधना में जीवन के उदात्त और विराट् की साधना पूर्णतयः सन्निहित है।

काव्य और विचार

बीसवीं शताब्दी के काव्य का एक बहुत बड़ा अंश विचारों से सम्बन्धित है। १७ वीं शताब्दी के अंग्रेज़ी के दार्शनिक कवि डॉने, क्राशा, वाघन आदि विचार को काव्यानुभूति का विषय बनाकर चले हैं और आधुनिक युग के कवियों ने उनमें सहकर्मिता देखी है। सामान्यत: यह माना जाता है कि काव्य अनुभूति का वाहन है, विचार या दर्शन उसके क्षेत्र के बाहर की वस्तु है और जब काव्य चिन्तनबद्ध बन जाता है या विचारों का व्याख्याता तो कविता गद्य बन जाती है। पंत ने "युगवाणी" की रचनाओं को "काव्यगद्य" कहा है और "निबन्ध-काव्य" नाम से काव्य की एक नई कोटि इधर कुछ दिनों से चलती दिखलाई देती है। तात्पर्य यह है कि आधुनिक काव्य में विचार या दार्शनिक भावानुबंध का आग्रह बढ़ता गया है और अब यह आवश्यक हो गया है कि हम काव्य की परिभाषा में विस्तार करें या उसे उस दृष्टि से मुक्त करें जो काव्य को भाव-बोध तक सीमित रखती है। विचार या चिन्तन को काव्य के क्षेत्र से क्यों वहिष्कृत किया जाए? क्यों यह माना जाए कि कवि जीवन भर स्वप्न और कल्पना से खेलता रहे और उसके पास कोई स्वतंत्र जीवन-तंत्र न हो? प्राचीन काव्य को लें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि कविता में भी उतना ही गंभीर विचार भरा जा सकता है जितना गद्य में, कदाचित् काव्य में उसे अधिक सुष्ठु, मार्मिक और सुबद्ध रूप से प्रस्तुत किया जा सकता है। कालिदास का काव्य प्रमाण है। काव्य में गद्य की अपेक्षा विचार अधिक केन्द्रीय रूप से अभिव्यक्ति पाता है यद्यपि उसकी प्रकृति बदल जाती है। वह सर्जनात्मक बन जाता है; "करना" नहीं, "होना" ही उसका लक्ष्य हो जाता है। वैसे दार्शनिक काव्य की हमारी लम्बी परम्परा रही है और उपनिषद् से लेकर महाभारत के अनेक अंशों, बौद्ध और जैन ग्रंथों और मध्ययुग के संतों तथा भक्तों के काव्य तक इस परम्परा का प्रसार है। परन्तु यहाँ हम दार्शनिक काव्य की चर्चा नहीं करते, यहाँ हमें काव्य में दर्शन अथवा विचार की स्थिति पर ऊहापोह करना है। इस योग से काव्य अथवा विचार की स्थिति पर क्या प्रवाह पड़ता है, उसके

अपने निजी स्वरूप और संवेदनशीलता में क्या अंतर आ जाता है ? आधुनिक पश्चिमी काव्य में उनामुनो, क्लाडेल, पाल वलेरी और इलियट के काव्य में हम विचार को काव्यात्मक संवेदन से पुष्ट देखते हैं। सच तो यह है कि तत्ववाद और काव्य का सम्बन्ध एक गंभीर समस्या है और उससे किसी प्रकार के सैद्धांतिक निष्कर्ष निकाल लेना सरल कार्य नहीं है। परन्तु आज के बुद्धिवादी युग में हम काव्य को वयःसंधिक अथवा पौगंडीय स्वप्नों का क्रीड़ागार नहीं मान सकते। उसे कहीं-न-कहीं विचार या तत्ववाद से संपृक्त करना ही होगा।

*

परन्तु विचार या तत्ववाद को काव्य का रूप मिलने के लिए कुछ शर्त्तें अनिवार्य हैं। पहली बात तो यह है कि काव्यगत विचार व्यंजित होगा, वर्णित नहीं होगा। उसके वाहक होंगे प्रतीक और ये सैद्धांतिक नहीं होते। फलतः काव्यगत विचार को सुन्दर और मधुर बनना होगा। शाब्दिक और आर्थी सौन्दर्य के भीतर ही हम काव्यगत विचार के स्वतंत्र व्यक्तित्व का निर्माण कर सकते हैं। दार्शनिक विचारों के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वे मन में काव्यात्मक संवेदन को जन्म दें। शिक्षा उनका ध्येय है, आनन्द नहीं। काव्य में विचार का प्रवेश होते ही उसे अभिधात्मक या उपदेशात्मक भूमिकाओं से ऊपर उठना होगा। परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि कवि अपनी प्रेरणा को भावुकता तक ही सीमित रखे। वलेरी के मत में कविता की अनुभूति भले ही भावबद्ध हो उसे काव्य का रूप देते हुए कवि को बहुत-सा समीक्षात्मक कार्य करना होता है—अनुभूति के संगठन, परिष्करण और संशोधन में उसे बराबर बुद्धि का उपयोग करना होता है। यही नहीं, कवि प्रथम श्रेणी का समीक्षक ही नहीं होता जो बुद्धि के द्वारा अपने प्रत्येक शब्द-प्रयोग कर अंकुश रखता है, वह विचारक भी होता है जो तर्क और विचार-शक्ति के प्रयोग से गंभीर तत्ववाद को काव्य का रूप देता है।

परन्तु प्रश्न यह है कि दार्शनिक के चिन्तन से कवि का चिन्तन किस प्रकार भिन्न है ? यह आवश्यक नहीं कि कवि दार्शनिक की तरह अपने चिन्तन को धारणाबद्ध करे। कवि का दर्शन शास्त्रीय ऊहापोह नहीं होता, वह अनुभूत जीवन-दर्शन होता है। इसीलिए कवि को द्रष्टा कहा गया है। चिन्तन की

प्रक्रिया व्यक्तिगत और विचक्षण वस्तु है और काव्य-निर्माण का महत्वपूर्ण अंग बन सकती है। सर्जनात्मक काव्य-संवेदन और जीवन-दर्शन (या जीवन-दृष्टि ?) दो विरोधी ध्रुव क्यों हो ? महान् कवियों में जीवनदृष्टिगत प्रौढ़ता ही काव्यगत प्रौढ़ता का रूप धारण कर लेती है और उनके चिन्तन में कला के कमल सहज ही खिल जाते हैं।

विचार के जड़ और अगतिक होना आवश्यक नहीं है, वह भावात्मक संवेदन और सर्जनात्मक कल्पना का स्रोत भी बन सकता है। काव्य में विचार की क्रिया शब्दों को लेकर चलती है और मौलिक विचार-सर्जन की स्फूर्ति में शब्द नया जन्म ग्रहण करते हैं। कवि की चिन्तना तर्कबद्ध न होकर भावबद्ध होती है और इसीलिए उसकी विचार-प्रक्रिया में विचार और भाव का पूर्ण गठबंधन रहता है। विषय और रूप, अर्थ और संगीत, अभिधा और व्यंजना का समवायी योग काव्य है तो वह भाव और विचार का योगायोग भी क्यों न हो ?

प्रश्न विचार के धारणात्मक मूल्य का नहीं, उसके प्रति कवि की आस्था का है। सभी विचार आस्था नहीं बन सकते, वही बन सकते हैं जो जीवन की मूलगत तथा अन्यतम समस्याओं से संबंधित होते हैं। तर्कमूलक, ऊहापोही अथवा कोरा सैद्धांतिक विचार सतह पर ही तैरता रहता है, वह अनिवार्य नहीं बन पाता। परन्तु मूलबद्ध विषयों से संबंधित विचार भावापन्न होते हैं और उन्हें काव्यात्मक अभिव्यंजना देने में किसी प्रकार की कठिनाई नहीं होती। आई० ए० रिचर्ड्स ने अपने ग्रंथ 'प्रेक्टिकल क्रिटिसिज़्म' में इस प्रश्न पर विचार करते हुए विचार के दो रूप माने हैं, बौद्धिक ओर भावात्मक। इनमें पहला दर्शन के क्षेत्र की चीज़ है, दूसरा काव्य के। काव्यबद्ध बौद्धिक चिन्तन श्रद्धालु पाठक के लिए ही सुग्राह्य होगा, अश्रद्धालु के लिए उसमें कोई रस नहीं होगा। वह कवि की संवेदना में भाग नहीं ले सकेगा। परन्तु भावात्मक कोटि का विचार आस्था की अपेक्षा नहीं करता, वह संक्रामक होता है। कवि के भाव-जगत में प्रवेश करने के साथ ही हम अपने विचारों का स्थगित कर देते हैं और उसके धारणा-जगत में रहने लगते हैं। इसीलिए तुलसी जैसा कवि अपने भाव-जगत में पाठक का आवाहन करता हुआ श्रद्धा के मूल तत्व पर जा टिकता

है। उनका राममय जगत उनकी आंतरिक अनिवार्यता है, वह अविरोधी अंतश्चेतना की उपज है। तुलसी इस सत्य को जानते हैं परन्तु इस जगत को संवेदनीय बनाने के लिए वह श्रद्धा (आस्था) की अपेक्षा चाहते हैं। (उत्तर ० १२८)

और भी गहरे जाएँ तो यह स्पष्ट हो जाता है कि बौद्धिक और काव्यात्मक विचार में प्रश्न प्रकृति-भेद का है, गद्य-पद्य का कोई भेद नहीं है। हमारी आस्थाएँ चेतन और अचेतन मन की उपज हैं और इसी से उनकी प्रकृति में भी भेद है। अवचेतनीय विचार हमारे व्यक्तित्व की भावात्मक गहराइयों से आते हैं और प्रतीकों, देवकथाओं एवं बिंबों के सहारे मूर्त्त होते हैं। चेतन जगत के बहुत नीचे जा कर वे तल में सभी मनुष्यों को छूते हैं। इसीलिए कवि का विचार-जगत जीवित, तरल और स्पन्दित वस्तु है, वह उसकी मूलगत आवश्यकताओं और आकांक्षाओं की उपज है। जहाँ कवि बौद्धिक ही रह जाता है अथवा अपने व्यक्तित्व की सतह पर ही उतराता रहता है, वहाँ वह काव्यात्मक चिन्तन को जन्म नहीं दे सकता। वह विवेचक, उपदेशक या व्याख्याता ही बन सकता है। षट्दर्शनीय नहीं, आत्मदर्शनीय बन कर ही कवि का तत्ववाद श्रेष्ठ जीवन-बोध का प्रतिरूप बनता है। उसमें दार्शनिक संप्रदाय विशेष की झलक भले ही आ जाये, या कवि जानबूझ कर किसी तंत्र-विशेष को अपना ले, वह तंत्र संवेद्य बन कर ही काव्य का रूप ग्रहण कर सकेगा, अन्यथा वह गद्यात्मक ही बना रहेगा।

बौद्धिक और काव्यात्मक चिन्तन के अंतर को समझना सरल बात है, परन्तु जब हम आगे बढ़ कर काव्य के अभिव्यंजनात्मक पक्ष पर आते हैं तो हमारी कठिनाई बढ़ जाती है। विशुद्ध प्रगीत काव्य और दार्शनिक काव्य में क्या अंतर है? क्या दार्शनिक प्रगीत संभव नहीं है? काव्यात्मक चिन्तन कब प्रगीतात्मक होगा और कब दार्शनिक? इलियट ने संभवतः इस द्विधा को दूर करने के लिए ही लिरिक काव्य के लिए एक नए शब्द "मेडिटेटिव पोएटरी" (Meditative Poetry) की योजना की है। उन्होंने बौद्धिक कोटि के प्रगीतों के कारण ही लिरिक को यह अधिक व्यापक और नया नाम देना

चाहा है। यह स्पष्ट है कि समाधान उतना सरल नहीं है। जहाँ कवि दर्शन की भाषा का उपयोग करता है (जैसे निराला "जागरण" शीर्षक कविता में) वहाँ वह दार्शनिक से ज़रा भी भिन्न नहीं है। परन्तु यह भी संभव है कि वह विचार के बौद्धिक पक्ष के स्थान पर उसके काव्यात्मक उपसर्गों को उभारे। या ऐसे प्रतीक या कथा-संदर्भ जोड़ दे जो हमारे संवेदनों को जाग्रत करें और विचार को भावात्मक भूमिका पर ग्राह्य बना दें। प्राचीन धार्मिक काव्य में इसी परम्परा का विकास मिलेगा। राम और कृष्ण के प्रतीक मध्ययुग के दर्शन-चिन्तन को युगधर्मी भाव-साधना बना देते हैं और सूफ़ियों के प्रेमाख्यान काव्य और भी आगे बढ़ कर दर्शन को सोलह आने काव्य में परिणत कर देते हैं। परन्तु आधुनिक काव्य मध्ययुग की उपदेशात्मक और धार्मिक कविता की परंपरा की वस्तु नहीं है क्योंकि वह सार्वभौमिक सत्य को नहीं, न सर्वजनापेक्षी सत्य को, एकदम व्यक्तिगत और स्वापेक्षी सत्य को वाणी देता है। इसीलिए नए कवि को विचार की भावात्मक साधना की अनेक मंज़िलों में से गुज़रना होता है। वह धर्म और परंपरा के भीतर से नहीं, धर्मनिरपेक्ष जीवन-बोध और स्वानुभूति की भूमिका पर से चलता है। उसके लिए विचार अपने में पूर्ण स्वतंत्र व्यक्तित्व है। वह भीतर की गांठ खोलता है। "नयी कविता" में काव्य और विचार का यह संबन्ध अत्यंत महत्वपूर्ण उपलब्धि है।

यह मानना होगा कि काव्यात्मक विचार (या चिन्तन) जैसी कोई वस्तु है, अर्थात् ऐसा विचार जो अनिवार्यतः काव्य में ही अभिव्यक्त होगा। प्रारंभिक दर्शन-चिन्तन काव्यबद्ध ही रहा है। आदि कवियों ने शब्दार्थ की अभिन्नता को चरितार्थ करते हुए अपने प्रत्यक्ष दर्शन या साक्षात्कार को काव्य की रंगीनी दी है। ऋग्वेद प्रमाण है। उसका दैवतवाद आर्य मनीषा की काव्यात्मक परिकल्पना मात्र है। बाद में यह अंतर्निष्ठ योग नहीं दिखलाई देता और काव्य तथा चिन्तन स्वतंत्र दिशाएँ ग्रहण करते हैं परन्तु यह निश्चय है कि काव्य और दर्शन के बीच में ऐसी संधि-रेखा भी है जहाँ विचार और बिंब, अर्थ और प्रतीक, अनुभूति और अभिव्यंजना संतुलन (समतौल) प्राप्त कर लेते हैं। यह संध्याभाषा या संधा भाषा का काव्य है। यह उपलब्धि की भाषा है, अन्वेषण की नहीं। उसकी कोई स्वतंत्र कोटि नहीं है क्योंकि इसके द्वारा मन ऐसी अनवसादी काव्यात्मक भूमिका का आस्वादन करता है जो हमारी वस्तुमता को

अधिक ऊँची और अधिक चिन्मय सार्थकता देती है। वह एक अभिनव सौन्दर्य की सृष्टि करता है जो दार्शनिकों के परिबद्ध छायालोक से नहीं मिलता। उसे हम साक्षात्कारी काव्य कह सकते हैं जहाँ दर्शन जीवन बन जाता है।

संक्षेप में, यह कहा जा सकता है कि कवि का दर्शन साक्षात्कारी दर्शन है और उसका चिन्तन इस साक्षात्कारी, तात्कालिक और प्रत्यभिज्ञात्मक दर्शन को वाणीबद्ध करता है। वह शब्द और अर्थ की रहस्यात्मक और अनिर्दिष्ट क्रीड़ाभूमि है। वस्तुमत्तात्मक सत्य में भावना और कल्पना की दरारें खोल कर कवि वाणी के झरोखे से शब्दों के पार झाँकता है। इसीलिए उसका साक्षात्कार व्यक्तिगत होता है, शास्त्रबद्ध नहीं होता। वह भावापन्न, अपरिबद्ध, अन्यथात्मक और विकासशील रहता है। उसके योगायोग अनुभूतिमूलक और नितांत व्यक्तिगत होने के कारण दुर्ग्राह्य और विचक्षण लग सकते हैं। पूर्व परंपरा उसे पुष्ट कर सकती है, उसका स्थान नहीं ले सकती। इसीलिए मध्ययुग के संत और भक्त कवि (चाहे वे किसी विशेष संप्रदाय से संबंधित हों या न हों) अद्वैतवाद की किसी परिपाटी में नहीं बँधते। जिस तरह प्रेम का क्रियात्मक स्वरूप करुणा है उसी तरह चिन्तन का क्रियात्मक रूप जीवनदृष्टि है। कवि से हम जीवनदृष्टि चाहते हैं, शास्त्रीय अथवा व्यवस्थित दर्शन उसका क्षेत्र नहीं है। काव्य के भीतर से वह हमें अनेकांती और अपरिबद्ध रूप में मिलती है।

काव्य का स्वरूप

काव्य के स्वरूप के सम्बन्ध में आरम्भ से ही आचार्यों और विद्वानों का मतभेद रहा है। इस भेद का कारण काव्य के स्वरूप में ही अंतर्निहित है क्योंकि उसमें मनुष्य की अनेक प्रवृत्तियों एवं समाज की अनेक आवश्यकताओं का समाधान है। काव्य जहाँ हमारे व्यक्तिगत जीवन की माँग है, वहाँ वह सामाजिक जीवन की अभिव्यक्ति अथवा आलोचना भी है। व्यक्तिगत जीवन से हमारा तात्पर्य मनुष्य के आत्मिक जीवन से है जो सौन्दर्यबोध, नैतिक तथा आध्यात्मिक भाव-जगत और आनन्दनीय मानव-प्रकृति पर आधारित है। रसवाद में इस आत्मिक जीवन के सम्बन्ध में एक विशिष्ट समाधान हमें "रस" या लोकोत्तर आनन्द के रूप में मिलता है। लोकोत्तर से हमारा तात्पर्य दैनंदिन आनन्द या इन्द्रियात्मक सुख से श्रेष्ठतर कला और साहित्य के उस आनन्द से है जो वस्तुनिरपेक्ष, तटस्थ और मानसिक क्षेत्र की चीज़ है। काव्य के द्वारा सामाजिक जीवन की अभिव्यक्ति या पुष्टि हो, इसे विशुद्ध काव्य के समर्थक समीक्षक नहीं मानते। परन्तु काव्य के ऐतिहासिक विकास से यह स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्य की सौंदर्य-चेतना के साथ-साथ सामाजिक जीवन की अनिवार्यताओं ने भी काव्य-विकास में महत्वपूर्ण ढंग से योगदान दिया है। फलत: काव्य के स्वरूप की विवेचना में हमें उसके इन दोनों पक्षों तथा उसके आदान-प्रदान पर विचार करना होगा।

काव्य के इतिहास से यह पता चलता है कि आरम्भिक युगों में सामाजिक लक्ष्य स्पष्ट रूप से कवि के सामने रहता था और सच तो यह है कि उन आदिम युगों में काव्य का समाज के प्रति आग्रह था। मनुष्य ने अपने जीवन के आदि-युग में जिस काव्य की रचना की, उससे इस बात की पुष्टि होती है। ऋग्वेद की ऋचाओं का साम और यजु: के रूप में आकलित करने का अर्थ यही हो सकता है कि ऋग्वैदिक काव्य का उपयोग सामाजिक जीवन में नृत्य-गान और यज्ञ के लिए किया गया। यज्ञकर्त्ता के लिए ऋचाएँ अभिचार-मंत्र

मात्र थीं जिनसे यजमान अथवा होता प्राकृतिक शक्तियों को प्रसन्न कर अपरिमित शक्ति का लाभ करता था। अथर्ववेद में हम जादू-टोना, अभिचार, मंत्र-तन्त्र आदि के रूप में प्रेतबाधा, रोग-शमन तथा सिद्धि-योग का लक्ष्य स्पष्ट रूप से देखते हैं। यूनान का आरम्भिक काव्य भी इसी प्रकार के लक्ष्यों की पूर्त्ति के लिए लिखा गया। प्रारम्भ से ही काव्य का धार्मिक कृत्यों के साथ उपयोग होता रहा है और आज भी विनय-पद, स्तोत्र अथवा नचारी आदि के रूप में इस उपयोग की शृङ्खला बनी है। इस उपयोग को सामाजिक ही कहा जा सकता है। प्रारम्भिक काव्य-कोटियों में वीरगीति, वीराख्यान (सागा) और महाकाव्य भी आते हैं जिनका उपयोग सामूहिक आनन्द और मनोविनोद के लिए होता था। इनमें प्रजातियों का इतिहास सुरक्षित था। इतिहास (रामायण, महाभारत) और पुराणों के रूप में इस कोटि का संस्कृत-काव्य बहुत बड़ी मात्रा में हमें प्राप्त है। इसे हम ऐतिहासिक काव्य के बहुत निकट पाते हैं। स्वयं हिन्दी के काव्य में चारण-काव्य अथवा वीरगाथा-काव्य इसी वर्ग के अन्तर्गत आता है। कालान्तर में सामूहिक रूप से इस प्रकार के वीर-काव्य के पाठ की परिपाटी नष्ट हो गई और ऐतिहासिक काव्यों का युग आया जिनमें कवि आश्रयदाता के युद्धों, विवाहों इत्यादि का कीर्त्ति-गान करते हैं। प्रारम्भ में वीर-काव्य मौखिक रूप से ही चलता था और उसे कण्ठस्थ करने के लिए छन्द और तुकान्त की योजना हुई। प्रारम्भिक कवि एक साथ चारण, आख्यानकार और पण्डित (आचार्य) का कार्य करता था। साथ ही वह जाति का इतिहासकार भी होता था। सामाजिक संगठन के विकस के साथ-साथ काव्य का सामाजिक लक्ष्य भी स्पष्ट होता गया। ग्रीक नाटक में यह लक्ष्य स्पष्ट है। ग्रीक नाटक का आरम्भ डियोनिसस के सम्बन्ध में आयोजित पर्वों में हुआ और उसका विकास धार्मिक कृत्यों से सम्बन्धित है। विशिष्ट पर्वों में नाटक की प्रतियोगिता यूनान में ही सम्भव थी। इसी प्रकार पिण्डार का सम्बोधन-गीतियों का सम्बन्ध विशिष्ट सामाजिक अवसरों से है। इसमें सन्देह नहीं कि इन सामाजिक ढाँचों के भीतर काव्य को आश्रय और विकास की पर्याप्त भूमि प्राप्त हुई और अपने विशिष्ट क्षेत्रों में वह परिपूर्णता को प्राप्त कर सका। भारतवर्ष में काव्य-विकास की सरणियाँ इतनी स्पष्ट नहीं हैं परन्तु यह स्पष्ट है कि प्रारम्भ में काव्य का सम्बन्ध यज्ञादि कृत्यों और बाद में मन्दिरों

में होने वाले विशेष उत्सवों से रहा है। मध्ययुग के काव्य-विकास में भी योगपीठों, खानकाहों, संतपीठों और मन्दिरों का विशेष हाथ है। "अष्टछाप" के काव्य पर वल्लभकुल की पूजा-पद्धति और साम्प्रदायिक मान्यताओं का आभार कम नहीं है। सच तो यह है कि प्रारम्भ से ही काव्य ने धर्म का पल्ला पकड़ा है और एक तरह से काव्य और धर्म दोनों का जन्म एक ही मूलगत विस्मय-भावना से हुआ जान पड़ता है। सभी भाषाओं में काव्य बहुत दिनों तक धर्म से सम्बन्ध-विच्छेद नहीं कर सका है। भारतवर्ष में तो कला, संगीत, साहित्य और समानान्तर अभिव्यक्तियाँ रही हैं और उनमें इतना आदान-प्रदान हुआ है कि एक के अध्ययन के लिए दूसरे का ज्ञान अनिवार्य शर्त्त है। उन्नीसवीं शताब्दी में ही भारतीय काव्य-धर्म से स्वतंत्र अलग इकाई बन सका है।

सामाजिक काव्य का एक दूसरा रूप नीति-काव्य है। वास्तव में इस प्रकार के काव्य के लिए जिस "डाइडेक्टिक्" (Didectic) शब्द का हम उपयोग करते हैं, उसमें नीति और सूचना अथवा इन दोनों के मिले-जुले रूपों का बोध होता है। सूचनामूलक काव्य उपयोगी काव्य भी कहा जा सकता है। प्राचीन युगों में समस्त ज्ञान को कण्ठबद्ध करने की आवश्यकता थी। अतः सभी विषयों को छन्दबद्ध किया गया। उसे हम काव्य की संज्ञा दें या न दें, यह भी एक प्रश्न है। परन्तु यह निश्चय है कि कहीं-कहीं ऐसी उत्कृष्ट सामग्री प्राप्त होती है जिसमें स्पष्ट रूप से भावना और कल्पना का योग होता है जो काव्योपकरण हैं। वर्जिल की "जार्जियास" (Georgies) रचना अथवा घाघ और भड्डरी की सूक्तियाँ इस कोटि में आती हैं। आज हमारा ज्ञान अधिक विस्तृत, विश्लेषणात्मक एवं सूक्ष्म है, अतः उसे गद्य में बाँधना आवश्यक हो गया है। फलतः सूचनामूलक काव्य का स्थान गद्य-रचनाओं ने ले लिया है। इसीलिए आज नीति-काव्य नैतिकतामूलक उद्बोधन अथवा प्रेरणात्मक काव्य तक सीमित है। इस प्रकार के काव्य में कवि का लक्ष्य यह होता है कि पाठक या श्रोता उसके पक्ष को एकांततः स्वीकार कर ले। उत्प्रेरणा ऐसे काव्य का प्राण है। इस प्रकार के उत्प्रेरक सामाजिक काव्य में व्यंग-काव्य, परिहास-काव्य और विडम्बना-काव्य भी आते हैं जिनका उद्देश्य विनोद-हास्य की सृष्टि है परन्तु जिनके पीछे सामाजिक जीवन का असंतुलन

स्पष्ट रूप से दिखलाई पड़ता है। इन रचनाओं को हम विनोद की दृष्टि से भी देख सकते हैं, परन्तु उनमें किसी-न-किसी राजनैतिक अथवा धार्मिक दृष्टिकोण की ओर भी प्रच्छन्न इंगित रहता है। ऐसी रचनाएँ वस्तुमत्ता को काल्पनिक या प्रतीकात्मक शैला में प्रस्तुत करती हैं। उन्नीसवीं शताब्दी का हिन्दी काव्य सामाजिक और राजनैतिक सुधार की प्रेरणा से अनुप्राणित है और उसमें व्यंग-विनोद, हास-परिहास का उपयोग पर्याप्त मात्रा में है।

सामाजिक काव्य की इस सूची में हम दार्शनिक काव्य को भी रख सकते हैं। यद्यपि उसका संबंध दैनिक जीवन से न होकर जीवन-सम्बन्धी दृष्टिकोण से है। भारतवर्ष में दार्शनिक काव्य की अपनी परम्परा रही है और उपनिषद् तथा भगवद्गीता ही नहीं, बौद्ध त्रिपिटक और जैन ग्रन्थों के रूप में उनका व्यापक प्रसार मिलता है। भारतीय दार्शनिक काव्य नैतिक जीवन से आरम्भ कर साक्षात्कार तक के समस्त आध्यात्मिक भाव-स्तरों की परीक्षा करता है। उसमें मानव-मस्तिष्क की सबसे ऊँची उड़ान हमें मिलती है, परन्तु वह बुद्धि से आगे बढ़ कर अंतर्योग अथवा अंतर्ज्ञान के द्वारा विराट् चिन्मयता को भी आत्मसात करने में समर्थ है। जहाँ पश्चिमी दार्शनिक काव्य ईसाई पादरियों और पण्डितों की देन है, वहाँ भारतीय दार्शनिक काव्य अन्तर्दृष्टिसम्पन्न मर्मियों की उपज है। दर्शन भारतीय संस्कृति का मेरुदण्ड है। अत: इस काव्य का सांस्कृतिक और सामाजिक मूल्य कम नहीं है। हिन्दी के मध्ययुगीन साहित्य में हमें विशुद्ध आध्यात्मिक अथवा साक्षात्कारी काव्य के साथ, धर्म, दर्शन और पुराण के स्वतन्त्र काव्य-प्रयोग भी मिल जाते हैं और ऐसी भी समर्थ रचनाएँ सामने आती हैं जिनमें इनके योगायोग से एक अभिनव काव्य-दीप्ति का जन्म हुआ जिसे परिभाषाबद्ध करना असंभव बात है। सच तो यह है कि हमें सामाजिक काव्य से अलग दार्शनिक काव्य की एक अलग कोटि ही बनानी होगी क्योंकि उसमें समाज की दैनंदिन आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं होती, वरन् उसके लिए अभिनव भावलोक की सृष्टि होती है।

यह स्पष्ट है कि इन काव्य-कोटियों में काव्येतर वस्तु का आग्रह प्रमुख है। धर्म, दर्शन, नीति, राजनीति, शास्त्र और चिन्तन के मानदण्ड से हम इस काव्य को

नाप सकते हैं, परन्तु फिर भी इन रचनाओं में काव्य का प्रश्न अबूझा रह जाता है। परंपरा छंदोंबद्ध रचनाओं को काव्य मानती रही है और महान दार्शनिक तथा आध्यात्मिक रचनाओं को हम काव्य से कुछ बड़ा ही मानते हैं। यही नहीं, इन रचनाओं को हम विषय की उत्कृष्टता के अनुसार छोटा-बड़ा समझते आये हैं। हमारे अपने युग में काव्य की इस सर्वभुकता को शंका की दृष्टि से देखा गया है। हम कवि से समाज, धर्म, नीति, राजनीति आदि के आदेश नहीं सुनना चाहते। परन्तु यह निश्चय है कि महान काव्य इन विषयों के बावजूद भी चिरंतन और चिरप्रिय बने रहते हैं। सामाजिक स्थितियों के बदलने के साथ धर्म, नीति और शास्त्र में परिवर्तन हो जाता है, परन्तु लोक-रुचि के बदलने पर भी सच्चा काव्य जीवित रहता है। अतः इस कोटि के काव्यों के लिए भी हमें काव्य का मानदण्ड ही काम में लाना होगा।

परन्तु प्रश्न यह है कि काव्य का मानदण्ड क्या होगा ? वह क्या सूत्र है जो काव्य में सब कहीं मिलना अनिवार्य है ? निश्चय ही वह सूत्र काव्यगत आनन्द ही हो सकता है। इस काव्यानंद की प्रकृति क्या है ? इसके लिए हमें सौन्दर्य-शास्त्र के क्षेत्र में पदार्पण करना होगा क्योंकि यह प्रश्न कला की प्रकृति और प्रभाव से संबद्ध है। फिर एक और प्रश्न भी महत्वपूर्ण है। श्रेष्ठ काव्य में काव्यानंद के अतिरिक्त और भी कुछ होता है क्योंकि उसे छोड़ कर काव्यानंद भी उत्कृष्ट नहीं बन सकता। केवल भावना और कल्पना का आनंद ही काव्य नहीं है, यद्यपि काव्य में मानवीय भावों और संवेदनाओं का उपयोग सर्वोत्कृष्ट रूप में होता है। काव्य से हमें सामाजिक उद्देश्यों की ही सूचना नहीं मिलती (जैसा सामाजिक काव्य में), न वह विशुद्ध काव्यानंद (रस) पर ही समाप्त हो जाता है। उसमें हमें व्यक्तिगत जीवन अथवा मानव-जीवन की किसी नई अनुभूति या परिचित की अपरिचित भंगिमा का पता चलता है अथवा हम ऐसी अनुभूति का स्पर्श पाते हैं जिसके लिए हमारे पास अभी तक कोई शब्द नहीं था। संक्षेप में, काव्य हमारी चेतना, संवेदना अथवा जीवन-शक्ति का विस्तार करता है अथवा उन्हें गहराई देता है। फलस्वरूप हमारी सौन्दर्य-चेतना को नए आयाम मिलते हैं। हम अधिक जीने लगते हैं या नया जीवन जीते हैं। वस्तुतः श्रेष्ठ काव्य हमें लोकोत्तर आनन्द ही नहीं देता, हमारे चारों ओर के

लोक को भी लोकोत्तर, अथच् नवीन बना देता है। इसी प्रकार काव्यानंद हमारे व्यक्तित्व से फूट कर हमारे बाहर के जड़-चेतन को आनंदमय बनाता है। काव्य की उपासना सुन्दर की उपासना है, परन्तु वह उसी क्षण आनन्द की उपासना भी है। सच तो यह है कि आनन्द और सौन्दर्य एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। आनन्द भावगत है, सौन्दर्य रूपगत। भावमय ही रूपमय बनकर हमारी सौन्दर्य-चेतना को लुभाता है। मनुष्य के आनन्द का क्षेत्र विषयगत नहीं, भावगत है। इसीलिए हम कविता में भाव-जगत की खोज करते हैं और कवि के विषय को भूल जाते हैं। परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि महत् विषय से काव्यानंद की वृद्धि ही नहीं होती, या उसके स्वरूप में परिवर्त्तन नहीं हो जाता। परन्तु विषय तात्कालिक या दीर्घकालिक होकर भी चिरन्तन नहीं हो सकता और कालांतर में हमें रचना के सौन्दर्य-पक्ष पर ही ठहरना होगा जो उसका आत्मपक्ष या भाव-पक्ष भी कहा जा सकता है। महाकवियों की रचनाएँ चिरकालिक सौन्दर्य को उद्घाटित करने के कारण ही तात्कालिक जीवन-चेतना अथवा योगधर्म का अतिक्रमण कर सकी हैं। विशुद्ध काव्य का आग्रह काव्यानंद को सीमित कर कवि को छोटा बना देता है क्योंकि इस आग्रह में कवि के भाव-जगत का आंशिक रूप में ही उपयोग संभव है। अपने संपूर्ण भाव-जगत का उपयोग करके ही कवि उस अनिवार्यता से छुटकारा पा सकता है जिसने उसे उच्छ्वसित किया है। अपने को बचा कर वह हमें जो देगा वह काव्य से छोटा ही होगा। कल्पनाविलासी अथवा भावविलासी बन कर ही कवि अपने व्यक्तित्व के साथ पूरा न्याय कर सकता है। काव्य आत्मनिवेदन है। वह निवेदिता आत्मा की माधुर्यपूर्ण मनुहार है। इस निवेदन में कवि को संपूर्णतः निःशेष हो जाना है। वह विषयी बन कर अथवा विषय से तादात्मिक होकर ही उस संहृति को प्राप्त होता है जिसमें विचार, भाव, चिन्तन और कला का संश्लेष हो जाता है। विषय से मुक्त होने की चेतना कवि के काव्य को कटे-छंटे हीरे की भांति विभ्रममय परन्तु कृत्रिम बना देती है।

कहने का तात्पर्य यह है कि काव्य का स्वरूप विषयगत और भावगत अथवा आत्मिक मान कर चलने में यह असुविधा है कि हम कवि के भाव-जगत अथवा व्यक्तित्व को खण्डित कर देते हैं। निःसंदेह कवि की आत्मधर्मिता में विषय का लोप हो जाता है अथवा विषय आत्मिक बन जाता है, उसकी स्वतंत्र सत्ता

रहती ही नहीं। काव्य-चेतना की इस ऊंचाई पर पहुँच कर काव्य का स्वरूप ही बदल जाता है। वह "कविर्मनीषी: परिभू: स्वयंभू" की शाश्वत तेजस्विता का प्रतिरूप बन जाता है। इस तेजस्विता में परिचय का चमत्कार, तादात्म्य का उल्लास और समरसता का माधुर्य ओतप्रोत रहता है। इसी को आचार्यों ने ध्वनि, रस और अलंकार में बांधना चाहा है। वक्रोक्ति, रीति और औचित्य में भी प्रकारान्तर से हमें चमत्कृति, माधुर्य और समत्व की सृष्टि मिलती है। यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक रचना में ये सभी तत्व अनिवार्यत: दीपित हों। प्रत्येक स्वतंत्र रीति से काव्य का आधार बन सकता है और इनमें से कोई भी रचना में अंगी बन कर अन्य एक अथवा अनेक को अंग बना सकता है। इसी दृष्टि से आचार्यों ने विभिन्न संप्रदायों की सृष्टि की है। परन्तु सभी संप्रदायों में अन्य काव्यांगों पर भी ऊहापोह किया गया है। पश्चिमी काव्य-समीक्षा के ग्रीक-युग में ही इन सभी तत्वों की कल्पना हो गई थी, यद्यपि किसी एक को प्रधान बना कर अन्य को गौणत्व देने की सांप्रदायिक प्रथा वहाँ नहीं चली।

संक्षेप में, हम कह सकते हैं कि काव्य संश्लिष्ट सृष्टि है और उसमें कवि के व्यक्तित्व तथा जीवन-चेतना का सामाजिक और नि:शेषात्मक उपयोग होता है। अपने से कम देकर कवि अपनी रचना को ही छोटा नहीं करता, संसार के प्रति अन्याय भी करता है क्योंकि वह अपनी कुछ अनुभूतियों अथवा नवीनताओं को अपने लिए बचा लेता है। काव्य-स्वरूप की विवेचना विषयगत न होकर आत्मगत या भावगत ही होगी क्योंकि विषय की काव्य में स्वतंत्र सत्ता नहीं है। परन्तु शब्द और अर्थ की संहृति की तरह काव्य में विषय और भाव की संहृति भी अनिवार्य है। यहाँ भाव से उस व्यापक सौन्दर्य-चेतना का तात्पर्य है जो कविदृष्टि की विशेषता है। इस सौन्दर्य-चेतना में चमत्कृति, माधुर्य और समरसता घुलमिल कर एकाकार हो जाते हैं और कवि के आत्मिक उल्लास के रूप में लोकोत्तर (लोक से विशिष्ट अथवा असामान्य) आनंद का संस्पर्श हमें प्राप्त होता है। काव्य-स्वरूप का निर्धारण करते हुए हमें किसी वाद-विशेष का आग्रही नहीं होना है, सभी को उस लोकोत्तरत्व का इंगित मानना है जो काव्यानंद की ओर निर्देश करता है। यहाँ अनामिका भी सार्थवती हो जाती है।

काव्य की सामाजिक और सांस्कृतिक भूमिकाएँ

भारतीय काव्य-दृष्टि काव्य को "रस" की उदात्त भूमिका देती है जो लोकोत्तर, विशिष्ट और व्यक्तिगत आनन्द के रूप में कल्पित किया गया है। व्यक्तिगत का तात्पर्य यहाँ आत्मिक से है और "रसो वै स:" कह कर "रस" को "ब्रह्मानन्द सहोदर" मान लिया गया है। काव्यानन्द को ब्रह्मानन्द के समतुल्य बता कर भारतीय मनीषा श्रेष्ठतम काव्य की सर्वोच्च अभिव्यक्ति की बात करती है, उससे नीचे वह नहीं उतरती। ध्वनिवादियों ने उत्तम, मध्यम और अधम (या चित्र) काव्य के रूप में काव्य की एक सरणी अवश्य बनाई है परन्तु उत्तम काव्य में रस की अभिव्यक्ति व्यंजनात्मक रहती है,—इस प्रकार मान कर काव्य की रसात्मकता को अक्षुण्ण रहने दिया गया है। रस की भूमिका पर काव्य का आस्वादन निरपेक्ष, निर्वैयक्तिक और निरुपयोगी होता है। इलियट ने काव्य और कला की निर्वैयक्तिकता की घोषणा की थी परन्तु आज वह यह मानने लगे हैं कि निर्वैयक्तिकता के दो स्वरूप हैं। एक प्रकार की निर्वैयक्तिकता कलाकारिता (क्रेफ़्टमेनशिप) है और काव्यगत प्रौढ़ता के साथ वह स्वतः आ जाती है, परन्तु दूसरे प्रकार की निर्वैयक्तिता की स्थापना काव्य में उस समय होती है जब कवि तीव्र रागात्मक और व्यक्तिगत अनुभूति को सार्वभौमिक सत्य का रूप देने में समर्थ होता है। इसमें उसकी अनुभूति की विशेषता और व्यक्तिमत्ता की कोई हानि नहीं होती, वह आगे बढ़ कर सामान्य प्रतीक बन जाती है। रसात्मक अनुभूति में कवि के स्थायी भाव "रस-कोटि" में परिणत हो जाते हैं और व्यक्तिगत रागों की भूमिका समष्टिगत अभिव्यक्ति प्राप्त कर लेती है। "रस" का संबंध भावों से है जिनसे हमारे रागात्मक जीवन का निर्माण होता है। 'काव्य' की सामाजिक और सांस्कृतिक भूमिकाओं में भी रस की प्रतिष्ठा अनिवार्य है क्योंकि रागों का विस्तार व्यक्ति के जीवन में ही नहीं, समष्टि के जीवन में भी है। वस्तुतः कर्त्तव्याकर्त्तव्य, सामाजिक मूल्यों तथा धारणा के संघात (कन्फ़्लिक्ट आफ़ विल्स) को लेकर ही सामाजिक और सांस्कृतिक काव्य का निर्माण होता है, अतः रस को एक प्रकार से सार्वभौमिकता प्राप्त है। परन्तु जब हम

काव्य की सामाजिक और सांस्कृतिक भूमिकाओं की बात करते हैं तब हम सोद्देश्यता की बात करते हैं, काव्यानुभूति के साथ उपयोगिता का भी मेल कर देते हैं, अथवा काव्य की सर्वोच्च मनोभूमिका से नीचे उतर कर जीवन के दैनंदिन समतल पर आ जाते हैं।

पश्चिम के पास "रस" जैसा कोई अंतिम मानदण्ड नहीं है क्योंकि वहाँ काव्य और साहित्य को जीवन-सापेक्ष देखा गया है। पश्चिमी मनोविज्ञान में मानसिक स्वास्थ्य का कोई ऐसा मानदण्ड नहीं है जो "स्थितप्रज्ञता" के आदर्श या "समाधि" के आदर्श की तरह मूलगत और सर्वनिरपेक्ष हो, परन्तु पूर्णता का भी एक आदर्श परिकल्पित हो सकता है। इसे इलियट ने "a normality of perfect functioning" कहा है, जो व्यक्तिनिरपेक्ष, तात्विक और अंतरंगी हो। साहित्य के क्षेत्र में "रस" की कल्पना कुछ इसी प्रकार की कल्पना है जो काव्यानुभूति को ही सर्वोच्च भाव-भूमिका पर अंतिम मूल्य प्रदान करती है और काव्य की विषय-वस्तु तथा अभिव्यंजना के फेर में नहीं पड़ती। यह अच्छा ही है कि हमारे पास काव्यानन्द की व्याख्या के लिए आत्मिक कोटि का सर्वनिरपेक्ष मानदण्ड है परन्तु यह भी आवश्यक है कि हम काव्य की सामाजिक और सांस्कृतिक भूमिकाओं को भी ध्यान में रखें और श्रेष्ठतम काव्य से नीचे की अभिव्यक्ति के लिए भी अपने भीतर समादर पैदा करें। काव्य जहाँ आनन्द मात्र का विषय न होकर सामाजिक उपयोगिता का विषय हो जाता है, वहाँ भी वह हमें भीतर से नहीं तो बाहर से तो जोड़ता ही है। सामाजिक और सांस्कृतिक काव्य एकदम उपेक्षा का विषय नहीं हो सकता।

आधुनिक युग में "विशुद्ध काव्य" का एक आन्दोलन फ्रांस से उठा है और कवियों तथा समीक्षकों का एक वर्ग यह मानने लगा है कि काव्य का कोई विषय नहीं है, वह विषयीगत है। और भी आगे बढ़ कर केवल कल्पना, प्रतीक अथवा भावोद्रेक मात्र को काव्य कहा गया है। उसे धारणा, विचार, विवरण या वर्णन से निःशेष कर एकदम वायवी चेतना मात्र के रूप में देखा गया है। इस संदर्भ में यह बता देना आवश्यक है कि अतीत काल से काव्य सामाजिक उद्देश्यों का निर्वाह करता रहा है और महत् काव्य में सामाजिक

और सांस्कृतिक संदर्भों की भूमिका पर ही रसोद्रेक का प्रयत्न मिलता है। कवि की अन्तर्दृष्टि और तीव्र अनुभूति धारणा, विचार, विवरण, वर्णन या सामाजिक तथा सांस्कृतिक आदर्श को उच्चतम भावदीप्ति दे सकती है। जहाँ काव्यानुभूति लोकोत्तर आनन्द की ऊँचाई तक नहीं पहुँचती वहाँ भी काव्य से सामाजिक उद्देश्य की पुष्टि होती है और यह अपने में कोई कम उपलब्धि नहीं है। विषय-वस्तु की महत्ता और मानव-जीवन के लिए उसकी उपयोगिता काव्य को रस-भूमिका पर विशेष गरिमा प्रदान करती है। कालिदास का "मेघदूत" प्रकृति और जीवन की विस्तृत चित्रपटी के कारण ही इतना भावपूर्ण बन सका है और उनके महाकाव्य "रघुवंश" में नैतिक और सांस्कृतिक जीवन को काव्य की उच्चतम भूमिका मिली है। सामाजिक और सांस्कृतिक आशयों से निःशेष विशुद्ध काव्य चाहे जितनी प्रगीतात्मक ऊँचाई पर उठे वह प्रभावक्षीण और वायवी ही रहेगा। वस्तुतः विशुद्ध काव्य की कल्पना ही भ्रामक है क्योंकि रसानुभूति में भावक के संपूर्ण व्यक्तित्व का उपयोग होता है और उसका सामाजिक तथा सांस्कृतिक अंग अक्रियाशील नहीं रह जाता।

उच्चतम भावभूमि पर हम "रस" को काव्य का मानदण्ड मान सकते हैं, उसी प्रकार उच्चतम मानसिक भूमिका पर "ध्वनि" को। व्यंजना के उद्घाटन में सूक्ष्मतम प्रज्ञात्मक चेतना का उपयोग होता है। ये दोनों भूमिकाएं श्रेष्ठ काव्य में एक ही साथ देखी जा सकती हैं और आचार्यों ने रस को ध्वनि के भीतर समेटने का प्रयत्न भी किया है। "रस ध्वनित होता है", ऐसा मान कर ध्वनि-काव्य की श्रेष्ठता प्रदर्शित की गई है परन्तु "रसध्वनि" की कल्पना एक प्रकार का अतिवाद ही है। विशुद्ध सौन्दर्यचेतस् भूमिका पर भी काव्य का प्रणयन-आस्वादन संभव है और पश्चिम की आधुनिक समीक्षा-दृष्टि में काव्य के रसास्वादन में कल्पना-तत्व के योग पर विशेष ध्यान दिया गया है। मनोविज्ञान की नवीन उपलब्धियों के आधार पर सुन्दर की व्याख्या का प्रयत्न किया गया है और काव्य के मूल्यांकन में सौन्दर्य-शास्त्र या कला-शास्त्र का व्यापक रूप से उपयोग हुआ है। कल्पना रसोद्रेक में सहायक हो सकती है, परन्तु उसकी स्वतंत्र आनंदनीय स्थिति भी संभव है, यह पश्चिमी समीक्षा की मान्यता है। इसीलिए पश्चिमी समीक्षकों ने रूपविधान, मूर्तिमत्ता, प्रतिमान

और प्रतीक के विशिष्ट क्षेत्रों में व्यावहारिक समीक्षा के क्षेत्र में हमें बहुत कुछ दिया है। काव्य के हार्दिक और मानसिक उपकरणों को महत्वपूर्ण मानते हुए भी पश्चिम का आलोचक उसे नितांत व्यक्तिगत भूमिका नहीं दे सका है क्योंकि आरंभ से ही उसकी दृष्टि जीवनवादी रही है। प्लेटो ने काव्य को जीवन की अनुकृति मान कर और उसे नैतिकता से संबंधित कर काव्य को जीवन-सापेक्ष घोषित कर दिया और अरिस्टाट्ल ने काव्य के अंगों की औचित्यपूर्ण प्रतिष्ठा संतुलित अभिव्यक्ति तथा भावों के परिष्करण में उसके महत्व को अंगीकार कर उसकी मनोवैज्ञानिक और कलात्मक सीमाओं को स्वीकार किया। फल-स्वरूप, पश्चिमी काव्यदृष्टि व्यक्तिगत आनंद की भूमिका छोड़ कर समाज की मंगल-साधना और जावन की विराट तात्विक अभिव्यक्ति को काव्य अथवा साहित्य का प्रयोजन मान कर चली। स्वच्छंदतावादी, प्रतीकवादी और पिछले चार दशकों की अनेक अतिवादी साहित्यदृष्टियाँ भी पश्चिम की मूल जीवन-वादी समीक्षादृष्टि को स्थानान्तरित नहीं कर सकी हैं। व्यक्ति की मनोभूमिका का बहुत बड़ा अंश सामयिक समाज और परंपरा से निर्मित होता है, काडवेल, रेल्फ फ़ाक्स और जार्ज लुकाक्स जैसे मार्क्सवादी समीक्षक भी यह स्वीकार करते हैं।

अतः आवश्यकता इस बात की है कि हम काव्य के शाश्वत रसबोध और उसकी व्यक्तिमुखी चेतना के साथ उसकी सामाजिक और सांस्कृतिक भूमिकाओं को भी समझें और उसे अंतश्चेतनामूलक अंधप्रवृत्तियों में ही सीमित न रख कर जीवन के स्वस्थ और उत्कर्षमय संस्कारों की उसमें प्रतिष्ठा करें। आज मनुष्य की सामाजिक और सांस्कृतिक चेतना प्रजातीय, जातीय, संप्रदायगत तथा राष्ट्रीय प्रभेदों से ऊपर उठ कर मानवीय और आत्मिक बन गई है (या बनती जा रही है) और हमारा सांस्कृतिक काव्य एकदेशीय न होकर सार्वभौमिक और सर्वकालिक ही हो सकता है। इलियट का "द वेस्ट लैण्ड" (१९२२) और योगी अरविन्द का "सावित्री" (१९५०) महाकाव्य इस कोटि की दो महत्वपूर्ण कृतियाँ हैं। दोनों में आधुनिक मनुष्य की जीवन-चेतना के दो विरोधी रूप प्रकाशित हैं परन्तु मानव-जीवन के कल्याण के प्रति तीव्र आग्रह हमें दोनों में मिलता है। आधुनिक हिन्दी काव्य में उत्तर पंत का काव्य भू-चेतना और नव्य मानव की इसी सांस्कृतिक अभिव्यक्ति का प्रयत्न है। धर्म, नीति, अध्यात्म,

समाजबोध और इतिहास से विच्छिन्न काव्य किंपुरुषीय मुद्रा बन जाता है, इसका प्रमाण "प्रयोगवाद" और "नयी कविता" के आन्दोलन के भीतर से आने वाले पिछले दो दशकों का काव्य है। उसे मार्गों का अन्वेषी और नये मनुष्य का खोजी भी कहा गया है, परन्तु उसकी शोध स्वस्थ मनोवृत्तियों के भीतर से न होकर मानस-रोगों के भीतर से है। फलतः उसमें कुंठा, अवसाद, आत्महीनता और आत्मरति का एक विचक्षण प्रपंच खड़ा कर लिया है। स्वस्थ और संपन्न मनुष्य का कोई भी चित्र हमें उसमें नहीं मिलता। सामयिक दुश्चिताओं और कदर्थनाओं को लेकर हम किसी श्रेष्ठ काव्य की सृष्टि नहीं कर सकते। नदी के द्वीप जैसे नदीतल में संपृक्त रहते हैं, उसी प्रकार प्रत्येक मनुष्य की व्यक्तिमत्ता सामाजिक और सांस्कृतिक मानव के विराट् व्यक्तित्व में अपने श्रेष्ठतम मूल्यों को चरितार्थ करती है। जहां अल्प भूमा में खो जाता है, वहीं काव्य और कला की प्रकृत भूमिका है।

ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि कविता आरम्भ में सामग्रिक मानव की वहिरन्तर अभिव्यक्ति थी। योगी अरविन्द ने वैदिक मन्त्रों में ऋषियों के ऋत्-चित्त के विविध स्वरूपों का उद्घाटन कर यह सिद्ध कर दिया है कि उनकी ऋषि-दृष्टि में कवि-मनीषा का श्रेष्ठतम आत्मसात था। यह सामग्रिक दृष्टि शीघ्र ही लुप्त हो गई परन्तु उपनिषद् की ऋचाओं में प्रज्ञात्मक चेतना और अंतर्दृष्टि का विचक्षण योग हमें फिर भी मिलता रहा। इसीलिए उपनिषदों से अनेक मंतव्यों का प्रादुर्भाव होने पर भी उनकी चिन्तना आज भी ताज़ी है। महाभारत और रामायण जैसे महाकाव्यों में काव्य को धर्म और नीति के उदात्ततम आदर्शों से मंडित किया गया और उनमें मानव-जीवन की चरितार्थता और चारित्रिक अभिव्यक्ति के विभिन्न शिखरों को भी छुआ गया। गीता जैसे तत्ववादी ग्रंथ में भी विराट्-दर्शन के रूप में ऐसा काव्योत्कर्ष हमें मिलता है जो अप्रतिम है। महाकाव्यों, नाटकों, कथा-कहानियों और पुराणों में भारतीय मनुष्य की समस्त सामाजिक और सांस्कृतिक पीठिका का उपयोग हुआ है और उसके जीवन-बोध को चिन्मय, उदात्त, संस्कारी और संपन्न बनाने का प्रयत्न स्पष्ट है। मध्ययुग के वैष्णव आन्दोलन में भक्ति को व्यक्तिगत भाव-साधना के चरमोत्कर्ष पर पहुँचा दिया गया है परन्तु श्रीमद्भागवत और रामचरितमानस जैसे विश्रुत ग्रंथ मानवीय

आदर्शों से ओतप्रोत हैं। उनमें सामाजिक और सांस्कृतिक भूमिका पर व्यक्ति के संस्कारी जीवन को श्रेष्ठतम मूल्यों से मण्डित किया गया है और व्यक्ति की एकांतिक भाव-साधना को समाज के परिष्कार का मूल मंत्र माना गया है। इस प्रकार भारतीय काव्य की पृष्ठभूमि मानव-व्यक्तित्व की चरितार्थता में ही सार्थक बनी है, परन्तु इस चरितार्थता में त्याग, तप, बलिदान, कष्टसहन, पातिव्रत्य, एकपत्नीव्रत, औदार्य, प्रेम और सहयोग के श्रेष्ठतम मानव मूल्यों की अवहेलना हुई है। ये मूल्य व्यक्तिबद्ध होकर भी सामाजिक हैं और सामाजिक जीवन में ही व्यावहारिकता प्राप्त करते हैं। फलतः भारतीय जीवन-दृष्टि में व्यक्तिगत चरितार्थता और समाजहित में कोई अंतर नहीं है। द्विवेदी-युग तक हमारे काव्य में यह मौलिक भारतीय दृष्टि अविच्छिन्न चली आती है। परन्तु छायावाद-युग के काव्य तथा परवर्ती काव्यधाराओं में कवि का समाज-बोध या तो सतही और अतिवादी होकर राजनीतिक नारों में सीमित रह गया है या उसका नितांत अभाव है। इसमें संदेह नहीं कि जीवनदृष्टि का यह परिवर्त्तन दो महायुद्धों द्वारा उत्पन्न परिस्थितियों और विश्व-संस्कृति के सामयिक संकट की उपज है, परन्तु जो टूट चुका है, उसे जोड़ कर ही हम अखण्डता की प्राप्ति कर सकेंगे। मानव-व्यक्तित्व को निरंतर क्षीणतर बना कर हम विशुद्ध काव्य के आग्रही भले ही बने रहें, परन्तु उसे जीवन के अखण्ड और शाश्वत प्रवाह से अलग कर हम उसकी जीवन-शक्ति को नष्ट कर देंगे।

इलियट, रिचर्ड्स और एफ० आर० लेविस जैसे आधुनिक समीक्षकों ने समाज-बोध को काव्यभाषा तक ही सीमित रखा है। इसमें संदेह नहीं कि भाषा काव्य की सब से महत्वपूर्ण इकाई है और उसके बिना उसकी कल्पना ही नहीं की जा सकती। अनुभूति को अभिव्यंजना मान कर कोई चाहे मानसी काव्य की कल्पना कर ले, काव्य के भाषागत होने में किंचित मात्र भी संदेह नहीं किया जा सकता। परन्तु भाषा सामाजिकों के जीवन-बोध, जीवनचर्या और पारस्परिक आदान-प्रदान का प्रतीक है। उसमें परंपरा और प्रयोग एकरस होकर एक परिपूर्ण भाव-जगत की सृष्टि करते हैं। काव्य में वस्तुसत्ता मानसिक और आत्मिक बन कर नये आयाम प्राप्त करती है। इसीलिए नव्य समीक्षा में भाषा को प्राथमिकता मिली है और नए जीवनबोध को ग्रहण करने के लिए जन-भाषा तक पहुँचने का प्रयत्न कवि-धर्म का अनिवार्य अंग बन गया है। हम

यह मानते हैं कि लोकभाषा (चलित भाषा) को अपना कर तथा शिष्टभाषा में प्रयुक्त शब्दकोश को अपनी सूक्ष्म अंतर्वेदना एवं सांस्कृतिक भंगिमा की नई लौ दे कर कवि भावकों के अंतर्बोध को नई मार्मिकता, गहनता तथा सजीवता दे सकता है और इस प्रकार युग के सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन के उन्नयन में उसका योगदान अत्यंत महत्वपूर्ण बन जाता है। परन्तु क्या कवि-कर्म केवल भाषा की साधना तक सीमित रह सकता है? क्या कवि के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह द्रष्टा बन कर युग-बोध की चेतना में गहरा उतरे और नए युग-धर्म की पदचाप सुने? भाषा उसके लिए साध्य नहीं बन सकती, प्रथमतः होते हुए भी वह साधन ही रहेगी। ऐसी स्थिति में भाषा के संरक्षण, संवर्द्धन और संस्कार को कवि का अंतिम धर्म नहीं कहा जा सकता। कवि संवेदना के नए और सूक्ष्मतम स्वरूपों को उद्‌घटित करता है और भाषा के माध्यम से रसिक भावकों को संभावित करता है। अभिव्यक्ति के इस प्रयत्न में भाषा को विकास और संपन्नता की प्राप्ति होती है और भाषा सामाजिक तथा सांस्कृतिक अवयव होने के नाते परोक्ष में समाज और संस्कृति के संवर्द्धन का साधन बनती है। परन्तु हम भाषा पर ही क्यों रुकें? क्यों कवि सीधा सामाजिक और सांस्कृतिक संदर्भों को अपनी भाषा और अनुभूति का विषय नहीं बनाये? कवि को केवल भाषा या केवल व्यक्तिगत भावोच्छ्वास तक सीमित रख कर हम उसकी अत्यंत प्राणवान भविष्यत्‌कल्पी अंतर्दृष्टि और कविता की मंत्र-शक्ति के प्रति अनुदार ही सिद्ध होते हैं। कविता की रसात्मकता मानवीय संदर्भों और सांस्कृतिक प्रेरणाओं को लेकर और भी अधिक मार्मिक तथा सप्राण बनाई जा सकती है। ईश्वर, प्रकृति और सामाजिक एवं सांस्कृतिक मानव से विच्छिन्न काव्य कवि के व्यक्तित्व के प्रति क्या न्याय कर सकेगा और काव्य-रसिक के व्यक्तित्व में क्या जोड़ेगा, यह समझ में नहीं आता। काव्य को भाषागत, कूट और अवचेतनीय बना कर हम उसकी अंतर्शक्ति को क्षीण ही करेंगे। इसीलिए यह आवश्यक है कि हम काव्य की सामाजिक और सांस्कृतिक भूमिकाओं का पुनरुद्धार करें और मानव-व्यक्तित्व को परिपूर्णता एवं चरितार्थता दें। कवि को समाज और संस्कृति के केन्द्र में प्रतिष्ठित करने पर ही हम उसे मनीषी की मर्यादा दे सकेंगे और कविता को पौगंडीय स्वरति तथा नपुंसकीय आत्महीनता से ऊपर उठाने में समर्थ होंगे।

राष्ट्रीयता और साहित्य

साहित्य राष्ट्रीय कब होता है ? साहित्य और राष्ट्रीयता का क्या संबंध है ? "राष्ट्रीय" शब्द के साथ क्या संकीर्णता भी नहीं लगी है ? क्या गंभीर साहित्य (या उत्कृष्ट साहित्य, जो केवल विनोद, या मनोरंजन अथवा सूचना की वस्तु नहीं है) राष्ट्रीय बने बिना रह सकता है ? राष्ट्रीय होने की अनिवार्यता साहित्य की प्रकृति में अंतर्निष्ठ है या ऐसा नहीं है ?—ये कुछ महत्वपूर्ण प्रश्न हैं। यह संभव है कि राष्ट्र हो और उसका साहित्य नहीं हो परन्तु साहित्य यदि होगा तो जन-सापेक्ष ही होगा और इसका अर्थ है कि वह जन या राष्ट्र को अभिव्यक्त करेगा ही। ऐसा साहित्य कहाँ मिलेगा जो किसी की अभिव्यक्ति नहीं है क्योंकि प्रत्येक शब्द किसी की अभिव्यक्ति होगा और किसी को भावित करने का प्रयत्न होगा। इस प्रकार साहित्य का राष्ट्रीय होना साहित्य की अनिर्वायता में ही सन्निहित है।

परन्तु साहित्य राष्ट्रीय होकर भी सार्वभौमिक हो सकता है अर्थात् उसके द्वारा मानवीय संवेदनाओं का प्रकाशन हो सकता है। प्रश्न यह है कि राष्ट्रीय और मानवीय संवेदनाओं में विरोध क्यों हो ? महान कृतियां मानवीय और स्थानिक होते हुए भी सार्वजनीन और सार्वभौमिक होती हैं। कारण यह है कि साहित्य में संपूर्ण राष्ट्र (या जाति) की प्रतिभा किसी एक व्यक्ति (कलाकार) के माध्यम से प्रगट होती है। वह व्यक्ति न अपने को अस्वीकार कर सकता है, न अपने व्यक्तित्व का अतिक्रमण ही कर सकता है। फलतः उस व्यक्ति के मानवीय संवेदन ही राष्ट्रीय बनते हैं। उनको छोड़कर राष्ट्रीयता की कोई स्थिति ही नहीं है। दांते, शेक्सपिअर, गेटे, इब्सन, टॉल्सटाय, दोस्तोवेस्की, बालमीकी, कालिदास, तुलसी—इनके साहित्य को हम राष्ट्रीय कहेंगे या नहीं ? इन्हें छोड़ कर हम किस राष्ट्रीय साहित्य की कल्पना करेंगे ? परन्तु क्या सार्वजनीन और मानवीय भी ये ही नहीं है ? क्या इनके साहित्य में नितांत व्यक्तिगत भूमिकाओं का प्रकाशन नहीं हुआ

है ? क्या वे व्यक्तिगत नहीं हैं ? सच तो यह है कि व्यक्तिगत महत्ता का बन कर ही साहित्य राष्ट्रीय बनता है और राष्ट्रीय बन कर ही सार्वभौमिक। इन तीनों धरातलों को हम एक ही व्यक्ति (या कृति) में समानान्तर देख सकते हैं। इस प्रकार राष्ट्रीय होने के लिए व्यक्तिगत होना उसी प्रकार आवश्यक है जिस प्रकार सार्वजनीन या व्यापक रूप से मानवीय। यहाँ हम ऐसे साहित्य को नहीं ले रहे जो व्यक्तिगत भूमिका पर ही अशक्त और सारहीन है। कहना यह है कि व्यक्तिगत के साथ ही हम उसे राष्ट्रीय बना सकते हैं और राष्ट्रीयता के भीतर से अखिलमानवीय जीवनदृष्टियों और संवेदनाओं को मूर्त्तिमान कर सकते हैं। यह साहित्य की उत्तरोत्तरता है या व्यक्ति-देश-कालमुक्ति। देशकाल की सीमाओं में बँधे राष्ट्रीय काव्य में यदि व्यक्तिगत भावों के संचार और धारण की शक्ति है तो वह देशकाल का संक्रमण करके रहेगा। व्यक्ति अव्यक्ति बन कर नहीं, अधिक व्यक्तिगत और अधिक सविशेष बन कर ही राष्ट्रीय होता है और पूर्णतः राष्ट्रीय होकर पूर्णतः मानवीय। साहित्य में राष्ट्रीय होने की साधना मूलतः व्यक्तिगत होने की ही साधना है।

कुछ लोगों का विचार है कि रोमांटिक या स्वच्छंदतावादी साहित्य देश-काल-निरपेक्ष होने के कारण उन्मुक्त साहित्य होता है और उसे "राष्ट्रीय" नहीं कहा जा सकता क्योंकि उसमें सामान्य और निर्विशेष की साधना रहती है। इसके विपरीत क्लासिकल साहित्य राष्ट्रीय होता है क्योंकि उसमें व्यक्तिगत स्फुरण दब जाता है और देश-काल की सीमाओं की अभिव्यक्ति पूरी-पूरी होती है। परन्तु सच तो यह है कि ये भेद-विभेद अनावश्यक और भ्रांतिपूर्ण भी हैं। क्लासिकल साहित्य में कलासौष्ठव की प्रधानता रहती है, उसमें भावना को बुद्धि के द्वारा मर्यादित किया जाता है, वह संतुलन का साहित्य होता है, परन्तु इन सब विशेषताओं का अर्थ सौन्दर्य-सृष्टि ही तो है। क्या ये विशेषताएँ सभी राष्ट्रों के साहित्य में नहीं मिलतीं ? प्रत्येक देश में सौन्दर्य-चेतना का स्वरूप एक ही है, चाहे उसके उपकरण या आयाम बदल गये हों। ग्रीक, फ्रांसीसी और अंग्रेज़ी साहित्य उसी प्रकार राष्ट्रीय सौन्दर्य चेतना की अभिव्यक्ति करते हैं जिस प्रकार भारतीय साहित्य भारतीय सौन्दर्य चेतना को मूर्त्त करता है। अपने-अपने राष्ट्रीय सौन्दर्यबोध के प्रति आकांक्षावान और सार्थक हो कर ही प्रत्येक राष्ट्र का साहित्य "क्लासिकल" बनता है।

फलतः राष्ट्रीय साहित्य की विवेचना में सौन्दर्यदृष्टि को लेकर ही चलना होगा, रोमांटिसिज़्म और क्लासिसिज़्म के आधार पर राष्ट्रीय और अ-राष्ट्रीय (सार्वभौमिक) साहित्य के भेद करना भ्रांतिपूर्ण रहेगा ।

भारतीय साहित्य-क्षेत्रों में मध्यदेश की एक बड़ी विशेषता है । मध्यदेश देशी-विदेशी जातियों का महासमुद्र है । यद्यपि यह जाति-संगम अन्य भाषा-क्षेत्रों में भी आंशिक रूप से मिलेगा परन्तु उसका जैसा ताना-बाना यहाँ बुना गया है वैसा अन्यत्र नहीं मिलेगा । पिछले युगों की बात जाने दें तो भी शक-हूण-गुर्जर-आभीर-पह्लव से तुर्क-पठान-ईरानी-मंगोल रक्त तक मध्यदेशीय आर्य-द्रविड़-किरात-कौल रक्त में घुल-मिल गया है । इस मिश्रण ने हमारी राष्ट्रीयता को निश्चित रूप दिया है । हिन्दी के कण्ठ-स्वर के निर्माण में अनेक जातियों-प्रजातियों का कण्ठ-स्वर मिला है और यही बात उसके काव्यरूपों तथा "मिथों" (रिवायतों) के संबंध में कही जा सकती है । यह स्पष्ट है कि १००० ई० के बाद इस समन्वय ने विभिन्न जनपदीय भाषाओं के साहित्य को जन्म दिया और १६ वीं शताब्दी में ब्रजभाषा और अवधी के साहित्यों में मध्यदेशीय राष्ट्रीय (संस्कारी) चेतना का एक विराट् रूप हमें मिला । खड़ी बोली की हिंदवी-दकनी-उर्दू शाखा १००० ई० के बाद आने वाली तुर्क-पठान-मुग़ल-ईरानी संस्कृतियों का प्रतिनिधित्व करती है और १९ वीं शताब्दी के आरंभ में पश्चिमी हिन्दी प्रदेश की जातीय शक्ति आधुनिक जीवन की कर्मण्यता तथा धर्म-निरपेक्ष जीवनदृष्टि को लेकर उसी में खड़ी बोली साहित्य की सृष्टि करती है । पिछले सौ वर्षों में से खड़ी बोली के भाषा और साहित्य के दो रूप अत्यंत निकट होते हुए विशुद्ध साहित्य-तत्व के निर्माण में संलग्न हैं । इस प्रकार हिन्दी भाषा और उसका साहित्य जाति-संगम के साथ राष्ट्रीय चेतना का सब से अधिक प्रतिनिधित्व करता है ।

हमारे अनेक साहित्यकार दो या अधिक सांस्कृतिक धरातलों से संबंधित रहे हैं । प्रेमचंद के द्वारा उर्दू साहित्य और निराला के द्वारा बंगला साहित्य की चेतना ने आधुनिक हिन्दी साहित्य को किस प्रकार पुष्ट किया है, यह स्पष्ट है । इस प्रकार हिन्दी भाषा और साहित्य अन्य भाषाओं और साहित्यों की

अपेक्षा कहीं अधिक राष्ट्रीयता के प्रतीक बन जाते हैं। हिन्दी का साहित्य समन्वय, संतुलन और उदार जीवनदृष्टियों का साहित्य है और उसमें भारतीय संस्कृति की कैथोलिक और प्रोटेस्टेन्ट अंतप्रवृत्तियों को पूर्ण प्रतिनिधित्व प्राप्त है। इन दोनों की क्रिया-प्रतिक्रिया ही मध्यदेशीय जन को प्रगतिशील, उदार, आशावादी और सक्रिय बनाती है। इसी संतुलन और समन्वय में भारतवर्ष की राष्ट्रीय चेतना अपना व्यक्तित्व प्राप्त करती है। इस राष्ट्रीय संगम को हमने पिछले सौ वर्षों में सीधे या बंगला साहित्य के माध्यम से प्राप्त किया है। पश्चिमी (विशेषत: अंग्रेज़ी) साहित्य के रूपों, संदर्भों एवं दृष्टिकोणों के आत्मसात से और भी प्रगाढ़ बनाया है। आधुनिक मध्यदेशीय जन जिस परिपूर्ण संस्कृति-संगम का प्रतीक है उसका सहस्राधिक वर्षों का विकासमान बोध हमारी भाषा और उसके साहित्य में मिलेगा। महाकाल ने जिन संघर्षशील एवं साधनाप्राण युगों को निगल लिया है वे अपनी समस्त संपन्नता के साथ वहाँ अनन्त काल के लिए सुरक्षित हैं। इसीलिए इस साहित्य को राष्ट्रीय स्पन्दन का मूर्त्त स्वरूप कह सकते हैं। साहित्य में राष्ट्रीयता अनिवार्यत: आ जाती है और साहित्य छोड़ कर राष्ट्रीयता की कल्पना भी नहीं हो सकती क्योंकि शब्द अभिव्यक्ति ही नहीं है, वह परिपूर्ण अनुभूति भी है, अनुभूति के साथ भाषा का चोली-दामन का संबंध है।

कौन-सा साहित्य राष्ट्रीय है? रासो-साहित्य, भक्ति-साहित्य या आधुनिक युग का तथाकथित राष्ट्रीय साहित्य? इसमें संदेह नहीं कि रासो-साहित्य जीवन के ऊँचे पठारों का साहित्य है। जहाँ ऊपरी सतह से नीचे जाना हमारे लिए कठिन है वहाँ साहित्यिक इतिहास के आरंभ-काल में पठार-भूमियों को जोतने बोने में ही सुविधा है। ऊँचे विचार, उदात्त भावनाएँ, उत्कर्षपूर्ण संवेदनाएँ और घात-प्रतिघात साहित्य के आदिकाल को सूचित करते हैं। इस प्रारंभिक साहित्य में न गहराई है, न पात्रों के जीवन में संश्लिष्टता है, वे केवल कुछ महाकाव्यात्मक सद्गुणों से विभूषित होते हैं। शौर्य और श्रृंगार, करुणा और बलिदान के सामंती वातावरण में यह साहित्य चरित्र की व्यक्तिगत भूमिकाओं को ही अधिक चरितार्थ करता है, उसका मानवीय और सांस्कृतिक पहलू उतना उज्ज्वल नहीं है। "रजपूती" उसका जीवनादर्श है, परन्तु वह सर्वकालिक जीवनादर्श नहीं बन सकता। भक्ति-साहित्य में साहित्य-चेतना सांस्कृ-

तिक और आध्यात्मिक भूमिकाओं को अधिक ग्रहण करती है। उसमें हम पठार की तराई-भूमि में हैं और उच्च शिखर हमारी दृष्टि से एकदम ओझल नहीं हुए हैं। राम और कृष्ण के महाप्राण व्यक्तित्वों को घेर कर भक्ति की मध्ययुगीन साधना वीरता और धीरोदात्त नायकत्व की पूर्व-परंपरा को भी अपने भीतर समेट लेती है, परन्तु उसका साधक संत और भक्त अंतर्जगत का "सूरमा" है। "विजय-रथ रूपक" में तुलसीदास ने उसका बड़ा सुन्दर चित्र खींचा है। भारतवर्ष के नैतिक और आध्यात्मिक मनुष्य को इस चित्र में राष्ट्रीय पुरुष बनने का गौरव प्राप्त हुआ है। राम के चरित में तुलसी ने शौर्य और संतत्व के दो पहलू स्पष्ट रूप से रखे हैं। इस प्रकार भक्ति-साहित्य की राष्ट्रीय चेतना सांस्कृतिक चेतना से अभिन्न है और उसमें हमारे व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन को एकात्मता प्राप्त हुई है। आधुनिक साहित्य में हम नदियों के कांठे में उतर आए हैं और गहन कांतारों से पथ-संकुल नदी-तट तक हमारी प्रजातंत्री जीवन-साधना के क्षेत्र बन गए हैं। तथाकथित राष्ट्रीय साहित्य में इस वन्य प्रदेश को कण्टकों और तृणों से मुक्त करने का ही प्रयास हुआ है। सतह से बहुत नीचे हम नहीं जा सके हैं परन्तु यहाँ धरती गहरी है और उसमें जीवन-क्षमता भी अधिक है। फलतः उससे हमें आशाएँ भी कम नहीं हैं। मध्ययुग में इस्लामी चेतना का सर्वश्रेष्ठ स्वीकार करते हुए भी हमने अपनी सांस्कृतिक निष्ठा को सुरक्षित रखा था। आधुनिक युग में हमने एक बार फिर अपनी सांस्कृतिक चेतना का निर्माण किया है परन्तु देश की आत्मा अब भी पश्चिमी संस्कृति के बोझ से दबी है। इसीलिए खड़ी बोली के राष्ट्रीय काव्य को अभी सांस्कृतिक धरातल नहीं मिल सका है, वह केवल वीर काव्य के धरातल की चीज़ हमें दे सका है। प्रसाद और निराला के काव्य और साहित्य में राष्ट्रीय नवजागरण के सांस्कृतिक स्वप्न भी फूटे हैं परन्तु उनका निर्माण अभी प्रथम सोपान पर ही है। नई मध्यवर्गीय संस्कृति ने जहाँ अपने लिए नई साहित्यिक भाषा (खड़ी बोली) का निर्माण किया, वहाँ उसे आरंभ से ही अपने विदेशी बंधनों को तोड़ने के प्रयत्न में जुट जाना पड़ा। ऐसी स्थिति में सच्चे अर्थों में राष्ट्रीय साहित्य के विकास में बाधक थी। केवल राष्ट्रीय संघर्ष का साहित्य प्रेमचन्द के कथा-साहित्य और माखनलाल-नवीन-दिनकर के काव्य के रूप में सामने आ सका। गाँधीवादी चेतना की भूमिका पर गुप्त बन्धुओं का साहित्य भी महत्वपूर्ण है। परन्तु राष्ट्रीय चेतना का अधिक पूर्ण

उन्मेष हमें राष्ट्रकर्मी कलाकारों में नहीं, प्रसाद और निराला जैसे स्वप्नजीवी कलाकारों में मिला क्योंकि स्वप्न सत्य से अधिक मांसल होते हैं और राष्ट्रीय जीवन में भी यही सच्चाई लागू होती है।

यह अच्छा ही हुआ है कि हिन्दी के राष्ट्रीय विकास के तीन युगों—आदिकाल, मध्यकाल, आधुनिक काल—में हम डिंगल (मिश्रित), ब्रज-अवधी और खड़ी बोली के रूप में तीन भाषाओं से काम लेना पड़ा। इसका फल यह है कि आज हम राष्ट्रीय चेतना को अकुंठित भाव से उन क्षेत्रों में बढ़ा सकते हैं जो पिछली काव्य-भाषा के द्वारा अभिव्यक्ति पा चुके हैं। आध्यात्मिक, सांस्कृतिक और वीरगाथात्मक भूमिकाओं पर खड़ी बोली के साथ बहुत कुछ करना शेष है। प्रसाद और निराला के काव्य में इन भूमिकाओं की ओर बढ़ने के प्रयत्न स्पष्ट रूप से दिखलाई देते हैं। हमारे साहित्य के साथ राष्ट्रीय होने की अनिवार्यता अभी भी बनी है, अतः विशुद्ध कोटि का राष्ट्रीय काव्य (और साहित्य) तो अब आयेगा जब हम स्वतंत्र होकर अपनी चेतना का संस्कार और पुर्ननिर्माण कर सकेंगे। अभी तक राष्ट्रीय कहा जाने वाला साहित्य पराधीन देश के दुःख-दैन्य, आत्मप्रताड़ना, आक्रोश, कष्ट-सहन और बलिदान तथा तत्संबंधी आकांक्षा और उल्लास का साहित्य रहा है। उसका स्वर खुला नहीं है। एक कारण यह है कि अभी पिछले २५-३० वर्षों में ही हमारी नई साहित्यिक भाषा (खड़ी बोली) के पंख खुले हैं और चेतना के गंभीर भाव-स्तरों को छूना अभी भी उसके लिए कठिन सिद्ध हो रहा है। हम देश के राष्ट्रीयकरण में नए सिरे से लगे हैं और भाषा, प्रांत, जाति और धर्म के संस्कारों से ऊपर उठ कर पहली बार नए जीवनस्पन्दन की एकतानता का अनुभव कर रहे हैं।

निष्कर्ष में, यह कहा जा सकता है कि राष्ट्रीयता साहित्यधर्म की विरोधिनी चेतना नहीं है। वह साहित्य को सीमित नहीं करती, उसे ऊपर उठने के लिए स्थायी जीवन-तत्व देती है। साहित्य वायवी वस्तु नहीं है, वह मानव-धर्म पर आधारित मानवीय भावभूमियों का आकलन है। पश्चिम के अनु-करण में हमने राष्ट्रीयता को राष्ट्र के अर्थनैतिक और राष्ट्रीय स्वार्थों तक सीमित कर लिया है। वह राष्ट्रीय संस्कृति का पर्याय है। अतः "राष्ट्रीय"

का अर्थ "सांस्कृतिक" हो जाता है। "सांस्कृतिक" शब्द में धर्म और अध्यात्म के साथ नैतिकता और व्यवहार के सभी चरण आ जाते हैं। इस तरह राष्ट्रीय साहित्य राष्ट्र के परिपूर्ण जीवन का पर्याय हो जाता है। जिस अर्थ में बाल्मीकि रामायण और व्यासकृत महाभारत राष्ट्रीय काव्य हैं उस अर्थ में हमें नए युग के अनुरूप नये राष्ट्रीय काव्य और साहित्य का निर्माण करना है। राष्ट्रीयता के रूप-निर्माण के साथ साहित्य के क्षेत्र में राष्ट्रीय साहित्य का निर्माण भी चलता रहेगा और उसमें हम नये राष्ट्रीय जीवन की अभिव्यक्ति देंगे। इस नये राष्ट्रीय जीवन की रूपरेखा पहले से निश्चित नहीं की जा सकती परन्तु यह निश्चित है कि हमारे अनागती राष्ट्रीय साहित्य में ही उसे चरितार्थता मिलेगी और वह साहित्यधर्मी होने के साथ व्यक्ति, राष्ट्र और विराट् के तीन संवेदना-धरातलों को छूने में समर्थ होगा।

राष्ट्रीय साहित्य

शताब्दियों के बाद आज भारतवर्ष स्वतन्त्र राष्ट्र है और इधर समीक्षकों ने कदाचित ठीक ही "राष्ट्रीय साहित्य" का नारा उठाया है। साहित्य राष्ट्रीय हो,—ऐसी आवाज़ें आ रही हैं। साहित्य की राष्ट्रीयता से हम परिचित थे, परन्तु रस को राष्ट्रीय भूमिका देने की बात नई है और समीक्षा किन अर्थों में राष्ट्रधर्मी हो सकती है, यह अभी भी पूरी तरह हमारी समझ में नहीं आया है। आश्चर्य यह है कि वही साहित्यकार, कवि और समीक्षक आज राष्ट्रीय बनने का दावा कर रहे हैं जिन्होंने गांधीयुग में साहित्य और जीवन का विश्लेषण करते हुए जीवन को साहित्य से अधिक व्यापक माना था और जो साहित्य को सौन्दर्य के मूल्यों से पुष्ट कर सच्ची राष्ट्रीयता देना चाहते थे, सैनिक-साहित्यकार जिन्हें अग्राह्य था। पिछले दिनों में यह भी कहा गया था कि हमारे साहित्य के स्वतन्त्र मूल्य हों, क्यों हम पश्चिम के मानदण्डों को लेकर चलें और अपने साहित्य का मन्थन कर अपने लिए उपयुक्त मानदण्ड नहीं गढ़ें ? सम्भवतः सर्वत्र मानदण्ड की इस आवश्यकता (या तथाकथित आवश्यकता) की पूर्त्ति "राष्ट्रीय" वाले मानदण्ड से ही हो रही है। निःसन्देह साहित्य को स्वतन्त्र और देशकालगत मूल्य देना चाहें तो वह "राष्ट्रीय" ही हो सकेगा। स्वतन्त्र राष्ट्र के लिए इससे अधिक गर्व की बात क्या होगी कि उसके निजी साहित्यिक मूल्य हैं और वे "राष्ट्रीय" हैं।

परन्तु इस राष्ट्रीय को हमें पहले समझ लेना होगा। कहा गया है कि राष्ट्रीय का अर्थ "सैक्यूलर" है, अर्थात् "मानवीय" क्योंकि हमारा राष्ट्र "सैक्यूलर" है। तात्पर्य यह है कि "राष्ट्रीय" का अर्थ "मानववादी" है। परन्तु मानववाद राष्ट्रीय कैसे होगा ? आलोचकों ने मानववाद को जो अर्थ दिए हैं वे बहुत कुछ पश्चिमी हैं यद्यपि पश्चिम में कई प्रकार का मानववाद चल रहा है और हाल में सार्त्र ने अस्तित्ववाद की व्याख्या करते हुए उसे एक प्रकार का मानववाद ही मान लिया है। इन विभिन्न व्याख्याओं में एकदेशीय

कुछ भी नहीं है क्योंकि "मानव" की कल्पना सार्वभौमिक ही हो सकती है, एकदेशीय नहीं।

पिछले सौ वर्षों से हमारा साहित्य "राष्ट्रीय" रहा है। बंकिमचंद्र से प्रेमचंद तक कथा-साहित्य में भारतवर्ष की गौरव-गरिमा, भारतीय प्रजा के सुख-दुःख और विदेशी सत्ता से मोर्चा लेने का संकल्प तथा उसकी कार्यशीलता ही सामने आई है। इसी तरह काव्य के क्षेत्र में "बन्देमातरम्" से पन्त के काव्य-संकलन "उत्तरा" के राष्ट्रगीतों तक राष्ट्रीय संवेदन का काव्यात्मक प्रसार है। नाटकों, निबन्धों और कहानियों में भी राजनीतिक-राष्ट्रीय-देशप्रेमी सन्दर्भ बड़ी तेज़ी से उभरे हैं। पराजित देश के दैन्य और उसकी शक्ति के सारे सरगम पिछले सौ वर्षों के भारतीय साहित्य में मिलेंगे और हिन्दी का साहित्य इसका अपवाद नहीं हो सकता था। परन्तु हमारे आधुनिक साहित्य की यह राष्ट्रीयता आरोपित और आयासिक वस्तु नहीं थी और उसका साहित्यधर्म (रस) से कोई विरोध नहीं था। अनुभूति को लोकोत्तर अथवा विशिष्ट एवं सार्वभौमिक भूमिका देकर ही हम साहित्यधर्म का निर्वाह कर सकते हैं। जिस प्रकार मध्ययुग में "भक्ति" के भीतर से हमने "रस" को उपलब्ध किया है उसी प्रकार आधुनिक युग में "राष्ट्रीयता" (भारतीय प्रजा के सुख-दु:ख और देशप्रेमनिष्ठ आत्मविवृत्ति) के भीतर से। यह स्वाभाविक विकास था और संभवत: इसी से हमारे आलोचकों को साहित्य की राष्ट्रीयता को लेकर आन्दोलन नहीं चलाना पड़ा, न "उज्वल रस" की तरह किसी "राष्ट्रीय रस" की कल्पना की आवश्यकता पड़ी।

स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद हम अपने प्रति अधिक जागरूक और बौद्धिक हो उठे हैं और कदाचित् नई दीवारें उठाने में ही अपनी सुरक्षा समझने लगे हैं। मार्क्सवाद पर आधारित प्रगतिवादी आन्दोलन हमें अराष्ट्रीय लगा था और हमने डट कर उसका विरोध किया। फलस्वरूप १९५० के बाद प्रगतिवादी पीछे हट गये और "प्रयोगवाद" तथा "नयी कविता" क्षेत्र में रह गये। उन्हें हम एकदम अराष्ट्रीय नहीं कह सकते थे क्योंकि वे युद्धोतर समाज और परिस्थितियों की देन थे। हमने उनको काफ़ी धिक्कारा और आज उन्हें अपनी चेतना से एकदम हटा देने के लिए फिर "राष्ट्रीयता" का नारा लगा

रहे हैं। यूरोप ही नहीं, जापान और चीन से भी हमने बहुत कुछ लिया है और ले रहे हैं। ऐसी स्थिति में राष्ट्रीयता की मांग या तो सुरक्षात्मक हो सकती है या प्रतिक्रियात्मक। उससे हम राष्ट्रकर्मियों और मन्त्रियों की आशंसा तो बटोरेंगे परन्तु क्या हम अपने प्रति और सामयिक साहित्य के सत्य के प्रति भी सच्चे होंगे। बाहर के आयात के प्रति हृदय-मन्थन होना आवश्यक है परन्तु केवल नारों से इस बाढ़ को रोकना कैन्यूटी कला ही सिद्ध होगा। आत्मधर्म पर टिक कर ही हम बाहर को अपने रँग में रँग सकेंगे। मानव-जीवन के सार्वभौमिक और मूलगत सत्यों के प्रति आस्थावान होकर ही हम अपनी राष्ट्रीयता को प्राण दे सकेंगे। तटस्थता और आत्मनिर्भरता का ढोंग करना आज के भू चेतना के युग में तो हास्यास्पद ही रहेगा।

तब हम राष्ट्रीय किसे कहें? क्या स्वाधीन भारत के लिए "राष्ट्रीय" शब्द के कोई नए अर्थ नहीं हो सकते? सैनिक-साहित्यकार का युग गया तो क्या देश की बन्धनमुक्ति के बाद हमें राष्ट्रीय ऊँचाई के कलाकार, कवि और विचारक नहीं चाहिए? सच तो यह है कि आज हमें अपनी राष्ट्रीयता को गहरे अर्थ देने होंगे और राष्ट्रीय साहित्य को उन गहरे अर्थों से ओतप्रोत करना होगा। चाह कर भी हमारा साहित्य राष्ट्रीय होने से बच नहीं सकता क्योंकि साहित्य तो किसी की अभिव्यक्ति होना है। शब्द यदि अर्थवान होते हैं तो पाठक या श्रोता को लेकर ही होते हैं और ऐसा साहित्य कहाँ मिलेगा जो राष्ट्रीय जन की अभिव्यक्ति नहीं हो। व्यक्तित्व के माध्यम से ही, उसमें डूब कर ही, जैसे अव्यक्तिगत बना जायेगा, वैसे ही राष्ट्रीयता के माध्यम से ही उसमें ओतप्रोत होकर ही अराष्ट्रीय या राष्ट्रेतर (या सार्वभौमिक) बना जा सकेगा। व्यक्तिमत्ता और राष्ट्रीयता मंजिलें नहीं हैं, वे मील के पत्थर हैं या "यान" हैं। उनसे छुटकारा पाना कृतिकार के लिए असम्भव बात है। फलतः राष्ट्रीय होने का तात्पर्य आत्म-धर्मी और रसधर्मी होना ही है, इससे अलग और स्वतन्त्र राष्ट्रीयता की कोई स्थिति नहीं है। व्यास, बाल्मीकि, कालिदास, तुलसीदास और रवीन्द्रनाथ की अपेक्षा में ही हम राष्ट्रीय बन सकते हैं, परन्तु उनकी राष्ट्रीयता महा-मानवीयता ही है या और कुछ? उनके साहित्य को साहित्य-धर्म से इतर न किसी राष्ट्रीय रस की आवश्यकता पड़ी, न उसकी व्याख्या के लिए हमें

राष्ट्रीय समीक्षा के रूप में कोई नया मानदण्ड गढ़ना पड़ा। अपने व्यक्तित्व और समसामयिक जीवन के गम्भीरतम बोध को लेकर उदात्त चेतना भूमि पर ही हम श्रेष्ठतम साहित्य का निर्माण कर सकेंगे जो अनिवार्यतः राष्ट्रीय होगा क्योंकि वह देश की सांस्कृतिक परम्पराओं में जड़ तक गहरा डूबा होगा।

राष्ट्रीय बनने का अधिक-से-अधिक अर्थ यही हो सकता है कि हम अपनी सांस्कृतिक परम्परा पर टिके रहें परन्तु परम्परा शाश्वतधर्मी होने पर भी विकासमान होती है और किसी विशिष्ट युग के सांस्कृतिक बोध को रचना में उभार कर हम सांस्कृतिक और राष्ट्रीय नहीं बन सकते। आज हम फिर एक बार नई सांस्कृतिक और राष्ट्रीय चेतना का निर्माण कर रहे हैं जो शाश्वती होने पर भी हमारे इस युग की चेतना का प्रतिनिधित्व करेगी और इस अर्थ में राष्ट्रीय होगी। भारतवर्ष की शाश्वती राष्ट्रीयता उसकी आध्यात्मिकता ही है। आज हम यदि धर्म और अध्यात्म से बच कर राष्ट्रीयता के दावेदार होना चाहते हैं तो हम हास्यास्पद ही बनते हैं। परन्तु जो लोग राष्ट्रीय साहित्य की आवाज़ उठा रहे हैं वे साहित्य को "सैक्यूलर" अथवा मानववादी मान कर चलना चाहते हैं। उन्होंने छायावाद-युग की आध्यात्मिकता को रहस्यवाद का गोल-मोल नाम दिया है और उनका संस्कृतिक स्वप्न उपयोगगितावादी नैतिकता से ऊपर ही नहीं उठ सका। मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य की अत्यन्त महत्वपूर्ण और सर्वग्राही आध्यात्मिक परम्परा को रहस्यवादी या मानववादी कह कर हम अपने राष्ट्रीय आदर्श को ही अस्वीकार कर रहे हैं क्योंकि आध्यात्मिकता भारतवर्ष का आदर्श नहीं तो और कौन-सा आदर्श है? राष्ट्रीय मानस और राष्ट्रीय जीवन-धारा की अभिव्यक्ति इसी आदर्श में हुई है जो जड़ के पीछे चैतन्य की सत्ता को स्वीकार करता है और जगत को भौतिक नहीं, आत्मिक मानता है; मानवीय नहीं, दैवीय समझता है। भारतवर्ष की परलोक सम्बन्धी आस्था, त्याग के प्रति उसका तीव्र आग्रह, ईश्वर के विषय में उसका प्रज्ञात्मक विश्वास, आत्मा की अविनश्वरता का श्रद्धात्मक ज्ञान, ये कुछ एसे तत्व हैं जो भारत के व्यक्तिगत और राष्ट्रीय दृष्टिकोण का निर्माण करते हैं। यदि हमारा साहित्य इन्हें चरितार्थ करता है तो वह संपूर्णतः राष्ट्रीय है। जीवन के इस उदात्त लक्ष्य को छोड़ कर हम और किस आदर्श की कामना रखें? इस प्रकार साहित्य की राष्ट्रीयता का

प्रश्न मूलतः उसकी आध्यात्मिक जीवनदृष्टि की सुरक्षा एवं उसके पल्लवन का प्रश्न है। भारतीय नैतिकता, चारित्रिकता, जीवनव्यवस्था एवं चर्या का मूल स्रोत उसकी यही आध्यात्मिक जीवनदृष्टि है। मानव-व्यक्तित्व को हम चाहें वर्द्धमान, जिनधर्मी, तीर्थन्करी समझें या उसे बुद्धचेतना अथवा निर्वाण का लक्ष्य दें या उसे निर्लेप और चिन्मयी आत्मा की विवृत्ति मात्र मानें, यह स्पष्ट है कि हम तमस् से ज्योति की ओर बढ़ने के विश्वासी हैं और हमने नामों-रूपों के वैचित्र्य और असंख्यत्व से घिर कर जीवन की सार्थकता नहीं समझी है, आत्मरमण और अंतर्यात्रा ही हमारे जीवनोद्देश्य रहे हैं। हमारे साहित्य में ये जीवनोद्देश्य सुरक्षित हों तभी वह राष्ट्रीय कहा जा सकता है, अन्यथा वह पश्चिमी साहित्य की अनुकृति मात्र रहेगा। हमारे यहां साहित्य न जीवन की अनुकृति है, न उसकी तद्रूपता, न उसकी समीक्षा; वह साक्षात्कार है, आत्मविवृत्ति है, अंतस्साधना है। हमारा साहित्य अपने इस मूलभूत स्वरूप को प्राप्त करे तो वह अपने राष्ट्रीय धर्म का निर्वाह ही करेगा और हमारी समीक्षा हमारे रसास्वादन को धर्मबोध की सूक्ष्म अंतरंगिता देकर सच्चे अर्थों में राष्ट्रीय बन सकेगी। धर्म, आध्यात्म और नैतिकता से बच कर हम अपने साहित्य को जड़वादी वैचित्र्य से भर कर प्रयोगधर्मी ही बन सकेंगे, आत्मिक और राष्ट्रीय नहीं हो सकेंगे।

कहा जा सकता है कि हमें विशुद्ध साहित्य या सौन्दर्यात्मक मूल्य चाहिये परन्तु हम पॉल वलेरी की तरह "विशुद्ध काव्य" का आन्दोलन नहीं चला रहे हैं और विषयवस्तु से एकदम निःशेष कर उसे निर्मूल्य बनाने का हमें क्या अधिकार है? जब हम साहित्य को राष्ट्रीय बोध देना चाहते हैं तो वह बोध वायवी क्यों रहे? क्यों हम पश्चिमी मानववाद को अपनाएं जो जड़वाद पर समाप्त हो जाता है और नव्यवेदांती मानववाद को अस्वीकार कर दें जो मनुष्य की आध्यात्मिक चेतना पर बल देता है? राष्ट्रीयता यदि सांस्कृतिक दृष्टिकोण का नाम है तो वह आध्यात्मिकता का दृष्टिकोण ही हो सकता है क्योंकि भारतवर्ष में "संस्कृति" को ही "धर्म" कहा गया है और धर्म मूलतः और तत्वतः अध्यात्म ही है। इस प्रकार राष्ट्रीय साहित्य या रस की राष्ट्रीय भूमिका की बात आध्यात्मिक दृष्टि पर अवलंबित एवं धर्मबोधमूलक साहित्य और समीक्षा पर आकर ठहर जाती है। इसके लिए हमें अपने जीवन-बोध

को नया रूप देना होगा और वैज्ञानिक युग के अनुरूप अपनी आध्यात्मिकता का नया संस्कार करना होगा। हमारी राष्ट्रीय साहित्य की दृष्टि बौद्धिक, सौन्दर्य-विलासी या भाषात्मक नहीं हो सकती, वह आत्मिक और धार्मिक रस-दृष्टि ही हो सकती है जिसके लिए श्रुति "रसो वे सः" कह कर लोकोत्तरता या चिन्मयता का आदर्श स्वतः स्थापित कर देती है। यह दृष्टि हमारी राष्ट्रीय इकाई की रक्षा करते हुए भी हमें भूमा में प्रतिष्ठित कर सब से जोड़ देती है। फलतः जो हमारा राष्ट्रीय है वह मानवीय बन कर अखिल भी हो जाता है। यही व्यापक और मूलभूत साहित्यदृष्टि हमें चाहिये।

हिन्दी कविता का विकासात्मक अध्ययन

हिन्दी साहित्य का केन्द्र-बिन्दु उसका काव्य-साहित्य है जो आठवीं शताब्दी के मध्य में सरहपा से आरंभ होकर आज तक अक्षुण्ण धारा-प्रवाह के रूप में चला आता है। लगभग १२०० वर्षों की इस काव्य-साधना को ही हम हिन्दी कविता का विकास कहते हैं। यहाँ दो बातों को पहले समझ लेना होगा। पहली बात "विकास" से संबंधित है। कविता के विकास से क्या तात्पर्य है ? उस विकास का स्वरूप क्या है ? क्या किसी एक युग का काव्य अथवा साहित्य पिछले युग के काव्य अथवा साहित्य से अनिवार्यतः उच्चतर भूमिका पर माना जायेगा ? क्या विकास का अर्थ नए युगधर्म का बोध मात्र है ? दूसरी बात यह है कि हम काव्य-विकास को अंतरंग में खोजें या वहिरंग में या दोनों में ? यदि अंतरंग में खोजें तो क्या मानवीय संवेदनाओं अथवा उनकी अभिव्यक्तियों में इतना अंतर होगा कि एक युग के साहित्य में उनका स्वरूप दूसरे युग के साहित्य से भिन्न होगा ? और वहिरंग में भाषा, छंद तथा काव्य-रूप के निरंतर परिवर्तित आयामों में हम सापेक्षता की कल्पना तो कर सकते हैं, परन्तु उसे विकास कैसे कह सकते हैं ? अधिक-से-अधिक हम हिन्दी प्रदेश अथवा मध्यदेश की जनता की चित्तवृत्तियों की प्रतिच्छाया काव्य में खोजेंगे और बदलती हुई लोकरुचि के अनुसार काव्य-धारा में परिवर्त्तन की कल्पना करेंगे।

कविता हमारे भावसत्य की वाणी है और यह भावसत्य हमारी संवेदनाओं पर आधारित है। संवेदनाएँ मानसिक उपकरणों और मन:भूमियों पर अवलंबित हैं। इस प्रकार कविता का मूलाधार मानव-मनोवृत्तियाँ हैं जो मूलभूत, चिरंतन और सार्वभौमिक हैं। राष्ट्रीय या जातीय भूमिका मिलने पर इनका रूप बदल जाता है परन्तु अंतरंग वही रहता है। इस प्रकार काव्य-विकास में राष्ट्रीय अथवा जातीय तत्व की अवहेलना असंभव है परन्तु काव्य या साहित्य मात्र के मूल में मनुष्य के सामान्य सुख-दुख, हर्ष-विषाद, नैतिक और आध्या-

त्मिक दृष्टिकोण ही रहते हैं और इसीलिए भाषा और देश-काल के व्यवधान को पार कर काव्य हमारे अंतरंग को स्पर्श करता है। काव्य सुन्दरम् का उपासक है और सौन्दर्य-साधना के द्वारा ही वह हमारी अनुभूतियों को परिष्कृत करता है। परन्तु यह सौन्दर्य-साधना रसमय होकर ही सार्थक है। उसमें हमारे जीवन के उदात्त क्षण भाषा, छंद और अनुभूति की सारी शक्ति के साथ मुखरित हो उठते हैं।

हिन्दी कविता का प्रारम्भ राजपूत युग की हलचलों में होता है। उसका प्रारंभिक रूप अपभ्रंश काव्य का है जो सिद्ध, जैन और शैव-तांत्रिक साधनाओं, मर्मी अनुभूतियों तथा नई गुर्जर-आभीर जातियों की हास-विलासमयी चेतना को वाणी देता है। राजपूत रमणियों के वीर दर्प और बलिदानी भावना का जैसा चित्रण हेमचंद्र के दोहों में है, वैसा अन्यत्र नहीं मिलेगा। सरहपा जैसे क्रांतिकारी व्यक्तित्व को हम हिन्दी काव्य के आरंभ में ही पाते हैं जो जाति, वर्ण, ब्राह्मणवाद, पौरोहित्य और कर्मकाण्ड के प्रति खुली चुनौती प्रस्तुत करता है और चित्त की निर्मलता की अद्वयी साधना को ही एक मात्र उपादेय वस्तु मानता है। तंत्र का प्रतीक-बद्ध, द्वन्द्वाश्रित तथा सामाजिक रूप हमें सिद्धों की कविता में ही मिलता है, जो भावाभाव से परे बोधि-चित्त को ही अपनी उपलब्धि का विषय बनाती है। नाथों (योगियों) और सन्तों के काव्य के माध्यम से यह साधना और विचारधारा अनेक आवर्त्तों का रूप धारण कर हम तक पहुँचती है और आज भी अनेक निर्गुण संप्रदायों के रूप में सशक्त और सप्राण है। नाथपंथ के काव्य के हठयोग और सहजयोग का पल्लवन हुआ है जो एक मात्र हिन्दी की चीज़ है। "गोरखवाणी" में गोरखनाथ की जो रचनाएँ हमें प्राप्त हैं वे सिद्धों की गुह्य वामाचारी साधना की प्रतिक्रिया ही जान पड़ती हैं। इस काव्य में हम मध्ययुग के हिन्दू नवजागरण का प्रथम उन्मेष देखते हैं और इसका उज्ज्वल नैतिक तथा ब्रह्मचर्यमूलक आचारप्रवण स्वर आज भी हमें संकल्पबद्ध करता है।

तेरहवीं शताब्दी के अन्त तक अपभ्रंश का ही प्रसार दिखलाई देता है। हिन्दी का प्रकृत स्वर हमें पहली बार वैष्णव भक्ति-आन्दोलन में ही मिलता है

जिसका प्रथम उन्मेष ज्ञानेश्वर, नामदेव और रामानन्द के काव्य में मिलेगा। आन्दोलन देशव्यापी जनान्दोलन था और इसमें पूर्ववर्त्ती सांस्कृतिक और धार्मिक भूमियों को बड़ी दूर तक आत्मसात किया गया था। शंकराचार्य के अद्वैतवाद और मायावाद की प्रतिक्रिया हमें इसमें पूर्णतः झलकती है। इस प्रतिक्रिया का आरंभ दक्षिण में ही रामानुज के वैष्णव-दर्शन (विशिष्टाद्वैत-वाद) में होता है, परन्तु उत्तर भारत में इसका लोकभूमि पर अवतरण रामानन्द के कर्मठ और सजीव व्यक्तित्व का फल है। रामानंद ही मध्ययुग के वैष्णव भक्ति-आन्दोलन ने ऋत्विक् हैं और निर्गुण, सगुण तथा हिन्दू सूफ़ी साधनाओं के केन्द्रबिन्दु पर हम उन्हें ही प्रतिष्ठित पाते हैं। उन्होंने जाति-पांति के विरुद्ध एक सशक्त मोर्चा खड़ा किया और आंतरिक अनुभूति से संपन्न नैतिकता तथा रहस्योन्मुखता को अपनी साधना का आधार बनाया। उनके शिष्यों का एक वर्ग सगुण और अवतारी राम की पूजाराधना को लेकर चला और इस परंपरा में हमें सोलहवीं शताब्दी में नाभादास और तुलसीदास का काव्य मिलता है। दूसरा वर्ग निर्गुण ब्रह्मवाद के रूप में रामतत्व की व्याख्या करता है और उसे आभ्यंतर भावयोग अथवा सहजसाधना का विषय बनाता है। कबीर, नानक, दादू, रैदास जैसे अनेकानेक निर्गुणी संत मध्ययुग के हिन्दू-मुसलमान समन्वय के सबसे सुन्दर प्रतिनिधि हैं। दो विरोधी और संघर्षशील संस्कृतियों में आदान-प्रदान की परंपरा निर्गुण संतों के काव्य में ही प्रतिध्वनित है। सच तो यह है कि हम मध्ययुग के भक्ति-आन्दोलन को इस्लाम की चुनौती का उत्तर मान सकते हैं। उसमें समन्वय का पक्ष निर्गुण काव्य में पल्लवित है जो दोनों धर्मों की मूलभूत इकाइयों पर आधृत है और विरोध का पक्ष सगुण काव्य के रूप में विकसित हुआ है, जो नई भाव-भूमियों का सर्जन कर पराजित हिन्दू जाति को भीतर से संगठित करता है और उसमें निगमागम-पुराण सम्मत भाव-साधना भर कर सांस्कृतिक प्रतिरोध को नया बल देता है। इन दोनों पक्षों के बीच में मुसलमान सूफ़ियों का प्रेमाख्यानक काव्य है जो हठयोग, लोकगाथा और सूफ़ी प्रेम-तत्व के आकर्षक मिश्रण के साथ स्वच्छंदतावादी काव्य-प्रवृत्ति की उन्मुक्त कल्पना और अप्रत्याहत भावना का युग-व्यापी विस्तार प्रस्तुत करता है। जायसी, मंझन, उस्मान, नूरमुहम्मद जैसे अनेक प्रतिभाशाली कवियों और मर्मी साधकों का योग इस काव्यधारा को प्राप्त हुआ है। मध्ययुगीन लोकजीवन की विशद चित्रपटी

इस काव्य में उभरी है। सगुण भक्ति-काव्य राम और कृष्ण के प्रतीकों के माध्यम से सामने आया है। दोनों में लीला का स्वर प्रधान है, परन्तु जहाँ राम-काव्य में यह लीला भक्तों की भावना को पुष्ट करती हुई भी लोकसंग्रही, सत्यसंकल्पी और आचारवान है, वहाँ कृष्ण-भक्ति में लीला की चारुता और माधुर्य-भाव की साधना को ही प्राधान्य मिला है। माधुर्य के साथ सख्य और वात्सल्य का भी योग कृष्ण-भक्ति-भावना में है और सूर तथा अन्य अष्टछाप कवियों के साथ हितहरिवंश, हरिदास और मीरा का उत्कृष्ट गीतात्मक साक्षात्कारी काव्य इस धारा की सर्वश्रेष्ठ उपलब्धि कहा जा सकता है।

१६०० ई० के बाद जहां जनजीवन में भक्ति-युग की सभी धाराएं शक्तिशाली भावप्रवाह के रूप में चलती रही हैं, वहां सामंती तथा अभिजात वर्षों एवं पण्डितों में उत्तर संस्कृत-कालीन आचार्य-परंपरा और विशुद्ध साहित्य-साधना की भूमियों पर नई काव्य-प्रवृत्ति भी सामने आती है, जो रीति-काव्यधारा के नाम से प्रसिद्ध है। यह काव्यधारा राधा-कृष्ण को अपने काव्य का प्रच्छन्न आलंबन मान कर भक्ति-युग की अध्यात्म-साधना से अपना संबंध जोड़ती है, परन्तु उसका स्वर लौकिक प्रेम का स्वर है यद्यपि नायिकाभेद तथा लक्षण-ग्रंथों की कुंज-वीथिकाओं में वह अपना प्रकृत मार्ग खो गया है। उसमें विद्यापति और सूर जसे महान गीति-कवियों के काव्य-संस्कारों के विरुद्ध एक नई काव्य-परिपाटी की नींव पड़ी है, परन्तु उसके भाव-जगत पर इन कवियों का प्रभाव है। गाथा-आर्या सप्तशतियों और अमरुक-शतक जैसी समृद्ध रचनाओं की सारी भाव-संपत्ति कण्ठ-स्वर बदल कर रीतिकालीन दोहा-साहित्य में घुल-मिल गई है। बिहारी, मतिराम, देव, पद्माकर, घनानंद और भारतेन्दु हरिश्चंद्र के काव्य में हम नये छंदों का ही चमत्कार नहीं देखते, उनमें मानवीय प्रेमानुभूति आध्यात्मिक प्रेम की तीव्रता और गंभीरता लेकर सामने आई है। इन कवियों ने इन्द्रियबोध के सर्वोच्च सोपान पर खड़े होकर नारी की देह-दीप्ति और स्वर्गीय प्रेम की आभा के स्वप्न देखे हैं, परन्तु उनकी ऐन्द्रियिकता के पीछे अतीन्द्रिय भावकोश भी सहज भाव से जाग उठा है। मानव-हृदय का ऐसा सूक्ष्म, कोमल, प्रेमविलासमय और काव्यकलानिष्ठ स्वरूप हमें संसार के प्रेम-काव्य में भी बिरल मिलेगा। इन कवियों को यह श्रेय देना होगा कि उन्होंने भगवत्ता में डूबी हुई हमारी आध्यात्मिकता को लोकजीवन से संपृक्त

किया और मानवीय प्रेम को देवता के सिंहासन पर बिठाया। गार्हस्थ्य जीवन और दाम्पत्य प्रेम की अभिनव झांकियों के साथ-साथ रीतिकाव्य में समाज के दबाव से मुक्त (और कहीं-कहीं असामाजिक) नारी-प्रेम के स्वच्छंद, उद्दाम वासना से ओतप्रोत और सशक्त कल्पना से परिचालित चित्र भी मिलते हैं। सुन्दरता को भी सुन्दर बनाने वाली और छवि-गृह में दीपशिखा-सी जलने वाली अचंचल नारी-प्रतिमा नहीं, अभिसारिका, नायिका तथा कामकेलिचतुरा, हासविलासमयी प्रणयमूर्ति के रूप में यह नारी हमारे भावकोशों पर छा जाती है। वह निवेदिता मानवात्मा का प्रतीक बन कर सार्थक हुई है, परन्तु उसमें धरती की धूलि ही कवि की भाव-साधना से मंज कर काव्यानुभूति का स्वच्छ दर्पण बन गई है। रीतिकाव्य में "कविताई" भी प्रचुर मात्रा में मिलेगी और "आगे के कवियों" के लिए चुनौती भी कम नहीं है, परन्तु उसके मूल में "राधा-कन्हाई-सुमिरन" भी उतना ही सार्थक है, भले ही कवि उसे अपने भाव में डूब कर बहाना मानने का भुलावा हमें दे। लक्षण-ग्रंथों के रूप में आचार्य-कर्म भी कवि-कर्म के साथ मिल गया है, परन्तु हमें काव्य की श्रेष्ठतम अभिव्यंजना को ही देखना होगा, उसके सामान्य धरातल को लेकर हम रीतिकाव्य को लांछित ही समझेंगे।

ऊपर की विवेचना से यह स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी का मध्ययुगीन काव्य एक संहृत इकाई है, जो तंत्र, योग, अध्यात्म-साधना और लीला-काव्य की साक्षात्कारी भूमिका से नीचे उतर कर रीतिकाव्य में पहली बार धरती से हमारा संबंध जोड़ती है और नारी की उद्दाम प्रेम-भावना और समर्पण-वृत्ति को प्रकृत सत्य मान कर उसमें दैवीय प्रकाश खोजती है। उसमें मध्ययुग की सामाजिक और सांस्कृतिक समस्याओं का भी समाधान मिलता है, परन्तु यह समाधान बौद्धिक न होकर भावना की भूमि पर प्रस्तुत हुआ है। एक ओर बौद्ध धर्म और दर्शन तथा दूसरी ओर इस्लामी विचारधारा तथा सूफ़ी साधना है और इन दोनों के बीच में मध्ययुग का वैष्णव काव्य है जो भारतवर्ष की संपूर्ण और अविरोधी सांस्कृतिक परंपरा से रस खींच कर उसे श्रेष्ठतम अनुभूति और उच्चतम कल्पना का विषय बनाता है। उसने भाषा को साक्षात्कार की क्षमता दी है और मानवीय अंतर्बोध के अनेकानेक आयामों का विस्तार उसमें अत्यंत कुशलता के साथ हुआ है।

भारतेन्दु हरिश्चंद्र से हिन्दी के आधुनिक काव्य का आरंभ होता है। एक प्रकार से वह हमारे संधि-पुरुष हैं। उनमें जहाँ पूर्व-परंपरा के धागे एक सूत्र में ग्रथित हैं, वहाँ नई परंपरा के सूत्र भी उन्हीं से फूटते हैं। काव्य ही नहीं, गद्य में भी उन्होंने नवीन युग का प्रतिनिधित्व किया है, क्योंकि नाटक, निबंध तथा उपन्यास के क्षेत्र में भी वे अग्रणी हैं। काव्य के क्षेत्र में उन्हें जहाँ हम ब्रजभाषा की कवित्त-सवैये की परंपरा को स्वानुभूति तथा मार्मिक अभिव्यंजना के द्वारा नवजीवन देते पाते हैं, वहाँ ब्रजभाषा में नये-नए छंदों में सामयिक काव्य को जन्म देकर और खड़ी बोली की प्रायोगिक रचना के द्वारा उन्होंने नये युग का विधिवत् रूप से प्रवर्त्तन भी किया है। उन्होंने काव्य का नाता उपयोगितावाद से जोड़ा और राष्ट्रीय काव्य की नई कोटि निर्मित की। उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम तीस वर्षों का समस्त काव्य-प्रसार भारतेन्दु की काव्य-साधना का ही परिवर्द्धित संस्करण है। प्रतापनारायण मिश्र, राधाचरण गोस्वामी, प्रेमघन, बालकृष्ण भट्ट आदि कवियों ने उन्हीं को पथप्रदर्शक माना। उन्नीसवीं शताब्दी का अंत होते-होते हमारा काव्य-व्यक्तित्व मध्य युगीन भाव-भूमिका से नीचे उतर नये युग की बहुसूत्री चेतनाओं में खण्ड-खण्ड होकर बिखर गया। उसने खड़ी बोली जैसी कामकाजी और उपेक्षिता परन्तु लोकजीवन में व्यापक रूप से प्रचलित, कर्मठ और ओजपूर्ण भाषा से अपना नाता जोड़ा। आज बहुतों के लिए खड़ीबोली का काव्य ही हिन्दी का काव्य है और राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी की प्रतिष्ठा हो जाने के कारण अब इस भाषा के काव्य को राष्ट्रीय काव्य का भी गौरव प्राप्त हुआ है।

बीसवीं शताब्दी के पहले बीस वर्ष खड़ी बोली के हिन्दी काव्य के भाषा-संस्कार और छंद-प्रयोग के युग हैं। इस युग में जहाँ एक ओर भारतेन्दु हरिश्चंद्र द्वारा प्रवर्त्तित सूत्र चल रहे हैं, वहाँ दूसरी ओर आचार्य महाबीर प्रसाद द्विवेदी "सरस्वती" पत्रिका के माध्यम से हिन्दी का नया कण्ठ-स्वर गढ़ रहे हैं, जिसमें पौराणिक उपाख्यानों, संस्कृत कवियों तथा सांस्कृतिक एवं सुधारात्मक प्रेरणाओं के द्वारा नये काव्योन्मेष की सूचना स्पष्ट रूप से मिलती है। नीतिपरता, इतिवृत्तात्मकता, सहज भावबोध और मानव-जीवन के प्रति दैनंदिनी खुली दृष्टि इस काव्य की विशेषता है। इस परंपरा के सबसे बड़े कवि राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त हैं, जिन्होंने प्रेमचंद की भाँति ही गांधीयुग

की नैतिकता और भावसंपन्नता का प्रतिनिधित्व किया परन्तु विशुद्ध काव्यभूमि पर कदाचित् हरिऔध को अधिक महत्व प्राप्त होगा। यह स्पष्ट है कि इन २० वर्षों में खड़ी बोली का स्वर खुल नहीं पाया है। १९२० के बाद गाँधी जी की प्रेरणाओं और प्रवृत्तियों के कारण कविता के क्षेत्र में भी भावोन्मुक्ति के दर्शन होते हैं और कल्पना तथा भावना के अजस्र प्रवाह के रूप में नया छायावादी काव्य सामने आता है। पिछले ४० वर्षों में हिन्दी काव्य छायावाद (स्वच्छंदतावाद), प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, नई कविता आदि अनेक रूपों में हमारे सामने आया है और उसने मध्यवित्तीय मन के अनेक पर्त खोले हैं। उसने पश्चिम के काव्य से पर्याप्त प्रेरणा ग्रहण की है और अपनी भारतीय परंपरा के प्रति भी बार-बार मुड़ कर देखा है। कालिदास, रवीन्द्र, भक्तों और रीति कवियों की परंपरा को अंग्रेजी रोमांटिक कवियों के काव्य-शिल्प से जोड़ कर छायावाद काव्य इस शताब्दी के तीसरे दशक में केन्द्रीय स्थान प्राप्त करता है। प्रसाद, पंत, निराला और महादेवी वर्मा के काव्य में उसको जो महार्घता प्राप्त हुई है वह अपूर्व है। इस काव्य में जहाँ हमारी आध्यात्मिक भूमियों का नये युग के अनुसार नये प्रतीकों की भाषा में पुनर्निर्माण हुआ है, वहाँ दूसरी ओर लोक-जीवन, प्रकृति, नारी, राष्ट्र और व्यक्ति को देखने की नई दृष्टि भी पल्लवित हुई है। काव्य में व्यक्तिवादी कण्ठ का पहला गीतिमय विस्फोट हमें यहीं मिलता है। कवि परंपरा के बोझ को उतार कर हलका हो गया है और केवल अपने आत्मबोध के संबल को लेकर चमत्कार और वैचित्र्य से भरी सृष्टि के बीच में यात्रा को निकल पड़ा है। बाहर जो है वह उसके व्यक्तित्व के दर्पण से प्रतिबिंबित होकर भीतर नया रूप धारण कर लेता है। इस वैचित्र्य के ताने-बाने को छायावादी काव्य में भाषा, छंद, काव्य-शक्ति और निर्वाह की अपूर्व क्षमता के साथ बुना गया है। मध्ययुग के काव्य के बाद इस काव्य में फिर एक बार हम भाव-जगत की शीर्षतम ऊँचाइयों को स्पर्श करते हैं। पंत के "पल्लव" और "गुंजन", निराला के "परिमल", "अनामिका" और "गीतिका", प्रसाद के "लहर" कौर "कामायनी" तथा महादेवी की "यामा" और "दीपशिखा" कृतियों में हमें इस युग का भावबोध परिपूर्णता के साथ मिलता है। उसका कर्मबोध प्रेमचंद के कथा-साहित्य में पल्लवित है और ज्ञान-गरिमा के दर्शन आचार्य शुक्ल की समीक्षा में मिलेंगे, परन्तु युग की आत्मा तक हम छायावादी कवियों के साथ ही पहुँचेंगे। यह

भाव-संहृति १९४२ में "दीपशिखा" के प्रकाशन के साथ समाप्त हो जाती है। वास्तव में १९३६ में ही प्रगतिवादी काव्य के रूप में काव्य में नया स्वर फूट पड़ा था और "रोटी के राग" (१९३६ : श्रीमन्नारायण अग्रवाल) में यह स्वर स्वतंत्र रूप से सामने आया था। बाद में वह मार्क्सवाद के अंचल में पहुँच कर सांप्रदायिक बन गया। इसी के साथ नवस्वच्छंदतावाद के रूप में प्रयोगवाद और तदनंतर नई कविता की धाराएँ भी बह चलती हैं। पिछले २५ वर्षों में हिन्दी कविता ने भाषा, छन्द-योजना, विषय और भाव के क्षेत्रों में पर्याप्त विविधता और संपन्नता प्राप्त की है। कुछ समीक्षकों का विचार है कि हमारे कवि अपनी स्वदेशी काव्य-परंपरा को छोड़ कर पश्चिमी काव्य-परंपरा से अधिक अनुप्राणित हो रहे हैं और राष्ट्रीय काव्यबोध संकट में पड़ गया है, परन्तु यह स्पष्ट है कि आज के आणविक युग में मानव-चेतना किसी खण्ड इकाई में नहीं बाँधी जा सकती और टेम्स, सीन, वाल्गा और मिसीसिपी का जल गंगा-यमुना के जल में अनिवार्यत: मिलेगा ही। भौतिक जगत में जिस प्रकार राष्ट्रों के बीच की दुर्लंघ्य दीवारें टूट रही हैं, उसी प्रकार भाव-जगत में भी व्यवधान हट रहे हैं। परंपरा पूर्व-पश्चिम की न होकर मानव-मात्र की है। समसामयिक काव्य के वैविध्य, उसके पश्चिमी ऋण तथा प्रायोगिक प्रवृत्तियों से हम क्षुब्ध हैं, परन्तु इन्हें नवजीवन के लक्षण समझ कर हम इनसे समझौता भी कर सकते हैं। नये कवि या काव्यधारा के लिए पुरातन कवियों या काव्यधाराओं की पुनरावृत्ति हास्यास्पद बात होगी, क्योंकि जीवन सतत गतिशील है और पुराना उसी रूप में कभी लौट कर नहीं आता। हिन्दी का काव्य आज विश्वकण्ठ के अधिक निकट है तो भय की कोई बात नहीं। उसकी पूर्वपरंपरा संपन्न तथा सशक्त है और उसमें नवीन निर्माण की क्षमता है। उसके तारुण्य में यदि पंख लगे हैं तो वे ज्ञाताज्ञात नये क्षितिजों की ओर ही संकेत करते हैं। संभव है कि नई उड़ानों के बल पर वह स्वयं कुछ नये क्षितिजों का निर्माण कर सके। समीक्षकों की जीर्ण कंथा को नये प्रभात-पवन का डर हो, नया काव्य-विहग तो ऊपर के नीलाकाश की ओर आशा, विश्वास और क्रीड़ा के साथ ही देखेगा। उसके पंख नई चुनौती के प्रति अनुत्साहित नहीं रह सकते। नये काव्यप्रयोगों को हमें इसी दृष्टि से देखना है और सहस्राधिक वर्षों की अपनी काव्य-साधना के प्रति नये सिरे से आस्थावान बनना है।

सहस्राधिक वर्षों की इस काव्य-निधि को हम सहृदयों और पाठकों तक कैसे पहुँचायें यह हिन्दी-जगत की एक महत्वपूर्ण समस्या है। इस संबंध में कई कठिनाइयां हैं। एक तो हिन्दी का काव्य-साहित्य कई भाषाओं की भूमिका लेकर सामने आता है, जो या तो जनपदीय हैं या कृत्रिम। डिंगल एक प्रकार की कृत्रिम भाषा है और मैथिली, राजस्थानी, अवधी, ब्रज आदि की स्थिति जनपदीय ही है। आज ये विभाषाएं शिष्ट वर्ग के स्तर पर हमारी संवेदना की वाहक नहीं रह गई है, यद्यपि जनपदीय या आंचलिक काव्य के रूप में कुछ नई सामग्री क्षेत्र में आई है। विभिन्न भाषा-परंपराओं के भीतर से पाठक तक काव्यबोध पहुँचाना कठिन कार्य है, क्योंकि उसके लिए भाषा, छंद और काव्यरीति की पर्याप्त तैयारी आवश्यक है। कुछ विद्वानों का विचार है कि हिन्दी का काव्य केवल खड़ी बोली का काव्य क्यों न माना जाये, परन्तु खड़ी बोली के काव्य की ऐतिहासिक स्थिति दुर्बल है और यद्यपि उसकी प्राचीन परंपरा हिंदवी, दकनी, रेख़्ता और उर्दू के रूप में शृंखलावत् स्थापित हो गई है, परन्तु उसमें काव्य-सौरभ का उदय १९२० के बाद ही होता है। मध्यदेशीय जन के लिए अवधी, ब्रज, राजस्थानी और मैथिली की महान काव्यनिधि को छोड़ना असंभव बात है, क्योंकि वह उसकी संस्कृति का अविच्छिन्न अंग है। वास्तव में भाषा-रूपों की विभिन्नता होते हुए भी उनमें इतना अंतर नहीं है कि एक भाषा-क्षेत्र की समर्थ कृति दूसरे भाषा-क्षेत्र में आस्वादित न हो सके। सूर, तुलसी, विद्यापति और मीरा जैसे महाकवि संपूर्ण हिन्दी क्षेत्र के हृदयस्पन्दन से जुड़े हुए है। इसी प्रकार बिहारी, मतिराम, घनानंद और पद्माकर भी समस्त हिन्दी प्रदेश के काव्य-रसिकों के हृदयहार हैं। १७ वीं शताब्दी से ही ब्रजभाषा संपूर्ण हिन्दी प्रदेश की व्यापक काव्यभाषा रही है और उसमें सभी जनपदीय भाषाओं के प्रयोग घुलमिल गये हैं। तुलसी जैसे महाकवि जानबूझ कर सप्रयत्न विभिन्न भाषा-क्षेत्रों के प्रयोग अपना कर चले हैं, जिससे उनकी भाषा में पर्याप्त व्यापकता आ गई है। वास्तविक स्थिति यह है कि मध्यदेशीय इकाई की कोई सर्वमान्य सीमा-रेखा न होने पर भी संस्कृति,साहित्य और आदान-प्रदान की अविच्छिन्नता के कारण हमारा भावबोध यौगिक और सर्वभुक् रहा है। अपने साहित्य की इस विशेषता को हमें सुरक्षित रखना है। हिन्दी काव्य का भाषा-वैभिन्न्य इस दिशा में हमारी सहायता कर सकता है। अनेकता में एकता की साधना भारतीय संस्कृति की उतनी ही विशेषता है जितनी एकता की अनेक-

रूपी अभिव्यक्ति। आवश्यकता यह है कि हम खड़ी बोली की श्रेष्ठतम उपलब्धियों से आरंभ करें और धीरे-धीरे पिछले युगों की साहित्य-सम्पत्ति को अपने परिप्रेक्षण में लायें। प्राचीन काव्य में हम तुलसी, सूर, मीरा, विद्यापति और बिहारी तथा घनानंद की रचनाओं को केन्द्रवर्ती मान कर विभिन्न काव्य-धाराओं का अध्ययन कर सकते हैं, परन्तु विशिष्ट अध्ययन के लिए अपेक्षाकृत गौण कवियों और काव्यधाराओं को भी लेना उचित होगा। डॉ० बड़थ्वाल ने योगधारा और उसके भीतर निरंजन धारा को खोज निकाला था। काव्य-परंपराओं के सूक्ष्म अध्ययन से अनेक गौण धाराओं और आवर्त्तों-विवर्त्तों का उद्घाटन होगा। अपने अध्ययन को इस दिशा की ओर हमें बढ़ाना होगा।

एक दूसरी कठिनाई हिन्दी काव्य की गीतात्मक प्रकृति है। हिन्दी पद-साहित्य श्रेष्ठ संगीत-साधकों की प्राणवंत साधना से मुखरित हुआ है। इसीलिए पाठकों पर उसकी अभिव्यक्ति उसी समय खुल सकती है जब वे श्रोता बनें और संगीत की मूर्च्छना में काव्य के नाद-सौन्दर्य को उभारें। काव्यपाठ और अनुवाचन के प्रति रुचि विकसित करने पर ही हम अपने काव्य-साहित्य की सूक्ष्म संगीत-प्रतिभा और नादात्मक अभिव्यंजना को उद्घाटित कर सकेंगे। हिन्दी साहित्य के आरंभ में ही विद्यापति का काव्य कर्णाटकी संगीत-पद्धति के माध्यम से आर्ष संगीत से बंध गया है और ध्रुपद-धम्मार की मध्ययुगीन गायकी तानसेन, हितहरिवंश और सूरदास प्रभृति कवियों की स्वर-लहरी से सार्थक बनी है। घनानंद जैसे रीतिकाल के कवि भी संगीत की सूक्ष्म भंगिमाओं से पूर्णतः परिचित हैं और आधुनिक गीत-काव्य में यह संगीत-मर्मज्ञता पूर्ण रूप से उभरी है। इसीलिए हिन्दी का काव्य भाषा की गीतात्मक सामर्थ्य से ओत-प्रोत होने के कारण नये क्षितिजों का निर्माण करता है, जिन्हें हमें पहचानना है और जिनकी संभावनाओं को पाठकों और सहृदयों तक पहुँचाना है।

एक तीसरी कठिनाई हिन्दी का साधनात्मक स्वर है जो रूप में अरूप और दृश्यमान जगत के पीछे अदृश्य चैतन्य की अनुभूति लेकर चलता है। केवल अर्थबोध से इस सूक्ष्म और अतीन्द्रिय संवेदना को पकड़ना असंभव बात है। आधुनिक युग भौतिक और स्थूल संदर्भों को ही ग्रहण कर सकता है। यह

उसकी सीमा है। इस सीमा का अतिक्रमण करते हुए प्राचीन काव्य की आध्यात्मिक जागरूकता और भारतीय संस्कृति के अंतर्भूत चैतन्य तक पहुँचना आज दुर्लभ हो रहा है। परन्तु इस दुर्लभ को ही हमें सहज बनाना है, क्योंकि इसी में भारतीयता चरितार्थ होती है। पश्चिमी काव्य-परंपरा और रसास्वादन से भारतीय काव्य-परंपरा और रसास्वादन की प्रक्रिया और प्रवृत्ति किस प्रकार और कहां तक भिन्न है, इसे पग-पग पर बलपूर्वक स्थापित किये बिना हम अपने काव्य के सूक्ष्म हृदयस्पन्दन तक नहीं पहुँच सकेंगे। मध्ययुगीन हिन्दी काव्य प्रतीक-काव्य है और उसमें सब कुछ सूक्ष्म, अतीन्द्रिय और भावजागतिक है। उज्ज्वल रस की संहृति में ही उसकी सार्थकता है। इस उज्ज्वल रस को अपने अध्ययन-अध्यापन में हम कैसे उजागर कर सकेंगे, यह हमारी मूलभूत समस्या है। कठिनाई का उत्स यह है कि हमारे काव्य में जो कहा गया है उससे वह कहीं अधिक बड़ा है जो अकहा रह गया है। इस "अकहे" को "कहे" में भर कर मांसल बनाना सरल बात नहीं है। इस अकहे में ही उज्ज्वल रस चरितार्थ हुआ है।

चौथी कठिनाई यह है कि हम अपने काव्य को अभी उपयुक्त सांस्कृतिक भूमिका नहीं दे सके हैं, क्योंकि मध्ययुगीन भारतीय इतिहास और संस्कृति के अनेक पक्ष अभी अंधकार में लीन या अस्पष्ट हैं। हमने मध्ययुग को स्तब्ध, परंपराबद्ध तथा गतानुगतिक मान कर उसके मौलिक, एकान्वित तथा समग्र रूप के प्रति अन्याय किया है। हमने उसे खण्डित राष्ट्रीय चेतना और पराजित सांस्कृतिक मनोवृत्ति की उपज माना है या ह्रासमूलक सौन्दर्यचेतना तथा विदेशीय भोग-लिप्सा से उसे संबद्ध किया है। ये दृष्टिकोण भ्रामक हैं। इनमें आत्महीनता और अवसादजनित कुंठा ही अधिक उभरी है। आवश्यक यह है कि हम हिन्दी काव्य को मध्यदेश की समग्र, चेतन तथा अंतर्मुक्त सांस्कृतिक उपलब्धि का रूप दें और उसे परंपरा से स्वतंत्र, मौलिक और महत्वपूर्ण इकाई के रूप में प्रतिष्ठित करें। हिन्दी प्रदेश की सहस्राधिक वर्षों की सांस्कृतिक धारा एकदम निरुद्देश्य, जड़, संभ्रमित तथा विचार-दुर्बल नहीं हो सकती। उसका चैतन्य आत्मसंवलित तथा आस्था-प्राण है। उसके मानदण्ड उसके भीतर हैं, बाहर नहीं। इन मूल्यों का उद्घाटन हमारी काव्य-समीक्षा की एकांत शर्त है। तभी हम हिन्दी के प्राचीन काव्य के अध्ययन-अध्यापन को स्वतंत्र और समर्थ भूमिका

दे सकेंगे। इसी प्रकार आधुनिक काव्य-धारा को अनेक युगों का खण्डित प्रयास न मान कर उसमें विकास की उत्तरोत्तर श्रेष्ठ सरणियों की कल्पना करना ही उचित होगा। कहने का तात्पर्य यह है कि हिन्दी काव्य के विकास के सच्चे रूप को सामने लाकर ही हम अपने काव्य-पुरुष की गौरव-प्रतिमा शिल्पित कर सकेंगे।

प्रगतिवाद

प्रगतिवाद आन्दोलन का जन्म सन् १९३५ ई० में लन्दन में हुआ और अगले वर्ष (१९३६) लखनऊ में मुंशी प्रेमचंद के सभापतित्व में प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना भारतवर्ष में हुई। मुल्कराज आनन्द और सज्जाद ज़हीर जैसे लेखक जो लन्दन की बैठक में उपस्थित थे इस संघ के प्रवर्त्तकों में से थे और उन्होंने साहित्य और कला में नई प्रगतिशील शक्तियों को पर्याप्त प्रश्रय दिया। संघ की पहली बैठक में प्रेमचंद जी ने जो भाषण दिया था वह उनके "कुछ विचार" नामक निबंध-संग्रह में छपा है। उससे यह स्पष्ट है कि प्रेमचंद किसी वाद को लेकर नहीं चल रहे हैं। अधिक-से-अधिक यह कह सकते हैं कि वह प्रगतिशीलता और प्रगतिवाद को पर्यायवाची मानते हैं। वह जीवन का संपर्क चाहते हैं, परन्तु उसकी क्षुद्रता को बल न देकर उदात्त, जीवंत और आदर्शप्राण को साहित्य का केन्द्रीय तत्व समझते हैं। १९३५ में यूरोपीय साहित्य प्रतीकवाद, सुररियलिज़्म (अतियथार्थवाद) और अन्य अनेक अतिवादी प्रयोगों से ऊब कर जीवन के यथार्थ की ओर मुड़ना चाहता था। स्पेन्डर, ऑडन और मेकनीस जैसे कवि इलियट से आगे बढ़ कर राजनीति को काव्य में अपनाने के प्रयत्न करने लगे थे। फलतः प्रगतिशील राजनीतिक शक्तियों की ओर लोगों का ध्यान गया और मार्क्सवाद तथा उसके द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के जीवनदर्शन को काव्य और कला में उतारा जाने लगा। साहित्य की प्रगतिशीलता धीरे-धीरे राजनीति की प्रगतिशीलता में बदल गई और प्रगतिवाद मार्क्सवाद का पिछलग्गा बन गया। गोर्की द्वारा प्रवर्त्तित समाजवादी यथार्थ (सोशलिस्टिक रियलिज़्म) उसका नारा बना।

प्रगतिशील या "प्रगतिवाद"? आरम्भ में प्रॉग्रेसिव, तरक़्क़ीपसंद और "प्रगतिशील" शब्द ही विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुए थे और संभवतः किसी साहित्य-संप्रदाय या "वाद" का ध्यान प्रवर्त्तकों और प्रशंसकों के मन में नहीं था। प्रेमचंद का "गोदान" (१९३६) और "कफ़न" तथा अन्य कहानियाँ

संग्रह की कहानियाँ, अहमदअली का "अंगारे" (कहानी-संकलन) और मुल्कराज आनन्द की "कुली" और "अछूत" जैसी रचनाएँ इस आन्दोलन की जड़ में रखी गईं, परन्तु ये निश्चय ही वादीय रचनाएँ नहीं थीं। यही बात पंत की "ग्राम्या" के संबंध में कही जा सकती है। नई विचारधारा को लेकर जो हृदयमन्थन पंत में विकसित हुआ उसका प्रमाण "युगवाणी" है, जिसे कवि ने "काव्य-गद्य" कहा है, क्योंकि उसमें निबंधकाव्य ही हमें मिलता है, विशुद्ध काव्यभूमि का उसमें अभाव है। बंगला और अन्य प्रांतीय भाषाओं में भी यह नई विचारधारा पहले स्वतंत्र और फिर वादीय रूप में चली। द्वितीय महायुद्ध (१९३९–१९४५) के कारण ही उसे स्वतंत्र साहित्यधारा से विच्छिन्न होकर साम्यवादी मंच से अपना संबंध जोड़ना पड़ा। अंग्रेज सरकार ने युद्ध के बीच में मित्र-राष्ट्रों के रूप में जो गठबंधन किया था उसके फल-स्वरूप प्रगतिशीलता प्रगतिवादिता में परिवर्त्तित हो गई और एक नया वाद आलोचकों के हाथ लगा। एक प्रकार से १९३६ से १९४६ तक का दशक प्रगतिवादी आन्दोलन का स्वर्णकाल माना जा सकता है। अगले चार वर्षों में उसकी शक्ति पर्याप्त क्षीण हो गई और १९५० तक पहुँचते-पहुँचते अधिकांश प्रगतिवादी कवि और लेखक रक्षात्मक होकर पीछे की पंक्ति में जा बैठे। प्रगतिशीलता का साहित्यिक आन्दोलन "प्रगतिवाद" बन कर कम्यूनिस्ट पार्टी के घोषणा-पत्रों तक सीमित हो गया। डॉ० रामविलास शर्मा, डॉ० प्रकाशचंद्र गुप्त, डॉ० शिवदान सिंह चौहान, डॉ० रांगेय राघव, नागार्जुन और यशपाल प्रभृति कुछ इने-गिने कवियों, कथाकारों और समीक्षकों का नाम अब भी प्रगतिवाद शब्द के साथ बंधा है, परन्तु उसकी देन सामयिक साहित्य के व्यापक और जीवन्त विस्तार में खो गई है। आज प्रगतिशीलता का नारा उठाया जाता है, प्रगतिवाद का नहीं और उसके अर्थ वही नहीं रहे हैं जो बीस-पच्चीस वर्ष पहले थे। आज कदाचित् और उससे आगे बढ़ी हुई काव्यधारा "नयी कविता" को काव्य के क्षेत्र में अधिक प्रगतिशील माना जा रहा है, क्योंकि वह अंतर्जीवन के यथार्थ और वस्तून्मुखी जीवन के क्षण-संवेदन पर आधारित होने के कारण नयेपन का आभास अधिक देती है। गतिरोध (अगति) से प्रगति की ओर बढ़ते हुए जो हमारे हाथ में आया है उसमें मोती अधिक हैं या घोंघे, यह कहना कठिन ही है। परन्तु यह निश्चित है कि प्रगतिशीलता (या प्रगतिवाद ?) का दावेदार काव्य और साहित्य सामयिक जीवन की

वस्तून्मुखी चेतना तथा अंतर्मन के विभिन्न धरातलों के प्रति अपेक्षाकृत अधिक जागरूक है। उसने हमारे जीवन और सौन्दर्य के मानदण्डों को बदल दिया है और हमारी अनिर्दिष्ट लोकमंगल की भावना जीवन की विद्रूपता और योजना-बद्धता पर टिक गई है। यूरोप की प्रगतिशीलता भारतवर्ष की प्रगतिशीलता नहीं हो सकती, क्योंकि दोनों क्षेत्रों के सामाजिक पर्याय भिन्न हैं। परन्तु दोनों क्षेत्रों के प्रगतिशील आन्दोलन राजनीति की चट्टान से टकरा कर ही चकनाचूर हुए हैं, यह निश्चय रूप से कहा जा सकता है। ऐसी स्थिति में यह आव-श्यक है कि हम प्रगतिवाद की ऐतिहासिक देन को समझें और सच्ची प्रगति-शीलता के अर्थ समझते हुए उसे नये साहित्य में उचित स्थान दें। प्रगति-शीलता पुरानी नहीं हो सकती, वह वादीय भी नहीं होगी, उसके जीवन के विकासात्मक तत्वों को प्रश्रय प्राप्त होगा और वह राष्ट्रीय जीवन-स्थितियों के भीतर से ही उद्‌घाटित होगी। राष्ट्रीय नवनिर्माण के युग में काव्य और साहित्य की प्रगतिशीलता की बात बराबर महत्वपूर्ण रहेगी।

प्रगतिशीलता के आन्दोलन को न "प्रगतिवाद" बना कर उड़ाया जा सकता है, न यह कह कर कि साहित्य अपनी प्रकृति से ही प्रगतिशील होता है अथवा साहित्य का प्रत्येक नया आन्दोलन प्रगतिशीलता का ही प्रमाण है, जैसा कुछ समीक्षकों का विचार है। "प्रगतिवाद" आलोचकों का दिया नाम है और उन्होंने "छायावाद-प्रगतिवाद" के द्वन्द्व-समास में दो प्रकृत्या भिन्न काव्य-परं-पराओं की कल्पना की है यद्यपि बाद में उन्होंने छायावाद में प्रगति के वे सभी तत्व खोज निकाले हैं जो प्रगतिवाद पर आरोपित किये गये हैं। तथा-कथित प्रगतिवादी आलोचक, कवि और कथाकार उसे आधुनिक काव्य और साहित्य की स्वाभाविक परिणति मान कर चले हैं और उन्होंने उसका संबंध उत्पादन और वितरण के नये साधनों, नई सामाजिक-राजनीतिक जीवनचेतना तथा मानवीय विकास के समसामयिक चरण से अनिवार्यतः जोड़ा है। उनके विचार में मार्क्सवादी जीवन-पद्धति और विचारणा का साहित्यिक प्रतिरूप ही प्रगतिवादी साहित्य है, जिसका साहित्य-दर्शन राजनीतिक दर्शन से अनुप्राणित है और "समाजवादी यथार्थ" या इसी प्रकार का कोई प्रगतिशील जीवनदर्शन हो सकता है। यह ऐतिहासिक स्थिति है जिसे स्वाकार नहीं किया जा सकता। यथार्थ की ओर बढ़ते हुए नये क़दम किस प्रकार मार्क्सवादी छंदों में बँध गये

श्रौर द्वितीय महायुद्ध में युद्धपर साहित्य (लिटरेचर एनगेजी) के रूप में इस कोटि का बहुत-सा साहित्य हमें उपलब्ध हुआ। इस साहित्य के विश्लेषण से हमें उसकी शक्ति श्रौर दुर्बलता का पता चल सकता है। उसकी दुर्बलता को हम छोड़ दें तो उसकी सारी शक्ति हमारे नये साहित्य-निर्माण की विशिष्टता ही बनेगी।

प्रयोग की तरह प्रगति का भी कोई वाद नहीं होता। श्रालोचक प्रयोगवाद श्रौर प्रगतिवाद मान कर चले हैं, क्योंकि कटघरों से उन्हें सुविधा हो सकती है। प्रयोग की तरह प्रगति भी जीवनधर्म ही है श्रौर साहित्यधर्म जीवन-धर्म से भिन्न वस्तु नहीं है। प्रयोग भी प्रगति के लिए ही होते हैं श्रौर वे बदलती हुई जीवन-प्रणाली श्रौर नई विचारधारा के ही सूचक कहे जा सकते हैं। इसीलिए १९५० तक पहुँचते-पहुँचते "प्रयोगवाद" श्रौर "प्रगतिवाद" की सीमाएं नष्ट हो गई हैं श्रौर दोनों परस्पर एक-दूसरे में ढल कर "नयी कविता" बन गये। वस्तुतः पिछले २५ वर्षों की साहित्यिक प्रवृत्तियों श्रौर काव्यगत चेतनाओं को हमें एक परिपूर्ण और श्रविभाजित इकाई के रूप में देखना होगा। तभी हम नई जीवन-चेतना के साथ नई साहित्य-चेतना के प्रति भी न्याय कर सकेंगे। हमारे श्रालोचकों ने प्रयोगों की बाहरी भंगिमा ही देखी है, उनके भीतर के श्रालोड़न-विलोड़न से वे परिचित नहीं हो सके। इसी प्रकार उन्होंने प्रगति को सामान्य साहित्य-धर्म बना कर उसकी शक्ति को निःशेष कर दिया या उसे मार्क्सवाद का पिछलग्गा कह कर राजनीति के श्रंचल में बांध दिया। फलस्वरूप पिछले दो-ढाई दशकों का साहित्य वादों के दलदल में फंस कर श्रविवेचित ही रह गया। श्रालोचक "कामायनी" श्रौर "गोदान" पर ही रुके रहे श्रौर नई साहित्यिक उपलब्धियां उनकी राह देखती रहीं। स्थिति सचमुच हास्यास्पद जान पड़ती है। वादों के चश्मे उतार कर देखें तो पिछले दो दशकों में हमारा साहित्य राष्ट्रीय भूमिकाश्रों के भीतर से (श्रौर स्वतंत्र रूप से भी) श्रंतर्राष्ट्रीय क्षेत्रों में पहुंचा है श्रौर वह मनुष्य की सार्वभौमिक जीवन-चेतना और नई सौन्दर्य-दृष्टि का नया प्रमाण संकलित कर सका है। उसमें नई युग-चेतना के हस्ताक्षर सुरक्षित हैं।

"प्रगतिवाद" के संबंध में विचार करने से पहले हमें कुछ स्थापनाश्रों से चलना होगा। वे ये हैं :

(१) "प्रगतिवाद" और "प्रगतिशील" शब्द एक ही अर्थ के व्यंजक नहीं हैं। साहित्य में प्रगतिशीलता का प्रश्न शाश्वत प्रश्न है, उसका किसी आन्दोलन से संबंध नहीं है। "प्रगतिवाद" के भीतर आने वाले साहित्य की प्रगतिशीलता के वे अर्थ हैं जो उसे अंतर्राष्ट्रीय प्रगतिशील लेखक-संघ ने अपने लंदन के घोषणा-पत्र (१९३५) में दिये थे।

(२) यद्यपि यह अंतर्राष्ट्रीय आन्दोलन किसी वाद के रूप में आरंभ नहीं हुआ जैसा इसी से सूचित है कि गेल्सवर्दी जैसा रूढ़िवादी लेखक उसका पहला सभापति था और रोम्यांरोलां जैसे आदर्शवादी लेखक को उसका समर्थन प्राप्त था, बाद में उसमें कम्यूनिस्ट विचारधारा की प्रबलता हो गई और प्रगतिशीलता वादग्रस्त बन गई।

(३) प्रगतिवाद को हम "वाद" के अर्थ में ग्रहण कर सकते हैं और वास्तव में इस शब्द का प्रयोग वादीय दृष्टि से ही हुआ है। उसमें कोरी प्रगतिशीलता ढूँढ़ना ग़लत बात है। प्रगति को प्राकृतिक गति या परिवर्तनशील वस्तु-व्यापार का आवश्यक परिणाम मान कर हम बहुत दूर तक नहीं जा सकते, न भारतेन्दु युग से आरंभ कर नवीन आन्दोलन तक किन्हीं चार प्रगतिशील आन्दोलनों की कल्पना कर सकते हैं। साहित्यिक आन्दोलन के रूप में प्रगतिशील आन्दोलन या "प्रगतिवाद" १९३६ में ही भारतवर्ष में स्थापित होता है और उसका अंतर्राष्ट्रीय प्रगतिशील संघ से निकट का संपर्क रहा है। द्वितीय महायुद्ध के दिनों तक यह संपर्क बना रहा। बाद में कम्यूनिस्ट पार्टी की राष्ट्रविरोधी नीति के कारण जब पार्टी वाद-विवाद का विषय बन गई तो धीरे-धीरे अनेक कवि और लेखक घेरे के बाहर आ गये। बाद में प्रगतिवादी लेखकों से मार्क्सवादी या कम्यूनिस्ट विचारधारा से संबंधित लेखकों का ही बोध होता रहा है।

(४) प्रगतिशील साहित्य के जो सूत्र आलोचकों ने दिये हैं (देखिये, पं० नंददुलारे वाजपेयी: "प्रगतिशील साहित्य" निबंध, 'आधुनिक साहित्य', पृ० ३८०-८) वे स्वस्थ साहित्य के अनिवार्य अंग हैं और उनके कारण हम साहित्य को न प्रगतिशील कह सकेंगे, न अगतिशील। अतिशृंगारात्मक और उदासीन

प्रवृत्तियों से विमुखता स्वस्थ साहित्यिक दृष्टि का अनिवार्य अंग है। साहित्य में जीवन-चेतना का स्वस्थ और सौन्दर्यचेतस् स्वरूप ही वाणीबद्ध होता है। उसमें अतिवादी प्रवृत्तियों के लिए स्थान नहीं है, परन्तु उत्तान शृंगार और निर्वेद का भी साहित्य है जो अगतिशील नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वहां शृंगार और निर्वेद को आरोहण का प्रथम सोपान बनाया गया है। कौतूहल अथवा मनोरंजन साहित्य के लिए ही पर्याप्त नहीं है, प्रगतिशीलता की कौन कहे! वाह्य संघर्ष की अपेक्षा बौद्धिक और मानसिक संघर्ष को प्रगतिशील साहित्य में अधिक स्थान मिलना चाहिये, यह स्थापना साहित्यिक मूल्यांकन के लिए उपयोगी नहीं है, क्योंकि अतिमानसिक और अवचेतनीय साहित्य में वैलक्षण्य ही अधिक होगा, जीवन के स्वस्थ उपकरण कम मिलेंगे। जीवन के परिवर्त्तन-क्रम के ज्ञान को आधार बना कर अथवा कला-निर्माण में दृश्यपट की व्यापकता, चरित्रांकन की प्रयोजनशीलता और सुसम्बद्ध तथा गुम्फित कला-सृष्टि को भी हम प्रगतिशीलता नहीं कह सकते। ये प्रौढ़ साहित्य के मानदण्ड हैं और प्रौढ़ता के अधिकाधिक स्तरों पर हम इन मानदण्डों पर रचना को कस कर उसे सफल पा सकेंगे।

(५) रचना की व्यावहारिक और कलात्मक उपयोगिता को अलग-अलग नहीं किया जा सकता, न विचारात्मक दृष्टि और काव्योत्कर्ष को हम दो अलग और स्वतंत्र पक्षों में रख सकते हैं। संपूर्ण रचना एक परिपूर्ण इकाई है और कोई रचना विचारों में अगतिशील हो और शिल्प में प्रगतिशील, ऐसी संभावना नहीं है, क्योंकि श्रेष्ठ रचना में शिल्प द्वारा संवेदित बन कर ही विचार रूपायित होता है, उसे अन्वय के द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता।

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट है कि प्रगतिशीलता रचना पर ऊपर से लादी चीज़ नहीं है। यदि हम यह मानें कि प्रगतिशील रचनाएं आस्थामूलक रचनाएं हा हो सकती हैं, अर्थात् वे रचनाएं जो हमें जीवन के प्रति आस्थावान बनायें, तो दोस्तोवेस्की, प्रॉउस्त और जेम्स ज्वॉइस की रचनाएं प्रगतिशील नहीं कही जायेंगी। प्रगतिवादी साहित्य में ऐसा बहुत कुछ है जो मूल्यों के प्रति शंका उत्पन्न करता है और प्रथित के प्रति विद्रोह उठाता है। प्रश्न है कि हम उसे प्रगतिशील भी कह सकेंगे या नहीं। सच तो यह है कि प्रगति (या प्रगतिशीलता)

का कोई वाद नहीं बन सकता और जब हम प्रगतिवाद की बात कहते हैं तो एक विशिष्ट साहित्यिक आन्दोलन की बात कहते हैं जिसकी प्रगतिशीलता की अपनी सीमाएं हैं।

"वाद" सैद्धांतिक वस्तु है। वह बौद्धिक निरूपण की उपज है। उसमें किसी विशेष साहित्य-प्रवाह को विश्लेषण, वर्गीकरण और विशेषीकरण की मर्यादाओं में बांधा जाता है। परन्तु कृति स्वतंत्र सर्जन है जो सिद्धांत से स्वतंत्र या बड़ी चीज़ है। इसीलिए नई जीवनदृष्टि को जब हम प्रगतिवाद कहते हैं तो उसे मर्यादा में बांध देते हैं। यह आवश्यक है कि हम प्रगतिवादी साहित्य को प्रगतिशील साहित्य का मानदण्ड नहीं दें, उसकी ऐतिहासिक और साहित्यिक मर्यादाओं को समझें और उन्हीं के भीतर से उसका मूल्यांकन करें। उसे वायवी बना कर हम उसके ऐतिहासिक महत्व को खण्डित करेंगे और उसे यौन-वर्जनाओं तथा निर्वेद का साहित्य सिद्ध कर असाहित्यिक मर्यादाओं को प्रश्रय देंगे। अलबत्ता, हम यह कह सकते हैं कि प्रगतिवाद मार्क्सवादी जीवनदर्शन (द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद), समाजवादी यथार्थ और वर्ग-संघर्ष के सिद्धांत में जकड़ा रहने के कारण साहित्य और कला के चरमोत्कर्ष को प्राप्त नहीं कर सका है। परन्तु केवल कथन ही पर्याप्त नहीं है, हमें यह भी प्रमाणित करना होगा कि कोई कृति "प्रगतिवादी" बन कर अपने संवेदना-क्षेत्र को छोटा कर लेती है या वर्ग-संघर्ष पर आधारित साहित्य भावना और कल्पना के क्षेत्र में सर्वोच्च उड़ाने भरने में असमर्थ है। जीवन के विकास के साथ हमारी संवेदना का स्वरूप अधिक संश्लिष्ट और बौद्धिक होगा और संस्कृति के दबाव के कारण उसकी भावात्मकता दमित भी हो सकती है, परन्तु इसी से यह सिद्ध नहीं हो सकता कि उसमें उच्च कोटि के साहित्य बनने की क्षमता नहीं है। अवश्य ही नये साहित्य और नई कला का स्वरूप पूर्व-परंपरा से भिन्न होगा।

छायावाद

शेक्सपिअर ने ठीक ही लिखा है कि नाम से क्या होता है, गुलाब किसी भी नाम से गुलाब ही रहेगा। १९२० से १९४० तक हमने हिन्दी साहित्य-जगत के काव्य संबंधी एक विशिष्ट आन्दोलन को "छायावाद" नाम दिया है और आज वह सर्वस्वीकृत भी है। अंग्रेज़ी रोमांटिक काव्य के अनुकरण में उसे "स्वच्छंदतावाद" (रोमांटिसिज़्म) भी कहा जाता है और दोनों शब्द साम्यवाची के रूप में भी प्रयोग में आते हैं यद्यपि समीक्षकों ने उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक वर्षों के अंग्रेज़ी रोमांटिक काव्य के आन्दोलन से हिन्दी काव्य-क्षेत्र के इस आन्दोलन की विभिन्नता भी बतलाई है। इसमें संदेह नहीं कि देश-काल की दूरी को पार कर ये दो काव्यान्दोलन एक ही नहीं हो सकते, क्योंकि वे दो परिस्थितियों और सांस्कृतिक प्रक्रियाओं की उपज हैं। इस अंतर को मान भी लें तो भी छायावाद के संबंध में कई कठिनाइयाँ सामने आती हैं। छायावाद की व्यापकतम परिधि राष्ट्रवादी, प्रकृतिवादी, सौन्दर्यवादी, रहस्यवादी और अभिव्यंजनावादी सभी प्रकार की रचनाओं को अपने भीतर समेट लेती है और वह द्विवेदी-युग की परिणति या द्विवेदीयुगीन काव्य के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में देखा जाता है। एक तरह से वह दोनों है,—विकास भी और प्रतिक्रिया भी, क्योंकि प्रतिक्रिया के कारण ही विकास की दिशा एकदम बदल गई है, वह क्रमिक और रेखान्वित न होकर विस्फोटात्मक (जेनेरिक) हो गई है। संकीर्ण रूप में उसे व्यष्टि की अपरोक्ष अनुभूति का काव्य कहा गया है। यह अनुभूति रहस्यात्मक बतलाई गई है और इसमें प्रकृति की एक-एक वस्तु को लेकर उससे तादात्म्य स्थापित करने का प्रयत्न खोज निकाला गया है। प्रो० लवज्वाय की तरह यह भी कहा जा सकता है कि छायावाद एक नहीं, कई हैं और भिन्न-भिन्न कवियों में इस काव्यधारा का स्वरूप भिन्न हो गया है। कुछ समीक्षक "छायावाद"—काव्यधारा के भीतर राष्ट्रवादी और रहस्यवादी कवियों को स्वतंत्र स्थान देने के पक्षपाती हैं और उनके अनुसार यह काव्यधारा तीन धाराओं का संगम है। परन्तु रहस्यवाद और राष्ट्रीयता विषयवस्तु हैं, वे सौन्दर्य-चेतना और काव्यगत अभिव्यंजना के मूलाधार बन सकते हैं। राष्ट्रीय

कवियों (माखनलाल, नवीन, दिनकर) से हमें शिकायत है कि उन्होंने प्रौढ़ छायावादी कवियों (प्रसाद, निराला और पंत) के कलात्मक शिल्पविधान और परिष्कृत एवं संपन्न भाषा का उपयोग नहीं किया और रहस्यवादी कवयित्री (महादेवी वर्मा) को हम रहस्य-साधक मान कर भी उनकी अभिव्यंजना-शक्ति के प्रति विश्वासी नहीं हैं। राष्ट्रवादी चेतना को हमने छायावाद से बाहर ही रखा है और रहस्यवाद को व्यावहारिक जगत से एकदम हटा कर उसे समष्टि-साधना का काव्यप्रतीक बना दिया है। सच तो यह है कि आज के बौद्धिक दंभ के युग में हम अध्यात्म को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हैं और "रहस्यवाद" (मिस्टिसिज़्म) कह कर अपनी एक जीवन्त, सांस्कृतिक और आत्मिक परंपरा से छुट्टी पा लेना चाहते हैं। वास्तविकता यह है कि राष्ट्रीयता और आध्यात्मिकता मध्यदेशीय मध्यवर्ग की चेतना के दो प्रमुख छोर हैं और उनसे उसका काव्य और साहित्य चाहे-अनचाहे पूर्णतः रंग गया है। अंतर यह है कि राष्ट्रीयता हमारा नारा है और चेतन मन की सारी शक्ति लगा कर हम अपने को राष्ट्रीय घोषित करते रहे हैं जब कि आध्यात्मिकता आज के बौद्धिक युग में अस्वीकृत होकर अवचेतन में चली गई है और प्रतीकों एवं अलंकारों की कुहेलिका में छिप कर रहस्यवाद बन गई है। मध्यवर्ग की सौन्दर्य चेतना और भावोन्मुक्ति का जो स्वरूप छायावाद में जागा है उसकी निर्बन्धता ही राष्ट्रीयता और रहस्यवाद में पल्लवित हुई है। दोनों में मुक्ति का संदेश है, राष्ट्रीयता में देह की मुक्ति और रहस्यवाद में आत्मा की मुक्ति। रहस्यवाद को अवशिष्ट आध्यात्मिकता कहें या जातीय अवचेतन, वह राष्ट्रवाद के समान ही हमारी काव्य-चेतना का प्रमुख अंग है।

"छायावाद" काव्य नये मध्यवर्ग की उस नवजागरणमूलक चेतना से संबंधित है जिसका जन्म राजा राममोहनराय के द्वारा उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक वर्षों में हुआ था और जिसकी सांप्रदायिक अभिव्यक्ति ब्रह्मसमाज के माध्यम से हुई थी। राजा राममोहनराय के उपनिषदों के अनुवाद ने ही आधुनिक भारतीय चेतना से औपनिषदिक ज्ञान को संपृक्त किया और महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर में होती हुई यह नई ज्ञानदीप्ति महाकवि रवीन्द्र नाथ (१८६१-१९४१) को प्राप्त हुई। रवीन्द्रनाथ का काव्य १८७५ से आरम्भ होता है परन्तु उसमें आध्यात्मिकता का समावेश १८९० के बाद ही हुआ। "नैवेद्य" इस प्रयास का

पहला चरण है और १९१० तक (गीतांजलि-गीतिमाल्य युग में) स्फुट कविताओं और गीतों में हम इस काव्य का दूसरा चरण समाप्त होते देखते हैं। हिन्दी काव्य में यह नये ढंग की आध्यात्मिकता अंग्रेज़ी "गीतांजलि" (१९१२,१९१३) के अनुवाद से शुरू होती है और रायकृष्णदास का गद्य-गीत संकलन "साधना" तथा जयशंकर "प्रसाद" का काव्यसंग्रह "झरना" इस प्रवृत्ति को आरंभ करते हैं। पंत और निराला के प्रारंभिक काव्य पर रवीन्द्रनाथ की आध्यात्मिक गीतियों का प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित है, यद्यपि "निराला" की आध्यात्मिक चेतना का एक दूसरा सशक्त स्रोत भी है और वह स्वामी विवेकानन्द (१८६३-१९०२) और स्वामी प्रेमानंद तथा सारदानन्द महाराज जैसे रामकृष्ण मिशन के साधुओं की रचनाएं और साधनाएं हैं। मैथिलीशरण गुप्त के "झंकार" के प्रगीत भी इसी प्रभाव को सूचित करते हैं यद्यपि कवि की वैष्णव भावना और भक्ति-परंपरा का स्वर भी उसमें मिल गया है। जो हो, यह स्पष्ट है कि "छायावाद" के पीछे आध्यात्मिक प्रेरणा पर्याप्त मात्रा में मिलती है यद्यपि मध्यवर्ग की बौद्धिकता, तार्किकता और इहलौकिकता के कारण वह पूर्ण रूप से स्वीकृत नहीं हुई है।

यह स्पष्ट है कि अध्यात्म-क्षेत्र के इन नए आन्दोलनों (ब्रह्मसमाज और नव्य वेदांत) के साथ सामान्य हिन्दू जन में नव्य हिन्दू मतवाद की भूमिका पर नये भक्तिवाद का भी जन्म हुआ। संकीर्त्तन आदि के रूप में इस नये भक्तिवाद की अभिव्यक्ति हुई और पौराणिक भक्तिवादी कथाओं को नये बौद्धिक ढंग से व्याख्यापित किया गया। यह प्रवृत्ति बंकिमचंद्र से आरंभ होती है, जिन्होंने कृष्ण-चरित्र की नई बुद्धिवादी व्याख्या पहली बार प्रस्तुत की और हिन्दी प्रदेश में भारतेन्दु द्वारा "तदीय समाज" की स्थापना इस नये प्रवर्त्तन की सूचक है। शिक्षित मध्यवर्ग राम और कृष्ण को मानवीय या मानववादी भूमिका पर ही ग्रहण कर सकता था और इस क्षेत्र का व्यापक प्रयत्न हमें श्री मैथिलीशरण गुप्त के काव्य में मिलता है, परन्तु आध्यात्मिक भूमिका पर वह इन चरित्रों को प्रतीक रूप में ही ग्रहण करता था और निराकार एवं प्रेमारूपा चरम सत्ता के आधार पर ही अपनी आध्यात्मिकता का विकास कर सकता था। इसीलिए हमें छायावाद के भीतर जहां माखनलाल चतुर्वेदी और नवीन की वैष्णवपरक आध्यात्मिकता मिलती है जिसमें निर्गुण और सगुण दोनों प्रकार की अभिव्यंज-

नाएं घुलमिल गई हैं, वहां प्रसाद और महादेवी में उर्दू काव्य की सूफ़ी चेतना तथा प्रेमाभक्ति के आधार पर मिलन-वियोग के रूपकों और प्राकृतिक प्रतीकों के माध्यम से एक स्वतंत्र आध्यात्मिक अभिनिवेश भी मिलता है, जो मध्यदेश की अपनी (मध्ययुगीन) भावपरंपरा का ही अवशिष्ट (या विकास) है। इस अत्यंत समृद्ध और भावसंपन्न काव्य को हमने "रहस्यवाद" कह कर अविश्वास की फूंक से उड़ाना चाहा है। हमारे लिए धर्म पाद-पीठिका रहा है जिस पर खड़े होकर हमने अध्यात्म की ऊंचाइयों को छूने का प्रयत्न किया है। इसी लिए रवीन्द्रनाथ के आध्यात्मिक काव्य और छायावाद काव्यधारा के अंतर्गत रहस्यवाद-शाखा के काव्य में हम इसी प्रकार का एक प्रयत्न पाते हैं। उसे १९ वीं शताब्दी के धर्मान्दोलनों का निचोड़ कहा जा सकता है। आचार्य रामचंद्र शुकल का रहस्यवाद का विरोध शिक्षित मध्यवर्ग की अतिबौद्धिकता तथा धर्म की उच्च भूमिकाओं के प्रति संदेहशीलता का ही सूचक है। परन्तु बाद के समीक्षकों ने "रहस्यवाद" की संकुचित भूमि पर इस नई आध्यात्मिकता को आंशिक रूप में स्वीकार कर लिया है।

परन्तु स्पष्ट बात यह है कि प्रश्न "रहस्यवाद" के स्वीकार-अस्वीकार का नहीं है, प्रश्न आध्यात्मिकता के स्वीकार करने का है। यह ठीक है कि हमारी नई आध्यात्मिक चेतना के निर्माण में जहां पूर्वपरंपरा (सगुण भक्तिवाद, सूफ़ीवाद, निर्गुण मतवाद) ने भाग लिया है वहां पश्चिम के मानववाद, सर्वात्मवाद और लोक के भीतर से परलोक-साधना की ईसाई चेतना का भी एक अंश इसमें घुलमिल गया है। रवीन्द्रनाथ का आध्यात्मिक गीतिकाव्य और नव्य वेदांती चेतना से ओतप्रोत विवेकानन्द का साहित्य इस समन्वय को युगधर्म की सप्राणता देते हैं। निराला के काव्य में यह आध्यात्मिक नव-स्फुरण अध्यात्म और काव्य के उच्चतम शिखरों का स्पर्श करता है। पंत उसे उपनिषदों के स्वतंत्र अध्ययन और बाद में अरविन्द-दर्शन के माध्यम से ग्रहण करते हैं और महादेवी बौद्धधर्म के करुणावाद और व्यक्तिगत जीवन की अंतरंगी भावानुभूतियों के माध्यम से नया संस्कार देती हैं। इस प्रकार जिसे हमने "रहस्यवाद" कह कर एक कोने में डाल दिया है वह मध्यवर्ग की आध्यात्मिक चेतना का काव्य-लेखन है। प्रसाद के काव्य में वह शैवदर्शन, बुद्ध के करुणावाद तथा सूफ़ी मत की प्रेमाभक्ति के साथ घलमिल कर अद्वैतवाद का नया रूप धारण करता है।

"कामायनी" महाकाव्य के अंतिम दो सर्ग आध्यात्मिक आरोहण के रूपक और नये शक्तिवाद (कर्मवाद) को बड़े सुन्दर रूप से प्रतीकायित करते हैं।

राष्ट्रवाद हमारे युग का व्यावहारिक दर्शन है जो हमारे भौतिक जीवन के उन्नयन का आदर्श लेकर चलता है और समाजवादी जीवन-व्यवस्था के रूप में एक नये लक्ष्य को उद्घाटित करता है, परन्तु वह शिक्षित और बुद्धिवादी मध्य-वर्ग की अंतिम मंज़िल नहीं बन सकता। उसके लिए नैतिक और आध्यात्मिक ऊंचाइयों की भी आवश्यकता है। नैतिकता के क्षेत्र में सत्य, अहिंसा और उदारता पर आधारित गांधीवाद एक नये जीवनदर्शन का निर्माण करता है, परन्तु आध्यात्मिक क्षेत्र में हमारी जीवनचेतना बहुत कुछ अनिर्दिष्ट और राहों की अन्वेषी रही है। उपनिषद्, नव्य वेदांत, नव्य भक्तिवाद अरविंदवाद के साथ मध्ययुग के आध्यात्यिक समाधान भी हमारे सामने रहे हैं। आधुनिक युग की चेतना पर सूफ़ी विचार का प्रभाव खड़ी बोली की दूसरी धारा उर्दू साहित्य में अत्यंत शक्तिशाली रूप में दिखलाई पड़ता है। मीर से "जिगर" तक उसका प्रसार है। स्वामी रामतीर्थ और अध्यापक पूर्णसिंह जैसे हिन्दी प्रदेश के लेखकों ने उसे इतना आत्मसात कर लिया है कि वह हमारी औपनिषदिक आत्मवादी विचारधारा और भाव-साधना का एक अंग ही बन गया है। सूफ़ी मत की सर्वात्मवादी धारा जहां एक ओर बौद्ध धर्म के माध्यमिक दर्शन तक जाती है और आधुनिक युग के करुणावाद में चरितार्थ होती है, वहां वर्डस्वर्थ जैसे रोमांटिक कवियों और दार्शनिकों के काव्य से प्रकृति में व्यष्टिनिष्ठ और समष्टिनिष्ठ रहस्यचेतना का इंगित ग्रहण करता है। वास्तव में "छायावाद" काव्य की छायावादिता उसकी सूक्ष्म सौन्दर्यचेतना के कारण उतनी नहीं है, जितनी उसकी अनिर्दिष्ट और रहस्यात्मक अध्यात्म-चेतना के कारण। बौद्धिक युग में अध्यात्म को स्वीकार करने की मजबूरी और तज्जन्य संकोच ही "छायावाद" काव्यधारा की सीमा और दिग्भ्रांति है। "रहस्यवाद" का मूल उद्गम यहीं मिलेगा।

संक्षेप में, यह कहा जा सकता है कि बीसवीं शताब्दी के तीसरे-चौथे दशकों में काव्य का एक स्वतंत्र व्यक्तित्व है। इस स्वतंत्र व्यक्तित्व के निर्माण में नव-

जागरण की सांस्कृतिक चेतना का योगदान अत्यंत महत्वपूर्ण है। एक प्रकार से उसे उन्नीसवीं शताब्दी की मध्यवर्गीय संस्कृति का सर्वोच्च शिखर कहा जा सकता है। यही समय गांधीवादी आन्दोलन और संगीत तथा अन्य कलाओं के नवोत्थान का समय था। पूर्व-पश्चिम की समन्वयात्मक संस्कृति का अध्यात्मनिष्ठ, भावप्रवण और आस्थाप्राण नैष्ठिक रूप हमें इस युग के साहित्य में मिलेगा। एक प्रकार से जिन स्वच्छंदतावादी प्रवृत्तियों का जन्म भारतेन्दु (१८५०—८३) के द्वारा उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुआ था वह छायावाद-युग (१९२०—४०) में सर्वोच्च विकास को प्राप्त होता है। आदर्शवाद, राष्ट्रवाद, नारी और प्रकृति के प्रति नई सौन्दर्यदृष्टि, वर्गमुक्ति और अध्यात्मवाद, सामाजिक न्याय आदि अनेक उपकरणों से इस युग के भाव-जगत का निर्माण हुआ था, इसीलिए इस युग का काव्य विविध, उत्कर्षमय, और उदात्त भावनाओं से अनुप्राणित है और अंग्रेज़ी के रोमांटिक काव्य से प्रेरणा लेता हुआ भी उससे भिन्न है, क्योंकि वह ह्रासमूलक और वैज्ञानिकी-भौतिकवादी यूरोपीय संस्कृति की देहली पर नहीं खड़ा है, वह नवजाग्रत भारतवर्ष की भविष्यधर्मी स्वतंत्र चेतना का प्रथम सोपान है।

प्रश्न यह है कि छायावाद की आध्यात्मिकता किस कोटि की है। उसमें और मध्ययुग की आध्यात्मिकता में क्या अंतर है? वह भावनापरक है या साधनापरक? वह जीवन-व्यवहार में आने योग्य है या उससे बाहर की वस्तु है? उसमें परंपरा कितनी है और नवीन कितना है? वह काव्योपयोगी है या नहीं? इस प्रकार के कितने ही प्रश्न पूछे जा सकते हैं। मध्यवर्ग के मानस-संगठन में पूर्व-संस्कारों का अभाव नहीं रहा है। धार्मिक क्षेत्र में भाग्यवाद, प्रणतिवाद, मायावाद तथा नियतिवाद जैसे उपकरण मध्ययुगीन भक्तिवाद के अंग रहे हैं, जिन्हे हटाने के लिए राजा राममोहनराय से लेकर तिलक-गांधी तक बराबर शक्ति लगती रही है। भारतेन्दु, रानाडे, रामकृष्ण परमहंस, तिलक और गाँधी के द्वारा मध्ययुग के धर्मभाव परिष्कृत रूप में युग के नये बुद्धिवादी उपकरणों के साथ आत्मसात कर लिया गया। आर्यसमाज की प्रतिक्रिया-स्वरूप जिस नव्य हिन्दू आन्दोलन (न्यूहिन्दूइज़्म) का जन्म हुआ उसने पुराणवाद और भक्तिवाद को बुद्धि की तुला पर तौला और पश्चिमी शिक्षा-दीक्षा से उसका गठबंधन किया। द्विवेदी-युग की मनश्चेतना में यह "दुइरंगी"

स्पष्ट है। रवीन्द्र, इक़बाल और प्रसाद ही नहीं, गाँधी जी भी बुद्धिवाद को अधूरा जीवनदर्शन मानते रहे हैं। परन्तु शिक्षित मध्यवर्ग के लिए पुरानी आस्था को लौटाना असंभव था, अतः साहित्य और कला के क्षेत्र में राम और कृष्ण मानववादी भूमिका पर ही गृहीत हुए और अतिप्राकृत भूमिकाएँ एकदम अस्वीकृत रहीं। ऐसी स्थिति में परम सत्ता को निराकार और प्रेममय मान कर ही नवीन अध्यात्म की नींव डाली जा सकती थी। रवीन्द्रनाथ ने "जीवनदेवता" के रूप में इस प्रेममय व्यक्तित्व की कल्पना की और 'गीतांजलि', 'गीतिमाल्य' आदि गीत-संकलनों में रूप और अरूप तथा सीमा और असीम के दर्शन के साथ उसे आधुनिक शरीर दिया। रवीन्द्रनाथ के आध्यात्मिक काव्य में मध्ययुग के मर्मी संतों और वैष्णव पदावली के गायक सगुण भक्तों की उद्धरिणी हुई है। फलतः उनके काव्य में नवीन अध्यात्म-चेतना का नया संस्करण हमें मिलता है। उसकी पृष्ठभूमि ब्रह्मसमाजी है, परन्तु उनका कण्ठस्वर किसी संप्रदाय में बंधा नहीं है। "गीतांजलि" के प्रकाशन ने हिन्दी काव्य-जगत में क्रांति कर दी। उसमें हमें अपने ही मध्ययुगीन काव्य की प्रतिध्वनियां सुनाई दीं।

यहीं से हिन्दी काव्य में नई आध्यात्मिकता के पुर्ननिर्माण के प्रयत्न चलने लगते हैं। कवियों और गद्यगीतकारों का एक वर्ग रवीन्द्र की "गीतांजलि" के प्रभाव को लेकर आगे बढ़ा। कुछ कवियों का ध्यान उपनिषदों की ओर गया और कुछ ने रवीन्द्र के प्रशस्ति और टीका से प्रभावित हो कबीर की ओर देखा। १६१० से पहले कबीर, नानक और दादू जैसे निर्गुण संत काव्यक्षेत्र से वहिष्कृत थे। अब रवीन्द्रनाथ और क्षितिमोहनसेन के प्रयत्नों से वे काव्य के केन्द्र में आ बैठे। आरंभ में रवीन्द्र के अनुकरण हुआ, परन्तु १६३० के बाद हिन्दी कवियों ने अध्यात्म के क्षेत्र में अपनी संकल्पात्मक अनुभूति को मौलिकता दे दी है। डॉ० रामकुमार वर्मा और महादेवी वर्मा का अवतरण इस क्षेत्र में हमारी स्वतंत्र स्थिति की सूचना देता है। इस निर्गुणधर्मी आध्यात्मिकता में ज्ञान और प्रेम के दोनों पक्ष स्वीकृत हुए और इस भेद के कारण काव्य के स्वरूप और उसकी अभिव्यंजना-शैली में भी भेद रहा। उर्दू काव्य की सूफ़ी परंपरा ने कवियों के सामने प्रतीकों की एक लंबी सूची रखी। प्रसाद के काव्य में मधुमती भूमिका पर वह दूर तक स्वीकृत है। शिक्षित

मध्यवर्ग अपने बुद्धिवाद के साथ जितनी दूर जा सकता था उतनी दूर वह यहाँ जा सका है ।

यह स्पष्ट है कि द्विवेदी युग की आध्यात्मिकता भक्तिवादी कोटि की है और वह व्यापक हिन्दू जनता का प्रतिनिधित्व करती है । उसमें मध्यवर्ग के सामान्य जन का अकुंठित स्वर है जो बुद्धि के आतंक से मुक्त और आस्थावान है । उसमें पौराणिकता की भी गहरी छाप है, यद्यपि देवता को मानव बना कर निकट से देखा गया है । मैथिलीशरण गुप्त का काव्य उसका प्रतीक काव्य है । वह वैष्णव आदर्शों से पूर्ण है और "झंकार" के गीतों से आगे नहीं बढ़ सका है । उसने परंपरा में ही सुरक्षा समझी है । नव्यवेदांती आत्मस्फुरण उसमें अधिक नहीं हैं । यद्यपि गुप्त जी ने खैयाम की रुबाइयों का अनुवाद भी किया है, परन्तु मानव-भाव की प्रेमपरता का कोई चिह्न उनके काव्य में नहीं है । वह मध्यदेश की समन्वयात्मक, सतर्क और आत्मरक्षात्मक प्रकृति के कवि हैं ।

अधिक मौलिक आध्यात्मिक भूमिकाओं पर प्रयोग हमें "प्रसाद" और "निराला" के काव्य में ही मिलते हैं । प्रसाद शैवाद्वैत पर टिके हैं तो निराला नव्यवेदांत पर । एक में शक्ति का रहस्यवाद है तो दूसरे में पुरुष-प्रकृति अथवा प्रिय-प्रिया के रूपक से प्राकृतिक प्रतीकों के माध्यम से अद्वैती लीलानंद की अभिव्यक्ति है । प्रसाद की आध्यात्मिक भूमिका की सर्वोच्च उड़ान हमें "लहर" के प्रगीतों और "कामायनी" में मिलती है, परन्तु निराला का काव्य तो नव्यवेदांती चेतना से ओत-प्रोत है । "परिमल" और "गीतिका" की रचनाएँ उनके आध्यात्मिक उत्कर्ष के उत्कृष्ट उदाहरण हैं । "तुम और मैं","जागरण" "जागो फिर एक बार" (१), "शेफालिका", "जुही की कली", "अधिवास" आदि अनेक रचनाएँ हमें "परिमल" में इसी भाव-निकाय के साथ मिलती हैं और गीतों की भावनिधि का तो कहना ही क्या ! उत्तर काल के गीतों में वह भक्तिवाद की भूमिका पर लौट गये हैं, परन्तु उसमें अद्वैती तादात्मिक अनुभूति भी कम नहीं है । उनके आध्यात्मिक काव्य में भावसंश्लिष्ट और दार्शनिक स्थापनाओं एवं झंकृतियों के कारण कुछ काठिन्य भी है परन्तु आलंकारिक और संपन्न भाषा-शैली में उन्होंने रवीन्द्रनाथ के आध्यात्मिक भावजगत से स्वतंत्र और शिल्प में एकदम नवीन, खड़ी बोली हिन्दी की अपनी

आध्यात्मिक काव्यपरंपरा का निर्माण किया है। उन्हें हम विवेकानन्द द्वारा प्रवर्त्तित नव्यवेदांत की सर्वश्रेष्ठ प्रगीतात्मक अभिव्यक्ति कह सकते हैं।

छायावाद काव्य के भीतर महादेवी की अपनी स्वतंत्र स्थिति है। उन्हें परोक्ष रहस्यवाद की कवयित्री कहा जा सकता है। उनके काव्य में वेदना की अभिव्यक्ति शाश्वत और मानवीय भूमिका पर हुई है। जीवन की अपूर्णता की अनुभूति को आध्यात्मिक मिलन-वियोग के गीतों में ढाल कर उन्होंने हमारी आध्यात्मिक भाव-साधना और काव्य की परंपरा को ही पुष्ट नहीं किया है, उनके काव्य में निर्वेद, आध्यात्मिक पीड़ा और माधुर्य के अनेक संदर्भ करुणा के अंग बन कर आये हैं। उनका समस्त काव्य एक परिपूर्ण इकाई है। पूछा जा सकता है कि शिक्षित वर्ग को अध्यात्म की क्या आवश्यकता है? बौद्धिक युग में जब दैनंदिन व्यापारों से ही लौकिक जीवन की पुष्टि संभव है, हम आत्मा, परमात्मा और प्रकृति के संबंध में क्यों भावात्मक हो उठें और खण्डता से उद्भूत अंतर्वेदना को पारंपरिक आध्यात्मिक प्रतीकों की वाणी क्यों दें? जिस युग में धर्म ही जीवन-व्यवहार के क्षेत्र से बहिष्कृत हो रहा है, उस युग में हम अध्यात्म को क्या सार्थकता देंगे? पुरातन युगों की साधना और काव्य-संपत्ति को आज काव्य-संवेदना का विषय बनाना कहाँ तक समीचीन होगा? ऐसे अनेक प्रश्न उठ सकते हैं, परन्तु यह समझ लेना होगा कि मनुष्य मूलतः न उच्चवर्गीय है, न मध्यवर्गीय। वह आत्मिक-मानसिक-भौतिक इकाई है। उसके व्यक्तित्व की नींव गहरी है और बहुत गहरे जा कर अध्यात्म में उसकी प्रतिष्ठा है। बौद्धिक मनुष्य चेतना की सतह पर ही जीता है परन्तु उसके भीतर का उद्वेलन गहरे में ही ध्वनित होता है। भारतवर्ष की सांस्कृतिक, दार्शनिक और साधनात्मक परंपरा में अभेद की पीड़ा आत्मा के अभिसार, प्रोषितपतिका (विरहिणी) या नायिका (अप्सरा) के रूपक में ही अभिव्यक्त हुई है और मूर्त्तिकला में ये प्रतीक चिरप्रतिष्ठित होकर महार्घता को प्राप्त हुए हैं। राधाकृष्ण काव्य में गोपी-लीला, वेणुवादन, रास और खण्डिता प्रसंगों के माध्यम से इसी खण्डित मानव-व्यक्तित्व का पूर्णता के प्रति आग्रह पल्लवित हुआ है। महादेवी ने अपने भीतर से युग की इस पीड़ा को अध्यात्म की वाणी दी है और उसके द्वारा बौद्धिक तथा मर्यादावादी-नीतिवादी मध्यवर्ग की हार्दिक पीड़ा अभिव्यक्त हुई है। वे रवीन्द्र के गीतों से आगे की भूमि पर

संचरण करती हैं और नारी की मधुर और समर्पणमयी आत्मदानी आकांक्षा को वाणी देती हैं। उनके रहस्यवादी काव्य में साक्षात्कार का उल्लास नहीं है, उसके लिए गहरी तड़प है। इस प्रकार उसमें युग की कुंठित हार्दिकता और असंपूर्ण व्यक्तित्व की व्यंजना हुई है। अध्यात्म सब को लेकर है, वह एक (कवि) के माध्यम से सब की अभिव्यंजना है। इसीलिए महादेवी के गीतिकाव्य में युग चिरंतन को छूने का प्रयत्न करता है और अपनी अपूर्णता को पूर्णता का उच्छ्वास देता है। निराला में जो जुही की कली और शैफालिका के प्रतीकों के द्वारा परव्यंजक बना कर कहा गया है वही महादेवी में आत्म-परक बन कर उनकी अपनी बात बन गया है। वह कितनी आप-बीती है, यह कहना कठिन है, परन्तु उसमें पर-बीती के रूप में युग का आत्मिक प्रभाव तो ध्वनित ही है। तात्पर्य यह है कि प्रमुख छायावादी कवियों में अध्यात्म की अनेक भूमियां भाषा और संवेदना की विभिन्न सामर्थ्य के कारण विभिन्न कोटि की अनुभूतियाँ प्रसारित करती हैं। छायावाद के इस मर्मस्थल को पहचानने के लिए कुछ और ही दृष्टि चाहिये। "वा चितवन कछु और है जेहि बस होत सुजान !"

यह कहा जाता है कि छायावाद और रहस्यवाद के कवियों की परोक्षानुभू-तियाँ संकल्पात्मक हैं, उनके पीछे साधना का बल नहीं है। वे आत्मानुभूति की कोटि की चीज़ हमें नहीं देतीं। इसीलिए कवियों ने काव्यकला का सहारा लिया है और प्रतीक-शैली अपनाई है या आलंकारिकता का पल्ला पकड़ा है। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि अब भी भारत के मानव-महासागर में पिछले युगों की अध्यात्म-साधना तरंगित है और चिर युगों की साधना जातीय अवचेतन बन कर हमारे व्यक्तित्व के अवचेतनीय धरातल पर असंख्य पर्त्तों के रूप में जम गई है। लौकिक और व्यक्तिगत जीवन का थोड़ा सा अभाव भी हमारे भीतर के अपूर्णता के तारों को झंकृत कर देता है और अपने जीवन की उपलब्धि के श्रेष्ठतम क्षणों में हम अखिल मानव और प्रकृति से संपृक्ति के असंख्य सूत्र जोड़ कर एकात्मिकता का आनन्द पाते हैं। अतः साधना का स्वरूप आज वही नहीं होगा जो मध्य युग में था। बौद्धिक युग की अध्यात्म-साधना अभेद की संकल्पात्मक अनुभूति से शुरू होकर अव-चेतनीय प्रतीकों तथा व्यक्तिगत बिंबों के द्वारा उत्तरोत्तर उत्कर्ष प्राप्त करती

हुई अन्त में वहीं पहुँच जाती है जहाँ मर्मी संतों और भावुक भक्तों ने राग को विराग या उत्कृष्टतर राग (उज्ज्वल रस) में पर्यवसित किया है। काव्य और कला का सहारा लेने से अध्यात्म-भाव यदि नये ऐश्वर्य से मण्डित हो सका है तो उसके लिए हमें "छायावाद" का कृतज्ञ ही होना होगा। यह स्पष्ट है कि प्रतीकों की नवीनता और युग के अध्यात्म-बोध की दुर्बलता के कारण हमारा आध्यात्मिक काव्य साक्षात्कारी न होकर आत्मान्वेषी ही रह गया है और वह हमें आत्मतोष नहीं देता, हमारी पीड़ा को उकसा कर ही निःशेष हो जाता है, परन्तु यह बात कवि की अशक्तता की परिचायक न होकर हमारी नई सांस्कृतिक चेतना की विशिष्टता को ही सूचित करेगी।

हिंदी गीति-काव्य

हिन्दी का लोकांचल सदैव गीतों में मुखरित रहा है। वर्षा में आषाढ़ के पहले दिन पश्चिम में घुमड़ते हुए बादलों को देख कर भारतीय कृषक का हृदय बराबर गीतों में फूट पड़ा है। शरद की चाँदनी में अपने भरे-पुरे खेतों की रखवाली करते हुए उसने खेत और खलिहान, संयोग और वियोग, आल्हा और ऊदल, राम और सीता को अपनी टेक बना कर अपने हृदय की अन्यतम माधुरी बिखेर दी है। बसन्त की रूप-रंग-गंध भरी बेला ने उसमें न जाने कितने सपने जाग्रत कर दिये हैं। भारत-भू के इस लंबे-चौड़े इतिहास में नगरों का जीवन अनेक बार बदला है। उसने स्वर्ग के सपने देखे हैं और नरक की यातनाएँ भोगी हैं, परन्तु गाँव की धरती अकुंठित भाव से गाती ही रही है और अब भी गाये जाती है। गाँव के कंठ से समय-असमय हर्ष और विषाद के जो गीत फूटे हैं वे अधिकांश में लुप्त हो गये हैं; जितने गीतों को परंपरा और लोक-श्रद्धा बचा सकी है, उतने ही बचे हैं। परन्तु इसमें संदेह नहीं कि हिंदी प्रदेश में गीतों की कई सहस्र वर्षों की पुरानी परंपरा है और उसे समझे बिना हिंदी गीति-काव्य के वैभव और महत्व को पूर्णतया आत्म-सात करना कठिन है।

संस्कृत का संगीत वर्ण-संगीत है। वह मार्ग संगीत की आर्ष पद्धति पर आश्रित है। उसमें एक प्रकार का ओज है, मार्दव है। संस्कृत के मंदाक्रांता छंदों की मेघ-मंद्र ध्वनि आज भी हमें मोहित करने में समर्थ है, परन्तु हिंदी गीति-काव्य में जो संगीत शब्दों और चित्रों में बंध पाया है, वह वर्ण-संगीत से भिन्न है। वह देशज है। उसमें वर्ण-मैत्री की अपेक्षा स्वर-मैत्री अधिक है। अपभ्रंश-काव्य में पहली बार यह स्वर-संगीत विकसित हुआ है। उस समय की सारी राग-रागिनियों का हमें पता नहीं लगता, परन्तु सिद्ध काव्य में जिन राग-रागिनियों का प्रयोग हुआ है उनमें से कुछ हैं भैरवी, पटमंजरी, कामोद, ढ्ेशाख, रामक्री, गवड़ा, वरावड़ा, मल्लारी, व्रजगीतिका, शवरी

और देवकी। इन राग-रागिनियों के अध्ययन से यह पता लगता है कि इन में से अधिकांश स्थानीय लोक-गीतों के स्वर-मात्र थे। कुछ राग-रागिनियाँ स्पष्ट रूप से विदेशी थीं। उदाहरण के लिए हम आभीर नाम की विदेशी जाति से संबंधित अनेक राग-रागिनियों को ले सकते हैं। अहीर भैरव भैरव राग का वह रूप है जो इस जाति में परिवर्तित रूप में गृहीत हुआ। जिन छंदों का उपयोग इन राग-रागिनियों में हुआ है वे अधिकत: दोहा, चौपई अथवा चौपाई छंद अथवा उनके कुछ रूपान्तर हैं। इन प्रारंभिक गीतों में अनुभूति की मात्रा विशेष नहीं है। इसका कारण यह है कि अपभ्रंश का काव्य अधिकत: कुछ सैद्धांतिक विषयों को ले कर चला। रहस्यवाद-संबंधी कुछ पदों में अनुभूति का अंश कुछ अधिक मात्रा में मिलता है। ऐसे पद गीति-काव्य की कोटि में आ जाते हैं, परन्तु ऐसे पद अधिक नहीं हैं। परन्तु इसमें कोई संदेह नहीं कि गीति-शैली का आविर्भाव आरंभ में अपभ्रंश में ही हुआ। अपभ्रंश साधारण जनता की बोली थी जिस प्रकार आज प्रादेशिक बोलियाँ या विभाषाएँ जनता की बोलियाँ हैं और इसीलिए उसमें जन-गीतों की शैली का अपूर्व विकास हुआ। अपभ्रंश के जन्म और विकास का समय ईसा की पहली शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक चलती है। ईसा की पहली चार-पाँच शताब्दियों में गुर्जर, आभीर, जट्ट जैसी गीतिप्रिय जातियों ने मध्य एशिया अथवा सुदूर पश्चिम से इस देश में प्रवेश किया। अनार्य रक्त वाली कुछ स्थानीय जातियों ने भी देश की राजनीति में महत्व प्राप्त कर लिया। फलत: देश की सांस्कृतिक गंगा में नया जल बह आया। लोक-संगीत की अनेक ध्वनियों ने राग-रागिनियों का सुसंस्कृत रूप प्राप्त कर लिया और एक छोर से दूसरे छोर तक यह महादेश आभीरों, गुर्जरों और जाटों के गीतों से भर गया। कदाचित् इन्हीं गीतों से प्रभावित होकर पूर्व में जयदेव ने संस्कृत में "गीतगोविन्दम्" की रचना की और मिथिला में विद्यापति के पद गूंजने लगे (१३७५ ई० १४५० ई०)। गीति-शैली के जन्म और विकास के लिए ये कुछ शताब्दियाँ बहुत ही महत्वपूर्ण हैं।

हिन्दी गीतिकाव्य का सब से पहला उन्मेष हमें कबीर में मिलता है। इकतारे की तान पर कबीर ने जो कुछ गाया, वही काव्य बन गया। कबीर का पद-साहित्य बहुत विस्तृत है और उसमें हम पहली बार अनुभूति, काव्य,

व्यंग्य और लोकानुभव का मिश्रण पाते हैं। कबीर का सारा काव्य गेय काव्य है। अतः उसमें गेय पदों की ही प्रधानता है। परन्तु ये सारे गेय पद किसी-न-किसी छन्द की सीमा के अन्तर्गत आ जाते हैं। अधिकांश पदों में किसी निश्चित छन्द को टेक, ध्रुव या ध्रुवक के साथ प्रयोग में लाया गया है। यह ध्रुवक संगीत और लय की योजना के लिए आवश्यक है। इससे भावना और संगीत के उत्कर्ष में सहायता मिलती है। परन्तु ध्रुवक को छोड़ कर शेष भाग छन्द-शास्त्र के आधार पर ही चलता है। कबीर के आलोचकों का कहना है कि कबीर छन्द-शास्त्र से अनभिज्ञ थे और उन्होंने खंजरी बजा-बजा कर या इकतारे की झंकार पर जो गा दिया उसमें छन्द को खोजना मूर्खता है। परन्तु वास्तव में यह एक बहुत बड़ी भ्रांति है। पाठ की अशुद्धता और मौखिक रूपान्तर के कारण अनेक पद स्पष्ट रूप से भ्रष्ट हो गये हैं, परन्तु यह निश्चित है कि कबीर के काव्य में छन्द-शास्त्र का पूर्ण रूप से पालन हुआ है। इसके लिये कबीर को शास्त्र के पन्ने नहीं उलटने पड़े होंगे। वस्तुतः साधु-संतों की मंडली में, नाथ-पंथियों और सूफ़ियों में जो छन्द चल रहे हैं, कबीर ने उन्हें अपने गीत का माध्यम बनाया।

कबीर के गीतों में जिन छंदों का उपयोग हुआ है उनमें सबसे अधिक प्रयुक्त छंद १५ और १६ मात्राओं वाले "चोबोला", चौपई और चौपाई छंद हैं। चौपई और चौपाई छंद में कबीर अधिक भेद नहीं करते। संगीत की मौज में चौपाई गाते-गाते वे चौपई पर उतर आते हैं और चौपई गाते-गाते चौपाई पर चढ़ जाते हैं। और भी अनेक छंद हैं, परन्तु कबीर की विशेषता यह है कि उन्होंने अपने छन्दों को ध्रुवक के साथ अत्यंत सुन्दर गेय रूप में उपस्थित किया है। कहीं ध्रुवक है, कहीं नहीं भी है, परन्तु संगीतमयता सब जगह मिलेगी। पदों में प्रचलित छन्दों के साथ या बीच-बीच में अनेक "धुनों" का भी उपयोग हुआ है। वस्तुतः गाने में इस प्रकार की "धुनों" का समावेश स्वतः ही हो जाता है। एक स्थान पर कवि ने ८ मात्राओं की एक धुन का इस प्रकार आकर्षक प्रयोग किया है :

कालबूत की हसतनी मन बउरा रे चलतु रचिओ जगदीस।
काम सुआइ गज बसि परे मन बउरा रे अंकुस सहिओ सीस ॥

बिखै बाचु हरि राचु समझु मन बउरा रे।
निरभै होइ न हरि भजै मन बउरा रे गहिश्रो न राम जहाजु ।।
।। राग गउड़ी ।।

यह स्पष्ट है कि कबीर की गीति-कला का आधार मूलतः दोहा और चौपाई छन्द ही हैं और उनकी परंपरा अपभ्रंश काल से चली आ रही है। हिंदी गीति-काव्य की परंपरा की दृष्टि से ये छन्द अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। कबीर ने इन्हें सीधे अपभ्रंश-परंपरा से ग्रहण नहीं किया, परन्तु सिद्ध-साहित्य और नाथ-वाणी से वे पूर्णतः परिचित जान पड़ते हैं।

कबीर के बाद सन्तों की परंपरा में गीति-शैली का बड़ा व्यापक प्रयोग हुआ। दादू और रैदास के पदों में गीति-माधुरी सचमुच अनुपम है। कबीर में प्रचारक-भाव की प्रधानता थी, वे अनन्य भक्ति-भाव में विभोर होकर गाने वाले जीव नहीं थे। इसी से उनके गीतों में उतनी भावुकता नहीं है। कृष्ण-काव्य में सूरदास और मीरा का जो स्थान है वही सन्त-काव्य में दादू और रैदास का। १५ वीं शताब्दी से १९ वीं शताब्दी तक संत-काव्य का निर्माण प्रचुर मात्रा में हुआ और उसने जनता को वैराग्य, ईश्वर-निष्ठा, रहस्य-प्रेम, मानव-जीवन की नश्वरता और मिलन एवं विरह के अनेक गीत दिये। आज भी कदाचित् कबीर के पद ही जनता को सबसे अधिक प्रिय हैं। उनमें जहाँ हमें उपनिषदों के रहस्य-ज्ञान की झलक मिलती है, वहाँ पंडितों और मुल्लाओं के प्रति तीव्र-से-तीव्र व्यंग्य भी दिखलाई पड़ता है। गीति-कला और विषयों की ऐसी विविधता कदाचित् अन्यत्र नहीं मिले।

हिंदी गीति-कला का सबसे प्रौढ़ और सुन्दर रूप हमें मध्ययुग के काव्य में मिलता है। एक दृष्टि से मध्ययुग सांस्कृतिक पुनर्निर्माण का युग है। चित्र-कला, वास्तुकला और साहित्य के क्षेत्रों में अभूतपूर्व क्रांति हो रही थी। वैष्णव भक्ति-भाव ने सारे भारत को भावना से भर दिया था। प्राचीन राग-रागिनियों का संस्कार हुआ और बैजू बावरा, हरिदास, मुहम्मद गौस, तानसेन प्रभृति सैंकड़ों लोक-प्रसिद्ध गायक हमारे सामने आये। ध्रुपद-धम्मार

की नई संगीत-शैलियाँ विकसित हुई और वैष्णव मन्दिरों में बड़े समारोह से इष्टदेव की पूजा का प्रवर्त्तन हुआ। मध्ययुग के सभी गीतिकार बड़े सुन्दर गायक थे। बैजू बावरा और तानसेन के कुछ बहुत सुन्दर गीत हमें मिलते हैं। हित हरिवंश, सूरदास, तुलसीदास, अष्टछाप के अन्य कवि और मीरा आदि की संगीतज्ञता में किंचित् मात्र भी सन्देह नहीं है। गीतों का यह साहित्य संसार के साहित्य में अद्वितीय है। केवल सूरदास के ६०० पद प्राप्त हैं। सब मिला कर वैष्णव गीति-काव्य में बीस हज़ार से अधिक उत्कृष्ट पद मिलेंगे। संतों के गीतों में साहित्य और कला का मर्म अधिक नहीं है—वे केवल लोक-गायक थे। गीति-कला की संपूर्ण सुषमा उनके गीतों में नहीं आती। परन्तु वैष्णव कवि काव्य-मर्मज्ञ, संगीतज्ञ और पंडित थे। अत: उनके गीतों में विदग्धता और अनुभूति का मणि-कांचन योग मिलता है। इन गीतों में एक ओर जयदेव, विद्यापति, हित हरिवंश और सूरदास का साहित्य है जो काव्यकला के सर्वोच्च शिखरों को छूता है, दूसरी ओर आत्मानुभूति से परिपूर्ण मीरा का साहित्य। १६ वीं शताब्दी वैष्णव गीतों का स्वर्ण-युग है। इसके बाद हमें परंपरा का पालन ही अधिक मिलता है। परन्तु प्रेम, भक्ति, आत्म-समर्पण और इष्टदेव के सौन्दर्य और लीला-विलास की सहस्रों भंगिमाएँ इस सारे साहित्य को फिर भी अपूर्व बना देती हैं। तुलसी की 'विनयपत्रिका' और सूर के विनयपदों में जीवन के निर्माण के जितने तत्व मिलते हैं, उतने कदाचित् पौराणिक साहित्य को छोड़ कर हमें और कहीं नहीं मिलते।

वैष्णव गीतों की सब से बड़ी निधि पुष्टिमार्गीय अष्टछापी कवियों द्वारा प्राप्त होती है। इस सम्प्रदाय में नैमित्तिक कर्मों की प्रधानता थी और प्रत्येक कर्म के साथ गीत-वादन का भी आयोजन रहता। फिर भिन्न-भिन्न ऋतुओं पर फाग, होली, शारदीया आदि की व्यवस्था की जाती। ऐसे प्रत्येक अवसर पर महाप्रभु किसी भक्त कवि को रचना करने की आज्ञा देते और वह तानपूरा छेड़ता हुआ मृदंग की ताल पर गीत गाता। इस प्रकार अधिकांश कृष्ण-साहित्य गान के स्वरों में लिखा गया। परन्तु गीत की विशेषता है आत्मानुभूति। इन वैष्णव गीतों में भक्तों की अपनी आत्मप्रेरणा का भी महत्वपूर्ण स्थान है। पदों में गीतात्मकता की पराकाष्ठा हो जाती है। गीत

आत्मा की सब से उन्मुक्त उड़ान है। पुष्टिमार्गीय भक्ति की परिणति तन्मयासक्ति थी। अतः कवि या तो स्वयं भक्ति में विभोर हो कर लिखता या पद-गान करते समय उच्च श्रेणी की आसक्ति को अपने भीतर उत्पन्न करने की चेष्टा करता। इस प्रकार उसे गान और गीतिप्रधान पदों का माध्यम ही अधिक सुगम जान पड़ता। तुलसी की प्रतिभा मूलतः प्रबंधात्मक हैं। परन्तु विनयपत्रिका और गीतावलियों में वे श्रेष्ठ गीतकार के रूप में हमारे सामने आते हैं, यद्यपि गीति-कला के क्षेत्र में वह सूर की समता नहीं कर सकते।

और मीरां के गीत तो हिंदी वैष्णव गीतों के मुकुट-मणि हैं। उनके काव्य की गीति-माधुरी अद्भुत है। वह छंदों को पूरा-पूरा भर कर उनके बाहर बह चलती है। उनके गीतों में हृदय को विभोर कर देने की क्षमता है। वह कला नहीं जानतीं, भाषा की सुगढ़ता नहीं जानतीं, छंद और अलंकार नहीं जानतीं। केवल सच्ची अनुभूति, केवल भावना, केवल संगीत के सहारे वह सारे काव्य-तत्वों को समेट कर उनसे ऊपर उठ जाती हैं। मीरा के गीतों में उनके हृदय की अन्यतम संवेदनाएँ मुक्त कंठ से गा उठी हैं।

आधुनिक युग में फिर एक बार गीतों की गुंजार उठी है। इस क्षेत्र में सब से पहला नाम भारतेन्दु का है। उन्नीसवीं शताब्दी में लावनी, नौटंकी, मंगल आदि अनेक लोक-गीत प्रचलित थे। इन लोक-गीतों की शैली प्राचीन पद-शैली से भिन्न थी। भारतेन्दु ने कई सहस्र की संख्या में पद लिखे हैं, परन्तु नई शैली के आधुनिक गीतों के निर्माण की ओर भी उन्होंने संकेत किया है। एक विज्ञप्ति में उन्होंने लिखा था : "भारतवर्ष की उन्नति के जो अनेक उपाय महात्मागण आजकल सोच रहे हैं उनमें एक और भी उपाय होने की आवश्यकता है। इस विषय के बड़े-बड़े लेख और काव्य प्रकाशित होते हैं, किंतु वे जन-साधारण के दृष्टिगोचर नहीं होते। इसके हेतु मैंने यह सोचा है कि जातीय संगीत की छोटी-छोटी पुस्तकें बनें और वे सारे देश, गाँव-गाँव में, साधारण लोगों में प्रचार की जायँ। यह सब लोग जानते हैं कि जो बात साधारण लोगों में फैलेगी, उसी का प्रचार सार्वदेशिक होगा और यह भी विदित है कि जितना ग्राम-गीत शीघ्र फैलते हैं और जितना काव्य को संगीत द्वारा सुन कर चित्त पर प्रभाव होता है उतना साधारण शिक्षा से नहीं होता।

इससे साधारण लोगों के चित्त पर भी इन बातों का अंकुर जमाने को इस प्रकार से जो संगीत फैलाया जाय तो बहुत कुछ संस्कार बदलने की आशा है।" इस विज्ञप्ति में आगे चल कर उन्होंने गीतों के विषय भी दिये हैं। ये विषय अधिकतः सुधारवादी हैं, परन्तु उनमें जन्मभूमि-प्रेम जैसे विषय भी हैं, जिन्हें अनेक प्रकार से अनुभूतिपरक बनाया जा सकता है। स्वयं भारतेन्दु ने आधुनिक शैली के गीत अधिक नहीं लिखे, परन्तु "जातीय संगीत" जैसी कुछ रचनाओं और नाटकों में हमें बड़े लोकरंजक गीत मिल जाते हैं। उनके कुछ गीतों में राष्ट्रीयता की बड़ी सुन्दर झलक मिलती है। एक गीत में जयचंद के प्रति वह कहते हैं :

काहे तू चौका लगाय जयचंदवा।
अपने स्वारथ भूलि लुभाए, काहे चोटीकटवा बुलाए जयचंदवा॥
अपने हाथ से अपने कुल के काहे तें जड़वा कटाए जयचंदवा॥
फूट के फल सब भारत बोये बैरी के राह बुलाए जयचंदवा॥
और नासि तें आयो बिलाने निज भुज कजरी पुताए जयचंदवा॥

एक अन्य गीत में वे भारत की मंगलाशा में डूब कर व्यथा-कातर कंठ से पुकार उठते हैं :

कहं करुणानिधि केसव सोए।
जागत नेक न जदपि बहुत बिधि भारतवासी रोए॥
इक दिन बह हो जब तुम छिन महिं भारत-हित विसराए॥
इक दिन पसु गज को आरत लखि आतुर प्यादे धाए॥

लोक-गीतों की "होली" तर्ज़ पर एक रचना देखिये :

भारत में मची है होरी।
इक ओर भाव अभाव एक दिसि होय झकझोरी॥
अपनी अपनी जय सब चाहत होड़ परी दुहुं ओरी॥

दुंद सखि बहुत बढ़्यो री ।
धूर उड़त सोइ अबिर उड़ावत सबको नयन भरो री ॥
दीन दसा अंसुअन पिचकारिन सब खिलार भिजयो री ॥
भीजि रहे भूमि लटो री ।
भइ पतझार तत्व कछु नाहीं सोइ बसन्त प्रगटो री ॥
पीरे मुख भइ प्रजा दोन ह्वै सोइ फूली सरसों री ॥
सिसिर को अंत भयी री ॥

भारतेन्दु गीतों की कला में समसामयिक युग की लोकगीति-कला को ले कर चले। उन्होंने संतों और वैष्णव कवियों की पद-शैली का भी बहुत व्यापक रूप में अनुकरण किया, परन्तु आधुनिक गीतों के प्रवर्तन की दिशा में भी उनका काम अत्यंत महत्वपूर्ण है। उनके बाद श्रीधर पाठक ने अपने साहित्यिक गीतों के लिए अनेक लोक-गीति-शैलियों का प्रयोग किया। परन्तु साहित्य में लोक-गीतों का योग यहीं समाप्त हो गया और साहित्यिक गीतों की धारा लोक-गीतों की जन-गंगा से अलग हो कर धीरे-धीरे शुष्क हो गई।

साहित्यिक गीतों का आरम्भ अंग्रेजी रोमांटिक कवियों के गीतों और कवि-गुरु रवि ठाकुर की "गीतांजलि" की छाया में हुआ। इस क्षेत्र में सब से पहले गीत मैथिलीशरण गुप्त ने प्रस्तुत किये। "झंकार" और "मंगल-घट" के अनेक गीतों ने हिंदी कवियों के सामने गीतिकला का एक नया आदर्श उपस्थित किया। इसमें संदेह नहीं कि आधुनिक गीतिकाव्य की परंपरा वास्तव में उन्नीसवीं शती के लावनी-कजली-आल्हा प्रभृति लोक-गीतों से आरंभ हुई थी। संतों और भक्तों की गीति-परंपरा से वह भिन्न थी। वास्तव में आधुनिक गीतिकाव्य की शैलियों के लिए हिंदी के पश्चिमी (खड़ी बोली) प्रदेश के लोकगीतों की शैलियों की खोज करनी होगी। लावनी, कजरी, दादरा, बिरहा इत्यादि को नया साहित्य-संस्कार मिला। "टेक" (एक विशेष चरण की पुनरुक्ति) का चलन बढ़ा। बाद में अनेक गीति-शैलियों का प्रयोग हुआ। इस नई प्रवृत्ति के विकास का अपना इतिहास है जो अभी लिखा नहीं

गया है। गुप्त जी के गीत प्रारम्भिक गीतों और छायावादी कवियों के बीच की कड़ी हैं। द्विवेदी युग में गीतिकाव्य में इतनी साहित्यिकता नहीं आई थी कि वह जन-जीवन से छूट कर अलग हो जाता और ध्रुपद-धमार की गायकी की तरह उसकी भी एक अलग कला बन जाती। कुछ वर्षों बाद छायावादी कवियों ने गीतिकाव्य को जनता के जीवन से दूर ले जा कर उन्हें कलात्मक खिलवाड़ बना डाला।

मैथिलीशरण गुप्त के बाद हिंदी गीतों के क्षेत्र में पंत, निराला और प्रसाद का पदार्पण हुआ। गीतों की एक नई शैली, एक नई भंगिमा का निर्माण प्रसाद के काव्य में हुआ। उनके नाटकों के गीतों ने हिन्दी गीतिकाव्य में नई माधुरी का द्वार उन्मुक्त किया। परन्तु प्रसाद के गीतों में दर्शन की धूमिल रेखाएँ थीं और उनका चिन्तन सब के लिए सहज-ग्राह्य नहीं था। फिर भी कुछ गीतों में उन्होंने ऐसे स्वर उठाए जो सब के लिये सुलभ थे। "बीती विभा-वरी, जाग री" और "ले चल नाविक, धीरे-धीरे" जैसे गीत शीघ्र ही हिंदी भारती का कंठहार बन गये। निराला ने हिंदी गीतों के स्वर-माधुर्य को हिंदी में उतारा और कहीं-कहीं भक्त कवियों के गीतों की झंकार से उन्हें चिर परिचित भी बना दिया। "परिमल" के कुछ गीत बड़े सुन्दर बन पड़े हैं। परन्तु "गीतिका" में उन्होंने गीतों की स्वाभाविक स्वर-लहरी को छोड़ दिया और उन्हें कला के बँधे-सधे ढाँचे में उतारना चाहा। राग-रागिनियों की विभिन्न स्वर-रेखाओं और तालों के वैचित्र्य पर ही उनका ध्यान अधिक जाने लगा। वह दर्शन की गहराइयों में उतर गये और उनके गीत प्राणों की सहज स्फूर्ति नहीं बन सके। पंत के गीतों में भाषा का माधुर्य अपूर्व है और प्रकृति का स्निग्ध, सुचिक्कण रूप भी कम आकर्षक नहीं है। "गुंजन" और "ज्योत्स्ना" के गीत कला के हाथों संवारी हुई सुन्दर प्रतिमाएँ हैं, परन्तु उनमें जीवन के स्पंदन की अपेक्षा कला की जड़ता ही कहीं अधिक है। वे वीणा के तारों की झंकारों के समान आकर्षक हैं, परन्तु उनमें प्राणों को सुख-दुःख की मूर्च्छनाओं में डुबाने-उतारने वाली मीड़ें नहीं है। संक्षेप में, हम यह कह सकते हैं कि २० वीं शताब्दी के पहले तीन दशकों में हिन्दी गीति-काव्य ने अनेक मंजिलें पार कीं और धीरे-धीरे उसका मध्ययुग के गीतों से अलग एक नया, विशिष्ट रूप स्थापित हो गया जिसकी प्रेरणा बंगला और

अंग्रेज़ी की गीतिकला थी। धीरे-धीरे गीत आधुनिक काव्य की एक प्रमुख शैली बन गया।

आधुनिक हिंदी काव्य में गीतिकला का सर्वोच्च विकास महादेवी वर्मा के गीतों में मिलता है। गीति में अनुभूति की प्रगाढ़ता वांछनीय है और इसी से उसमें विचार और चिन्तन की अपेक्षा हृदय-पक्ष की ही प्रधानता रहेगी। गीत रसधर्मी और भावधर्मी ही होते हैं। उनमें चित्रमय, नादमय, संगीत-लय-प्रधान भाषा-शैली का प्रयोग होता है। श्रेष्ठ गीत जहाँ एक ओर सुन्दर संगीत की प्रतिध्वनि उठाते हैं, वहाँ दूसरी ओर उनमें श्रेष्ठ चित्रों की सारी रंगीनी रहती है। काव्य, संगीत और चित्रकला का समन्वय ही गीत बन जाता है। गीतों के अपने ढाँचे होते हैं और यह ढाँचे ही कला का रूप ग्रहण कर लेते हैं, परन्तु उनमें कृत्रिमता न आनी चाहिये। दर्शन और साहित्य-शास्त्र के बड़े-बड़े पचड़े गीतों के विषय नहीं। मनोविज्ञान का भी केवल उतना ही समावेश हो जितना गीति-पक्ष को निर्बल न कर दे। उसे सहारा दे। परन्तु जो दो चीज़ें गीत को गीत बनाती हैं वे हैं उसकी गीतात्मकता और व्यंजना। गीतों में संकेत का स्थान महत्वपूर्ण है। वे काव्य की अपेक्षा संगीत और भावचित्र की ओर अधिक झुकते हैं। महादेवी के गीतों में श्रेष्ठ गीतों की यह सारी विशेषताएँ मिल जाती हैं। उनके गीत काव्य, चित्रकला और संगीत का अपूर्व समन्वय उपस्थित करते हैं और वे अलग-अलग इन तीनों तत्वों से बड़े ही हैं। उनमें शास्त्र की नितांत उपेक्षा है और केवल हृदय की मधुर वृत्तियों का उन्मुक्त प्रसार है। उन्होंने साधारण प्रचलित छंदों को ले कर उन्हें अपने हृदय के मधु से सिक्त कर दिया है। इसलिये वे पुरातन हो कर भी नवीन लगते हैं। लोक-छंदों की अनेक ध्वनियों का प्रयोग भी उन्होंने अपने गीतों में किया है और इस प्रकार उन्हें नई संगीत-माधुरी दी है।

गीतिकला में कुछ नये स्वर बच्चन, नरेन्द्र, गिरिजाकुमार माथुर और अंचल ने जोड़े हैं। छायावादी कवियों के गीत रहस्य-संकेतों से इतने भारी हो गये हैं कि उनमें कवि के व्यक्तिगत सुख-दुःख का योग नहीं मिलता। उनकी भाषा-शैली भी पांडित्यपूर्ण और व्यंजना-गर्भित है। बच्चन के गीतों में कवि के प्रतिदिन के हास-अश्रु, उसकी आशा-निराशा, उसकी चुनौती और

उस की मंगल-कामना ऐसी सरल भाषा में सहज मार्मिकता के साथ प्रगट हुई है कि हम मुग्ध हो जाते हैं। इन परवर्ती गीतिकारों ने गीतों को अपने हृदय के अनन्य स्पन्दन के तंतुओं से बांध कर आकाश से भूमि पर उतारा है और इनके द्वारा गीतिकला की युग-बन्दिनी कारा एक बार फिर मुक्त हुई है।

परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि अभी आधुनिक गीत अपनी सर्वोच्च उड़ान नहीं उड़ सका है। अभी उसे भाषा, शैली, गीति-भंगिमा और व्यंजना की अनेक मंज़िलें पार करनी हैं। अभी उसे लोक-हृदय को छूना है और कवि-कल्पना और संगीत-मधुरिमा में ऐसा अटूट ग्रन्थि-बंधन करना है, जो हमारे गीतों को एक साथ ही जनता और सहृदय के लिये आकर्षक बना दें।

आधुनिक हिंदी साहित्य

आधुनिक साहित्य से हमारा तात्पर्य उस साहित्य से है जिसका आरंभ भारतेंदु हरिश्चंद्र (१८५०-१८८५) से होता है। वैसे उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में ही नई प्रवृत्तियों में से कुछ महत्वपूर्ण प्रवृत्तियों का प्रवेश हिंदी में हो गया था। इंशा, लल्लू लाल, सदल मिश्र और सदासुखलाल का गद्य-साहित्य (१७९८-१८०६), आगरा ट्रेक्ट बुक सोसाइटियों के ट्रेक्ट और पाठ्य-पुस्तकें, ईसाई पादरियों के अंजील के अनुवाद और समाचार-पत्र एवं मासिक-पत्र आधुनिकता के प्रारंभिक चिह्न हैं। "उदन्त मार्त्तण्ड" (१८२६) और "बुद्धि-प्रकाश" (१८५२) जैसे पत्रों ने हिंदी साहित्य में नई शक्ति का प्रवेश कराया। परन्तु भारतेन्दु के आविर्भाव से पहले प्राचीनता और रूढ़िवादिता आधुनिकता पर भारी रहीं। भारतेन्दु ही ने साहित्य के क्षेत्र में नवीनता का स्थान दिया। नाटक के क्षेत्र में तो वे अग्रणी ही रहे। "नीलदेवी" के रूप में उन्होंने नारी-जागरण की भावना से ओतप्रोत पहला ऐतिहासिक नाटक हमें दिया, "भारत-जननी" में राष्ट्रीयता को अपना विषय बनाया और कई प्रहसनों और "प्रेम-योगिनी" में तत्कालीन समाज की द्विविधाओं पर व्यंग्य किया। काव्य के क्षेत्र में उनके संस्कार प्राचीनता की ओर जाते थे, परन्तु व्यवहार-बुद्धि उन्हें नवीनता की ओर ठेल रही थी। "नये ज़माने की मुकरी", नाटकों की कविताएं और दुर्भिक्ष एवं मँहगी पर लिखा काव्य नई प्रवृत्तियों की सशक्त सूचक हैं। उन्होंने प्रचलित गद्य को और भी परिमार्जित किया और उसका "हरिश्चंदी" रूप बाद में सर्वमान्य बन गया। "कवि-वचन-सुधा" और "हरिश्चंद-चंद्रिका" के द्वारा उन्होंने नई प्रवृत्तियों और नये गद्य-लेखन की परंपरा को ही दृढ़ किया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि निश्चित रूप से साहित्य १८६७ से बनने लगता है और उसने अब ६ दशक पार कर लिये हैं। आज एक बहुत बड़ा और महत्वपूर्ण साहित्य-धन हमारे सामने है। काव्य, नाटक, उपन्यास,

कहानी, एकांकी, रेखाचित्र, रिपोर्ताज, निबंध, आलोचना और इतिहास इस साहित्य-संपत्ति के विभिन्न अंग हैं। विस्तार और व्यापकता में यह साहित्य-निधि प्राचीन साहित्य-निधि से कम नहीं है, भले ही हम अभी सूर-तुलसी की गंभीरता और मार्मिकता और कबीर-जायसी-मीरा की साधनात्मक तेजस्विता को प्राप्त नहीं कर सके हों।

आधुनिक साहित्य की सब से बड़ी विशिष्टता यही बिविधता और व्यापकता है। वह जीवन के अपेक्षाकृत अधिक अंगों को छूता है। प्राचीन साहित्य मुख्यतः काव्य-साहित्य है। अध्यात्म, धर्म, नीति, वैराग्य, शृंगार और वीरता तक वह समाप्त हो जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि उसमें आध्यात्मिक जीवन के सभी स्तर आ जाते हैं, परन्तु सामान्य जीवन का बहुत कुछ बाहर रह जाता है। उसमें एक ओर संत-भक्त-सूफ़ी साधक हैं, दूसरी ओर राजा-सामंत; एक ओर योग, संन्यास और रागानुगा भक्ति हैं, दूसरी ओर नारी का अपूर्व रूप, प्रेम-विलास और विरह। आधुनिक युग में सामान्य जीवन इन विशिष्ट जीवनों से कहीं अधिक महत्वपूर्ण हो गया है। फलतः साहित्य में नये विषयों का समावेश हुआ। मनुष्य के चरित्र का मनोवैज्ञानिक और सामाजिक अंग आज महत्वपूर्ण हो उठा है। आज राम-कृष्ण जैसे इष्टदेव भी मानव-रूप में ही सामने आते हैं। हरिऔध का "प्रिय-प्रवास" और गुप्त जी के "साकेत", "पंचवटी" और "द्वापर" इस नई भावना के प्रमाण हैं। मनुष्य ही आज के युग का देवता है। वह हमारे साहित्यिकों का सब से प्रिय विषय है।

किसी एक वर्ग का मनुष्य नहीं, सामान्य मानव। कथा-कहानी और उपन्यास में आज सामान्य मनुष्य की चर्चा है। भारतेन्दु-युग में साहित्यकार ने देवी-देवता और सामंतों की चर्चा छोड़ कर मँहगी और अकाल की ओर ध्यान दिया। सामान्य जन-जीवन की विषमताएं और विडंबनाएं सामने आईं। नर-नारी के सामाजिक बंधन असह्य हो उठे। फलतः नाटक के क्षेत्र में प्रहसनों और उपन्यास के क्षेत्र में सामाजिक उपन्यासों का जन्म हुआ। आर्य-समाज के सुधार-आन्दोलनों ने विधवा-विवाह, बाल-विवाह, नवीन शिक्षा आदि की ओर ध्यान आकर्षित किया। किशोरीलाल गोस्वामी के उपन्यास

इसी क्षेत्र को अपनाते हैं। प्रेमचन्द की कुछ महत्वपूर्ण कृतियाँ "सेवासदन" (१९१८), निर्मला (१९२३), और "ग़बन" (१९३२) सामाजिक क्षेत्र से ही संबंधित हैं। बाद में इस सामाजिक क्षेत्र में नर-नारी का द्वन्द्व और नारी के बंधन ही विशेष महत्वपूर्ण हो उठे और जैनेन्द्र के उपन्यासों में हमें इस समस्या का नया रूप मिलने लगता है। "परख" (१९२८), "सुनीता" (१९३२), "कल्याणी" (१९३६), और "त्याग-पत्र" (१९३८) विवाह और प्रेम की समस्याओं को नवीन आलोक में हमारे सामने रखते हैं। उनमें नवीन युग की नारी का विद्रोह और उसकी कुंठा पूर्ण रूप से प्रतिफलित हुई है। "अश्क" के उपन्यासों और लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटकों में आधुनिक जीवन और समाज के असंतुलन के और भी अनेक पक्ष मिलते हैं। "राक्षस का मन्दर" (१९३१), "सिन्दूर की होली" (१९३४) और "राजयोग" (१९३४) इब्सन और शा के ढंग के समस्यामूलक नाटक हैं। कहानी के क्षेत्र में प्रेमचंद, अश्क, अज्ञेय और यशपाल सभी सुधारात्मक प्रवृत्तियों और सांस्कृतिक संघात को लेकर चलते हैं। मध्यवित्त के जीवन का यथार्थ ही इन कहानियों का बीज-मंत्र बन गया है।

आधुनिक साहित्य की एक दूसरी महत् प्रेरणा राष्ट्रीय भावना है। १९०५ ई० में प्रेमचन्द ने "सोज़े-वतन" की कहानियों के साथ उर्दू कहानी-क्षेत्र में प्रवेश किया था। बाद में वह हिंदी में आये और १९१० से १९३६ तक उन्होंने सौ के लगभग राष्ट्रीय कहानियों की रचना की। उपन्यास के क्षेत्र में "प्रेमाश्रम" (१९२२), "कायाकल्प" (१९२८), "रंगभूमि" (१९२४), और "कर्मभूमि" (१९३२) राष्ट्रीय आन्दोलन और राष्ट्रीय जीवन के चित्र हैं। भगवतीचरण वर्मा का "टेढ़े-मेढ़े रास्ते" नाम का उपन्यास, यशपाल का "दादा कामरेड" और अमृतलाल नागर की रचना "महाकाल" भी इस श्रेणी के अन्तर्गत आते हैं। कहानी के क्षेत्र में प्रेमचन्द्र और उग्र की कहानियाँ इसी अंग की पूर्ति करती हैं। काव्य-क्षेत्र में श्रीधर पाठक के "भारत-गीत" और मैथिलीशरण गुप्त की "भारत-भारती" में हम राष्ट्रीय भावना का पहला स्फुलिंग पाते हैं। पिछले ३० वर्षों के काव्य में राष्ट्रीय कविताओं और गीतों और राष्ट्र-नायकों के महिमा-गान को महत्वपूर्ण स्थान मिला है। गुप्त जी के बाद भारतीय आत्मा, नवीन, सोहनलाल द्विवेदी इस प्रवृत्ति को

आगे लेकर चले। "युगान्त" के बाद पंत के काव्य में भी राष्ट्रीय और सामाजिक संवेदन को प्रधानता प्राप्त हुई है। "स्वर्ण-किरण" और "स्वर्ण-धूलि" में उन्होंने स्वतंत्र भारत का अभिनन्दन किया है और भारत के भावी नेतृत्व की स्वर्ण-रेखाएं खेंची हैं। प्रसाद, निराला और पंत की कुछ कविताएं और गीतियाँ इस कोटि की सब से सुन्दर रचनाओं में से हैं। प्रसाद का गीत "हिमाद्रि तुंग श्रृंग पर" और निराला की कृति "जागो फिर एक बार" और उनकी देशवंदना की गीतियाँ इस प्रवृत्ति का प्रमाण हैं। नाटक के क्षेत्र में राष्ट्रीय भावों का परंपरा भारतेन्दु के "नालदेवी" और "भारत-जननी" से चलती है। आधुनिक युग में देशप्रेम नाटक का प्रमुख अंग बन कर आया है। उसके आधार पर स्वतंत्र नाटकों की रचना नहीं हुई है।

राष्ट्रीय भावना नाटक, उपन्यास और खंड-काव्य के क्षेत्र में ऐतिहासिक कथानकों को सिमेट लेती है। राष्ट्रीय उत्थान की भावना से प्रेरित हो कर हमारे नाटककारों ने भारत के गौरवपूर्ण इतिहास के पृष्ठों को उलटा है और अतीत के महानायकों की ओर श्रद्धा और भक्ति से देखा है। १६०५ ई० से ही प्रसिद्ध ऐतिहासिक व्यक्तियों को आधार बना कर लिखे गये नाटक हमें मिलते हैं। परन्तु इस क्षेत्र में प्रमुख कर्तृत्व श्री जयशंकर प्रसाद को प्राप्त है, जिन्होंने "राज्यश्री", "अजातशत्रु", "स्कन्दगुप्त", "चंद्रगुप्त" और "ध्रुव-स्वामिनी" लिख कर सांस्कृतिक पुनरुत्थान के साहित्यिक चरण को दृढ़ किया। इनके बाद इस क्षेत्र में सब से बड़ा नाम वृन्दावनलाल वर्मा का है। उन्होंने मध्ययुग के बुंदेलखंडी जीवन और शौर्य को कथा का रूप दिया है। "गढ़कुंडार", "विराटा की पद्मिनी", "झाँसी की रानी" और "मृगनयनी" जैसी रचनाओं में वे हमारे अतीत का बहुत सुन्दर चित्र उपस्थित कर सके हैं। वे निश्चय ही हिंदी के वाल्टर स्काट हैं। बंकिम बाबू, राखाल दास और मुंशी के साथ उनका नाम भी अतीत के उद्धारकों में लिया जा सकता हैं। प्रसाद की कुछ कहानियों में भी बौद्ध और मुग़लयुग के इतिहास के कुछ रोचक पृष्ठ खुल गये हैं। इस युग में हमारे साहित्यकारों ने अतीत की ओर कई कारणों से देखा है, परन्तु कारण चाहे जो भी हो उससे बीच में साहित्य की एक नई उदात्त धारा की प्रतिष्ठा हुई है।

आधुनिक युग का साहित्य मुख्यतः मध्यवित्ती साहित्य है। उसमें मध्यवित्ती समाज की चेतना ही अधिक है। महाजन-वर्ग, सामंत वर्ग अथवा धनी ज़मींदारों-धनपतियों का चित्रण व्यंग्य अथवा कटु आलोचना के रूप में ही हुआ है। इस क्षेत्र में प्रेमचंद ही अग्रणी हैं। उन्होंने मध्यवित्त समाज और ग्रामीण भारत का सूक्ष्म चित्रण उपस्थित किया है। बिगड़ी हुई जागीरदारी और ज़मींदारी प्रथा का भी चित्रण है, जैसे "प्रेमाश्रम" और "गोदान" में, और नये उद्योग-धंधों के मालिक पूँजीपतियों का भी, जैसे "रंगभूमि" में। मध्यवित्त जीवन की कटु सीमाएँ और विडंबनाएँ हमारे एकांकीकारों और कहानीकारों का विषय बन गई हैं। डॉक्टर रामकुमार वर्मा के अनेक एकांकी, अज्ञेय और जैनेन्द्र की कहानियों और अमृतराय और प्रकाशचंद के रेखाचित्र इसी वर्ग की संवेदना और विडंबना को उभारते हैं। इसमें संदेह नहीं कि निराला के परवर्त्ती व्यंग्य-काव्य और कम्यूनिस्टों के प्रगतिशील साहित्य में मध्यवित्ती नेतागिरी के विरुद्ध आवाज़ भी उठी है, परन्तु देश का मेरु-दंड आज यही मध्यवित्त है और उसी की रुचि-अरुचि साहित्य में प्रकाशित है। इस मध्यवित्त ने अंग्रेज़ी साहित्य और संस्कृति की सहायता से एक नया ही राजमहल तैयार किया है। अभी वह उसमें दृढ़ता की प्रतिष्ठा नहीं कर सका है। उसने अपने साहित्य में पश्चिम के तीन सौ वर्षों के सांस्कृतिक विकास को समेट लेने की चेष्टा की है। नाटक के क्षेत्र में शेक्सपिअर, इब्सन, शा, गेल्सवर्दी और मोलियर, कविता के क्षेत्र में पोप, गोल्डस्मिथ, वर्ड्सवर्थ, शेली, कीट्स, बायरन, टेनीसन और इलियट, उपन्यास के क्षेत्र में डिकेन्स, थेकरे, ड्यूमा, ह्यूगो, वेल्स, टाल्सटाय और गोर्की, कहानी के क्षेत्र में मोपांसां, फूलावयर, चेखव, गोर्की, ओ० हेनरी और गेल्सवर्दी, निबंध के क्षेत्र में मान्टेन, बेकन, गार्डिनर आदि और आलोचना के क्षेत्र में क्रोचे, आई० ए० रिचर्डस, इलियट और कितने ही अन्य प्रतिभावान पश्चिमी समीक्षक हमारे नये प्रकाश-स्तम्भ हैं। उपन्यास, कहानी, निबंध, आलोचना, एकांकी और रिपोर्ताज जैसा साहित्य-कोटियों के लिये हम पश्चिम के ही ऋणी हैं। इनका कला-रूप हमने पश्चिम से ही पाया है, भले ही आज हम "पंचतंत्र" और गुणाढ्य की "वृहत्कथा" में पश्चिमी कथा का मूल रूप देख लें। नाटक और काव्य हमारी अपनी साहित्य-रूढ़ियाँ हैं और इनमें हमारे पास संस्कृत साहित्य की विकसित परंपरा है। संस्कृत नाटक मूलतः रोमांटिक और

आदर्शवादी था। वह काव्यन्याय को ले कर चलता था। उसका विकास राजाश्रय में हुआ और शृंगार अथवा पौराणिक गाथाओं तक ही वह सीमित रहा। पश्चिम के जन-संस्कृति पर आश्रित नाटक ने उसके सामने एक चुनौती रखी। उन्नीसवीं शताब्दी के नाटककारों के सामने यह कठिन समस्या थी कि वह नाटक के क्षेत्र में पूर्वी-पश्चिमी सिद्धान्तों में से किस को अपनाये। हमारे साहित्यकारों ने समन्वय का मार्ग चुना। भारतेन्दु और प्रसाद के नाटक इसी समन्वय को ले कर चलते हैं। परन्तु अत्याधुनिक कलाकार पश्चिम तक ही सीमित रहे। लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटक हमें इब्सन और शा की कला की झाँकी दिखा कर ही रह जाते हैं। परन्तु नवीन प्रवृत्तियाँ एकदम अनुकरण तक ही सीमित नहीं रह सकतीं। भारत की मूल समन्वयात्मक प्रवृत्ति अंत में विजयी ही होगी। परंतु इसमें संदेह नहीं कि आज नाटक जीवन्त साहित्य है और रंगमंच हमारे हाथ में समाज के सुधार और विकास का महान अस्त्र बनने जा रहा है। डॉ० रामकुमार वर्मा का "कौमुदी महोत्सव" और जगदीशचंद्र माथुर का "कोणार्क" हमारे नाटककारों के स्वतंत्र विकास के ही प्रमाण हैं। एकांकी के क्षेत्र में भी अब हमने मौलिक प्रतिभा का विकास कर लिया हैं।

काव्य की हमारी परंपरा बड़ी सशक्त रही। कदाचित् भारतीय साहित्य की आत्मा उसका काव्य है। उसमें बाल्मीकि, व्यास, अश्वघोष, माघ, स्वयंभू, पुष्पदंत, जयदेव, सूर, जायसी, तुलसी, मीरा, कबीर, दादू, बिहारी प्रभृति कलाकार हैं। महाकाव्य, खंड काव्य, मुक्तक, गीति-काव्य आदि सभी शैलियों में भारतीय कवि की अन्यतम अनुभूति हमें इन रचनाओं में मिलती है। मध्ययुगीन हिंदी काव्य में कवि साधक भी बन गया है। फलतः काव्य जीवन-निर्माण और व्यक्तित्व-विकास की एक बहुत बड़ी साधना है। पश्चिम के पास काव्य है, परन्तु व्यक्तित्व के विकास की यह साधना नहीं। वहाँ का साहित्य मूलतः इहलौकिक है। उन्नीसवीं शती में हमारे कवियों के सामने पश्चिमी काव्य आया। उसमें प्रकृति आलम्बन के रूप में उपस्थित थी। कवि की वैयक्तिक अनुभूति उसमें महत्व को प्राप्त थी। वैयक्तिक सुख-दुःख, हर्ष-विषाद, मिलन-वियोग, ईर्ष्या-द्वेष को आधार बना कर कवि की वाणी पल्लवित हुई। एक व्यापक मानव-भाव से यह सारा काव्य ओत-प्रोत था।

उसमें पौराणिक परंपराओं और गाथाओं से भिन्न एक नवीन-विकास की सूचना थी। मनुष्य ही इस काव्य का विषय था। उसमें सहज उच्छ्वास की ही प्रधानता थी, कल्पना का ऊहापोह नहीं था। भारतीय काव्य अध्यात्म-साधना, भक्ति और शृंगार की बेड़ियों में बंदी हो गया था। कवि की अपनी अनुभूति काव्य का विषय थी ही नहीं।

नये साहित्य में कविता साहित्य-रूढ़ियों और अलंकृति की बहुलता से बाहर निकल कर वैयक्तिक अनुभूति के क्षेत्र में आई। प्रकृति, मानव, वैयक्तिक सुख-दुःख और विराट भावभूमि हिंदी काव्य के नये उपकरण हुए। फल यह हुआ कि आज काव्य का पूर्वापर बहुत कुछ विच्छिन्न हो गया है। यूरोप के पिछले २५० वर्षों की काव्य-धारों की छाप हमारे काव्य में आ गई है और हम अत्याधुनिक पाश्चात्य कवियों के पग पर पग रखते हुए चल रहे हैं। मैथिली-शरण गुप्त, सियारामशरण गुप्त, प्रसाद, पंत, निराला, नरेन्द्र, दिनकर और महादेवी का काव्य पश्चिमी काव्य से अनुप्रेरणा लेता हुआ भी भारतीय काव्य-परंपरा से पुष्ट है। उसका आदर्शवादी और नैतिकतामूलक स्वर आज भी सशक्त है, परन्तु कवि की दृष्टि आज जितनी व्यापक है, उतनी कदाचित् कभी नहीं थी। भाषा-शैली के क्षेत्र में वह नित नये प्रयोग कर रहा है। पूर्व को संपूर्ण रूप से सुरक्षित रख कर भी वह पश्चिम के साथ रह सका है, यह भविष्य के लिए मंगल-चिह्न ही है।

निबंध और आलोचना के क्षेत्र में अभी उतना नहीं हो सका है। निबंध हमारे लिए एक नितान्त नई साहित्य-कोटि थी। गंभीर निबंधों का आरंभ आचार्य रामचंद्र शुक्ल से होता है। अभी इस श्रेणी के निबंध अधिक नहीं हैं। ललित निबंधों के क्षेत्र में हम अभी ही उतरे हैं। फिर भी कुछ पठनीय सामग्री हमारे पास अवश्य हो गई है। १९२२ ई० से उच्च कक्षाओं में हिंदी का अध्ययन-अध्यापन आरंभ होता है। आलोचनात्मक अध्ययन का आरम्भ भी तभी से होने लगता है। पिछले चालीस वर्षों में निबंध और आलोचना के क्षेत्र में हमें कई कलाकार और विचारक मिलते हैं। इनमें महावीर प्रसाद द्विवेदी, रामचंद्र शुक्ल, पूर्ण सिंह, बालमुकुन्द गुप्त, हज़ारी प्रसाद द्विवेदी, जैनेन्द्र, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, सियारामशरण गुप्त और नंददुलारे

वाजपेयी महत्वपूर्ण हैं। यह स्पष्ट है कि इन दोनों क्षेत्रों में मौलिक चिन्तन और कला का पहला चरण अभी चल रहा है। अभी हम आलोचना के क्षेत्र में पूर्व और पश्चिम के समन्वय पर आधारित किसी स्वतंत्र समीक्षा-शास्त्र की सृष्टि नहीं कर सके हैं। लेसिंग, क्रोचे, रिचर्ड्स और इलियट जैसे पश्चिमी आलोचकों की मान्यताओं को हमने भारतीय सौन्दर्य-बोध और साहित्य-शास्त्र के मापदण्ड पर नहीं परखा है। कम-से-कम काव्य के क्षेत्र में हमारे पास अपने निश्चित मानदण्ड थे। रसवादी और अभिव्यंजनावादी दृष्टिकोण आज के शास्त्रीय दृष्टिकोणों के सामने तुच्छ नहीं हैं। फिर स्वयं हिंदी काव्य और साहित्य की श्रेष्ठतम प्रवृत्तियों और कृतियों को लेकर हम स्वतन्त्र साहित्य-शास्त्र का निर्माण नहीं कर सके हैं। निबंध और आलोचना के क्षेत्र में हमें अभी बहुत कुछ करना है।

आधुनिक कविता

"आधुनिकता" का अर्थ प्रत्येक युग में नया संदर्भ ग्रहण करता है। इसीलिए आधुनिक हिन्दी कविता पर विचार करने के पूर्व हमें उसकी सीमाएं निर्धारित करनी होंगी। रूढ़ार्थ में भारतेन्दु से आधुनिक कविता का जन्म होता है और अधुनातन काव्य तक उसकी गति है। परन्तु एक संपूर्ण शताब्दी को विहंगम दृष्टि में भी लाना कुछ कठिन है। इसीलिए हमें इस वार्ता में हिन्दी के आधुनिक काव्य-विकास का क्षिप्र पर्यवेक्षण करते हुए मुख्यतः पिछले बीस वर्षों के समसामयिक काव्य पर अपनी दृष्टि केन्द्रित करनी होगी। इस प्रकार हम अपने विवेचन में आधुनिकता का निर्वाह भी कर सकेंगे और उसे युग-निष्ठा भी दे सकेंगे।

आधुनिक कविता हमारे उसे नये जीवन की उपज है जो विदेशी अंग्रेज़ जाति के शासक-रूप में प्रतिष्ठित हो जाने के बाद नई परिस्थितियों के कारण विकसित हुआ और बाद में पश्चिम के साहित्य और ज्ञान-विज्ञान से अनुप्राणित हुआ। पलासी-युद्ध के बाद बंगाल में इस नई राज-शक्ति की नींव जमी और उसे देशव्यापी एवं एकच्छत्र बनने में सौ वर्ष लगे। उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ से ही देश के साहित्य में नई प्रवृत्तियों का उदय होने लगता है, परन्तु शताब्दी का उत्तरार्द्ध ही उन प्रवृत्तियों को दृढ़ कर सका। फलतः काव्य-क्षेत्र में नवोन्मेष भी इसी युग में सामने आया। काव्य में जिसे हम भारतेन्दु-युग कहते हैं वह यही अर्द्ध-शताब्दी है। इस अर्द्ध-शताब्दी में काव्य-क्षेत्र में वही पुरानी काव्य-भाषा, ब्रज, चलती रही और कवियों का एक बहुत बड़ा वर्ग रीति और भक्ति युगों के संस्कारों में बंधा रहा। भारतेन्दु ने समसामयिक विषयों पर कविता लिख कर काव्य को नई सुधारात्मक एवं राजनीतिक चेतना दी और उसे बदलते हुए जीवन से संपृक्त किया। अपनी सर्वश्रेष्ठ रचनाओं में वे रसनिष्ठा का आदर्श निबाहते रहे और भाषा की विशुद्धता तथा अनुभूति की सच्चाई के आग्रह ने उन्हें नई

काव्य-भूमि दी। उन्हें हम रीति-मुक्त कवियों और स्वच्छन्दतावादी कवियों के बीच में रख सकते हैं। काव्य को निर्वैयक्तिक साधना और शास्त्रीय मर्यादा से बाहर लाकर उन्होंने उसे व्यक्तित्वनिष्ठ किया और भावुकता से भरा। परन्तु उनकी महत्ता किसी नये काव्यादर्श के कारण उतनी नहीं है जितनी नई काव्य-भूमि के निर्माण के कारण। जातीयता, राष्ट्रीयता और सुधारवाद के तीन प्रमुख पक्षों को लेकर भारतेन्दु-युगीन काव्य सामने आता है। इसी युग में श्रीधर पाठक की रचनाओं में प्रकृति को आलंबन के रूप में ग्रहण किया गया। नया कवि मध्यवित्ती समाज का सदस्य था, जो पश्चिमी शिक्षा-दीक्षा के कारण जहाँ एक ओर पश्चिम के मानवतावाद से प्रभावित हुआ, वहाँ उसमें धीरे-धीरे राष्ट्रीय चेतना भी जाग्रत हुई जिसका एक पक्ष सुधारवाद था। यह मध्यवित्त समाज नागरिक समाज था और नवविकसित नगरों के व्यस्त जीवन ने प्रतिक्रिया-स्वरूप प्रकृति की ओर उसे आकर्षित किया। पश्चिम के काव्य में प्रकृति की स्वतंत्र स्थिति थी। इसलिए वह प्रकृति की ओर लौटा।

परन्तु बीसवीं शताब्दी के पहले बीस वर्षों में काव्य की यह प्रगतिशीलता नष्ट हो गई। द्विवेदी-युग में आचार्य द्विवेदी के द्वारा जहाँ काव्य-भाषा का प्रश्न खड़ी बोली के पक्ष में हल हुआ, वहाँ उनके पौराणिक इतिवृत्तों के आग्रह और संस्कृत के वार्णिक छन्दों के प्रयोग के कारण स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्तियाँ कुंठित रहीं। द्विवेदी जी गद्य-पद्य की भाषा में अन्तर नहीं देखते थे। फल यह हुआ कि इस युग में "पद्य" ही अधिक लिखा गया, "कविता" कम सामने आई। यह युग भाषा-संस्कार और छन्दों के क्षेत्र में प्रयोग का युग है और अब उसका केवल ऐतिहासिक महत्व ही रह गया है। भारतेन्दु-युग की सुधारात्मक प्रवृत्ति इस युग में भी चलती रही, परन्तु नीतिवाद की प्रधानता होने के कारण काव्यस्फुरण दुर्बल रहा।

प्रतिक्रियास्वरूप द्विवेदी-युग में ही जयशंकर प्रसाद और माखनलाल चतुर्वेदी के द्वारा भावना और कल्पना के आग्रह के साथ स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्तियों ने बल पकड़ा और छायावाद की नींव पड़ी। इस काव्यधारा का विस्तार १९१८ से १९३६ तक माना जा सकता है। आधुनिक हिन्दी कविता के ये

बीस वर्ष काव्योन्मेष के सुन्दरतम वर्ष हैं। इनमें भाषा प्राथमिक प्रयोग की स्थिति से ऊपर उठ कर भाव और स्वप्न का वाहन बन गई और कवियों का सद्यःजाग्रत मनोनिवेश एक अतीन्द्रिय कल्पना-लोक की सृष्टि करता है। छायावाद काव्य राष्ट्रीय क्षेत्र की वहिर्मुखी हलचलों की अंतर्मुखी वैयक्तिक अभिव्यक्ति है। उसने उन्नीसवीं शताब्दी के अंग्रेज़ी रोमांटिक कवियों, प्रमुखतः शेली, के प्रभाव को स्वीकार किया है और रवीन्द्रनाथ की सौन्दर्य-चेतना और रहस्य-भावना से भी वह प्रभावित है। रवीन्द्रनाथ का काव्य जहाँ कालिदासी सौन्दर्यनिष्ठा का अभिनव संसार निर्मित करता है, वहाँ मध्ययुगीन वैष्णव कवियों, मर्मियों, संतों-सूफ़ियों और लोक-गायक बाउलों का विरह-मिलन-भाव: अध्यात्म-भाव भी नवयुग की नई भाषा ग्रहण करता है। यूरोप की रोमांटिक काव्यधारा से भी वे रस ग्रहण करते हैं। इस प्रकार छायावाद स्वीय भूमि पर आधारित होते हुए भी हिन्दी से इतर अनेक प्रभावों से उद्दीप्त है। उसमें हिन्दी भारती का कंठ पहली बार फूटा है। उसे हम वयःसंधि का काव्य भी कह सकते हैं। एक अभिनव आश्चर्य, विश्व के प्रति एक चमत्कृत दृष्टि, प्राकृतिक सौन्दर्य के प्रति रहस्यमय भावना और नारी के वन्दन-गीतों से यह काव्य मुखरित है। पिछले युगों की सामाजिक और सुधारात्मक चेतना कवि के व्यक्तिगत भावविलास के नीचे दब गई है और परवर्त्ती प्रगतिशील काव्य में ही वह भावना-सूत्रों के दुर्बल पड़ जाने पर ही उभर सकी है। परन्तु राष्ट्रीय चेतना का सूक्ष्म प्रसार प्रसाद, पंत और निराला के प्रगीतों में स्पष्ट रूप से मिलता है और यही राष्ट्रीय भाव कवियों को अतीत के स्वर्ण-युगों की ओर भी प्रेरित करता है। छायावाद काव्य की प्रकृति मुख्यतः प्रगीतात्मक है, परन्तु निराला जैसे कवि के काव्य में क्लासिकल या मर्यादावादी काव्य-शैली का भी अभिनव योग है। "राम की शक्ति-पूजा" और "तुलसीदास" जैसी रचनाएँ छायावाद के उत्कर्ष-काल में ही सामने आती हैं, परन्तु इस काव्य की श्रेष्ठतम देन कदाचित् कामायनी है, जो प्राचीन ऐतिह्य को नवीन मनोवैज्ञानिक आलोक में देखती है और पश्चिम की भौतिक-वैज्ञानिक संस्कृति की एकांगिता की घोषणा करती हुई इच्छा, कर्म और ज्ञान की समन्वयात्मक भूमिका पर शैवाद्वैती मानववाद की प्रतिष्ठा करती है। इस रचना में हम छायावादी वायवी सौन्दर्य-चेतना को क्लासिकल सौन्दर्यदृष्टि से परिपुष्ट पाते हैं।

छायावादी काव्य के अंतर्गत रहस्यवादी काव्य की भी एक धारा प्रवाहित थी। प्रारंभ में अस्पष्ट विस्मय-भाव और "गीतांजलि" के प्रभाव को ले कर यह रहस्य-चेतना विकसित हुई, परन्तु निराला, प्रसाद और महादेवी में उसने हिन्दी संत-वैष्णव-परंपरा से सहारा लिया और अपने दार्शनिक पक्ष को सुनिश्चित किया। इस काव्यधारा का जैसा व्यक्तित्व महादेवी के काव्य में निखरा है वैसा आधुनिक भारतीय साहित्य में कहीं नहीं मिलता। स्वयं रवीन्द्रनाथ के गीतों की रहस्यदृष्टि भी महादेवी की अंतरंग कोमलता और मर्म-मधुर गीति-लहरी के सामने दुर्बल जान पड़ती है।

१९३६ के बाद हमें भावना और विचार के नये सूत्र काव्य-क्षेत्र में दिखलाई देते हैं और आकाशचारी कवि भावातिशयता छोड़ कर "जग के दाने" के प्रति आकर्षित हो जाता है। राष्ट्रीय क्षेत्र के नये समाजवादी और मार्क्सवादी आन्दोलनों की प्रतिक्रिया काव्य में उभरती है और विद्रोह, क्रांति एवं विध्वंस के स्वर मुखर हो उठते हैं। नवनिर्माण के सपने अब वायवी नहीं रह पाते। वे "वादों" में बँध जाते हैं। इससे निश्चय ही काव्य-तत्व की हानि हुई है और बौद्धिकता बढ़ी है। वैचारिक काव्य निबंध-काव्य के रूप में सामने आया है और भावपक्ष की कलात्मक एवं सौन्दर्यमय अभिव्यंजना की ओर से कवि की दृष्टि हट गई है। नवीन प्रगतिवादी काव्य रूस और चीन के नवोदित काव्य से प्रेरणा ग्रहण करता है और उसमें राजनीतिक और सामाजिक नारे ही काव्यबद्ध हो जाते हैं। परन्तु इस प्रगतिशील काव्यधारा के साथ ही प्रयोगवाद के रूप में स्वच्छन्दतावादी आन्दोलन का नया प्रसार भी सामने आता है, जो फ्राइडीय मनोविज्ञान की उपलब्धियों और यूरोपीय प्रतीकवाद की प्रेरणा ग्रहण कर अंतर्जगत को स्वप्नमण्डित करता है और रूप-रंग की अभिनव सृष्टि के लिए प्रयोगशील बनता है। इस क्षेत्र में अज्ञेय, गिरिजा-शंकर माथुर, नरेश मेहता, भवानीप्रसाद मिश्र आदि कवियों की रचनाएँ नये मनों का निर्माण करती हैं। "तार सप्तक" के कवियों में हम नई अभि-व्यंजना की ओर जो आकुलता देखते हैं उसे केवल पश्चिम का प्रभाव कह कर टाला नहीं जा सकता। प्रत्येक युग में कवि की भाषा-छन्द-प्रतीक की खोज नया रूप ग्रहण करती है और प्रयोग की ड्योढ़ी को पार करके ही वह परंपरा से अपना संबंध जोड़ पाता है। "नई कविता" के पिछले दो भागों

से यह स्पष्ट है कि प्रयोग प्रयोग के लिए भी किये जा रहे हैं और वैचित्र्य की मरुभूमि में कवि के खो जाने की आशंका है। यह स्थिति प्रतिक्रियात्मक है, परन्तु यह निश्चय है कि छायावादी काव्य की भाँति यह काव्य भी प्रयोगों की दलदल से उभर कर आत्मविश्वास के नये चरण बढ़ाता हुआ स्वस्थ और निर्माणोन्मुख काव्य की ओर आगे बढ़ेगा। कविता में गतिरोध की पुकार प्रयोगवादियों के लिए बहुत बड़ी चेतावनी है। परन्तु भविष्य उनके साथ है, इसमें संदेह नहीं।

समसामयिक काव्य में और भी अनेक प्रवृत्तियों का संश्लेष है। छायावादी गीति-काव्य भाव और भाषा के क्षेत्र में नये प्रसार को लेकर आगे बढ़ा है। नये गीत लोक-कंठ से प्रभावित हैं और उनकी संवेदना धरती की गंध से आपूरित है। उनमें सुचिक्कणता नहीं, स्वर-वैषम्य है। फिर भी उनमें हिन्दी का स्वर अधिक सुरक्षित रह सका है। गीतों की यह नई धारा हिन्दी-काव्य का प्रमुख अंग है। इसके अतिरिक्त प्रबंध और आख्यान के क्षेत्र में नये प्रयोग चल रहे हैं। बौद्धिकता के आग्रह के कारण इन क्षेत्रों में नई रचनाएँ आई हैं जो परंपरित ढंग का महाकाव्य होने का दावा करने पर भी महाकाव्य नहीं हैं। परन्तु चरित्रों और कथा-संदर्भों में नये पक्षों का उद्घाटन हुआ है और 'साकेत' और 'कामायनी' की परंपरा आगे बढ़ी है। गीति-नाट्य के क्षेत्र में उदयशंकर भट्ट के प्रयोग, काव्य-रूपक के रूप में पंत और भगवतीचरण वर्मा की रचनाएँ, डॉ० धर्मवीर भारती के "अंधा कुंआ" जैसे नये नाट्य-प्रयोग हमें विश्वास दिलाते हैं कि नई काव्य-चेतना एकदम निष्प्राण और अमौलिक नहीं है। यह स्पष्ट है कि नया काव्य प्रयोगों की भूमि पर बढ़ता हुआ सशक्त अभिव्यंजना और मौलिक अभिनिवेश के क्षेत्र में पहुंच गया है और उसकी प्रगति को आशा और उत्सुकता से देखा जाना चाहिए। नई कविता अब नई न रह कर हमारी संवेदना-शिराओं के लिए परिचित स्पन्दन बनती जा रही है और वह धीरे-धीरे अपनी दुर्बलताओं को पहचान कर उनके ऊपर उठना सीख रही है।

समसामयिक कविता की सबसे बड़ी दुर्बलता यह है कि उसने महान आदर्शों, महत् संवेदनाओं एवं अतलस्पर्शी अनुभूतियों से नाता तोड़ दिया है। वह

हमारे आज के विश्रृंखल और आदर्शच्युत जीवन का प्रतीक बन गई है। निराला, पंत, प्रसाद और महादेवी के काव्य में महत् की उपासना और अनुभूति की सच्चाई है और इसी से उनका काव्य जीवन के संदर्भ से अनुप्राणित है। इन कवियों ने अपनी भावकता और शब्द-साधना के द्वारा व्यक्तिगत कल्पनाओं और अनुभूतियों को सार्वजनिक बना दिया है। इन्होंने शाश्वत और चिरंतन का पल्ला पकड़ा है, परन्तु उनके काव्य में समसामयिक जीवन की वैचारिक और भावुक भूमियों की संपूर्ण प्रतिच्छाया है और उनका सूक्ष्म आकलन है। उनके स्वप्न भी यथार्थ से अधिक वास्तव हैं। नया कवि स्वप्नों को छोड़ कर यथार्थ की अनुर्वरा भूमि पर ही विचरण करना चाहता है, परन्तु यह यथार्थ स्वप्न की वास्तविकता ग्रहण करके ही सार्थक हो सकेगा। अभी नवजीवन का यथार्थ नये काव्य का स्वप्न नहीं बन सका है और वह नये कवि के भाव-जगत की उतनी संपूर्णता और अतिशयता से नहीं छूता। आज का सत्य जब प्रज्ञा का सत्य-मात्र न रह कर भाव-लोक का स्वप्न बन जायगा, तभी नवीन कविता जन-जन के रस-कोष स्पर्श करने में समर्थ होगी।

नया काव्य मुख्यतः मासिक पत्रों, वार्षिकियों, अनेकमुखी एवं व्यक्तिमुखी संकलनों और स्फुट रचनाओं के रूप में सामने आ रहा है। पुस्तकों के रूप में आने से पहले वह पत्रों के पृष्ठों पर उतरता है और बहुत कुछ वहीं तक परिमित रह जाता है। पिछले दिनों बराबर यह शिकायत रही है कि काव्य-ग्रंथ पड़े रह जाते हैं। उनकी बिक्री नहीं होती। आज कवि को साहित्य-क्षेत्र में वह अग्रगामिता प्राप्त नहीं जो कथालेखक और समीक्षक को है। पश्चिम में भी यही स्थिति है और कवियों को जनता तक पहुँचने के लिए चमत्कारक या नाटकीय रूप से प्रयत्न करना पड़ रहा है। सच तो यह है कि सब कहीं कविता ने जन-संपर्क खो दिया है और वह प्रयोगों एवं दुश्चिन्ताओं में डूब गई है। कदाचित् नये जीवन की अभिव्यक्ति के लिए वह उपयुक्त माध्यम का निर्माण नहीं कर पा रही है। यह अवश्य है कि पश्चिम में इलियट, ऐज़रा पाउन्ड, काफ़्का, स्टेफ़न स्पेन्डर आदि कवि नई काव्य-शैलियों के प्रवर्त्तक हैं और उन्होंने वैज्ञानिक युग के संदर्भों को रस-निष्ठ कर नई भाषा और नये प्रतीकों के सहारे काव्य को नई भूमि दी

है, परन्तु वह भूमि रस-भूमि की अपेक्षा प्रज्ञा-भूमि ही अधिक है। फल यह हुआ है कि काव्य कूट बन गया है और उसका साधारणीकरण नहीं हो सका है। वह एक छोटे-से संकीर्ण दायरे में घूमता है और एक प्रकार के गोष्ठी-काव्य को जन्म देता है। विद्रोह और ध्वंस, प्रचार और प्रताड़न ही उसके लक्ष्य हैं, भीतरी और बाहरी निर्माण पर उसकी दृष्टि कम जाती है। वह साधना-विरल और चमत्कारजीवी है। आवाज़ आती है कि कविता का युग अब नहीं रहा और जीवन के गद्य ने उसका गला घोट दिया है। विज्ञान और काव्य की विरोधी प्रकृति की दुहाई दे कर बात समाप्त कर दी जाती है।

परन्तु कविता के क्षेत्र में गतिरोध की बात अंशतः ही सत्य है। इससे पुष्ट केवल यही होता है कि आज का कवि जीवन के रस-कोषों तक नहीं पहुँच पाया है और युग की नई भौतिक चेतना को उच्च एवं सूक्ष्म अध्यात्म-भूमि नहीं दे सका है। वह युग के अनुरूप सौन्दर्यमय प्रतीकों की खोज में असफल रहा है और उसने जीवन की असंगतियों को ही अपनी भावगत सीमा मान लिया है। इस चक्रव्यूह को उसे भेदना होगा। तभी वह स्वस्थ और प्रभावशाली काव्य की सृष्टि कर सकेगा। काव्य को जीवन की वहिर्मुखी प्रवृत्तियों से नहीं, उसकी अन्तरंगी अनुभूतियों और निष्ठाओं से संपृक्त करके ही हम कविता का गौरव लौटा सकेंगे। आवश्यकता है नई सौन्दर्य-दृष्टि के निर्माण की, जो युग की असंगतियों और विरोधाभासों को पार कर भाव और भाषा के नये संतुलन और जीवन के निर्माणात्मक रूप-रंग पर बल दे। पश्चिम में विज्ञान का आतंक है और भौतिक एवं राजनीतिक संस्कारों ने कविता का रस-शोषण किया है। पूर्व में कालचक्र की गति ऊर्ध्वमुखी है और उसका आत्मविश्वास अभी भी सुरक्षित है। उसकी आध्यात्मिक तथा सौन्दर्यमुखी चेतना हतप्राण नहीं हुई है। युग करवटें बदल रहा है। हमारा मुख उगते हुए सूर्य की ओर है, अस्तंगत रवि की ओर नहीं। फिर समझ में नहीं आता कि हम पश्चिम की विशृंखल, आत्मकुंठित और प्रयोगविजड़ित काव्य-प्रेरणाओं का अनुकरण एवं अनुचरण क्यों करें और अपने रसबोध के अनुरूप अपनी काव्य-परंपरा को ध्यान में रखते हुए स्वस्थ नवनिर्माण की ओर क्यों नहीं बढ़ें। नया युग कवि के लिए एक बड़ी चुनौती है। उसे

स्वीकार करके ही कवि को आगे बढ़ना होगा। वह जब विज्ञानमयी संस्कृति के आतंक से ऊपर उठ कर नये जीवन की आस्था के सहारे प्रयोग की दल-दल से बाहर निकल कर सब के हृदयस्पन्दन से अपना हृदय-स्पन्दन मिलायेगा, तभी नई भावना के कमल काव्य-सरोवर में खिलेंगे, तभी कवि और उसका काव्य मूर्धाभिषिक्त हो सकेगा। जब तक ऐसा सुयोग नहीं आता, तब तक प्रयोग प्रयोग ही रहेंगे और उनकी रसात्मक भूमि उद्‌घाटित नहीं हो सकेगी। नये जीवन के प्रति आस्थावान और कविता के भविष्य के संबंध में सुनिश्चित हो कर ही हम नई भाव-भूमियों को प्राप्त कर सकेंगे और हमारी अभिव्यंजना शैली-मात्र न रह कर अनुभूति का पुंजीभूत प्रकाश-काय बनकर सार्थक हो सकेगी। कविता यदि व्यक्तिगत सौन्दर्यानुभूति की सार्वभौमिक अभिव्यंजना है तो हमें उसकी पुनः प्रतिष्ठा के लिए इसी मार्ग से लौटना होगा। काव्य संपूर्ण दृष्टि है। वह युग की जागतिक अनुभूतियों और उपलब्धियों का समुच्चय है। विज्ञान काव्य का अंगी बन कर ही अपनी जड़ता से विमुक्त हो सकेगा। अध्यात्मनिष्ठ होने में ही उसकी सार्थकता है। मध्य-युग में काव्य जिस प्रकार धर्म और दर्शन को कर्मकाण्ड और तर्कवाद की भूमियों से ऊपर उठा कर सार्थक हुआ था, उसी प्रकार अर्वाचीन युग में वह विज्ञान को स्वप्नगर्भित करके ही सफल हो सकेगा। पश्चिम में विज्ञान और कविता का द्वन्द्व है। पूर्व की कविता इस द्वन्द्व से ऊपर उठ कर तात्कालिक मानव की सार्वत्रिक, संपूर्ण और असंवृत अनुभूति को वाणी देने में प्रयत्नशील है। नई हिन्दी कविता अपने इस उत्तरदायित्व का निर्वाह करे तो सफल हो। ऋचा कहती है : 'कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः' प्रत्येक युग की तरह आज भी कवि को मनीषी, परिभू और स्वयंभू होकर ही सार्थक होना होगा।

नया कविता

१९४६ में "नई कविता" पर लिखते हुए समीक्षक को पिछले दस वर्षों की कविता में स्वर-ताल दिखलाई नहीं पड़ा था, क्योंकि वह उसे वास्तविक और प्रतिनिधि कविता मानने के लिए तैयार नहीं था और नई कविता का कोई विशिष्ट प्रतिनिधि भी उसे दिखलाई नहीं देता था। नई कविता के अभ्यासी पुराने और प्रथित कवि नई कविता को मानदण्ड नहीं दे सके, यह आज ऐतिहासिक सत्य है, क्योंकि न भगवती बाबू की "भैंसागाड़ी" आदि व्यंग्य-रचनाएँ "नयी कविता" बनीं, न निराला की "कुकुरमुत्ता" और "नये पत्ते" की रचनाएँ, न पंत के नये प्रयोग जो "ग्राम्या" पर ही समाप्त हो गये। काव्य में बौद्धिकता या बौद्धिक काव्य का जो चलन निबंध-काव्य की भूमिका पर पंत के काव्य-गद्य ("युगवाणी") से आरंभ होता है, "नयी कविता" का एक महत्वपूर्ण पक्ष अवश्य है, परन्तु वह संपूर्ण "नयी कविता" नहीं है। आज २५ वर्षों के प्रयोगों और उपलब्धियों के बाद नई कविता की स्थिति अधिक स्पष्ट है और हम वहीं नहीं हैं जहाँ १९४६ में थे। वास्तव में "तारसप्तक" (१९४३) के प्रकाशन के साथ नई कविता "प्रयोगवाद" मान ली गई। "प्रगतिशील काव्य" के रूप में काव्य में प्रगतिशीलता का आन्दोलन १९३६ से ही चल रहा था और वह भी वाद का रूप धारण कर चुका था। इस प्रकार १९४६ में नई कविता "प्रगतिवाद" और "प्रयोगवाद" के दो ख़ेमों में बँट गई थी और उसका विकासमान एवं विद्रोही स्वरूप पीछे पड़ गया था। पिछले दशक में दोनों के बहुत-से कवि "नयी कविता" के झंडे के नीचे इकट्ठे हैं और तरुण कवियों की नई पीढ़ी भी सामने आई है, जो प्रयोगवाद के पुरोधा अज्ञेय के नेतृत्व को भी स्वीकार करने को तैयार नहीं है। वह कभी शमशेरबहादुर सिंह की ओर देखती है, कभी धर्मवीर भारती की ओर, कभी अनागता की आँखों में वर्त्तमान को पढ़ना चाहती है और कभी सूर्योदयी चेतना का स्वप्न देखना पसंद करती है। प्रवृत्तियाँ अनिर्दिष्ट नहीं हैं, परन्तु उनके सूत्र बिखरे हुए हैं और इस "पच्चीसी" के मायाजाल को हम सुलझा नहीं पा रहे हैं।

पिछली २५ वर्षों की नई काव्यधाराओं में प्रयोगवाद, प्रतीकवाद और नयी कविता के नाम से जिस एक व्यक्तित्व को हम बराबर जुड़ा पाते हैं वह "अज्ञेय" का व्यक्तित्व है। "तारसप्तक" के द्वारा उन्होंने ही "प्रयोगशील" काव्य का नेतृत्व किया और उसे "प्रयोगवाद" में ढालने वाले आलोचकों से मोर्चे लिए। "दूसरा सप्तक" और "तीसरा सप्तक" अज्ञेय के प्रमाण-पत्र से मान्य बने हैं, यद्यपि आरंभ से ही उन्होंने नये कवियों को राह का अन्वेषी बता कर अपने व्यक्तित्व को सब से स्वतंत्र रखने की गुंजाइश कर ली है। इन तीनों "सप्तकों" में हमें कवियों की दो पीढ़ियाँ तो निश्चय ही मिलती हैं, क्योंकि "तीसरा सप्तक" अज्ञेयवादी नहीं है और जिस पीढ़ी के कवियों को उसमें स्थान मिला है उस पीढ़ी के अधिक प्रतिनिधि कवि संकलन के बाहर हैं। "नयी कविता" के चार अंकों में इस दूसरी पीढ़ी का स्वर अधिक स्पष्ट सुनाई पड़ता है और इस वर्ग के कवियों पर से अज्ञेय की जादू धीरे-धीरे हट रहा है। इस विवेचना से यह स्पष्ट हो जाता है कि नई कविता के आन्दोलन की स्थिति बहुत-कुछ रीतिकाव्य जैसी है जिसके नेतृत्व के केन्द्र कई रहे हैं और प्रतिनिधि कवि भी कई हैं,—अलग-अलग भावक्षेत्र और शिल्प को लेकर चलने वाले कवियों को हम एक धारा में बाँध भी नहीं सकते। पुरानों में अज्ञेय, डॉ० रामविलास शर्मा, नागार्जुन, गिरिजाकुमार माथुर और नयों में धर्मवीर भारती, नरेश मेहता, शमशेर, केदारनाथ सिंह जैसे कवियों को हम केन्द्र बना कर १९३६–६० तक के काव्य की नई प्रवृत्तियों का अध्ययन कर सकते हैं। इस आन्दोलन के बाहर द्विवेदी युग, "छायावाद" "राष्ट्रवाद" और "रहस्यवाद" की प्रवृत्तियाँ भी चलती रही हैं और महाकाव्य, आंचलिक काव्य तथा नये गीत के रूप में हम विकासात्मक भूमि पर भी बहुत कुछ नया ला सके हैं। रुबाइयों, सॉनेटों और ग़ज़लों के ढेर-के-ढेर छपे हैं और 'हाइकू' जैसे नये काव्यरूप भी आये हैं, जो एज़रा पाउन्ड द्वारा स्वीकृत चीन-जापान की मुक्तक शैली की महार्घता के प्रमाण हैं। कहने का तात्पर्य यही है कि पिछले २५ वर्षों में हमारे काव्य-संवेदन इतने विविध और विभिन्न हैं और उनकी भूमिका इतनी प्रयोगात्मक एवं "सांप्रदायिक" है कि इस समूचे काव्यप्रयास का कोई केन्द्र खोजना कठिन बात है। अज्ञेय के सिर पर नवीनता का सेहरा अवश्य है, परन्तु वह भी सभी नई नवीन प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व नहीं करते।

यह स्पष्ट है कि नई कविता को हमें "नयी कविता" से अलग रखना होगा।" "नयी कविता" पारिभाषिक प्रयोग है और उसमें पिछले पच्चीस वर्षों का सारा काव्य अभिव्यंजित नहीं होता। समीक्षकों ने इस सामासिक प्रयोग को अतिव्याप्ति देते हुए छायावादोत्तर काव्य को नई कविता कहना चाहा है, परन्तु नये काव्यान्दोलन या नई काव्यधाराओं के संश्लेष के रूप में नयापन 'नयी कविता" में ही सार्थकता पाता है, अन्य स्थान पर वह नये दृष्टिकोण की उपज नहीं है।

आज यह स्पष्ट है कि प्रगतिवाद, प्रयोगवाद और "नयी कविता" एक ही स्वरारोह के तीन सप्तक हैं। "प्रगति", "प्रयोग" और नयेपन को लेकर हमने परंपरा से मुक्त होने का घोर प्रयत्न किया है जो कहीं-कहीं हमें अति-वादी सीमाओं तक ले गया है। हमें देखना होगा कि यह परंपरा क्या थी और इससे मुक्त होने की आकुलता के पीछे कौन-सी नई सांस्कृतिक विवशता है। जिसमें प्रगतिशीलता या प्रयोगशीलता की दुहाई देकर नये सामाजिक संदर्भों की खोज की गई है या अंतर्मन की निगूढ़ आकांक्षाओं एवं धूपछांही वर्जनाओं को आधार बना कर नई सौन्दर्य-चेतना जाग्रत की गई, वह मूलतः नई जीवन-चेतना की ही प्रतिच्छाया हो सकती है। साथ ही रंग-रूपहीन, वायवी और अस्पष्ट "नयी कविता" शब्द की नई कुहेलिका में जो उच्छ्व-सित हो उठा है वह बौद्धिक और कातंत्री होकर भी परिस्थितियों की ही देन है, क्योंकि कवि को अनिवार्यतः "नयी कविता" लिख कर नया कवि होना पड़ा है। वह नया युगधर्म कौन-सा है जो हमारे संवेद्य को नया बनाता है और हमारे कवि-कर्म को प्रयोगी बनने की मजबूरी देती है।

१९४६ में समीक्षक अधिक-से-अधिक नई कविता की नई भाषा के प्रति आश्वस्त हो सका था, इससे आगे बढ़ना कदाचित् उसके लिए संभव नहीं था, क्योंकि वह यह मान कर चला ही नहीं कि "नयी कविता" नये जीवन की अनिवार्यता की देन है। उसने प्रगतिशील काव्य को "प्रगतिवाद" कह कर संकुचित कर दिया और उसके क्रांतिकारी सामाजिक प्रयोजन को अदेखा ही रहने दिया। उसने यह कह कर छुट्टी पा ली कि प्रगतिशीलता अपने में कोई काव्यधर्म नहीं है और प्रत्येक युग में नये काव्यप्रयत्न निश्चय ही प्रगति-

शील होंगे। नई कविता के वर्ग-विरोधी, सामाजिकन्याय, स्वतंत्रता, समता और बंधुत्व के स्वर को उसने अराष्ट्रीय कह कर या मार्क्सवादी राजनीतिक खेमे से जोड़ कर अपने कर्त्तव्य की इतिश्री कर ली। प्रयोगों से वह छुट्टी नहीं पा सकता था, क्योंकि आँख रहते लोहे के हस्ताक्षरों को अस्वीकार भी नहीं किया जा सकता था। परन्तु प्रयोग को शिल्प (भाषा, शैली और छंद) की नवीनता का आग्रह बना कर उसके पीछे छिपे सांस्कृतिक सत्य से अपने को बचा लिया गया। शिल्प में भी भाषा का नयापन समीक्षक के लिए महत्वपूर्ण बना, क्योंकि काव्य कुछ नहीं तो भाषात्मक (या भाषागत) तो है ही ! वास्तव में छायावाद-काल के आरंभ से ही लोकभाषा और काव्य-भाषा को लेकर दो शैलियाँ हिन्दी काव्य में चलती रही हैं। पंत और प्रसाद में सुसंस्कृत और परिष्कृत तत्समगर्भित भाषा का उपयोग मिलता है और "पल्लव" की भूमिका से यह स्पष्ट है कि पंत को खड़ी बोली की काव्यभाषा के निर्माण में कितनी शक्ति और सूझ लगानी पड़ी। राष्ट्रवादी कवि (माखन-लाल चतुर्वेदी और "नवीन") सांझ और सूझ के बीच में झूलते रहे और उन्होंने अपनी कविता की भाषा को अनगढ़, अंतर्मनीय और विशृंखल रखने में ही अपनी संवेदना की रक्षा समझी। परन्तु निराला जैसा कवि भी हमें मिलता है जो लोककण्ठ को ही काव्यकण्ठ बना देता है। खड़ी बोली का सब से सुन्दर और लोककण्ठसमन्वित उपयोग हमें "परिमल" (१९३०) में ही मिलेगा। अपने जीवन के अंत तक निराला भाषा को संवारते-सुधारते और काव्योपयोगी बनाते रहे हैं। "तुलसीदास" और "राम की शक्तिपूजा" निराला की भाषा की अप्रतिम शक्ति की प्रतिपादिका रचनाएँ हैं और उनमें उन्होंने उसे महाकाव्योचित गरिमा प्रदान की है। परन्तु शीघ्र ही उन्होंने "कुकुरमुत्ता", "बेला" और "नये पत्ते" में इस तत्समगर्भित भाषाशैली से नीचे उतर कर एकदम अभिनव प्रयोग आरंभ किये और भाषा को एक बार फिर लोककण्ठ दिया। उनकी इन रचनाओं से जनवादी काव्यप्रवृत्तियों का आरंभ होता है। महादेवी, बच्चन और अंचल की रचनाएँ पंत की काव्यभाषा से स्वतंत्र होने के प्रयत्न हैं, परन्तु ये कवि शिष्ट वर्ग के कण्ठस्वर को ही मुखर कर सकते थे। उनकी भाषा व्याकरणसम्मत, सुचेतनाबद्ध, प्रासादिक और भावानुगामी है। नई कविता-धारा के कवियों को भाषा को एकदम नया मोड़ देना पड़ा, क्योंकि वे जो कहना चाहते थे वह प्रतीक की भाषा चाहता

था, या बुद्धि की, या जनभाषा। इस प्रकार भाषा का प्रयोगात्मक स्वरूप नई कविता की एक प्रमुख शर्त बन गया।

नई भाषा नई संवेदना की सूचक है। नये शब्द नये सांस्कृतिक परिवेश और नये आदर्शों की सूचना देते हैं। वे हमें जोड़ते हैं या तोड़ते हैं। उनमें हमारे युग का अन्यतम बोध वाणी पाता है। काव्य-भाषा में अप्रचलित और अप्रयुक्त नये शब्द जब चलते सिक्के बन जाते हैं तो कवि की संवेदना उन्हें नए जीवनमूल्यों से मुद्रित कर देती है। यह निश्चय है कि नये कवियों की भाषा छायावाद के कवियों की भाषा से कहीं अधिक व्यावहारिक है। वह कभी बुद्धि की भाषा है (बौद्धिक काव्य), कभी उसमें नई सौन्दर्य-दृष्टि की छाप है (प्रतीक काव्य), कभी उसमें नई कर्म-चेतना का सामाजिक और राजनीतिक आदर्श तेजस्वी स्वर में वाणी पाता है (प्रगतिवादी काव्य), कभी वह नये रंगों-रूपों-चित्रों को ऐन्द्रियता की चटुलता देती है, (बिंबवादी काव्य), कभी वह संवेदना का इत्र निकाल कर रख देती है। (विशुद्ध काव्य), कभी उसमें अन्तश्चेतनामूलक यथार्थ का वैचित्र्य या कुंठा का छायालोक जागता है (अतियथार्थवादी काव्य)। यही नहीं, उर्दू काव्य की संगीतात्मकता, ध्वनिमूलकता तथा मार्मिकता देने का भी प्रयत्न हुआ है और उसे अनुचित भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उर्दू भाषा और साहित्य पिछली तीन शताब्दियों में हिन्दी प्रदेश के एक बड़े संभ्रान्त और शिष्ट वर्ग की भाव-संवेदना का कोश रहा है। वह हमारी घर की संपत्ति है जिस पर हमें गर्व भी हो सकता है और जिस की लोकप्रियता तथा काव्योपयोगिता के हम क़ायल हैं। तात्पर्य यह है कि प्रयोग भाषा के क्षेत्र में इतने अधिक और संपन्न दिखलाई देते हैं कि समीक्षकों ने उन्हें देख कर ही संतोष कर लिया। इन प्रयोगों के लिए उन्होंने कवियों को वाहवाही दी और धिक्कारा भी। इन प्रयोगों के पीछे मध्यवर्ग के प्रसार का इतिहास है और उसमें उसकी संक्रांति, वर्गबद्धता तथा जनसापेक्षता के चिह्न भी स्पष्ट हैं। नई कविता का कवि हाथीदांत के महल के बाहर आ कर जीवन के चौराहे पर खड़ा हो गया है और उसकी कविता में धूप के धान खिल उठे हैं। प्रश्न है कि ऐसा क्यों है ? क्या यह किसी सांस्कृतिक संक्रांति का सूचक है ? क्या हम नई कविता में नये जीवनमूल्यों का कोई स्वरूप उद्‌घाटित देखते हैं। यह

स्पष्ट है कि नई कविता मध्यवर्ग के काव्य का नूतनतम चरण है और उसमें द्वितीय महायुद्धोत्तर परिस्थितियों की अमिट छाप है। उसमें यथार्थवादी और प्रतीकवादी भूमिकाओं का प्राधान्य है। यथार्थवाद के भी दो रूप हैं, एक वाह्यार्थव्यंजक, दूसरा अंतश्चेतनामूलक। जीवन का यथार्थ हिन्दी उपन्यास में "सेवासदन" (१६१६) में प्रेमचंद के साथ आता है और उसकी भूमिका आदर्शवादी है। "कफ़न" (१६३६) में वह विशुद्ध यथार्थ का बाना धारण कर लेता है। आदर्श के चोग़ा उतर जाता है और हम नग्नता, विद्रूपता और अवचेतना के संसार में पहुँच जाते हैं। एक ओर राजनीतिक मुक्ति के साथ सामाजिक न्याय की मांग है, दूसरी ओर "मानस-रोगों" की विशाल चित्रपटी उभारी गई है जो मध्यवर्गी संस्कृति की नई संक्रांति का प्रमाण है। बाहर की अराजकता और भीतर की विशृंखलता को छायावाद काव्य की भाषा में देना असंभव बात थी, क्योंकि वह उदात्त जीवन-चेतना और भावात्मक सौन्दर्यबोध की भाषा थी। इसीलिए कवियों को अपनी अनुभूति को संवेदनीय बनाने के लिए कम भावनाप्रवण, अधिक वस्तून्मुखी तथा जनसापेक्षी भाषा गढ़नी पड़ी। इसी के साथ नये सौन्दर्यबोध को नये बिंबों, प्रतीकों, उपमानों और उत्प्रेक्षाओं में बांधने की आवश्यकता हुई। भाषा और भाव के ये नये प्रयोग नये काव्य को एकदम असंतुलित बना देते हैं, परन्तु राशन और मंहगाई पर पलने वाली महायुद्ध तथा महाकाल में जन्मी नई पीढ़ी के लिए संतुलन और शोभा का अर्थ ही क्या हो सकता था ?

छन्द का परिवर्त्तन जीवन-छन्द के परिवर्त्तन का ही प्रतीक है। "छायावाद-" युग में निराला ने अपने मुक्त छन्द के द्वारा काव्य की मुक्ति का संदेश दिया था। परन्तु युग इस प्रकार की भावोन्मुक्ति के लिए तैयार नहीं था। वह अधिक-से-अधिक "पल्लव" की भूमिका में विज्ञापित चरणों के संकोच और विस्तार तक जा सकता था। स्वयं निराला मुक्त छन्द के उत्कृष्ट गीत-शिल्प और सुबद्ध छन्द-सौष्ठव की ओर बढ़े। परन्तु नये युग की यह स्वच्छंदतावादी प्रवृत्ति छन्दों के बन्धन को किसी भी प्रकार स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं थी। छायावाद-काव्य छन्द-शिल्प के सर्वोच्च सोपान पर पहुँच कर शैथिल्य का अनुभव कर रहा था। फलतः नई कविता में मुक्त

छन्द को प्रश्रय मिला और उसकी लय कवित्त-छन्द की लय न होकर गद्य की लय बन गई। वह भाव पर आधारित न होकर अर्थबोध से शासित हो गया। कदाचित् इसे ही अर्थ की लय कहा गया है। काव्य-संवेदना से काव्योन्मेष को निकाल कर अर्थ, भाव या वर्णन के समतल पर जो बचता है वही पंक्तियों की तोड़-मोड़ और विरामचिह्नों की अराजकता के द्वारा संवेद्य बनाया जाने लगा। इसमें पश्चिमी काव्य का अनुकरण भी कम नहीं है और इसमें संदेह नहीं कि मेलार्मे-रिम्बो से लेकर इलियट-ऑडन तक इस नये काव्य की एक परंपरा पश्चिम में बहुत पहले से थी, परन्तु युद्धोत्तर हिन्दी काव्य यदि अपने काव्य-संवेदन और काव्य-शिल्प की प्रामाणिकता के लिए पश्चिम के पास गया तो उसके पीछे उसकी निजी अनिवार्यता भी होगी। समान जीवनस्थितियाँ समान जीवनधर्म को जन्म देती हैं और युद्धोत्तर पीढ़ी का मानसिक और नैतिक संगठन दो महायुद्धों के बीच के यूरोपीय काव्य से भिन्न नहीं हो सकता। इसीलिए हम नये काव्य को पश्चिम की काव्य-परंपरा से जोड़ते हुए भी उसके स्वतंत्र व्यक्तित्व को ही महत्व देंगे। पिछले २५ वर्षों के काव्य के द्वारा हिन्दी काव्य विश्वकाव्य के साथ सट कर बैठ गया है। यह ठीक हुआ कि ग़लत, यह दूसरी बात है, परन्तु वस्तु-स्थिति कुछ ऐसी ही है। काल-प्रवाह को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

यह कहा गया है कि यूरोप का काव्य ह्रासोन्मुखी संस्कृति की उपज है और इसीलिए वह उद्देश्यहीन और कलावादी है। आत्महीनताद्योतक भावनाओं की सृष्टि को भारतीय राष्ट्र के नवजीवन के लिए घातक भी बतलाया गया है। परन्तु काव्य का सत्य जीवन के सत्य से ही निःसृत होता है और यह आवश्यक नहीं है कि स्वतंत्र होने से ही हम स्वस्थ और संपन्न चेतना से धनी भी बन जायें। सम्पूर्ण राष्ट्र की सामासिक चेतना उत्कर्षमय हो सकती है, परन्तु किसी एक विशिष्ट वर्ग की अंतश्चेतना में कुंठा, अवसाद और आत्महीनता का बोध भी छिपा रह सकता है। युद्धोत्तर युग में हमारे मध्यवर्गीय शिक्षित जन ने जिस आर्थिक और नैतिक संक्रांति का अनुभव किया है वही नई कविता में प्रतिबिंबित है। यूरोपीय मध्यवर्ग ने एक दूसरे संदर्भ में ऐसी ही मनःस्थिति का अनुभव किया है। अब भी वह उससे उबर नहीं सका है। "नयी कविता" से यह तो सिद्ध ही होता है कि

अभी भी राष्ट्रीय परिस्थितियाँ विषम हैं और मध्यवर्गीय मन की आत्म-प्रवंचना और प्रताड़ना का अन्त नहीं हुआ है। अवरुद्ध मनश्चेतना और आत्महीनता से ऊपर उठ कर ही स्वस्थ काव्य का निर्माण किया जा सकता है और यह राष्ट्रीय जीवन के स्वास्थ्य पर ही निर्भर है। नया काव्य जैसा है उसे उसी रूप में हमें स्वीकार करना होगा, वह जो नहीं है वह नहीं है। कोई भी युग अपने कंधों पर खड़ा नहीं हो सकता। युग की सीमाएँ ही काव्य की सीमाएँ हैं। राष्ट्रवादी भावोन्मेष और नवजागरणमूलक सांस्कृतिक चेतना ने मध्यवर्ग को आशा, उल्लास, आध्यात्मिक उत्कर्ष और उत्कृष्ट सौन्दर्यचेतना का काव्य दिया तो स्वतन्त्रता से पूर्व के राष्ट्रीय गतिरोध, द्वितीय महायुद्ध, अकाल, मंहगी, विभाजन और रक्तपात ने उसे यथार्थ जीवन की क्षुद्रताओं और दमित आकांक्षाओं के वैचित्र्य और वैविध्य से भर दिया। "नया काव्य" हमारी खण्डित मनश्चेतना का प्रतीक है। वह दिवास्वप्न की भाँति असार्थक और क्षयमान होने पर भी युगधर्मी है। शाश्वत और चिरंतन को छोड़कर यदि नया कवि जीवन के भूचाली धरातल पर खड़ा है तो उसका हड़कंपी संवेदन भी उसके काव्य में ध्वनित होगा। शक्ति राष्ट्रीय है तो दुर्बलता भी राष्ट्रीय हो सकती है। उसे आँख की ओट नहीं किया जा सकता। हम "नयी कविता" को सहें, उससे बचें नहीं।

सभी नाम सार्थक हैं। वे प्रतीक मात्र हैं, वस्तुओं के व्यंजक शब्द मात्र। इससे अधिक उनका मूल्य नहीं है। इसका कारण यह है कि नाम अभिरुचिमूलक और व्यक्तित्वगत होते हैं और अभिरुचि आपेक्षिक है तथा व्यक्तित्व की सीमा है। यह आश्चर्य का विषय नहीं है कि आधुनिक काव्य की विकासमान प्रवृत्तियों को हम कोई सार्थक नाम नहीं दे सकें। उसे "भारतेन्दु-युग", "द्विवेदी युग", "छायावाद", "प्रयोगवाद", "प्रगतिवाद" और "नयी कविता" कह कर हमने अभिरुचि-भेद और ऐतिहासिक क्रमविकास को चरितार्थ किया है। वास्तविकता यह है कि पिछले ६० वर्षों का काव्य एक विकासमान इकाई है। उसके पीछे ऐतिहासिक परिस्थितियों और मध्यवर्ग की बदलती मनोवृत्तियों का प्रसार है। आरंभ से ही उसमें बौद्धिक और स्वच्छंदतावादी प्रवृत्तियाँ चलती रही हैं। बौद्धिकता का पहला चरण सुधारवाद था और उसने विचारात्मक निबंध-काव्य को जन्म दिया। द्विवेदी-युग के काव्य की

नीरसता और इतिवृत्तात्मकता, उसकी तर्कवादी, बौद्धिक एवं सौष्ठववादी चेतना का प्रमाण है। एक प्रकार से १८६७ से १९१७ तक (५० वर्ष) का हिन्दी-काव्य हृदयमन्थन का काव्य है और उसमें सामाजिक जीवन के परिष्कार, आत्मचिन्तन, परिस्थितियों के व्यंग्य तथा मर्यादावादी-परंपरावादी मनश्चेतना के दर्शन प्रचुर मात्रा में होते हैं। यद्यपि भारतेन्दु को हम आधुनिक काव्य का पहला रोमांटिक कवि कह सकते हैं, परन्तु उनकी यह स्वच्छंदतावादिता उनके ब्रजभाषा काव्य को ले कर है। खड़ी बोली की काव्य-धारा का जन्म १८८२-८३ के लगभग होता है और वह सुधारात्मकता, राष्ट्रीयता और बौद्धिकता तक नये सामाजिक उन्नयन का मन्त्र लेकर चलती है। उसका सौन्दर्यबोध प्रकृति की शोभा-माधुरी तक ही सीमित है, क्योंकि कवियों की पहली बार नागर दृष्टि मिली है। ग्राम तथा प्रकृति की ओर उनका स्मृतिमूलक आग्रह आवश्यक बात है। १९२० ई० तक राष्ट्रीय चेतना का बोध भी बौद्धिक एवं पुनरुत्थानवादी धरातल पर रहा है, वह हार्दिक और भावोन्मेषी नहीं बन सका है। इन पचास वर्षों में हम बंगला काव्य को माइकेल मधुसूदन दत्त से रवीन्द्रनाथ तक प्रसारित पाते हैं और एक प्रकार से ये उसके स्वर्णयुग को सूचित करते हैं। स्वच्छंदतावादी काव्य का अत्यंत मौलिक और उत्कर्षप्राण स्वरूप हमें इन पचास वर्षों के बंगला काव्य में दिखलाई देता है। जीवनदृष्टि ही नहीं बदलती, काव्य के मूल्य और काव्यसंवेदन के स्वरूप में भी आमूल परिवर्त्तन हो जाता है। बीसवीं शताब्दी के तीसरे-चौथे दशकों का हिन्दी-काव्य इस नवप्रवर्त्तन से पर्याप्त लाभ उठाता है। वह स्वतंत्र और मौलिक भूमिका पर उतनी ही बड़ी चीज़ को जन्म देता है।

"छायावाद" (१९२०-४०) राष्ट्रीय साहस (दुस्साहस ?), अप्रतिम भाव-योग और दुर्दमनीय कला-चेतना का युग है। भावना और कल्पना के पंख खुल जाते हैं और काव्यविहग ऊँची-से-ऊँची उड़ाने भरने को तैयार होता जाता है। "आँसू" और "पल्लव" से "गीतिका" और "दीपशिखा" तक उसके क्षितिज का वृत्त निरंतर फैलता रहा है। जहाँ भारतेन्दु-युग और द्विवेदी-युग में हमें रसात्मक और निबंधात्मक काव्य की सामान्य भूमियाँ ही मिलती हैं वहाँ छायावाद-युग में हमारा आधुनिक काव्य पहली बार विश्व-

काव्य से होड़ लेता हुआ दिखलाई देता है। रवीन्द्रनाथ, कालिदास, मध्ययुगीन भक्त और रीतिकवि ही नहीं, पश्चिम के रोमांटिक काव्य का मधु भी उसने संचित किया है, परन्तु उसका काव्य-क्षितिज रोमांटिकों से आगे नहीं बढ़ सका है। वर्ड्स्वर्थ, शेली, कीट्स और ब्राउनिंग उसकी सीमाएँ हैं। रवीन्द्रनाथ ने गेटे, शिलर और विक्टर ह्यूगो तक जा कर यूरोपीय रोमांसवाद के आदि स्रोत का स्पर्श किया है, परन्तु हमारे छायावादी कवि उसके पीछे नहीं जा सके। परन्तु देशव्यापी राष्ट्रीय आन्दोलन और भाव-स्पन्दित सामयिक जीवन का उन्मेष प्राप्त कर वे अपने काव्य को प्राणवान, सार्थक और समर्थ बना सके हैं। छायावाद क्षयी क्षणों का काव्यालेखन नहीं बन सका है। वह आध्यात्मिक आस्था और राष्ट्रीय जीवनचेतना के उद्दाम वेग से रस खींचता है। उसमें "छाया" ही नहीं, "प्रकाश" भी पर्याप्त है। नवीन भाषा-शैली, नयी अभिव्यंजना और अभिनव शिल्पदृष्टि से संपन्न यह काव्य आज भी हमारी जीवन-शक्ति का प्रमाण कहा जा सकता है। खड़ी बोली को व्यावहारिक भूमिकाओं से ऊपर उठा कर काव्यभाषा का सजीव रूप देना नये काव्यबोध का ही काम था। प्रसाद, निराला, पंत और महादेवी इस काव्यभवन के चार स्तंभ हैं। प्रसाद का काव्य शाश्वत रसबोध, अतीत प्रेम, सांस्कृतिक जीवनदृष्टि, मादकता, संक्रांति के अवसाद, और उन्मुक्त जीवनोल्लास पर खड़ा है। "आँसू", "लहर" और "कामायनी" के रूप में वह नये जीवनदर्शन का निर्माण करता है, जो लौकिक प्रेम की प्रक्षालनशीलता और पारलौकिक (आध्यात्मिक), प्रेम की स्वर्गीयता पर टिका है। शैवागमों की जीवनदृष्टि को आधुनिक रूप देकर उन्होंने नये जीवन की क्रियमाण चेतना को अद्वयी और सेवाधर्मी बनाने का उपक्रम किया है। "कामायनी" नये युग का "रामचरित-मानस" है, जिसमें मानस-रोगों से मुक्ति प्राप्त कर मनु के स्वास्थ्य-लाभ और उसकी आत्मिक उपलब्धि के माध्यम से भविष्यती मनुष्य के जीवन्त भावप्रसार की ओर भी इंगित है। निराला में यह भविष्य-धर्म वर्त्तमान-धर्म का अंग बन कर आया है। वह बंगाल की नव्य वेदांती चेतना और अद्वैत आश्रम के साधुओं के जीवन-साधना के मूर्त्त स्वरूप हैं। उनकी रचनाओं में काव्य-पुरुष का जो भावस्फीत और ऊर्जस्वित चित्र हमें मिलता है वह भारतीय काव्य में अप्रतिम रहेगा। आरंभ से ही उनके काव्य में अध्यात्म-बोध की प्रधानता है और प्रकृति,

नारी, परोक्ष तथा सामाजिक न्यायशीलता पर आधारित विद्रोह के साथ पहली बार कलाकार का व्यक्तिनिष्ठ भाव-बोध हमें उन्हीं के काव्य में मिलता है। मुक्त छंद उनके व्यक्तित्व का ही नहीं, युगधर्म का भी प्रतीक है। आज भी उनके प्रथम काव्यसंकलन "परिमल" की क्रांतदर्शिता पर विराम नहीं लगा है। "परिमल" से "गीतगुंज" तक उनकी काव्य-साधना अनेक आयामों में बँधी है, परन्तु उसमें नव्य वेदांती (अद्वैती) चेतना और कवि के निराले व्यक्तित्व का विद्रोही स्वर्णसूत्र निरंतर दौड़ता दिखलाई देता है। उनका सौन्दर्यबोध न भावुकता से स्खलित है, न गलिताश्रुता से अगतिशील। वह शक्ति, माधुर्य और ज्ञान के तेज से मुद्रित है। छायावाद काव्यधारा में उन्हें ही केन्द्रीयता प्राप्त है। पंत मध्यवर्ग की विकासात्मक चेतना के साथ सब से अधिक हैं और उनमें हमें इस वर्ग के नये सौन्दर्यबोध, बौद्धिक चिन्तन और सामाजिक-राजनीतिक विचारणा का विकासमान चित्र मिलता है। वह समतल पर हैं, भावना की आकाशी ऊँचाइयों या अतीत-प्रेम की धूमिल कुहेलिका में नहीं खो गये हैं। उनका निर्माण स्वस्थ सौन्दर्यबोध और संतुलित जीवन-चिन्तन की नींव पर टिका है। उन्होंने युग के अमित प्रभावों को आत्मसात कर अपने भाव-जगत् को अपरिसीम सामंजस्य और अक्षम समन्वयशीलता का बोध दिया है। काव्यभाषा के निर्माण के क्षेत्र में वह अकेले हैं और उनका शिल्प श्रेष्ठतम कारु-शिल्प की याद दिलाता है। वह "जड़िया" हैं, "गढिया" नहीं। परन्तु उनके काव्य में आधुनिकता का बोध और अभिरुचि का परिष्कार अन्य कवियों की अपेक्षा कहीं अधिक मिलता है। महादेवी इन कवियों में सब से विशिष्ट हैं। उनका काव्य युगबोध नहीं देता, परन्तु उसमें युग के अभावग्रस्त और खण्डित व्यक्तित्व की पीड़ा तितिक्षा और मिलन-वियोग के प्रतीकों में अभिव्यंजित हुई है। सहस्रों वर्षों और असंख्य साधकों का सम्मिलित भावयोग उन्हें भारत की शाश्वत आध्यात्मिकता से अभिन्न रूप से जोड़ देता है। उनकी काव्य-साधना में चिरकालिक ही व्यक्तिगत बन गया है। सच तो यह है कि किसी भी धारा के किन्हीं भी चार प्रतिनिधि कवियों की रचनाएं इतनी विभिन्न और एक-प्राण नहीं हैं। जिस "छाया" (अस्पष्टता) के लिये नया काव्य लांछित था वह आज प्रकाश की रेखाओं में बदल गई है।

नई कविता छायावादोत्तर है। उसमें प्रकाश का रूप-रंग ही नहीं बदला है, वह दोपहर की चिलचिलाती धूप बन गया है। तीव्र आलोक में वस्तुओं की रूपरेखाएं एकदम शाण पर चढ़ जाती हैं। वे व्यक्तित्व-क्षम बन जाती हैं। यह वस्तून्मुखी दृष्टि है जो यथार्थ जीवन के द्वन्द्व और भेद को महत्व देती है। बौद्धिकता का आग्रह व्यक्तिवाद पर समाप्त होता है और रस का स्थान चमत्कार ले लेता है। नई काव्यधाराओं की वाग्मिता हमें चमत्कृत कर देती है, परन्तु रससिक्त करने की क्षमता उसमें नहीं है। इसीलिए स्वच्छंदतावाद की भावुकता को उनमें कोई स्थान नहीं मिल सका है और बौद्धिक भूमिका पर नये प्रतीकों की सृष्टि है। प्रतीकवाद बुद्धिवाद की ही देन है, इसी से नई कविता में यथार्थवाद और प्रतीकवाद की धाराएँ साथ-साथ चली हैं। सत्य के पात्र का मुख सोने के ढक्कन से ढका है और वैदिक ऋषि इस हिरण्मय आच्छादन को हटा कर भीतर झांकने का आग्रही है। नई कविता ने रोमांसवाद का स्वर्णावरण हटा कर जीवन की तद्रूपी (अथवा विद्रूपी) भंगिमाओं को प्रधानता दी है। वह "छायावाद" का एकदम उल्टा ध्रुव है। इसीलिए जहाँ वह एक ओर से देखने में यथार्थ-वादी काव्य है, वहाँ दूसरी ओर से देखने से नवस्वच्छंदतावादी काव्य है, क्योंकि उसमें यथार्थ को नागर और वर्गीय दृष्टि से ही देखा गया है। कोई-न-कोई दृष्टिकोण तो रहेगा ही और प्रत्येक दृष्टिकोण एकांगी ही रहेगा, क्योंकि मनुष्य के भाग्य में पूर्णता लिखी ही नहीं है, वह ईश्वर नहीं है। यह निश्चय है कि नई कविता के द्वारा हिन्दी-काव्य पिछले अस्सी वर्षों के यूरोपीय काव्य के विकास को आत्मसात कर नये वैज्ञानिक-प्राविधिक भौतिक-वादी नागर संस्कृति के युग में प्रवेश करता है और सच्चे अर्थों में सम-कालीन बनता है। इस ऐतिहासिक सत्य को पहचान कर ही हम उसकी शक्ति और दुर्बलताओं की सम्यक् व्याख्या कर सकेंगे।

आधुनिक नाटक

आरंभ में यह इंगित कर देना होगा कि नाटक आधुनिक साहित्य का सबसे दुर्बल अंग है। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में भारतेन्दु हरिश्चंद्र के द्वारा आधुनिक हिंदी नाटक का प्रवर्त्तन होता है और उसकी साहित्यिक परंपरा एक प्रकार से अक्षुण्ण चली आती है। परन्तु कविता, उपन्यास और कहानी के क्षेत्रों में जिस प्रकार हम कहीं अधिक उत्कृष्ट कृतियों को जन्म दे सके हैं, वैसा नाटक के क्षेत्र में संभव नहीं हुआ है। इसका कारण यह है कि नाटक का रंगमंच से गहरा संबंध है और पिछले सौ वर्षों में भी हम हिन्दी का रंगमंच विकसित नहीं कर सके हैं। स्वयं भारतेन्दु ने इस ओर प्रयत्न किया था, परन्तु वे असफल रहे। भारतेन्दु के निधन के बाद हिंदी रंगमंच पारसी कंपनियों के हाथ में चला गया और १९३० के लगभग चलचित्रों के पदार्पण तक वह व्यावसायिक, असाहित्यिक और असंस्कृत दृष्टिकोण लेकर चलता रहा। १९३० के बाद शिष्ट रंगमंच (अमेचर थियेटर) का आन्दोलन शुरू होता है और एकांकियों का युग आता है। विश्वविद्यालयों, राजनैतिक प्रचारवादी संस्थाओं और पृथ्वी थियेटर जैसी अर्द्ध-व्यावसायिक संस्थाओं ने अमेचर थियेटर के इस आन्दोलन को पुष्ट किया और पिछले दशक में कुछ सुन्दर कृतियां भी हमें दीं। परन्तु लब्धप्रतिष्ठ साहित्यकारों और नाट्यविदों का इस आन्दोलन को पर्याप्त योग नहीं मिल सका। फल यह हुआ कि आज भी नाटक पाठ्य ही है, दृश्य नहीं। प्राचीनों ने नाटक को दृश्य काव्य कहा है, क्योंकि उसमें काव्य, गीत और नृत्य का अंग अधिक था। संस्कृत के आदर्शवादी रोमांटिक नाटक, जिनके शीर्ष पर कालिदास और भवभूति के नाटक हैं, रसनिष्ठा का आदर्श लेकर चलते हैं और "दृश्य काव्य" की परंपरा में आते हैं। आधुनिक नाटक इस परंपरा से विच्छिन्न होकर पश्चिमीय नाटक की चरित्रनिष्ठा लेकर सामने आया। परन्तु रंगमंच के अभाव में हिंदी नाटककारों को पश्चिमी कला से अनुप्राणित अपनी कृतियों की परीक्षा करने का अवसर नहीं मिला और नाटक-लेखन औपचारिक ही बना रहा। अभी एक

दशक से स्थिति सँभलती दिखलाई देती है, परन्तु अभी भी नाटक कला की उत्कृष्टता को प्राप्त नहीं हो सका है।

जहां एक ओर रंगमंच के अभाव से यह स्थिति उत्पन्न हुई है, वहाँ दूसरी ओर नाटकीय सिद्धान्तों और जीवन के प्रति हमारे दृष्टिकोण ने भी हमें असमंजस में डाल रखा है। उन्नीसवीं शताब्दी के अंत तक नाटककार पूर्वी नाटक-परंपरा को देखकर चलता था। यद्यपि भारतेन्दु के "नाटक" ग्रंथ में पश्चिमी परंपरा का परिचय मिलता है, परन्तु यह स्पष्ट है कि उनका हृदय पूर्व के साथ था। उन्होंने लोकधर्मी और नाट्यधर्मी परंपराओं के बीच में अपना रास्ता खोजा और साथ ही नाटक की साहित्यिकता भी सुरक्षित रखी, परन्तु वे प्रहसन के क्षेत्र को छोड़कर अन्य क्षेत्रों में नाटक को गत्यात्मक चेतना नहीं दे सके। यूरोप के नाटक-साहित्य से उनका गहरा परिचय नहीं था। शेक्सपिअर की नाटक-कला का कोई अंतर्योजित प्रभाव उनकी रचना पर दिखलाई नहीं देता। वास्तव में उन्नीसवीं शती की नाट्य-कला बंगला नाट्य-कला का अनुकरणमात्र है और हिंदी नाटककारों में प्रतिभा का अभाव स्पष्ट है। उस युग के नाटकों में प्रहसन का योग अलबत्ता महत्वपूर्ण है, क्योंकि उनमें ही उन्नीसवीं शताब्दी की सामाजिक और आदर्शमूलक द्वन्द्वात्मकता स्पष्ट रूप से उभरी है। जो हो, यह निश्चित है कि आधुनिक नाटक का आरंभ उन्नीसवीं शती के उत्तरार्द्ध में हुआ और १६२० तक हमें परिपक्वता के दर्शन नहीं होते।

आधुनिक नाटक का पहला प्रौढ़ चरण जयशंकर प्रसाद से आरंभ होता है और १६२२ में प्रकाशित "अजातशत्रु" को हम उनकी पहली सुन्दर कृति कह सकते हैं। इसके बाद प्रसाद में हमें "कामना", "स्कंदगुप्त", "चंद्रगुप्त" और "ध्रुवस्वामिनी" नाटक दिये और १६३६ तक वे हिंदी नाटक के क्षेत्र में अग्रणी बने रहे। प्रसाद के नाटक शेक्सपिअर और डी० एल० राय से रस-ग्रहण करते हैं, परन्तु उनका स्वरूप इतना व्यक्तिगत है कि उनके संपूर्ण साहित्य की पृष्ठभूमि में ही उन्हें समझा जा सकता है। उन्होंने नाटक का संबंध "रस" से जुड़ा रखा और पश्चिमी ढंग की चारित्रिकता का भी उसमें समावेश

किया। काव्यात्मक गुणों और दार्शनिक गांभीर्य के कारण ही उनके नाटक पाठ्य-नाटकों में अग्रणी रहे। स्वयं प्रसाद के समय में उनकी अभिनेयता की परीक्षा नहीं हुई और आज यह कहा जा सकता है कि वे विशिष्ट होने पर भी रंगमंचीय नहीं हैं। उनमें औपन्यासिक कल्पना का प्रसार है और नाटककार अतीत के रस में इतना उलझ गया है कि नाटकीय तत्वों पर से उसका ध्यान हट गया है। इन नाटकों में हमारा सांस्कृतिक पुर्नानर्माण है, परन्तु यही एक तत्व उन्हें सर्वोत्कृष्टता नहीं दे सकता।

१६३० के लगभग संभवतः प्रसाद और डी० एल० राय के आदर्शमूलक रोमांटिक नाटकों के प्रतिक्रिया-स्वरूप इब्सन और शा के अनुकरण में समस्या-नाटकों और नये सामाजिक नाटकों का जन्म हुआ। ये नाटक मध्यवित्तीय जन-समाज की अनुकृति थे और इनमें भावुकता, स्वच्छन्दवादिता, रूढ़िगतात्मकता और परंपरित नैतिकता का विरोध परिलक्षित था। इनमें समाजजीवी नर-नारियों के यथार्थ स्वरूप का चित्रण था और असंतुलित एवं अव्यवस्थित सामान्य जीवन के दुःखांत को लक्ष्य बनाया गया था। पूर्ववर्त्ती नाटककारों के गोष्ठी-नाटकों और सुबद्ध नाटकों से ये भिन्न थे। इनमें वास्तविक जीवन की महत्वपूर्ण समस्याओं को आग्रहपूर्वक उपस्थित किया जाता था। हिन्दी में लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटक इस कोटि की वस्तु थे। इनमें नाटककार का अतिवादी, व्यंग्याक्रांत और गद्यात्मक दृष्टिकोण प्रमुख था। नये सामाजिक नाटकों की परंपरा में उपेन्द्रनाथ 'अश्क' और सेठ गोविन्ददास के नाटक भी आते हैं। प्रसाद के नाटकों की तरह लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटक रंगमंच पर परीक्षित नहीं हुए, परन्तु 'अश्क' जैसे कुछ नाटककार अभिनेता की दृष्टि लाये और उन्होंने नाटकों को रंगमंचीय आवश्यकताओं की ओर भी ध्यान दिया। इसका फल यह हुआ कि नया नाटक तीन अंकों की कला-कृति बन गया और दृश्यों की संख्या कम होकर सात-आठ तक रह गई। कुछ नाटकों में केवल तीन ही दृश्य रखे गये और काव्यमयता एवं "गीति" का वातावरण पीछे छूट गया। इस प्रकार नाटक जीवन के समीप आया और वह "जीवन का चित्रण" न होकर "जीवन का समीक्षण" बन गया। इसमें संदेह नहीं कि पिछले वर्षों में हमने जहाँ प्रसाद की ऐतिहासिक नाटकों की परंपरा को आगे बढ़ाया है, वहाँ नये समस्या-नाटकों में जीवन के अनेक परिपार्श्व उभारे

हैं। प्रसाद के बाद ऐतिहासिक नाटकों के क्षेत्र में श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र के कई नाटक आते हैं, परन्तु हरिकृष्ण प्रेमी, जगदीशचन्द्र माथुर और सेठ गोविन्ददास भी इस क्षेत्र में नये प्रयोग उपस्थित करते हैं। नाटक के क्षेत्र में नई प्रवृत्तियों का जन्म और विकास एकांकियों की कला समेट कर चलता है और प्रतीक-नाटकों एवं गीति-नाट्यों के रूप में नई कला-कोटियों के भी दर्शन होते हैं। इन क्षेत्रों में सुमित्रानन्दन पंत, उदयशंकर भट्ट और धर्मवीर 'भारती' की रचनाएँ विशेष उल्लेखनीय हैं। इन नये प्रयोगों को हम जीवन-धर्मी नाटकों से भिन्न रसधर्मी नाटक कह सकते हैं। संक्षेप में, यह आधुनिक हिंदी नाटक की रूपरेखा है। उसमें परंपरा और प्रयोग के तत्व साथ-साथ चल रहे हैं और राष्ट्रीय रंगमंच के निर्माण के प्रयत्नों को देखते हुए नाटक का भविष्य एक प्रकार से आशाप्रद ही है।

नाटक-साहित्य के इस विकास में से अपनी रुचि के नाटक चुनना अधिक कठिन नहीं है, क्योंकि उच्च कोटि की कला-कृतियों की संख्या अधिक नहीं है। काव्य और कथा-क्षेत्रों में इस प्रकार का चुनाव अपेक्षाकृत कठिन है। यदि हमें अपनी रुचि के अनुसार दस हिंदी नाटकों को चुनना पड़े तो वे होंगे : स्कंदगुप्त विक्रमादित्य, सिन्दूर की होली, दशाश्वमेध, कवि हरिश्चन्द्र, ज्योत्स्ना, छठा बेटा, कोणार्क, रक्षाबंधन, अंधा युग और श्रीहर्ष। इन नाटकों में से कई नाटक ऐतिहासिक हैं। वास्तव में हिन्दी नाटककारों की प्रतिभा ऐतिहासिक वस्तु को लेकर ही अधिक प्रदर्शित हुई है। प्रसाद के "स्कंदगुप्त", लक्ष्मीनारायण मिश्र के "दशाश्वमेध", प्रेमी के "रक्षाबंधन", सेठ गोविंददास के "श्रीहर्ष" और जगदीशचन्द्र माथुर के "कोणार्क" को हम ऐतिहासिक नाटक की श्रेणी में ही रख सकते हैं। इन सभी नाटकों में नाटककारों की कल्पना अतीत की ओर उन्मुख है और इनमें नाटक के "रस" के साथ 'इतिहास-रस' या "अतीत-रस" की भी सृष्टि हुई है। इन नाटकों में से प्रसाद के "स्कंदगुप्त" में शेक्सपिअर की दुःखांत-शैली का परिपाक है और देवसेना जैसी सौम्य देवी-मूर्त्ति की कल्पना है। उनमें रोमांटिक नाटकों की स्वच्छंदतावादी जीवनदृष्टि का विस्तार है और काव्यात्मक वातावरण, गीतियों और भाषा-शैली की अतिरंजना के द्वारा एक अभिनव रसलोक की सृष्टि की गई है। यद्यपि नाटक में राजकीय अभिसंधि-चक्र और हत्याकाण्ड

महत्वपूर्ण हो उठे हैं और कथा-वस्तु के औपन्यासिक विस्तार ने संपूर्ण उत्तर भारत को घेर लिया है, तथापि यह स्पष्ट है कि उसमें हमें प्रसाद की नाटकीय कला का श्रेष्ठतम स्वरूप दिखलाई देता है। "चन्द्रगुप्त" से भी कहीं अधिक यह नाटक प्रसाद की प्रतिनिधि नाटकीय कृति कहा जा सकता है। हरिकृष्ण प्रेमी प्रसाद के समसामयिक हैं और उनकी ऐतिहासिक कृतियों में रंगमंचीय कला का निर्वाह प्रसाद की अपेक्षा अधिक है। परन्तु वे सांस्कृतिक रूपरेखाएँ अधिक नहीं दे सके हैं और उनके नाटकों में रोमांटिक कला का वह स्वरूप उद्घाटित नहीं हो पाता है, जो शेक्सपिअर की विशेषता है। शेष नाटककार प्रसाद के उत्तराधिकार को लेकर चले हैं और उनकी कला में आवश्यक यथार्थ, संक्षेप और रंगमंचीय निर्वाह है। मिश्र जी का "दशाश्वमेध" नाटक विन्ध्यशक्ति के भारशिव नागों के पराक्रम को अंकित करता है और अंधकार-युग के एक भूले हुए ऐतिहासिक प्रकरण को उभारता है। सेठ गोविन्ददास के "हर्ष" नाटक में हम बौद्ध-युग की परिसमाप्ति देखते हैं और विस्तृत रंग-संकेत द्वारा नाटक की पाठ्य-संवेदना को और भी मार्मिक बनते पाते हैं। जगदीशचंद्र माथुर का ऐतिहासिक नाटक "कोणार्क" इस वर्ग का अंतिम नाटक है और वह कदाचित् इन नाटकों में सबसे अधिक संबद्ध और कला-पूर्ण है। उसकी कथावस्तु जहाँ पुत्र द्वारा पिता की खोज के ग्रीक-कथानक को लेकर चलती है, वहाँ कला के वास्तविक स्वरूप के वास्तविक स्वरूप के संबंध में भी जिज्ञासा उठाती है। एक प्रकार से प्रसाद के बाद के हिंदी ऐतिहासिक नाटकों में इस रचना का स्थान विशिष्ट है।

नये वस्तुवादी नाटक का जन्म लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटकों से होता है और उनका "सिन्दूर की होली" नाटक उनके समस्या-नाटकों में स्पष्ट ही सर्वश्रेष्ठ कहा जा सकता है। ये समस्या-नाटक नवीन मध्यवित्त की वैवाहिक और प्रेमविषयक विडम्बनाओं को लेकर चलते हैं और इनमें मनोवैज्ञानिक वात्या-चक्रों, कुंठाओं और कुत्साओं का राज्य है। इनमें शा के व्यंग्य-परिहास और इब्सन के व्यक्तिवाद का भी पुट है, परन्तु न इनमें पूर्णतया शा की व्यंग्य-कला है, न इब्सन की चरित्र-मूलकता। फिर भी हिन्दी में समस्या-नाटकों के नाम पर हमारे पास यही निधि है। इससे कुछ अलग परंपरा में 'अश्क' के नाटक आते हैं, जो सामाजिक यथार्थ को लेकर चलते हैं और जिन्हें हम गेल्सवर्दी

और चेखव की परंपरा से जोड़ सकते हैं। अश्क की सामाजिक अंतर्दृष्टि बड़ी पैनी है और वह कथा, संवाद और नाटकीय द्वन्द्व में संतुलन उपस्थित कर सके हैं। उनके रंगमंचीय ज्ञान ने उनकी कृतियों को यथार्थ जीवन का प्रतिरूप बनाया है। उनका स्वरूपगत आकर्षण भी अप्रतिम है।

इन दो परंपराओं के बाद हिंदी में जो छिट-पुट नाटक मिलते हैं वे किसी स्वतंत्र धारा का निर्माण नहीं करते। फिर भी उनका महत्व है, क्योंकि उनसे नई नाट्य-कला की प्रयोगात्मक स्थिति का पता चलता है और उनकी विकासात्मक संभावनाएं अनेक हैं। बंगाल में रवीन्द्रनाथ के प्रतीक-नाटक मेटरलिंक की परंपरा से संबद्ध हैं, परन्तु हिंदी में इस प्रकार की कोई धारा नहीं चली। प्रसाद के नाटक "कामना" के बाद इस कोटि की प्रथम श्रेणी की रचना पंत का "ज्योत्स्ना" नाटक है जो कल्पना के बल पर मोहक चित्र-पटी का निर्माण करता है। यह काव्य अधिक है, नाटक कम, परन्तु इस प्रयोग से नाटकीय कला की जड़ता में सरसता का योग हुआ है। इस नाटक में प्रकृति के अनेक उपकरण भाव-मंच पर उपस्थित होते हैं और कवि की भावना के अनुसार पक्ष-विपक्ष ग्रहण करते हैं। नाटकीय दृष्टि से देखने पर "ज्योत्स्ना" भावप्रधान, कल्पनामूलक रूपक मात्र है, जिसमें आधुनिक जगत की भौतिकवादी-विज्ञानवादी संस्कृति के विरोध में एक सुन्दर भाव-जगत की सृष्टि की गई है और साम्राज्ञी ज्योत्स्ना के द्वारा कवि ने स्वयं अपने मनः स्वर्ग को पृथ्वी पर उतारा है। वास्तव में इस नाटक में हम पृथ्वी-स्वर्ग, जड़-चेतन और मानव-अमानव को एक ही सूत्र में ग्रथित पाते हैं और पटभूमि की यह विशालता और व्यापकता नाटक को सार्वभौम रूप दे देती है। वह सार्वदेशिक और सार्वकालिक अर्थ ग्रहण कर लेता है। परन्तु इस प्रकार की कृतियाँ अपवाद हैं, नियम नहीं। इनमें जीवन की द्वन्द्वात्मक स्थिति की अपेक्षा विचार और कल्पना का चमत्कार ही अधिक है।

एक दूसरे प्रकार के नाटक पद्य-नाटक हैं। इंग्लैंड में प्रसिद्ध कवि-समीक्षक टी० एस० इलियट के द्वारा इन पद्य-नाटकों को रंगमंचीय लोकप्रियता प्राप्त हुई है, परन्तु हिंदी में ये अभी प्रयोग की दशा में हैं। श्री उदयशंकर भट्ट के इस प्रकार के कई नाट्य-प्रयोग सफल कहे जा सकते हैं। "शिल्पी" और

"त्रिपथगा" में पंत और भगवतीचरण वर्मा ने पद्यात्मक रेडियो-रूपक के रूप में इस कोटि की कुछ श्रेष्ठ रचनाएँ प्रस्तुत की हैं, परन्तु इस कोटि की सबसे सफल रचना कदाचित् धर्मवीर 'भारती' का "अंधा युग" रूपक हैं। इस रचना में महाभारत की भूमिका पर युद्धश्रांत आधुनिक युग के भाराक्रांत मन के द्वन्द्वों को मूर्त्तिमान किया गया है और दिशाभ्रांत मानव-समाज की अंतःपीड़ा को उभारा गया है।

इस प्रकार आधुनिक नाटक नई उड़ान के लिए पंख खोल रहा है। भारतेन्दु ने संस्कृत नाटक की जिस रसात्मक, गोष्ठीगत, अभिनेयत्वपूर्ण वैशिष्ट्य की भूमि पर हिंदी नाटक को खड़ा किया था, वह 'प्रसाद' तक सुनिश्चित रही। परन्तु 'प्रसाद' के नाटकों ने रंगमंच से संबंध-विच्छेद कर लिया और पश्चिम के रोमांटिक नाटकों से अपना संपर्क स्थापित किया। रंगमंच के अभाव में 'प्रसाद' के नाटक अभिनय की शाण पर नहीं चढ़ सके और वे नये नाटक के लिए प्रकाशस्तंभ नहीं बन सके। इन नाटकों की प्रतिक्रिया में जिन समस्या-नाटकों और सामाजिक यथार्थमूलक नाटकों का जन्म हुआ, वे भी मध्यवित्त के संकीर्ण घेरे के बाहर नहीं निकल पाये। फल यह हुआ कि नाटक के क्षेत्र में गतिरोध का जन्म हुआ और नये प्रयत्न इस गतिरोध पर अभी पूर्ण रूप से विजय नहीं प्राप्त कर सके हैं। परन्तु विश्वविद्यालयों के एकांकी नाटकों के रंगमंच, शिष्ट रंगमंच (अमेचर स्टेज), इंडियन नेशनल थियेटर और पीपुल्स थियेटर आदि के रूप में नई नाटकीय प्रवृत्तियों का जन्म हो गया है। इन नये रंगमंचों के लिए अब विशिष्ट कृतियाँ भी आने लगी हैं और यह निश्चित है कि इस दशक को पार करते-करते हम अभिनीत नाटकों को लेकर अपने रंगमंच को नई नई दिशाएं दे सकेंगे। तब तक हमें अपनी रुचि के अनुसार चुने हुए कुछ थोड़े-से सुपाठ्य नाटकों से ही संतोष करना पड़ेगा।

कालिदास

प्रत्येक वर्ष हम कालिदास-जयंती मनाते हैं और उज्जयिनी में उन्हीं के नाते एक सांस्कृतिक केन्द्र खोलने की भी बात उठी है। जान पड़ता है स्वाधीन भारत में कालिदास के प्रति एक नई जागरूकता उत्पन्न हुई है और हम उन्हें अपना सिद्ध करना चाहते हैं। १७९८ ई० में जब सर विलियम जोन्स ने "अभिज्ञानशाकुंतलम्" का अनुवाद प्रस्तुत कर गेटे की साक्षी के साथ कालिदास की प्रशस्ति प्रकाशित की थी, तब से आज तक कालिदास भारत की काव्य-चेतना के प्रतीक बने हुए हैं। पश्चिम हमें उन्हीं की रचना के माध्यम से देखना चाहता है और कदाचित् इसी लिए हम उनके प्रति अतिसंवेदित हो उठे हैं। प्रश्न यह है कि कालिदास की चरितार्थता कहाँ है? उन्हें हम किस रूप में, किस स्तर पर, कहाँ तक आधुनिक संस्कृति में आत्मसात कर सकते हैं? भारतीय संस्कृति, धर्म, अध्यात्म और चारित्र्य के साथ सौन्दर्य-चेतना का जो ताना-बाना उनके काव्य में बुना हुआ है वह आज के भारतीय को कहाँ छूता है? दूसरा प्रश्न यह होगा कि हम किस प्रकार उन्हें अपनी नवीन सांस्कृतिक चेतना का अंग बना सकेंगे?

कालिदास तक पहुँचने के दो मार्ग हैं: या तो हम उन्हें परंपरा के भीतर से देखें, कि बाल्मीकि, व्यास, माघ, श्रीहर्ष, तुलसी, सूर और रवीन्द्रनाथ के साथ वह कहाँ रखे जा सकते हैं अथवा भारतीय संस्कृति की विकास-शृंखला में उनका स्थान कहाँ है? या हम सीधे उन तक पहुँचें और देखें कि आज की सौन्दर्यनिष्ठा और सांस्कृतिक चेतना के लिए क्या उपकरण हमें उनसे मिल सकते हैं और कला के शाश्वत प्रश्नों का समाधान उनके साहित्य में किस रूप में हुआ है? इस प्रश्न के उत्तर पर यह निर्भर होगा कि हम उनका क्या किस रूप में ग्रहण करें।

पहले परंपरा को लें। कालिदास संस्कृत के लौकिक साहित्य के बालारुण हैं। उनके पीछे लगभग १५००-२००० वर्षों की आध्यात्मिक और धार्मिक साहित्य की परंपरा है जो संहिताओं, ब्राह्मण-ग्रंथों, आरण्यकों, उपनिषदों, सूत्र-ग्रंथों और वेदांगों तक प्रसारित है। इस परंपरा के अंत में हमें इतिहास (रामायण-महाभारत) मिलते हैं, जो कालिदास की रचनाओं के मूलाधार कहे जा सकते हैं। वास्तव में कालिदास की कवि-प्रतिभा और अभिव्यंजना-शैली वाल्मीकि और व्यास की परंपरा से ही जुड़ती है, यद्यपि उनकी आध्यात्मिक और नैतिक दृष्टि उन्हें वैदिक परंपरा से जोड़ती है। व्यास की भाँति उनकी धर्म-चेतना भी उदार है और वह वैष्णव और शैव दोनों अभिव्यंजनाओं में प्रगट है। उन्होंने वाल्मीकि की चारित्रिक दृष्टि को ही "रघुवंश" में अधिक व्यापक, सूक्ष्म तथा उदात्त बनाया है। एक प्रकार से यह कहा जा सकता है कि उन्होंने अपनी समस्त पूर्वपरंपरा से रसग्रहण किया है और उसे काव्य की वाणी दी है। यह कहा जा सकता है कि भारत का शिष्ट काव्य और नागर स्वरूप-विन्यास पहली बार कालिदास की वाणी में ही ध्वनित होता है और उनकी सौन्दर्य-चेतना उस नागर की भूमिका पर पल्लवित हुई है, जिसकी श्रृंगार-चर्या वात्स्यायन के "कामसूत्र" और व्यवहार-दृष्टि अथवा नीति-चेतना कौटिल्य के "अर्थशास्त्र" पर खड़ी है। मनुष्य के चारों पुरुषार्थों को कालिदास की रचनाएं संतुलित और समाश्रित रूप में प्रस्तुत करती हैं। अर्थ का प्रतीक है राज्य और काम की प्रतीक है नारी। कालिदास में इन दोनों को व्यापक और केन्द्रीय स्थान मिला है। परन्तु उनके साहित्य में दोनों धर्म में ही पर्यवसान पाते हैं। राजत्व अक्षय दानशीलता में ही सफल है और नारी का चारुत्व प्रेयसीत्व में नहीं, मातृत्व में ही परिपूर्णता प्राप्त करता है। रघु और शकुंतला के चरित्र इसी उदात्त चेतना के वाहक हैं। वैसे कालिदास मोक्षमार्ग से भी पूर्णतः परिचित हैं, जिसकी साधना नगरों से दूर आश्रमों में चल रही थी, परन्तु उन्हें हम श्रेय का कवि नहीं, प्रेय का कवि ही कहेंगे। यह दूसरी बात है कि उनका प्रेय श्रेय से पुष्ट होने के कारण अतिवादी और एकांगी नहीं है। भारतीय संस्कृति के उस आदि-काल में वर्णाश्रम और गार्हस्थ्य-जीवन की मर्यादा के भीतर से मानव-जीवन की संतुलित और ऊर्ज्वस्वल प्रतिष्ठा कालिदास के काव्य में हुई है। उन्हें हम वाल्मीकि और व्यास की काव्यात्मक परिणति ही कह

सकते हैं। व्यास जीवन के कुरुक्षेत्र को धर्मक्षेत्र के रूप में प्रस्तुत करते हैं, वाल्मीकि के लिए वह कर्मक्षेत्र है। कालिदास उसे भोगक्षेत्र के रूप में सामने लाते हैं, परन्तु इस भोग में न वितृष्णा है, न असंतोष। वह त्याग से पूत और तपस्या से फलित है। उन्होंने संसार को रंगभूमि के रूप में देखा है और मनुष्य के कर्त्तव्य को प्रकृति के सहभाव और सौन्दर्य के बीच में उद्घाटित किया है। "ऋतुसंहार" में उनके किशोर-हृदय की लालसा षट्ऋतुवर्णन में ढली है तो "मेघदूत" में प्रकृति मानव के रंग में घुल-मिल कर एकाकार हो गई है और अचेतन चेतन का हृदय-स्पन्दन बन गया है। इस रचना में उनका तारुण्य अमृतकल्पी हो उठा है। "कुमार-संभव" में उन्होंने नारी के तप, प्रणय और मातृत्व के रंग भरे हैं तो "अभिज्ञान शाकुंतलम्" में अमर्यादित प्रेम की चारुता, लज्जा और विमुग्धता का वर्णन किया है। "रघुवंश" में उदात्त चारित्र्य और शौर्य की झांकियां हमें मिलती हैं और वर्णाश्रम धर्म की शीर्षकीय चरितार्थता उदाहृत होती है। परन्तु अज, दिलीप और रघु ही नहीं, अग्निवर्ण जैसे विलासी, प्रजाद्वेषी और आत्मभीरु क्षयी सम्राट् को भी कालिदास निःसंकोच चित्रफलक पर उतार देते हैं, जिससे हम राजधर्म के दो विरोधी ध्रुवों से नितांत परिचित हो जायें। कहना न होगा कि इस रचना में कौटिल्य ने काव्य का चोला उसी प्रकार पहन लिया है जिस प्रकार वात्स्यायन अलका की यक्षिणी के विलास-कला-कुतूहल में मूर्त्तिमान हो उठे हैं। इस प्रकार कालिदास की रचनाएँ विशुद्ध काव्य की भूमि पर भारतीय शिष्ट जन (नागर) की आंकांक्षा, उल्लास और सौन्दर्यचेतना तथा हार्दिकता का प्रतिनिधित्व करती हैं और उनमें भारतीय सांस्कृतिक साधना का सर्वश्रेष्ठ स्वतः अप्रयास आत्मसात हो गया है। भारतीय काव्य-परंपरा के उत्स भले ही आदि-कवि वाल्मीकि हों, उसका सर्वश्रेष्ठ और सूक्ष्मतम बोध हमें महाकवि कालिदास की कृतियों में ही मिलेगा। यह काव्यबोध सौन्दर्यमय होते हुए भी संश्लिष्ट, सांस्कृतिक और रसनिष्ठ है। भारतराष्ट्र का तात्कालिक स्पन्दन ही नहीं, कालांतरिक और चिरंतन मानव को भी हम उनकी रचनाओं में उभरता पाते हैं। वे एक लंबी परंपरा के अंत और दूसरी लंबी परंपरा के आरंभ पर खड़े "कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः" हैं, जो देश-काल की बाहुओं में सब-कुछ समेट कर अनागत युगों के देवता को श्रद्धांजलि के रूप में समर्पित कर देता है।

आज के बौद्धिक, अस्वीकारी और हतचेतन युग की पूजा देवता की वेदी तक ही रह जाती है, वह उसके चरणों तक नहीं पहुँच पाती। कदाचित् हमारी इस असफलता ने हमें कालिदास के प्रति और भी श्रद्धालु बना दिया है।

परन्तु बात परंपरा की थी और इस परंपरा को हम उजागर करते चलें तो अच्छा होगा। महाकवि के नाते हम कालिदास को बाल्मीकि, व्यास, तुलसीदास और रवीन्द्रनाथ के साथ रखते हैं। रवीन्द्रनाथ ने कोई भी महाकाव्य नहीं लिखा और अपनी एक कविता में वे इस पर क्षोभ प्रगट करने के स्थान पर विनोदशील होते देखे जाते हैं, परन्तु उनका संपूर्ण प्रगीतिकाव्य ही एक महागीति या गीतात्मक महाकाव्य माना जा सकता है। इन सभी कवियों में भिन्न-भिन्न युगों की संस्कृति मूर्त्तिमान मिलती है। कालिदास भी इन्हीं के साथ हैं। भारतीय संस्कृति के पाँच अध्याय इन्हीं पाँच कवियों द्वारा लिखे पाँच सर्ग हैं। चरित्र, धर्म, सौन्दर्यचेतना और मानववाद के विभिन्न आयामों में से एक-एक का प्रतिनिधित्व इनमें से प्रत्येक कवि करता है। ये सभी मानव-व्यक्तित्व के खिल-पर्व हैं। रवीन्द्र के मानववाद में पिछले सभी आयाम क्रियमाण, भावसिद्ध और अंतःचालित रूप में मिल जाते हैं। एक प्रकार से भारतीय सांस्कृतिक व्यक्तित्व की ये परिपूर्ण अभिव्यक्तियाँ हमारे लिए समान गर्व की विषय हैं। उनके महाकाव्यात्मक स्वरूप और विस्तार में अन्तर हो सकता है, उनमें प्रौढ़त्व का समान स्तर ही हमें मिलेगा। यह भी कहा जाता है कि रामायण आखेट-युग, महाभारत कृषियुग और जनपद-युग के संधिकाल, रघुवंश सामंत-युग, रामचरितमानस भक्तियुग (ह्रासकालीन सामंतीयुग) और रवीन्द्रनाथ की रचनाएँ व्यक्तिवादी प्रजातंत्री युग की उपज हैं। परन्तु ये सब युग भारतीय मनुष्य के प्रगति की और बढ़ते हुए चरण ही कहे जा सकते हैं। उनमें भारतीय संस्कृति का वैविध्य ही नहीं, उसका परिष्कार भी संपुटित है। इस परंपरा में कालिदास को केन्द्रीयता प्राप्त है। वे मानव-हृदय के कवि हैं और उनका हृदय-स्पन्दन प्रकृति-प्रेम, सौन्दर्यनिष्ठा, प्रणय-निवेदन और शील-चिन्तन के रूप में मुखरित है। वे परवर्त्ती काव्यचेतना के अभिन्न अंग बने रहे हैं। जयदेव, विद्यापति, चण्डीदास, बिहारी, मतिराम, सूर,

तुलसी, प्रसाद, निराला, पंत, रवीन्द्रनाथ आदि-आदि सभी उनकी प्रतिभा की देन से उपकृत हुए हैं। जहाँ उपमा है वहाँ कालिदास हैं, जहाँ शब्द-माधुर्य है, वहाँ भी वे कम नहीं है। आधुनिक हिन्दी काव्य ने छायावाद-युग में उनसे एक बार फिर सम्बन्ध जोड़ा है और सौन्दर्य, कल्पना, प्रेम और शब्द-शिल्प की नई साधना उनकी ही विरासत से पुष्ट हुई है। वे उसी तरह हमारे सौन्दर्यबोध के मापदण्ड हैं जिस प्रकार स्वयं उन्होंने नगाधिराज हिमालय को पृथ्वी का मानदण्ड कल्पित किया है।

प्रत्येक वर्ष जयंती मना कर हम अपनी सौन्दर्य-दृष्टि को कालिदास की काव्यप्रतिभा का संस्पर्श देना चाहते हैं। उनके काव्यबोध के प्रति हम आज भी श्रद्धावान हैं यह घोषित कर हम अपने युग के काव्य को शब्द और अर्थ की उन कैलाशी ऊँचाइयों पर पहुँचाना चाहते हैं, जो कालिदास की रचनाओं में सहजप्राप्य हैं। अपनी सौन्दर्यचेतना की धार को तीव्र, परिष्कृत और जागरूक बना कर ही हम महाकवि के प्रति अपना आभार प्रगट कर सकेंगे। सत्यम् और शिवम् के साथ सुन्दरम् की साधना भी संस्कारी मानव का आत्मधर्म है। यह साधना अविकारी, अव्याहृत और अक्षत-यौवना होकर ही सार्थक है। कालिदास के पूजार्चना यही लोकोत्तर रस-साधना बन कर सार्थक होनी चाहिये।

परन्तु क्या हमारे युग के कवि-कर्म के लिए भी कालिदास कोई सन्देश है ? प्रश्न अनुचित नहीं होगा। पश्चिमी काव्य और वाद-चिन्तन ने हमें आतंकित कर दिया है। समुद्र-पार की नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभाओं और गड्डलिका-प्रणाली की ऊहापोही तर्कनाओं में हम खो गये हैं। कम-से-कम हम उनसे चमत्कृत तो हैं ही। पश्चिम कहता है कि कवि मूलतः विद्रोही है, काव्य की विशुद्धता को लेकर वहाँ वाद खड़े किये गये हैं, उसमें परंपरा का बोध कैसे स्थापित किया जाये, बौद्धिकता का कितना समावेश हो या उसे भाव-जगत की वस्तु ही माना जाये ? इस प्रकार के कुछ महत्वपूर्ण प्रश्न सामने आये हैं। प्रश्न के साथ उत्तर भी पश्चिम से आये हैं और वे "वादों" के रूप में हैं। क्या कालिदास का काव्य इन प्रश्नों के सम्बन्ध में कोई समाधान प्रस्तुत करता है ?

पहले विद्रोह और स्वीकार के प्रश्न को लें। कुछ ऐसा माना जाने लगा हैं कि कवि मूलतः विद्रोही होता है और उसे अपनी प्रतिभा को अस्वीकारी बनाना आवश्यक है। वह मौलिकता का दावेदार है। परंपरा को रूढ़ि माना जाता है और उसके प्रति विद्रोह को मौलिकता कहा जाता है। फलतः प्रत्येक कवि-पीढ़ी पिछली पीढ़ी के प्रति संकोची और अश्रद्धालु है। प्रत्येक नई पीढ़ी के साथ काव्य-परिपाटी बदल जाये, यह अनिवार्य हो गया है। मौलिकता की खोज में हम काफ़्का, रिल्के, इलियट, ऐज़रा पाउन्ड, पास्तरनाक, सब कहीं पहुँचते हैं और चीन-जापान के "हाइकू" भी नहीं छोड़ते। विद्रोह का टीका लगा कर कवि महार्घ बन सकता और आज यह विद्रोह विचित्रता, विकृति और पागलपन की हद तक पहुँच गया है। कालिदास का काव्य इस दिशा में एक सशक्त चुनौती है। उसमें स्वीकार के स्वर बजते हैं। अपनी विशिष्ट अभिरुचि की रक्षा करते हुए महाकवि समस्त भारतीय संस्कृति और काव्य-परंपरा से रस ग्रहण करते हैं। उनके काव्य में वैचित्र्य का रस नहीं है, सहज का आकर्षण है। काव्य-क्षेत्र के बाहर मूर्तिकला और चित्रकला की सर्वश्रेष्ठ भंगिमाओं को भी उन्होंने अपनाया है, परन्तु वहाँ उन्होंने काव्य की प्रकृति के निर्वाह का ध्यान अवश्य रखा है। प्रतीकवाद और ध्वनिवाद की स्पष्ट ध्वनि उनके काव्यादर्शों में है यद्यपि वे मूलतः रसधर्मी और अभिधावादी कहे जा सकते हैं। प्रतिभा के बल पर उन्होंने महाभारत के शकुन्तलोपाख्यान को अप्रतिम सौन्दर्य-सृष्टि बना दिया है और उसे भारतीय आचार, प्रेम और तप के महान मूल्यों से मण्डित किया है। यह स्पष्ट है कि विद्रोह का तेज अधिक रहता है और काव्य नये समीकरण से ही प्राणवान बन सकता है। कालिदास ने कहा भी है कि सब पुराना ग़लत नहीं है और सब नवीन प्रशंसनीय भी नहीं। इस प्रकार की सारसंग्रही दृष्टि ही काव्य को निरंतर ऊँचे आकाशों तक उठा सकती है।

परन्तु यहाँ प्रश्न यह है कि कवि परंपरा को किस रूप में आत्मसात करे। हमारे युग में इलियट ने परंपरा और कवि-प्रतिभा को संग्रथित करने का प्रयत्न किया है। परन्तु अपनी काव्य-प्रक्रिया में इलियट उद्धरणात्मकता को ही परंपरासाधना समझ लेते हैं। उनकी रचना में शेक्सपिअर, मिल्टन, डॉने और दाँते ही नहीं, पूर्व-पश्चिम की विचार-साधना की असंख्य ध्वनियाँ अवतरणों,

संदर्भों और शब्दप्रयोगों में उतर आई हैं। परन्तु यह स्पष्ट है कि हम इस प्रकार परंपरा के शरीर को ही छूते हैं, उसकी आत्मा तक नहीं पहुँचते। इस दिशा में भी कालिदास का काव्य हमारा आदर्श बन सकता है, क्योंकि उसमें परंपरा को सचेतन, सूक्ष्म और वर्द्धमान रूप में ही ग्रहण किया है। वह काव्य की आत्मा बन कर सामने आई है, अभ्यागत मात्र बन कर नहीं रह गई। परंपरा की यह साधना जहाँ काव्य-बोध को संपन्न बनाती है, वहाँ सांस्कृतिक मूल्यों को भी पुष्ट करती है। कालिदास का परंपरा-बोध अवचेतनात्मक और अंतरंगी है, सतही और उद्धरणात्मक नहीं। इलियट के प्रशंसकों को परंपरा पर इस दृष्टि से भी विचार करना उचित होगा। एक दूसरा प्रश्न इलियट ने इस प्रश्न के साथ जोड़ दिया है। वह कवि के व्यक्तित्व का प्रश्न है। इलियट की धारणा थी कि कवि निर्वैयक्तिक होकर ही परंपरा की सिद्धि कर सकता है। इसीलिए उसने काव्य की निर्वैयक्तिकता पर बल दिया। परन्तु इधर वे सर्वोच्च व्यक्तिमत्ता को निर्वैयक्तिक काव्य की अंतरंगी अभिव्यक्ति मानने लगे हैं। कालिदास का दृष्टिकोण उनके इस दृष्टिकोण से मिलता-जुलता है। निर्वैयक्तिकता कालिदास में कम नहीं है, क्योंकि वह उनके क्लासिकल स्वर का प्रमुख अंग है, पर कालिदास ने व्यक्तिमत्ता के भीतर से ही उसकी साधना की है। रचना की पंक्ति-पंक्ति पर कालिदास की प्रतिभा की छाप है। फिर भी उनका स्वर तटस्थ, मर्यादापूर्ण और उदात्त है। व्यक्तिमत्ता के भीतर से निर्वैयक्तिकता की साधना "क्षुरस्य धारा" साधना है। वह पिपीलिका-मार्ग है। निर्गुण-सगुण से परे परात्पर तत्व की खोज की तरह यह भी रस के भीतर रसेतर की खोज कही जा सकती है। कवि का स्वर जहाँ निजी होकर भी सब का स्वर है—वहीं काव्य की सिद्धि है। इस सिद्धि को किसी सिद्धांत या शास्त्र में नहीं बांधा जा सकता। कालिदास जैसे महाकवि में ही इसका चमत्कार देखा जा सकता है और उनके काव्य को अपनी चेतना का अंग बना कर ही इसे साधा जा सकता है।

एक तीसरा प्रश्न "विशुद्ध काव्य" का है। पश्चिम से मेलार्मे-वरलें-वेलरी ने विशुद्ध काव्य का प्रश्न उठाया है और केवल प्रतिमान, प्रतीक, कच्चे संवेदन और तात्कालिक बोध को लेकर धर्म, नीति, दर्शन, राजनीति, समाजनीति सबसे अलग, स्वतंत्र और केन्द्रीय अनुभूति को काव्य का रूप देने की चेष्टा

की है, परन्तु जो हाथ लगा है वह मांसल और सजीव नहीं रह गया है। नवाबी के दिनों में लखनऊ वाले बर्फ़ी को छील कर खाते थे। तत्व चाहिये: तात्कालिक, केन्द्रीय और अंतरंगी बोध चाहिये। यह बोध क्या केवल कल्पना में मिलेगा? या रसमत्ता में? या उपमा में? या प्रतीक में? संसार के सब प्रश्नों और संदर्भों को छोड़ कर वायवी निजत्व में सिमट कर क्या कवि ऐसी सृष्टि रच सकेगा जो वस्तुमत्ता की प्रतिनिधि बन सके? काव्य से दर्शन का काम लेना कहाँ तक ठीक होगा? दर्शन साक्षात्कार है, परन्तु यह साक्षात्कार सात्वत है, सौन्दर्यवत् नहीं। इसीलिए मेलार्मे का काव्य कूट बन गया और वेलरे की प्रगीतियाँ क्षयी तन्वियाँ रह गईं। मनुष्य की चेतना को इस प्रकार से खण्ड-खण्ड कर काव्य का विषय नहीं बनाया जा सकता। वह सामासिक और समग्र है। कालिदास ने "मेघदूत" जैसी रचना में यक्ष के विरह-निवेदन को वायवी नहीं रहने दिया है। वह विराट् भूमि के प्राकृतिक सौन्दर्य और अखण्ड पृथ्वी-तत्व से बँध कर मांसलता और सजीवता प्राप्त करता है। उनके काव्य में सुन्दर सत्यान्वेषी और शिवसंकल्पी बनकर ही सार्थक है। संसार के के किसी भी प्रश्न को कवि क्यों छोड़ेगा? परन्तु उसकी सौन्दर्य-चेतना उन्हें काव्य के धरातल पर ही ग्रहण करेगी। काव्य में विशुद्धता का आन्दोलन कितनी बड़ी भ्रांति है, यह कालिदास के अध्ययन से ही समझा जा सकेगा। सौन्दर्य की साधना समग्र और अखण्ड जीवन-साधना है। वह एकांगी और वर्जनामूलक नहीं है, क्योंकि आत्मा की अखण्डता में सब कुछ जुड़ जाता है।

काव्य में बौद्धिकता का समावेश कहाँ तक हो, यह भी नये काव्य को लेकर विचारणीय है। नई कविता में बौद्धिकता का आग्रह है और कवियों ने "बौद्धिक रस" की कल्पना भी कर डाली है। निःसंदेह मनुष्य बौद्धिक प्राणी है और विज्ञानवादी-भौतिकवादी चेतना का मूलाधार ही बुद्धिवाद है। परन्तु बुद्धिवाद क्या केवल अनन्वय और विश्लेषण है? क्या बुद्धि और भावना के दो विरोधी स्तरों की कल्पना संभव है? श्रेष्ठ काव्य में क्या संवेदन मात्र या अनुभूति मात्र के आयाम रहते हैं? क्या कालिदास जैसे महाकवि में बौद्धिक काव्य का सर्वोच्च स्वरूप उद्घाटित नहीं होता और क्या इससे उनकी अनुभूति अथवा अभिव्यंजना कहीं भी, किंचित् मात्र भी दुर्बल होती है? "मेघदूत" क्या केवल भावुक कवि की

कल्पना-सृष्टि है ? उसकी विराट् मानबीय और अखिलभारतीय अभिव्यक्ति किस बौद्धिकता से कम चमत्कारक है ? "रघुवंश" में भारतीय सांस्कृतिक आदर्शों को जिस बौद्धिकता से पुष्ट किया गया है और "कुमारसंभव" में पंक्ति-पंक्ति पर जिस प्रौढ़ता और जागरूकता की छाप है वही कालिदास जैसे सौन्दर्यचेतन कवि की बौद्धिकता का सर्वश्रेष्ठ प्रमाण है। यह बौद्धिकता पश्चिम की चमत्कारी और विकृत ऊहात्मकता से निःसंदेह भिन्न है। इस बौद्धिकता के द्वारा ही पश्चिम इस आग्रह की ओर बढ़ा है कि साहित्य कला है और काव्य में शिल्प के सारे आयाम तथावत् ग्रहणीय हैं। माध्यम की अनिवार्यता और सीमाबद्धता को कवि व्यंजना के द्वारा अतिक्रमित कर सकता है, ऐसी मान्यता पश्चिम में चल रही है। इसका फल यह हुआ कि मूर्त्तिकार और चित्रकार हमारे मानदण्ड बने जा रहे हैं और काव्य-साधना अराजक और विकृत मनःस्थितियों का रूप ले रही है। कालिदास इन क्षेत्रों के अनुभवों को जिन धरातलों पर ग्रहण करते हैं और अपनी कला को समृद्ध तथा सहज बनाते हैं उनसे पश्चिम के कवि परिचित नहीं हो सके हैं। स्वस्थ और विकृत काव्यचेतना में क्या अंतर होता है, यह जान कर ही हम प्रेषणीयता के प्रश्न को सुलझा सकेंगे और हमारा भाषा-बोध शिष्टवर्गीय होकर भी सार्वजनिक बना रह सकेगा। इलियट और कमिंग्स से दृष्टि हटा कर हम अपने महाकवि की ओर देखें तो समुज्ज्वल काव्यचेतना का रहस्य हम पर खुले।

क्या कहें कि कालिदास का काव्य वादग्रस्त आधुनिक काव्य-परंपरा और खण्डित काव्य-दर्शन के प्रति पूर्व की महान चुनौती है ? क्या यह कहें कि नवीन काव्य-परंपरा की सृष्टि के लिए हमें बार-बार पीछे मुड़ कर कालिदास के काव्य को ही देखना होगा, क्योंकि वही भारतीय काव्य-चेतना का मानदण्ड है ?

रवीन्द्रनाथ का प्रदेय

प्रश्न यह है कि रवीन्द्रनाथ ने हमें क्या दिया है ? साहित्य के भीतर और बाहर उनका प्रदेय क्या है ? भारतवर्ष और संसार की नई सांस्कृतिक चेतना में उनके योगदान का रूप और महत्व क्या होगा ? रवीन्द्र-जयन्ती के अवसर पर हमें इन महत्वपूर्ण प्रश्नों पर भी विचार कर लेना है, क्योंकि रवीन्द्रनाथ के कृतित्व में ही हमारी आधुनिकता वाणी प्राप्त कर सकी है और उनके माध्यम से ही हम अपने कूर्म-कवच को तोड़ कर महासमुद्रों के पार विदेशी राष्ट्रों और द्वीप-द्वीपान्तरों में फैली मानवता से हाथ मिलाते हैं। अपने लंबे जीवन के ६० वर्ष उन्होंने कृतित्व में ढ़ाल दिये हैं और आज उनकी जन्मशती पर हम नवजागरण की एक संपूर्ण शताब्दी में उनके महत्व का मूल्यांकन कर सकते हैं। पिछले बीस वर्षों में हमारी उपलब्धियाँ राजनीतिक ही अधिक रही हैं, परन्तु यदि हमें इन्हें सांस्कृतिक चेतना के धरातल पर उतारना है तो रवीन्द्रनाथ के साहित्य और उनकी सांस्कृतिक विचारधारा को हमें निरंतर स्पर्श करना होगा।

कहा गया कि रवीन्द्रनाथ कवि हैं, उपन्यासकार हैं, नयी नाट्यशैली के जन्मदाता हैं, कहानीकार हैं, दार्शनिक और चित्रकार हैं तथा शिक्षक हैं, परन्तु उनके प्रदेय पर विचार करते हुए हमें उन्हें खण्ड में न लेकर संपूर्ण में लेना होगा। उनका समस्त साहित्य, कृतित्व, जीवन हमारे सामने है। एक पीढ़ी का अंतर देकर हम उन्हें देख सकते हैं। वैसे वे स्वयं कई पीढ़ियाँ जिये और उनकी रचनाओं में कला और साहित्य की कई पीढ़ियाँ आ गई हैं। जिन लोगों ने उन्हें दार्शनिक अथवा शिक्षक माना उनके प्रति रवीन्द्रनाथ का दृष्टिकोण व्यंग्यात्मक ही रहा है और अपने जीवन के अंतिम वर्षों में उन्होंने अपने को कवि के रूप में ही स्वीकार करने का आग्रह सामने रखा है। कला और साहित्य के क्षेत्र में तरतमता के संबन्ध में वह अविश्वासी थे, क्योंकि वे कृतित्व को उपयोगिता की दृष्टि से नहीं, आनन्द-सर्जन की दृष्टि से देखते थे। फलतः हम उनमें गहरे जा कर और उन्हें समग्रता देकर ही अपने मूल्यांकन को सार्थक कर सकेंगे।

पहली बात तो यह है कि रवीन्द्रनाथ उन्नीसवीं शताब्दी के नवजागरण के शीर्षपुरुष हैं। राजा राममोहनराय ने ब्रह्म-समाज के द्वारा पूर्व-पश्चिम का जो एक समन्वयात्मक प्रवर्त्तन प्रस्तुत किया था, उसे उन्होंने अपने पिता महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर के दाय के रूप में प्राप्त किया, परन्तु रामकृष्ण परमहंस की जीवन-साधना और स्वामी विवेकानन्द के नव्य वेदांत का भी उन पर कम प्रभाव नहीं पड़ा। उनके साहित्य में उपनिषद् की ज्ञान-भूमि वैष्णवों के भक्तिवाद और लीलावाद से रससिक्त होती है और उनके वेदांतवाद में लोकैषणा को भी पर्याप्त मात्रा में आत्मसात किया गया है। वे रूपों के भीतर अरूप के साधक हैं और प्रकृति-सौन्दर्य तथा मानवीय संबंधों के भीतर ब्रह्म-चेतना का प्रसार देखते हैं। उनकी चेतना में जहाँ एक ओर वैष्णव भक्ति और बाउलों के रहस्यवाद के रूप में मध्ययुग का सर्वश्रेष्ठ समाहित हो गया है, वहां पश्चिमी बुद्धिवाद, मानवतावाद और विज्ञानवाद को भी वे अपने सांस्कृतिक आयामों में जोड़ते चले हैं। वास्तव में उनके व्यक्तित्व और कृतित्व में दो महादेशों (भारत और इंग्लैण्ड) का सर्वश्रेष्ठ समन्वय समा गया है और वे हमारे युग के संधि-पुरुष हैं। पूर्व-पश्चिम के इस समन्वय ने हमारे नवजागरण को विशिष्ट सांस्कृतिक रूप प्रदान किया है। इस नवजागरण में स्वयं कवि ने कुछ महत्वपूर्ण स्वर जोड़े हैं। ये स्वर क्या हैं ?

सांस्कृतिक स्वर के रूप में हम उन्हें पूर्व-पश्चिम के नये समन्वय को आगे बढ़ाता पाते हैं, परन्तु पश्चिमी विज्ञान को स्वीकार करते हुए भी उन्होंने उसके प्रगतिशीलता के भौतिक आदर्श को नहीं अपनाया है। उनके विचार में भारत और चीन महादेश नहीं हैं, वे संस्कृतियाँ हैं, क्योंकि संपन्नता, ज्ञान और शक्ति उनका ध्येय नहीं है, वरन् जीवन दर्शन और जीने की कला उनके लक्ष्य हैं। रवीन्द्रनाथ "संस्कृति" और "सभ्यता" के पर्याय के रूप में "धर्म" शब्द का उपयोग करते हैं और उसे "पूर्णता" मानते हैं। यह पूर्णता आपेक्षिक और वर्द्धमान ही हो सकती है, क्योंकि उसमें मनुष्य की निरंतर अपने को अतिक्रमित करने की क्षमता का प्रकाशन होता है। धर्म का अर्थ है मनुष्य की मूलभूतता, उसका मानवपन। इसे "स्वधर्म" भी कहा गया है। अंततः यह स्वधर्म आत्मधर्म ही है, क्योंकि मूल में मनुष्य "आत्मा" है, सच्चि-दानंदी चेतना है। जड़ वह नहीं है। मनुष्य की आदर्शप्राणता उसी स्वधर्मता

में परिलक्षित है। उसकी प्रगतिशीलता का अर्थ वर्द्धमानता या आत्मविवृत्ति ही हो सकता है। दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। यहीं प्रश्न उठता है कि प्रगति किस लक्ष्य की ओर और किसके लिए ? "सभ्यता और प्रगति" शीर्षक अपने निबंध में रवीन्द्रनाथ ने इस प्रश्न पर गंभीरतापूर्वक विचार किया है। उन्होंने मनुष्य की चरितार्थता को प्रेम, सद्भाव, करुणा, क्षमा और आत्मदान में देखा है। संस्कृति का अर्थ है सम्यक् मूल्य-दृष्टि और मानव-मूल्य जड़ देह से परिबद्ध नहीं हो सकते। संपन्नता और सुविधा की उपासना लोभ और शक्ति को महार्घता देकर हमारी चेतना को ह्रासोन्मुख बना देती है। जीवन की संपन्नता का अर्थ आत्मिक संपन्नता ही हो सकता है। इसीलिए रवीन्द्रनाथ संस्कृति के ठीक केन्द्र में "धर्म" की प्रतिष्ठा चाहते हैं। स्वभाव में स्थापित होने के कारण स्वधर्मनिष्ठ जीवन "सहज" और अकृत्रिम होता है, क्योंकि वह शताब्दियों के सांस्कृतिक विकास की उपज है। वह "होना" मात्र है। होकर ही वह सार्थक है। संस्कृति का सर्वोच्च प्रदेय आत्मिक अभिव्यक्ति की ऋजुता ही है।

रवीन्द्रनाथ की मान्यता है कि मानव-जीवनादर्श समग्र मानव-प्रकृति को उच्चतम और गंभीरतम भूमियों पर आत्मसात करता है। वह सर्वगत, सहिष्णु और स्वयंप्रकाश्य है। उसका लक्ष्य सहकारिता और जीवन के उपकरणों का समान विभाजन है। भौतिकता की विजय में मनुष्य की आत्मा का मरण है। उसके प्रति मरणशील बन कर ही मनुष्य अमरता की प्राप्ति कर सकता है। जीवन्मृत या जीवन्मुक्त इसी स्थिति का नाम है।

रवीन्द्रनाथ की बौद्धिक चेतना का दूसरा स्वर सर्जन-स्वर है। वे निर्मिति नहीं, सर्जन चाहते हैं। निर्माण साभिप्राय होता है, सर्जन स्वयंसिद्धि है। सर्जनशील मन आत्मविवृति मात्र है। उसमें प्रकृति ही उमड़ पड़ती है। प्रेम और सदाशयता में मानव-प्रकृति का सर्जनशील प्रवाह है। इन्हीं में हमें पूर्णता का मानदण्ड मिल जाता है। सर्जन के आत्मिक सत्य की अभिव्यक्ति रूपों में होती है। सर्जन वस्तु और अभिव्यंजना के द्वन्द्व को इस प्रकार समाधृत करता है कि वस्तु पृष्ठभूमि में रहे और अभिव्यंजना ईमानदारी के साथ अपने बलिदान को सार्थक करे। व्यक्ति और समाज दोनों के जीवन

में इसी सर्जनात्मक अभिव्यक्ति को सर्वोपरि स्थान मिलना चाहिये, यह रवीन्द्रनाथ का अभिमत है। माध्यम की प्रचुरता, संपन्नता और आलंकारिकता अभिव्यक्ति में बाधक होकर सत्य पर आवरण डाल देती है। इसीलिए सर्जक व्याकरण, भाषा और छन्द की परिबद्धता से ऊपर उठ कर अनुभूति की स्फूत्ति मात्र को अपने सर्जन में ढालता है। उसमें कलाकारिता का चातुर्य और सर्जक का अहं नहीं, उसकी आत्मिक ऋजुता और विनयशीलता का ही प्रसार होता है। सर्जन अभिव्यंजना है। वही मात्र अंतिम लक्ष्य है। अपनी मानवता को चरितार्थ करने पर ही संस्कृति आत्माभिव्यंजना में सफल होगी। बुद्ध की करुणा, महावीर का तप और वैष्णव भक्तों की प्रपत्ति हमारी राष्ट्रीय आत्माभिव्यक्ति के ही विभिन्न स्वरूप हैं। संस्थाएँ यांत्रिक होने के कारण उत्पीड़क बन जाती हैं और जीवन के सहज प्रवाह को रोकती हैं। आज राजनीति, समाजनीति, विज्ञान सभी मनुष्य की आत्मा को खण्डित कर रहे हैं, क्योंकि उनके द्वारा जीवनानन्द बाधित हो रहा है। हमें यह समझ लेना है कि अभिव्यंजना आत्मिक, समग्रगत और व्यक्तित्वगत वस्तु है, वह परिबद्ध, यांत्रिक और अव्यक्तिगत नहीं हो सकती। उसे उपयोगिता की तुला पर नहीं तौला जा सकता। इस संदर्भ में प्रगति जीवनगत हो जाती है और उसमें वर्द्धमान संपूर्णता और नैरंतरिक समन्वय का आग्रह प्रधान हो उठता है।

इस समन्वय-साधना का श्रेष्ठतम रूप रवीन्द्रनाथ भारतवर्ष की राष्ट्रीयता में देखते हैं। यह राष्ट्रीयता काल-प्रवाह में बह कर आई असंख्य जातियों-प्रजातियों के हार्दिक आदान-प्रदान, सहयोग और समन्वय के रूप में प्रतिफलित है। उनकी राष्ट्रीयता की कल्पना पश्चिम की शोषणशील एकांगी राष्ट्र-चेतना से भिन्न है, जो उपनिवेशों का निर्माण कर राष्ट्रीय जीवन-मान की अभिवृद्धि को ही एकमात्र सत्य जानती है। वस्तुतः भारतवर्ष की राष्ट्रीयता मानवीयता ही है और इसीलिए अंतर्राष्ट्रीय चेतना से उसका किंचित् मात्र भी विरोध नहीं है। भारत का राष्ट्र-धर्म मानवता की पुकार बन कर ही अपने आत्मधर्म को चरितार्थ कर सकता है। अहं का विनाश ही व्यापक मानवधर्म बन सकता है और जड़ता से बद्ध मानवात्मा की उन्मुक्ति में ही इस प्रयत्न की चरितार्थता है।

रवीन्द्रनाथ की जीवन-चेतना का तीसरा स्वर जीवन के प्रति उनकी आत्यंतिक अनुरक्ति है। वे विराग के नहीं, राग के हामी हैं। उन्होंने प्रकृति और जीवन को परोक्ष का दान माना है और नाम-रूपात्मक जगत के प्रति अपनी आसक्ति को सहस्रश: छन्दों में प्रकाशित किया है। हरीतिमा को वे ईश्वरीय काव्य मानते हैं और मानव उनके लिए स्रष्टा का गीत है। उनका स्रष्टा उन्हीं की तरह महान कलाकार है जो असंख्य असफलताओं, प्रयत्नों और अंतर्द्वन्द्वों के बाद अपने अशेष आनन्द-दान के रूप में इस सृष्टि को जन्म दे सका है। मध्ययुगीन विराग और युगपत् निष्क्रियता के विरुद्ध जीवन की अक्षुण्ण आनन्दनीयता, सुन्दरता और प्रेममयता का आविष्कार रवीन्द्रनाथ के लिए भी सरल कार्य नहीं रहा है। उन्होंने सीमा में असीम की रूप-रंगमयी लीला का रास देखा है। द्वन्द्वों के छन्द के भीतर से इस सृष्टि में कलाकार की आत्मिक एकता और परिपूर्णता का प्रकाशन है, ऐसा मान कर रवीन्द्रनाथ हमें परोक्ष के प्रति अदम्य उत्साह और अपरिसीम आस्था से भर देते हैं।

उनके काव्य में हमें उनका चौथा स्वर भी सुनाई देता है जो गीति-कवि का स्वर है। रवीन्द्रनाथ भारतवर्ष के सब से बड़े गीतकार कहे जा सकते हैं। तीन हज़ार से अधिक गीतों और सहस्राधिक प्रगीति-रचनाओं में उन्होंने अपनी गीति-प्रतिभा का प्रस्तार किया है। उनके गीत संगीत के कटे-छँटे हीरे हैं। उनमें शब्द अपनी सार्थकता खोकर प्राणों की मूर्च्छना बन गये हैं। प्रत्येक ऋतु, पर्व, भाव और संवेदन को लेकर अनेक गीत हैं और जीवन की प्रत्येक भंगिमा को उनमें वाणी मिली है। उनमें लोककण्ठ की कोमलता और पुनरावृत्ति है तो शिष्ट कण्ठ का मार्दव और भाव-संस्कार भी पर्याप्त मात्रा में है। शस्यश्यामला वंगभूमि के लता-गुल्मों, नारिकेल-कुंजों, महावनों, विशाल सिकता-तटों और नीलकमल जैसे प्रशांत जलाशयों एवं नदियों के वक्षस्थल पर उनकी गूंजें उठी हैं। रवीन्द्रनाथ का प्रत्येक गीत स्रष्टा की कृति की भाँति परिपूर्ण कलाकृति है। उसमें जातीय अवचेतन को उभारने की अपार क्षमता है। सभी वय के स्त्री पुरुषों, सभी वर्गों और जीवन-स्तरों के मनुष्यों ने कवि की बांसुरी में अपने व्यक्तित्व की पुकार सुनी है। ये गीत मूर्त्त मित्र हैं। उनमें देश की परंपरा और पृष्ठभूमि शत-

शत छायाच्छवियों में बँधी है। इन गीतों में प्रकृति-संबंधी गीत कदाचित् सबसे सुन्दर हैं। ऋतुसंभार का ऐसा वैभव, ऐसा उद्दाम लालसापूर्ण कण्ठ, ऐसा अनुराग-विराग अन्यत्र नहीं मिलेगा। मानव के आभ्यंतरिक द्वन्द्वों और संघर्षों को प्रकृति में प्रतिबिंबित कर कवि ने जीवन की एकतानता को ही जैसे गीतों में बांध दिया हो। अपूर्व चित्रमयता और अनन्त शब्द-माधुरी से परिपूर्ण ये गीत अपनी व्यंजना में दूर क्षितिजों को छूते हैं।

परन्तु रवीन्द्रनाथ का एक पाँचवा स्वर भी है जो भाषा और छन्द के अनंत भ्रू-भंगों को काव्य का रूप देता है। उनके काव्य का स्वच्छंद प्रवाह, उसके संगीत का आरोहावरोह, उसका प्रगीतात्मक और नादात्मक स्वातंत्र्य, शब्दों के सामासिक प्रयोग और वाक्यों का अप्रतिम सौष्ठव, ये सब एकदम रवीन्द्रीय हैं। बंगभाषा को नये रूप-रंग से मण्डित कर उसे गंभीर संवेदना और भावनिष्ठा से उन्होंने अभिषिक्त किया है। उनकी भाषा रूढ़िगत बंधनों और पारंपरिक छंद-बंधों को तोड़ती-फोड़ती अजस्र भावधारा के रूप में प्रवाहित है। उनके काव्य में आत्मा के निर्भर का स्वप्न-भंग शिल्प ही बन गया है। आधुनिक भारतीय भाषाओं में कवि के शब्द-प्रयोग, छंद-स्वातंत्र्य और स्वच्छंद भावविन्यास असंख्य आवर्त्तनों के साथ स्वीकृत हो गये हैं। आत्मा की अबाध गतिशीलता और संगीतमयता को उनकी रचनाएँ गद्य-पद्य की अगणित चेतना-तरंगों में कवि के अशेष आत्मदान के रूप में प्रस्तुत करती हैं।

यह है रवीन्द्रनाथ के प्रदेय की किंचित् झांकी। साठ वर्षों की दैनन्दिन सर्जनशीलता और अबाध शब्द-साधना में वे अपने सपनों में निरंतर अपने को अधिकाधिक उच्च भूमियों पर उद्घाटित करते गये हैं। उन्होंने उपनिषद् के ऋषियों के तप, कालिदास के भाव-सौन्दर्य, वैष्णव कवियों और रहस्य-वादी संत-साधकों एवं बाउल मर्मियों की भाव-साधना को अपने व्यक्तित्व में संपुटित कर इस नैवेद्य को युग-देवता के चरणों पर निवेदित कर दिया है। परन्तु वे प्राचीन से चिपट कर नहीं रह गये। अपने कवि-हृदय की समस्त भावुक साधना से उन्होंने उसे नवीन का भ्रू-विलास दिया है। नव-जागरण के श्रेष्ठतम संस्कारों से अपने सर्जनशील मानस को परिष्कृत कर

बाद में वे पश्चिम के संपूर्ण सांस्कृतिक विकास के प्रति उन्मुख हुए हैं। उसके सर्वश्रेष्ठ को उन्होंने अकुण्ठित भाव से ग्रहण किया है, परन्तु पश्चिम की विकृत मनःस्थितियों और खण्ड सत्यों के प्रति वे बराबर चुनौती की तलवार बने रहे। इसीलिए उनमें विश्वजनीन संवेदना और भविष्यत् मानव-संस्कृति की स्पष्ट झांकी हमें मिलती है। उनका गद्य-साहित्य उनके उदात्त जीवन-चिन्तन और युगधर्मी भावबोध को नई मानवीय और चारित्रिक भूमिकाओं पर प्रस्तुत करता है। अखण्ड और विराट् के प्रति खण्ड और अल्प का निवेदन ही उनके प्रदेय का मूलमंत्र है। जागतिक जीवन में ओत-प्रोत ईश्वरीय चेतना को महानंद की लीला के रूप में उन्होंने देखा है और "त्यक्तेन भुञ्जीथा" (अनासक्तिपूर्ण आनंदमय उपभोग) के महामंत्र को अगणित रूपों-रंगों में साधा है। उनके जीवन और कृतित्व में आधुनिक भारतीय संस्कृति की जीवन-चेतना ऊर्जस्वित और प्राणबद्ध हुई है और उनके प्रदेय में मानव-संस्कृति का अद्यतन विकास असंख्य लीला-चित्रों में प्रतिबिंबित है। वे हमारे नये जीवन के सांस्कृतिक ताजमहल की आधार-शिला हैं।

संत-कवि तुलसीदास

काव्य में विशुद्धता के आग्रही समीक्षकों को तुलसीदास को महाकवि की कोटि देने में थोड़ी-सी हिचकिचाहट रही है। वे उन्हें कालिदास के सामने रखकर देखते हैं और उनके काव्य में कल्पना और भावुकता का वह स्वरूप नहीं पाते जो कालिदास को भारतीय काव्य-प्रतिमा का प्रतिनिधित्व देता है। फलतः वे उन्हें विराग के कवि, या कवि से कुछ कम मान कर संतोष कर लेते हैं अथवा सांस्कृतिक भूमिका पर ही उनको स्वीकार कर पाते हैं, महाकवि की भूमिका पर नहीं। ऐसे समीक्षकों के वय:संधिक मन काव्यगत प्रौढ़ता के विभिन्न और उत्तरोत्तर उत्कर्षमय स्वरूप से परिचित नहीं हैं और वे भाषागत प्रौढ़ता तथा रूपक-निर्माण की प्रतिमा को ही काव्य की चरम सीमा मान लेते हैं। कालिदास के काव्य के अंतर्गत "कुमारसंभव" और "रघुवंश" में प्रौढ़ता है वह "मेघदूत" को बहुत पीछे छोड़ जाती है, परन्तु "मेघदूत" कालिदास के किशोर मन का ही स्वप्न नहीं, ऐसे आलोचक के मन का भी स्वप्न है। एक बार उसका रस ले लेने पर तुलसी का काव्य नीरस या निर्वेदी ही लग सकता है। परन्तु "मेघदूत" पर ही हम क्यों रुक जायें और काव्य की प्रौढ़ता के लिए काव्यभूमि के बाहर भी क्यों नहीं जायें ?

वास्तव में तुलसी का काव्य संत-कवि का काव्य है। यहाँ "संत" शब्द को हम "ऋषि" या "द्रष्टा" के अर्थ में लेते हैं, परन्तु ये शब्द हमारी आध्यात्मिक परंपरा में इतने प्रचलित हैं कि हम उनके महत्व को आज भूल गये हैं। इलियट ने अपने एक निबंध में इसके लिए "विज़डम" शब्द का उपयोग किया है जो "प्रज्ञा" अथवा "बोधि" के निकट पड़ता है। उसके अनुसार संतत्व मानवात्मा की अन्यतम और दुर्लभतम उपलब्धि है। कवि की अपेक्षा संत अधिक दुष्प्राप्य है और एक ही व्यक्तित्व में दोनों का समावेश अप्रतिम ही कहा जायेगा। वाणी और बोधि का योग मणि-कांचन-योग ही कहा जा सकता है। संसार में महाकवि तो बहुत मिल सकते हैं, परन्तु संत-कवि

अथवा संत-महाकवि विरल ही रहेंगे। इस कोटि के कवि अपनी भाषा अथवा राष्ट्र के ही न होकर सारे विश्व के कवि होते हैं। उनकी प्रतिभा सार्व-भौमिक होती है, क्योंकि भाषा के व्यवधान को पार कर वे मनुष्य की अंत-रात्मा के गुह्यतम स्तरों को छूते हैं। यह नहीं कहा जा सकता कि वे कम कवि हैं या "बोधि" के कारण उनकी काव्यप्रतिभा अपने सर्वोच्च उत्कर्ष पर नहीं पहुँच सकी है। परन्तु यह निश्चित है कि उनका काव्य विशुद्धकाव्य की कोटि से भिन्न वस्तु होगा और उनके बोधि की शक्ति और प्रियता के पीछे उनके काव्य का बल रहेगा।

भारतीय काव्य-परंपरा में व्यास, बाल्मीकि, कालिदास और तुलसीदास कवि-चतुष्टयी का निर्माण करते हैं। ये सच्चे अर्थों में भारतीय कवि हैं, क्योंकि भारतीय प्रज्ञा का श्रेष्ठतम उनके काव्य में रूपायित हो गया है। वे अपने-अपने युगों के प्रतिनिधि महाकवि भी कहे जा सकते हैं, परन्तु उन में ऐसा बहुत-कुछ है जो युगेतर है या युगधर्म के साथ शाश्वत मानव-धर्म या जीवन-धर्म को छूता है। उसकी प्रतिभा देशकालबद्ध न होकर सार्वभौमिक हैं, क्योंकि वे सभी पीढ़ियों में लोकप्रिय रहे हैं। प्रत्येक नयी पीढ़ी उनके काव्य से रस और बोधि पाती रही है। वे केवल इतिहास के आलेख मात्र नहीं हैं, प्रत्येक पीढ़ी उनके कर्त्तव्य को नई दृष्टि से देखती है और नये सिरे से उसका मूल्यांकन करती है। अपनी भाषा, जाति और राष्ट्र के पाठक के लिए ये जितने महत्वपूर्ण हैं दूसरी भाषा, जाति और राष्ट्र के लिए भी उतने ही। वे विदेशों में हमारे सांस्कृतिक राजदूत हैं। विभिन्न राष्ट्रों और युगों के लिए उनके अर्थ भिन्न हो सकते हैं, परन्तु कोई राष्ट्र या कोई पीढ़ी उनकी महत्ता को अस्वीकृत नहीं कर सकेगी। इन महाकवियों का इतिहास ही राष्ट्रीय मानस का विकासात्मक इतिहास है।

"राष्ट्रीय कवि" की ऊँचाई तक उठने के लिये स्थायित्व और सार्वभौमिकता के दो मापदण्ड हमारे पास हैं। उपरोक्त चारों कवि इन मानदण्डों पर पूरा उतरते हैं। परन्तु इसके अतिरिक्त भी इन कवियों के काव्य में कुछ विशिष्ट गुण हैं। ये गुण हैं प्रचुरता, बहुविधता और एकतानता। इन कवियों का कृतित्व कम नहीं है और कदाचित् कुछ भी ऐसा नहीं है जो अपदार्थ है।

उन्होंने मानव के बहिरंगी और अंतरंगी जीवन के तीनों सप्तकों पर उंगलियाँ चलाई हैं और उनकी जिज्ञासा, संवेदना और बोधिमयता को उद्दीप्त किया है। परन्तु व्यापक जीवन-चेतना और सहानुभूति के बाद भी इन कवियों में जीवनदर्शन या जीवनानुभूति की एकतानता है जो उन्हें असमर्थ और गौण कवियों से अलग करती है। उनका भावजगत व्यक्तिगत और युगधर्मी चेतना को एक साथ ही प्रतिफलित करता है।

यह स्पष्ट है कि इस कवि-चतुष्टयी में तुलसी का स्थान अत्यंत महत्वपूर्ण है, क्योंकि वे सब के अंत में हैं और हमारे निकटतम हैं। उनमें व्यास, वाल्मीकि और कालिदास की काव्यपरंपरा पुनर्जन्म लेती है और स्वयं उनका काव्य हमारे काव्य-विकास की अंतिम परिणति कहा जा सकता है। व्यास का धर्मबोध और चरित्रबोध, वाल्मीकि की दाम्पत्यधर्मी आदर्शप्राणता और "पुरुषोत्तम" की कल्पना, कालिदास की व्यापक प्राकृतिक संवेदना और सौष्ठवपूर्ण निर्मातृ-प्रतिभा पर हमें गर्व है तो तुलसीदास की आचारप्रवण नैतिकता और चेतन-वादी लोकधर्मी जीवनदृष्टि का महत्व भी कम नहीं है। उनमें व्यास की आदर्शवादिता और कालिदास की सप्राण कवित्व-शक्ति का विचक्षण समन्वय हमें मिलता है, परन्तु इस समन्वय को आगे बढ़ा कर वे भक्ति के रूप में नया युगधर्म हमें देते हैं और इसके साथ ही अपने युग के अनाचारी तथा अतिवादी जीवन को चुनौती देते हुए राम-राज्य के रूप में एक अत्यंत आकर्षक भविष्यत् दर्शन हमारे सामने रखते हैं। काव्य उनके संत-व्यक्तित्व का स्वाभाविक प्रसार है, वह अलंकार मात्र नहीं है। वाणी को अपनी संत-साधना का माध्यम बना कर तुलसी ने उसे भारतीय दर्शन और धर्म को श्रेष्ठतम उप-लब्धियों से विभूषित किया है। सच तो यह है कि उनका काव्य कथा की लंबी परंपरा की ही परिणति नहीं है, उसमें उपनिषद्, गीता और षट् दर्शनों की ब्रह्म-जिज्ञासा तथा पुराणों की देवकथामाला का सार भी आत्मसात हो गया है। दाशरथि राम को अवतारी विष्णु ही नहीं, साक्षात् परात्पर ब्रह्म की मुद्रा देकर वे भारतीय दर्शन-चिन्तन के निकष पर सबसे उज्ज्वल स्वर्ण-रेखा खींच सके हैं। इसीलिए उनका काव्य विशुद्ध काव्य की सीमाओं का अतिक्रमण कर धर्म और दर्शन की विस्तृत भूमिकाओं को भी ग्रहण कर लेता है। उसमें हमें मध्ययुग के भागवत-धर्म की सर्वोत्कृष्ट अभिव्यक्ति मिलती है।

परन्तु प्रश्न संत-कवि का है या संत-कवित्व का। क्या संत-कवि में हमारा तात्पर्य दार्शनिक कवि या विचारक कवि मात्र से है या संत-कवि के काव्य के काव्य में विचारों के साथ साधना की भूमिका भी अपेक्षित है? यदि चिन्तन या दार्शनिक मंतव्य का ही प्रश्न है तो यह भी बतलाना होगा कि कवि के लिए प्रथित दर्शन को काव्यबद्ध करना श्रेयस्कर है या कवि का कोई स्वतंत्र दर्शन हो सकता है? दार्शनिक आस्था और काव्यगत आस्था में अंतर है। तुलसी के काव्य में हम न अद्वैत देखना चाहते हैं, न द्वैत, न द्वैताद्वैत, न कोई अन्य योगायोग। हम उसमें तुलसी को देखना चाहते हैं। यह आवश्यक नहीं कि हम तुलसी के दार्शनिक दृष्टिकोण से सहमत ही हों, परन्तु उनका भाव-जगत इतना संपन्न और सशक्त है कि हम क्षणभर के लिए अपनी अनास्था से दूर ही नहीं जा पड़ते, हम उस जगत के प्रति आस्थावान हो उठते हैं। प्रथित दर्शनों की उलझनों से परे तुलसी का राममय वैष्णव-जगत हमारा अपना भाव-लोक बन जाता है। तुलसी की आस्था और उनकी अपरिसीम भावुकता चिन्तन के बीच की दरारें भर देती है और वह मांसल तथा राग-रंजित बन कर हमारे व्यक्तित्व का अभिन्न अंग बन जाता है।

परन्तु तुलसी से हम कुछ ऐसा भी पाते हैं जो सामान्यतः अन्यत्र प्राप्त नहीं है। यह है "बोध"। यह बोध हमें व्यास, बाल्मीकि और कालिदास में भी मिलता है, परन्तु वहाँ उसका स्वरूप भिन्न है। जड़ जगत के वास्तविक स्वरूप, प्राणिमात्र की प्रकृति और मानव-हृदय की अंतरंगी चेतना का दर्पण-वत् चित्र हम इन कवियों की रचनाओं में देखते हैं। एक शब्द में हम कह सकते हैं कि इन कवियों की रचनाओं से हमें वस्तुधर्म का परिचय मिलता है। उन्होंने अपनी जीवन-साधना में जिस उदारता, सहानुभूति, मानव-चरित्र की अंतरंगता और विविधता का साक्षात्कार किया है, उसे ही समरस कर अपने काव्य में प्रस्तुत कर दिया है। परन्तु तुलसी की विशेषता यह है कि उनके बोध के नीचे आध्यात्मिक अनुभूति की गहराइयाँ हैं। चेतन के व्यापकत्व और मूलत्व का जैसा अनुभव उनका है, वैसा न व्यास का, न वाल्मीकि का, न कालिदास का। मानव-चरित्र की संतुलित, प्रकृतिस्थ तथा उदात्त दैवीय कल्पना से उनके पात्र उद्भासित हैं और उनके राम और भरत संत-स्वभाव के चरम विकास हैं। उनकी जीवनदृष्टि चैतन्यमयी, ऋतसंवलित और आत्म-

दानी है। भारतीय काव्य-परंपरा में उनका काव्य निस्सन्देह एक नई कड़ी जोड़ता है। उसमें साधना ही काव्य का रूप धारण कर लेती है। इस साधना का व्यक्तिगत स्वरूप भक्ति है और परगत उदात्त नैतिकता तथा श्रेष्ठ चरित्रात्मकता। संत और असंत की दो परिपाटियों में मानव-चरित्र को बाँट कर तुलसी चेतन और जड़ जीवन-दृष्टियों के अंतर को प्रकाश की रेखाओं में ढाल देते हैं। यह स्पष्ट है कि वे चेतनवादी हैं, जड़वादी नहीं। राम-रावण और रामराज्य-कलियुग के युग्म कवि की मनश्चेतना के इस युगपत् विभाजन को ही चरितार्थ करते हैं।

संत-कवि ही हमारी सांस्कृतिक चेतना का केन्द्रीय पुरुष होता है, क्योंकि उसी में कालेतर और शाश्वत आत्म-तत्व के ग्रहण और प्रसार की क्षमता होती है। वह जीवन की नयी व्याख्या प्रस्तुत करता है और युगधर्म को राष्ट्रीय बोध से जोड़ता है। सांस्कृतिक काल अनन्त जीवन का नैरंतरिक रसायन है और कवि-दार्शनिक ही अपनी कालजयी अंतर्दृष्टि से संस्कृति के मधु को नये पात्र में ढालता है। तुलसी ऐसे ही कवि-दार्शनिक हैं। परन्तु वे अंतर्दृष्टि संपन्न युगद्रष्टा ही नहीं, आंतरिक जीवन से सम्पन्न महान साधक भी हैं। भक्ति के रूप में इष्टदेव के प्रति उनका आंतरिक उल्लास प्रकट है, परन्तु उनके इष्टदेव राम धीरोदात्त नायक न होकर मूर्तिमान संत हैं। वे गीतोक्त स्थितप्रज्ञ के सहज उदाहरण हैं और उनके शौर्य के पीछे धर्मसंस्थापन की महान आकुलता है। अपनी संत-साधना के प्रतिरूप में ही उन्होंने भरत के महान चरित्र को खड़ा किया है और उन्होंने जिस "रहनि" के प्रति आकांक्षा प्रगट की है वह मानव की मूलगत सांस्कृतिक निष्ठा कही जा सकती है। उसमें मनुष्य के जीवन की संपूर्ण चरितार्थता परिकल्पित है।

प्रगट है कि तुलसी-जैसा कवि काव्य की विशुद्ध, मनोमयी, कल्पनाप्रवण तथा शृंगारात्मक भावभूमियों के प्रति उत्साही नहीं होगा। उनका संत-हृदय परम कारुणिक राम के प्रति ही उन्मुख हो सकता है, जो जीवन के धर्ममय सौन्दर्य, मर्यादापूर्ण शील और आत्मिक शौर्य के प्रतीक हैं। विजय-रथ के रूपक में उन्होंने संत-जीवन की रूपरेखा उभारी है और अपनी रामकथा को इसी संतत्व की चरितार्थता बना दिया है। उनका काव्य भारतीय सांस्कृतिक

जीवन की सब से बड़ी आकांक्षा मर्यादित जीवनचर्या (संत-रहनि) को वाणी देता है। यही नहीं, वह कुछ और आगे बढ़ कर भागवत-कथा के रूप में उसके उदाहरण भी प्रस्तुत करता है और उसके प्रति अदम्य उत्साह से हमें भर देता है। यही धर्ममय जीवन की आकांक्षा भारतीय संस्कृति का वैशिष्ट्य है। इसी से तुलसी व्यास, बाल्मीकि और कालिदास की अपेक्षा कहीं अधिक भारतीय हैं, क्योंकि उनके काव्य में धर्म का अनाविल, अनावरण और अक्षुण्ण रूप ही प्रगट हुआ है। मध्ययुग की आध्यात्मिकता का प्रतिनिधित्व करते हुए भी उनका काव्य भारतीय आत्मा के चिरंतन सौन्दर्य का प्रतिनिधि है, जो सत्य (ऋत), तप, करुणा और मैत्री में ही आरोहण के देवधर्मी मूल्यों को अनावृत करता है। उनके काव्य में हमें श्रेष्ठ कवित्व ही नहीं मिलता, उसके आधार पर हम संत-कवित्व की रूपरेखा भी निर्धारित कर सकते हैं। भक्ति उनके संतत्व की आंतरिक भाव-साधना है। इस भाव-साधना को वाणी की अप्रतिम क्षमता देकर उन्होंने निष्कंप दीपशिखा की भांति अपनी काव्य-कला को निःसंग और निर्वैयक्तिक दीप्ति से भरा है। उसमें कवि-प्रतिभा के चमत्कारी उत्तुंग शृंग भले ही न मिलें, आत्मा के अनन्त परिष्कार और अक्षुण्ण भाव-विलास के लिए निस्सीम क्षेत्र वहाँ अवश्य मिलेगा।

रामचरितमानस की चुनौती

रामचरितमानस की अवतारणा रामावतार से कम महत्वपूर्ण घटना नहीं है, क्योंकि उसके साथ भारत की राष्ट्रीय संस्कृति का जन्म (या पुनर्जन्म) होता है। यह ठीक ही कहा गया है कि राष्ट्र और साहित्य सहजात हैं। मध्यदेशीय हिन्दी जन की संस्कृति का ऐतिहासिक पुर्निर्माण मध्ययुग में रामानंद से आरंभ होता है और तुलसीदास के द्वारा इस राष्ट्रीय यज्ञ की पूर्णाहुति मिलती है। दसवीं शताब्दी में भागवत के द्वारा विभिन्न देशी-विदेशी प्रजातियों और संस्कृतियों को वैष्णव धर्म (भागवत धर्म) में दीक्षित कर हिन्दू जातीयता के निर्माण का महान प्रयत्न आरंभ हुआ। संभवत: इसके कुछ बाद ही अध्यात्म रामायण की रचना हुई। परन्तु ये दोनों ग्रंथ संस्कृत-ग्रंथ हैं और इनकी सांस्कृतिक चेतना पण्डितवर्ग और शिष्ट जनों की ही वस्तु हो सकती थी। इन ग्रंथों का स्वर स्वीकारात्मक है और इनके द्वारा मध्यदेश को नये समन्वय की दिशावधि का परिचय मिला। सरहपा से कबीर-नानक तक एक अन्य धरातल पर समन्वय के प्रयत्न चलते रहे हैं। इस समन्वय में परवर्त्ती बौद्ध धर्म के अंतर्गत चलने वाली साधना-धाराओं (सहजयान, मंत्रयान, वज्रयान और कालचक्रयान) को आत्मसात किया गया और उसे आगे बढ़ा कर इस्लामी समाजवादिता तथा सूफ़ी साधना का भी योग दिया गया। रामानंद के द्वारा यह समन्वय योग, सूफ़ी मत और भक्ति की त्रिधाराओं का संगम बना। इस संगम की उपेक्षा नहीं की जा सकती, क्योंकि मध्ययुग की त्रिवेणी को इसी के द्वारा सार्थकता मिली है। परन्तु वैष्णव धर्म और महायान की क्रिया-प्रतिक्रिया के फलस्वरूप एक ओर बड़ा समन्वय भागवत के द्वारा प्रस्तुत हुआ, जिसमें निवृत्ति के स्थान पर प्रवृत्ति की प्रधानता थी और जो लोकसंग्रह के भाव से भी अनुप्राणित था। इस दूसरे समन्वय को चरमोत्कर्ष तक पहुँचाने का श्रेय तुलसी को ही प्राप्त है। भारतवर्ष की केन्द्रीय आध्यात्मिकता की अभिव्यक्ति उनके रामचरितमानस के माध्यम से ही हुई है, जिसमें भारतीय अध्यात्म की संपूर्ण परंपरा गृहीत है। परन्तु तुलसी जानते थे कि संग्रह के

साथ त्याग की पहचान भी अनिवार्य शर्त्त है और इसीलिए उनके रामचरित-मानस में समन्वय के साथ चुनौती का स्वर भी अत्यंत स्पष्ट है। समन्वय के पक्ष को उन्होंने मंगलाचरण में "नानापुराणनिगमागमसम्मतं यद् रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि" कह कर प्रकाशित कर दिया है, परन्तु उनकी चुनौती को हमने अधिक महत्व नहीं दिया है। यह नहीं कि वह स्पष्ट या मुखरित नहीं है। "मानस" का संपूर्ण ढांचा इसी चुनौती पर खड़ा है और उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। परन्तु तुलसी के इस पक्ष को अपनाना सुविधाजनक नहीं है, अत: हमने उसकी ओर कम देखा है। इस चुनौती के रूप को समझे बिना हम तुलसी के मानस तक पहुँच ही नहीं सकेंगे। यह चुनौती अब भी बनी है, अत: इसका स्पष्टीकरण और भी वांछनीय है।

जिस राष्ट्रीय संस्कृति का निर्माण तुलसी को अपेक्षित है वह आध्यात्मिक संस्कृति है, परन्तु आध्यात्मिक होने से ही वह अनुपादेय अथवा असंग्रहणीय नहीं हो जाती। इसके लिए हमें तुलसी की आध्यात्मिकता का स्वरूप-निर्धारण करना होगा। यह राष्ट्रीय संस्कृति भोगवादी ईरानी संस्कृति को उनका उत्तर है जो पठान-मुग़ल युग में शिष्ट वर्गों में लोकप्रिय हो चुकी थी। तुलसी-साहित्य के कलियुग-वर्णन जिस अराजकता का विवरण प्रस्तुत करते हैं वह पौराणिक परंपरा की अंतिम कड़ी होने पर भी तुलसी के युग का अच्छा खाका है, जो "कवितावली" और "दोहावली" के कतिपय व्यक्तिगत उल्लेखों से स्पष्टत: पुष्ट होता है। कलियुग की अराजकता को अभिशाप समझ कर ही तुलसी राम-राज्य की कल्पना करते हैं और पारंपरिक राम-कथा को धर्म-अधर्म के संघर्ष के शाश्वत रूपक से हटा कर उसे अपने युग के धरातल पर ले आते हैं। युगधर्म के प्रति चुनौती के रूप में ही उन्होंने रामधर्म को खड़ा किया है। यह रामधर्म उनकी "संत" की रूपरेखा में उद्घाटित है। राम-रावण अथवा संत-असंत अथवा रामराज्य-कलिराज्य के तीन समीकरणों को उन्होंने अपने एक ही ग्रंथ रामचरितमानस में इस प्रकार गूंथ दिया है कि रामकथा पौराणिकता को खो कर तात्कालिकता ग्रहण कर लेती है। इस संदर्भ पर रामकथा व्यक्तिगत और सामाजिक परिष्कार का रूपक (और साधन) बन जाती है। इस योजना ने रामचरितमानस के प्रणयन को ऐतिहासिक घटना बना दिया है। पठान-मुग़ल रेनेसां की अराष्ट्री-

यता और असमर्थता का पता यहीं चलता है, क्योंकि तुलसी अकबर-युग के स्वर्णकाल के भ्रम को एक ही प्रहार में नष्ट-भ्रष्ट कर देते हैं। नये सांस्कृतिक समन्वय की विजातीयता का इससे बड़ा प्रमाण और क्या हो सकता है कि युग के सबसे बड़े द्रष्टा और संवेदनशील कवि को वह अमान्य है। उसमें उसने अराजकता (कलियुग) के ही दर्शन किये हैं और चुनौती के रूप में अपने राष्ट्रीय काव्य का निर्माण किया है।

जिस राष्ट्रीय भारत (और राष्ट्रीय संस्कृति) का चित्र गोस्वामी तुलसीदास ने "मानस" में प्रस्तुत किया है, ग्रंथ की परिणति में उसका मनःकल्प इस प्रकार है :

धन्य देस सो जहं सुरसरी। धन्य नारि पतिब्रत अनुसरी ॥
धन्य सो भूपु नीति जो करई। धन्य सो द्विज निज धर्म ना टरई ॥
सो धन धन्य प्रथम गति जाकी। धन्य पुन्यरत मति सोई पाकी ॥
धन्य घरी सोइ जब सतसंगा। धन्य जन्म द्विज भगति अभंगा ॥

सो कुल धन्य उमा सुनु जगत पूज्य सुपुनीत।
श्रीरघुबीर परायन जेंहि नर उपज बिनीत ॥१२७॥

(उत्तर०)

इसके विपक्ष में अराजकता का वह चित्र है जो उन्होंने प्रसंग से हट कर अयोध्याकाण्ड में वशिष्ठ मुनि के मुख से उद्‍घोषित कराया है :

सोचिअ बिप्र जो बेद बिहीना। तजि निज धरमु बिषय लवलीना ॥
सोचिअ नृपति जो नीति न जाना। जेहि न प्रजा प्रिय प्रान समाना ॥
सोचिअ बयसु कृपन धनवानू। जो न अतिथि सिव भगति सुजानू ॥
सोचि सूद्रु बिप्र अवमानी। मुखर मानप्रिय ग्यान गुमानी ॥
सोचिअ पुनि पतिबंचक नारी। कुटिल कलहप्रिय इच्छाचारी ॥
सोचिअ बट निज ब्रतु परिहरई। जो नहिं गुर आयसु अनुसरई ॥

सोचिअ गृही जो मोह बसु करह करम पथ त्याग ।
सोचिअ जती प्रपंच रत बिगत बिबेक विराग ॥१७२॥

(अयोध्या०)

इन दो चित्रों में हमें तुलसी की मनोव्यथा का संपूर्ण प्रसार मिल जाता है। वे अतीत की ओर नहीं देखते। वर्त्तमान की अराजकता और सांस्कृतिक-विच्छिन्नता को उन्होंने रामराज्य में पर्यवसित किया है। उनकी राम-कथा देशकालातीत है, जैसा उत्तर काण्ड के कागभुशुण्डि-गरुड़ संवाद का अभिप्रेत है। अतः रामचरितमानस को हम इतिहास की गौरव-गाथा नहीं कह सकते। वह कवि के मन का भविष्यत् कल्प है, जो कलियुग की चनौती के रूप में उभारा गया है। उसकी पौराणिकता का परिहार "हरि अनंत हरि कथा अनंता" कह कर कर दिया गया है। तुलसी उसे अंततः लीला के रूप में देखते हैं, परन्तु यह उनका व्यक्तिगत साधना-पक्ष है। इस लीला की भूमि साधक का मन है, यह उनके विनयपत्रिका के कुछ पदों से स्पष्ट है। परन्तु "लीला" और प्रतीक मानते हुए भी उन्होंने इस कथा को सामाजिक अभिप्रेत दिया है और राम की कर्ममयता का विराट् चित्र उसमें अंकित हुआ है। मर्यादापुरुषोत्तम संत राम के रूप में उन्होंने युग-मन में नये कल्प-पुरुष की अवतारणा की है।

तुलसी नीतिबोध और जीवन-विवेक के कवि हैं। उन्होंने भीतर से निर्माण करना आरंभ किया है और यद्यपि बाहर भी वे बड़ी दूर तक गये हैं, परन्तु सौन्दर्य-बोध और जीवन-संभोग की समस्त भूमिकाओं को अपने काव्य में चरितार्थ करना उन्होंने अवांछनीय समझा है। कदाचित् इसके लिए उन्हें अधिक अवकाश ही नहीं मिला। इन क्षेत्रों में विदेशीय संस्कृति के माध्यम से शिष्ट जनों में जो अभिसंधि चल रही थी, तुलसी उससे सहमत नहीं थे। अतः मानव-सौन्दर्य और प्रकृति-सौन्दर्य उनकी रचनाओं में अधिक नहीं मिलते। इष्टदेव के नाते राम के नाते राम के सौन्दर्य का विशद चित्रण उन्होंने किया है और शेष पात्रों के प्रति वे इस दिशा में अनुरक्त नहीं हुए हैं। उनकी दृष्टि मूलतः सांस्कृतिक रही है और रामचरितमानस

उनके संस्कृत मानस का ही रूपांतर है। उनका शील, सौन्दर्य और शौर्य (तेज) ही राम में मूर्त्तिमान हुआ है। अन्य पात्र स्वयं तुलसी की अपनी भक्ति-भावना के प्रतीक हैं, यद्यपि पात्रीय क्षमता के रूप में शील अथवा शौर्य के चारित्रिक क्षेत्र में भी उनकी प्रतिष्ठा हुई है। लोभ, काम, मद और मोह को उन्होंने "भव" अथवा संसार माना है। अपने इष्टदेव राम के चरित्र में उन्होंने लोकोत्तरता की प्रतिष्ठा की है, परन्तु यह लोकोत्तरता चारित्रिक भूमि पर उदात्तता बन कर ही प्रगट हुई है। तुलसी के राम लोभ, मोह, काम और अहंकार से एकदम असंपृक्त हैं। इसीलिए वे सद्प्रवृत्तियों के प्रतीक बन गये हैं और उनकी भक्ति का तात्पर्य सद्प्रवृत्तियों की साधना ही है। इसीलिए मानस के अंत में तुलसी उनसे "भवपीर" हरने की ही प्रार्थना ही नहीं करते, उनमें अपने काम और लोभ का भी विसर्जन कर देते हैं। (उत्तर० १३० ख) भक्ति की साधना में अहंकार का विसर्जन तो स्वतः आ ही जाता है और विरक्त तुलसी मोह का तंतु तोड़ ही चुके हैं। इस प्रकार रामचरितमानस स्वयं तुलसी की आत्मसाधना का सोपान बन जाता है। परन्तु इसी को भावात्मक धरातल पर आत्मोपलब्धि भी कहा जा सकता है, जैसा "स्वांतःसुखाय" तथा "पायो परम विस्रामु" शब्दावली से प्रगट है। उनकी छैनी से जैसे-जैसे युगातीत सनातन पुरुष राम की मूर्त्ति उभरती गई है, वैसे-वैसे उनका अंतस्तम शांत होता गया है और अंत में उनकी साधना ही सिद्धि बन गई है, क्योंकि उनके राम ज्योतिःपुरुष बन कर मूर्त्तिमान हुए हैं। मानस-रोगों से मुक्त कवि-मानस ने रामचरित-मानस में डुबकी लगा कर जिस आनन्द और शांति का अनुभव किया है वही ग्रंथ की परिणति है।

इसी सिद्धावस्था की भूमिका पर से यदि हम महाकवि की इस रचना को देखें तो वह चुनौती-ही-चुनौती है। लगता है जैसे इस एक ग्रन्थ में सहस्रों वर्षों की भारतीय संस्कृति की सारी शक्ति, सारी परंपरा सिमट आई है और चुनौती की भंगिमा में खड़ी हो गई है। ग्रन्थारंभ की खल-बंदना में यह भंगिमा सुस्पष्ट है (बाल० ४)। इस चुनौती को और आगे बढ़ाते हुए तुलसी कवि, चतुर, कलाविद् और पण्डित की दावेदारी से हट जाते हैं और स्पष्ट कह देते हैं कि "कवित-बिवेक एक नहीं मोरे।" (बाल० ९) यह

उक्ति विनयशीलता नहीं, आत्मविश्वास की उपज है, क्योंकि तुलसी भंगिमा बदल कर यह भी कह देते हैं कि—

जदपि कवित रस एकउ नाहीं। राम प्रताप प्रगट एहि माहीं॥

(बाल० १०)

उनकी चुनौती का तीसरा स्वरूप निर्गुण मतावलंबियों से संबंधित है। रामचरितमानस का संपूर्ण ढाँचा निर्गुण ब्रह्म के स्थान पर सगुण ब्रह्म के प्रतिपादन को लेकर ही सामने आता है। पार्वती-शिव संवाद और कागभुशुण्डि-गरुड़ प्रसंग में कवि ने सगुण भक्ति का पक्षपातपूर्ण आग्रह ही प्रगट किया है। निर्गुण ब्रह्म काव्य का विषय है भी नहीं, क्योंकि उसमें रसात्मकता का बोध है। वह ज्ञान का विषय है, अनुभूति का नहीं। इसी से तुलसी भावभूमि पर नया निर्माण करना चाहते हैं और रामकथा के माध्यम से इस नये निर्माण का प्रयत्न ही रामचरितमानस है। इसीलिए उपोद्घात में वे ज्ञान-भक्ति के विरोध को ज्ञान-दीपक रूपक में उभारते हैं और भक्ति को चिंतामणि बना कर प्रगट करते हैं। उनका सगुण ब्रह्म निर्गुण ब्रह्म से कम रहस्यमय नहीं है, ऐसा उन्होंने स्वयं कहा है। चौथी चुनौती कलियुग के प्रति है और उसके विपक्ष में रामराज्य की कल्पना को मूर्त्तिमान किया गया है।

यह कहना ठीक नहीं है कि तुलसी रामकथा की ओट लेकर अपने युग से पलायन कर रहे हैं या उनका भक्तिवाद उनकी युगचेतना पर हावी है। युग की अराजकता की प्रतिक्रिया के रूप में ही कवि-मानस ने रामकथा के चरित्रों की नैतिक और आदर्शोन्मुख कल्पना की है और उनमें अप्रतिम शील की प्रतिष्ठा का नये जीवनमूल्यों एवं विवेकसम्मत जीवनव्यवहार को प्रश्रय दिया है। उनके "मानस" में सांस्कृतिक निष्ठा ही नहीं, सांस्कृतिक सौन्दर्य की भी परिपूर्णता है। फलत: उनकी दृष्टि में नीतिबोध और जीवन-विवेक पर अधिक टिकी है। युग के असंस्कार के प्रति यह संस्कारी समारंभ चुनौती से कम नहीं है। यह कहा जाता है कि तुलसी की इस रचना में सौन्दर्यबोध की

कमी है और वह जीवनसंभोग की आकांक्षा को दुर्बल बनाता है। उसकी विरागमूलकता को जीवन की अस्वीकृति मान लिया गया है। परन्तु तुलसी जिस सौन्दर्यबोध और जीवनसंभोग को भारतीय जीवन में चरितार्थ करना चाहते थे वह ईरानी भोगवाद और विलास से भिन्न था। वह जीवन को राम-धर्म की आधारशिला देना चाहते हैं और मर्यादा, संयम तथा अहिंसा (परोपकार) के भीतर से ही नये सौन्दर्यबोध तथा जीवनसंभोग के प्रति आकांक्षित हैं। राम-सीता के दाम्पत्य, प्रकृति की सहज ऋतंवरा स्वरूपनिष्ठा तथा मानव-व्यक्तित्व की संस्कारसंपन्नता की ओर उनकी दृष्टि है, यह स्पष्ट है, परन्तु उनका सौन्दर्यबोध धर्म से मर्यादित और नैतिकता से पुष्ट है। कालिदास में हमें सौन्दर्यबोध और जीवनसंभोग का जो चित्र मिलता है वह त्यागनिष्ठ होने के कारण "तेन त्यक्तेन भुंजीथा" को ही चरितार्थ करता है। वह राग से विराग की ओर बढ़ते हैं। इसके विपरीत तुलसी विराग से राग की ओर जाते हैं। उनकी जीवनानुभूति की आधारशिला "राम" हैं, जो संतत्व, धर्म और मर्यादा के प्रतीक हैं। अतः उनका सौन्दर्यबोध भी इन्हीं तत्वों से मर्यादित है और उनमें जीवन-संभोग की वह तीव्रता दिखलाई नहीं देती जो उच्छृंखलता के निकट पड़ती है। परन्तु यह कहना अनुचित है कि तुलसी पलायनवादी या विरागवादी हैं, क्योंकि श्रेष्ठतर जीवन का भावात्मक निर्माण न पलायन द्वारा संभव है, न विराग द्वारा। यह निर्माण कितना सतर्क और सुसंस्कृत है, यह अयोध्याकाण्ड के मानवीय प्रसंगों से भली भाँति प्रमाणित हो सकता है। मुग़ल सम्राटों के पारिवारिक चित्रों के सामने तुलसी का यह मर्यादापूर्ण चित्र चुनौती ही लगेगा, परन्तु यह चित्र राजपरिवार तक ही सीमित नहीं है। उसमें सारे समाज की परिबद्धता ध्वनित है। यह "कलियुग" वर्णन से स्पष्ट हो जाता है। तात्पर्य यह नहीं है कि हम कालिदास के स्वस्थ सौन्दर्यबोध और अपरिसीम जीवनाकांक्षा का कोई मूल्य ही नहीं समझते, परन्तु तुलसी अध्यात्म की तलभूमि से उसी पुनर्निर्माण की ओर बढ़ रहे हैं। गुप्तयुग के बाद भारतीय सांस्कृतिक जीवन की संहति छिन्न-भिन्न हो गई थी और जीवन अमर्यादित हो उठा था। बिखरे हुए सूत्रों को जोड़ कर तुलसी ने आध्यात्मिकता का नया ढाँचा खड़ा किया और रामनिष्ठा के आधार पर संत-जीवन (संतत्वप्रधान जीवन) की एक नयी रूपरेखा रामचरितमानस में उभारी। राम उनके निकष हैं। इस निकष पर जो खरा उतरा वह सोना

है। भक्त इस सोने की दीप्ति है। उच्चतम नीतिबोध और श्रेष्ठतम जीवन-विवेक से संचालित सौन्दर्यबोध और जीवनसंभोग तुलसी को अमान्य नहीं हो सकते थे, परन्तु नींव को गहराई और विस्तार देने में ही तुलसी को इतना समय लग गया कि वे उस पर मीनाकारी नहीं कर सके। निरर्थक अलंकृति को कलाकार का अतिरेकी आत्मदान कहा जा सकता है, परन्तु उसमें उसका अहंकार भी अंतर्निहित है। तुलसी जैसे संत-कलाकार के लिए अहंकार का विसर्जन ही कला और जीवन की सबसे बड़ी माँग हो सकता था। फलतः उन्होंने "मानस" में शक्ति का ही अधिक परिचय दिया है, सौन्दर्य का नहीं। आमेर की वास्तुकला से ही उनकी काव्यकला की तुलना की जा सकती है, क्योंकि शक्ति से ओतप्रोत उनकी निरलंकृत रूपरेखा जीवन के आंतरिक स्वास्थ्य, आत्मनिष्ठा तथा विवेक-सम्मत कलासाधना का प्रतीक है। वह अमर्यादित, अप्रौढ़ और उच्छृंखल भाव-साधना नहीं है। तुलसी कल्पना के द्वारा किसी चमत्कार की सृष्टि नहीं करना चाहते थे। रामचरितमानस का प्रणयन उनके लिए अंतःनिर्माण (स्वांतस्तमःशांति) था। भरत उनके व्यक्तित्व की आध्यात्मिकता (आत्मसमर्पणमयता) के प्रतीक हैं तो राम उनकी नैतिक, धर्मप्राण, परोपकारी एवं कर्मण्य जीवनवृत्ति के द्योतक हैं। इस प्रकार रामकथा में तुलसी ने अपने आंतरिक विकास की ही साधना उद्घाटित की है, परन्तु रामचरितमानस के माध्यम से वह युग की आकांक्षा भी बन गई है। निवृत्ति और प्रवृत्ति के द्वन्द्व को उन्होंने इस रचना में समाधृत कर लिया है और आत्मसमर्पणमूलक नैतिक, धर्मप्राण एवं कर्मण्य जीवन-चर्या को प्रामाणिकता दी है। विवेक और भक्ति तुलसी द्वारा प्रथित जीवन-दर्श के दो चरण हैं। प्रज्ञोपाय (शून्यता और करुणा) के महायानी जीवना-दर्श को विज्ञानभक्ति (विवेकसम्मतभक्ति) की श्रुतिबद्ध जीवनचर्या में ढाल देना तुलसी की सबसे बड़ी सूझ है, जो उन्हें अश्वघोष के समकक्ष रख देती है। उनकी साहित्यसाधना में महायान-आन्दोलन से भी कहीं अधिक व्यापक और गंभीर मध्ययुगीन वैष्णव भक्ति आन्दोलन का सारा तप, समस्त माधुर्य तथा संपूर्ण तेज समाहित हो गया है। उनकी भक्ति में करुणा और अहिंसा का पूर्णतः समावेश है, क्योंकि व्यक्ति-पक्ष के साथ उसका लोकपक्ष भी है और अनीश्वरवादी शून्यता का स्थान आस्तिकतावादी भक्ति ने ले लिया है। इस नये योग को वे पुराण, निगम और आगम की आर्ष अध्यात्मचेतना और धर्म-

प्राणता के सार से पुष्ट करते हैं और परंपरा उनके साहित्य में पुनर्जीवित होकर नये चैतन्य से अनुप्राणित हो जाती है।

राम का कोदण्ड तुलसी के लिए उनकी शक्तिमत्ता का ही प्रतीक नहीं, उनकी करुणा का भी प्रतीक है, क्योंकि वह दीन, हीन और शोषित के पक्ष में है और उसमें शरणागतवत्सलता का महान आश्वासन अंतर्निहित है। वे त्राता है, परम कारुणिक हैं। मध्ययुग की पराजित हिन्दू चेतना को त्राता का आश्वासन चाहिये था। राम के कोदण्ड को हिन्दू चेतना में जगा कर तुलसी ने समस्त राष्ट्र को आत्मबद्ध किया, परन्तु इस आस्था के मूल में रामत्व (संतत्व) की दैनंदिन साधना का भी आग्रह था। इसीलिए "मानस" में आवश्यक-अनावश्यक रूप से संत-असंत-चर्चा बार-बार आई है और तुलसी ने राम को संत नायक के रूप में ही प्रस्तुत किया है। अयोध्याकाण्ड के आरंभिक मंगलाचरण में उन्होंने राम का ध्यान वर्णित करते हुए इस स्वरूप की ओर स्पष्ट रूप से इंगित किया है :

> प्रसन्नतां या न गताभिषेकतस्तथा न मम्ले वनवासदु:खत: ।
> मुखाम्बुजश्री रघुनन्दनस्य मे सदास्तु सा मंजुलमंगलप्रदा ।।
>
> (अयो० मंगला० २)

इस स्थितप्रज्ञता गीतोक्त कर्मदर्शन की सिद्धि ही कही जा सकती है। अनिर्दिष्ट युगों के लिए यह कम महत्व की साधना नहीं है।

ऊपर हमने रामचरितमानस को तुलसी की चुनौती का रूप दिया है, परन्तु यह चुनौती जितनी परकीय है उतनी ही आत्मिक भी है। वह जड़वादी, असंत तथा अमर्यादित जीवनदृष्टियों के प्रति चेतनवादी, संत तथा मर्यादान्वित जीवनदृष्टि की ललकार है। परहित बनाम परपीड़ा के रूप में तुलसी ने उसे सूक्ष्म में वर्णित किया है। अंततः वह अहिंसा-दर्शन ही है। इस चुनौती को ग्रहण कर तुलसी ने जो जीवनव्यापी आत्मसाधना पल्लवित की है, उसका

विशद चित्र उनके गीतिकाव्य (गीतावलियों और 'विनयपत्रिका') में मिलेगा। परन्तु रामचरितमानस में भी भागवत भरत के रूप में उनकी संत-साधना प्रतीकबद्ध है। इस संत-साधना को तुलसी ने सामाजिक प्रगतिशीलता का जामा भी पहनाया है। फलतः उनकी सामाजिक दृष्टि वर्णाश्रमधर्मी होते हुए भी उदार, न्यायशील और बंधुत्ववादी है। विद्रोह और उच्छृंखलता के स्थान पर सहयोग और मर्यादा का संदेश उनका मूल मंत्र है।

दर्शन के क्षेत्र में अद्वैतवाद को स्वीकार करते हुए भी तुलसी भावना-जगत के साधक की आत्मिक स्वतंत्रता के प्रति विश्वासी हैं, अतः दर्शन-क्षेत्र का जीव-ब्रह्मैक्य भक्ति-क्षेत्र का भगवान-भक्त का युग्म बन जाता है और तुलसी को उसमें कोई विरोध नहीं दिखलाई देता। निर्गुण-सगुण के द्वन्द्व का परिहार उन्होंने भक्त की आत्मिकता की भूमि पर ही किया है, क्योंकि भक्त के लिए ही, उसके भाव-जगत में ही, ब्रह्म सगुण बनता है, क्योंकि तब वह निर्वैयक्तिक न रह कर व्यक्तिगत बन जाता है। तुलसी दर्शन को तर्कवाद और बौद्धिकता की भूमिका से ऊपर उठा कर उसे आत्मदर्शन का रूप दे देते हैं। इस आत्म-दर्शन में जहाँ निर्गुण-सगुण का कोई विरोध नहीं है वहाँ अद्वैत और विशिष्टाद्वैत का भी कोई प्रश्न नहीं उठता। ब्रह्मजीवैक्य और सेवक-सेव्यभाव का भक्तिवाद तुलसी के लिए एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। जीव और ब्रह्म का अंतर तात्विक सत्य होते हुए भी व्यवहार का सत्य नहीं है। वह भक्ति-भावना की तीव्रता, तरलता और संपन्नता पर ही निर्भर है। भगवान की अयाचित कृपा (पुष्टि) और भक्त की अहैतुक भक्ति में तुलसी ने व्यक्तिगत स्तर पर इस भेद का समाधान प्राप्त कर लिया है। इस प्रकार दर्शन उनके भाव-जगत में अध्यात्म बन कर सार्थकता प्राप्त कर सका है। वह उनकी आत्मानुभूति के रंगों से उद्भासित है। उसमें आस्तिक दर्शन का सार समाहित है। वह अद्वैत, विशिष्टाद्वैत और द्वैत की सीमांतकी रेखाओं को नष्ट कर देता है। संक्षेप में, वह आत्मोपलब्धि है, दर्शन नहीं। उसे हम तुलसी का प्रत्यक्षदर्शन कह सकते हैं।

धर्म के क्षेत्र में तुलसी की चुनौती और भी बड़ी है, क्योंकि वह जहाँ "विनय-पत्रिका" में उल्लिखित अनेकानेक देवी-देवताओं को पृष्ठभूमि में डाल कर एक

मात्र राम को ही इष्टदेवता के रूप में देखती है, वहाँ राम को ब्रह्म मान कर वह इस्लामी एकेश्वरवाद से कहीं उच्चतर भूमिका प्राप्त कर लेती है। फिर उसमें राम के सगुण व्यक्तित्व के माध्यम से आत्मीयता तथा मानवीयता का भी समावेश हो जाता है। उनकी सेवक-सेव्य धारणा इस्लामी दास्यभावना से कम आकर्षक नहीं है और उनके सेव्य करुणा, दया, क्षमा और शरणागत-वत्सलता के ऐसे गुणों से विभूषित हैं, जो सेमेटिक जातियों की शास्तासंबंधी कल्पना में नहीं मिलते। तुलसी के राम शास्ता ही नहीं हैं, वह धर्म की प्रतिमूर्ति भी हैं। उनके मानव-चरित्र में धर्म या संतचर्या की परिपूर्ण चरितार्थता है। संत और भक्ति के लक्षणों में तुलसी ने धर्म के जिस अंतरंगी, सूक्ष्म और हार्दिक रूप को उभारा है, वह कर्मकाण्ड, पौरोहित्य तथा ब्रह्मवाद से स्वतंत्र और उससे कहीं ऊपर आत्मधर्म है। वह व्यक्तिगत होने पर भी लोकनिष्ठ है, क्योंकि तुलसी के आराध्य भगवान राम लोकमंगलव्रती धर्मसंस्थापक हैं। वह मर्यादापुरुषोत्तम के रूप में चित्रित किये गये हैं। उनकी अतिमानवता लोकोत्तरता को लेकर नहीं, शरणागतवत्सलता तथा लोकमंगलभावना को ले कर है।

समाजनीति के क्षेत्र में तुलसी अगतिशील (अथवा रूढ़िवादी) कहे गये हैं और शूद्र तथा नारी के संबंध में उनकी धारणा प्रचलित समाज-व्यवस्था का अनुमोदन ही मानी गई है। उनकी वर्णाश्रमधर्मिता को प्रतिक्रिया कहा गया हैं और कबीर के समकक्ष उन्हें छोटा भी सिद्ध किया गया है। भक्ति की भावभूमिका पर तुलसी किसी भी भेद-भाव को सहन नहीं कर सकते, परन्तु कर्मभूमि पर वह सामाजिक क्षेत्र में मर्यादा, वर्गवाद तथा तरतमता के पोषक हैं। इस दृष्टि को आज हम अ-प्रगतिशील और अ-राष्ट्रीय मानते हैं, परन्तु "कलियुग" की अराजकता की पार्श्वभूमि में तुलसी का मर्यादित समाज का चित्र एकदम अनीतिक नहीं लगता। अराजक राज के मत्स्य-न्याय से वह व्यक्तिगत रूप से परिचित थे। अतः इसके विपरीत उन्होंने उदार राजधर्म और व्यवस्थित समाजनीति की कल्पना की तो उन्हें रूढ़िवादी नहीं कहा जा सकता। यहाँ बल व्यवस्था, मर्यादा और संतुलन पर है, वर्णवादिता पर नहीं, यह द्रष्टव्य है। अभी भी हम वर्णमुक्त समाज का कोई निश्चित मानचित्र प्रस्तुत नहीं कर सके हैं।

राजनीति के क्षेत्र में तुलसी की चुनौती रामराज्य के रूप में प्रस्थापित है, इसका उल्लेख हम पीछे कर चुके हैं। परन्तु प्रजानुरंजक, उदार एवं धर्म द्वारा मर्यादित राजधर्म की यह कल्पना भारतवर्ष के लिए कोई नई वस्तु नहीं है। यहाँ पर बल राजा और राजत्व पर नहीं, धर्मराज्य पर है, जो रामकथा के आग्रह से रामराज्य के रूप में परिकल्पित है। राम-रावण का महान संघर्ष राजत्व संबंधी दो दृष्टिकोणों का संघर्ष है जो मध्ययुग की राज्यव्यवस्था की सटीक व्याख्या है। शासन स्वदेशी हो और उसमें धर्मनिष्ठा का प्रसार हो। वास्तव में तुलसी समाज की तरह राजनीति को भी धर्म से अंतःसूत्रित करना चाहते हैं। इसीलिए राज्यश्री से निर्लिप्त, प्रजासेवी और लोकरंजक राजा के रूप में उन्होंने राम की कल्पना की है और उनके व्यक्तिगत जीवन को स्वतंत्र रूप से उभरने नहीं दिया है। यह योजना रामचरितमानस को युग की भूमिका दे देती है और इसके साथ ही धर्म तथा लोक को एक सूत्र में बाँध देती है।

रहा साहित्य का क्षेत्र! सो वह रामचरितमानस में चरितार्थ है ही, क्योंकि कृति से भिन्न कृतिकार के आदर्शों का कोई महत्व नहीं है। वैसे तुलसी ने "मानस" की भूमिका में अपना साहित्य-निकष प्रस्तुत कर दिया है और उनके साहित्यदर्शन की विस्तृत रूपरेखा उसके आधार पर निर्मित हो सकती है। तुलसी की साहित्यिक दृष्टि आदर्शवादी, सांस्कृतिक, लोकमंगली तथा रसवादी है। भाषा के प्रयोग में वह शेक्सपिअर और डॉने के साथ हैं, जिन्होंने बोलचाल की भाषा को काव्यभाषा की सामर्थ्य प्रदान की है। साहित्यिक अथवा विशिष्ट भाषा-शैली की ओर उनका आग्रह नहीं है यद्यपि वह संस्कृत जैसी समृद्ध भाषा और संपूर्ण पूर्ववर्त्ती साहित्य-परंपरा से रस ग्रहण करते हैं और अपनी अनुभूति की मौलिकता, गंभीरता तथा तीव्रता से अपने शब्द-चयन को सक्षम बनाते हैं। रामचरितमानस की प्रबंधात्मकता राम-कथा और पुराण-शैली के देन है, परन्तु तुलसी की राम-संबंधी अनुभूति तथा भक्ति-भावना ने उसे पर्याप्त मात्रा में गीतात्मक बना दिया है। लोक-भाषा और लोकानुभूति को शिष्ट तथा विशिष्ट बनाने में महाकवि की काव्यप्रतिभा का प्रचुर मात्रा में उपयोग हुआ है। परन्त तुलसी केवल स्वानुभूति को ही साहित्यिक वैशिष्ट्य नहीं देते, वे श्रोतामुखा भी हैं और साहित्य की लोकपरता पर उनकी अगाध आस्था है। साहित्य-धर्म की जिस

ऊँची भूमिका पर से "मानस" का सर्जन हुआ है वह शृंगारात्मक रीतियुग को ही चुनौती नहीं थी, आज के अनास्थाप्राण, निर्मूल्य युग में भी चुनौती बनी हुई है। साहित्य समग्र चेतना की सृष्टि है, उसमें विशुद्धता का आग्रह दुराग्रह मात्र है। साहित्यकार के चेतन-अवचेतन मन की सामासिक उपलब्धि और बौद्धिक-हार्दिक संश्लिष्टि ही कृति है, जिसमें अपने अहं का विसर्जन कर कृतिकार कृतकृत्य बनता है। हम उस तक सामग्रिक तथा सामासिक चेतना के द्वारा ही पहुँच सकते हैं, क्योंकि वह स्वस्थ कृतिकार का अखण्ड और अव्याहत व्यक्तित्व है। पूर्ण में ही पूर्ण को समेटा जा सकता है। संक्षेप में, रामचरितमानस की ऐतिहासिक स्थिति यह है। उसमें तुलसी पथान्वेषी नहीं, पथ के दावेदार हैं। उन्होंने आत्मधर्म को लोकधर्म बनाने का महान उपक्रम किया है और उनकी स्वयंभू मानसी चेतना साहित्यिक कृतित्व में बँध कर निःशेष नहीं हो जाती। वह परिभूः बन कर कृति को घेर लेती है। उनके "मानसी मानस" को हमें मानस-चक्षुओं से देखना होगा। तभी हम उद्‌बुद्ध होकर उनकी क्रांतिकारिता तथा निरंतर-प्रगतिशीलता से परिचित हो सकेंगे, क्योंकि महान कृतियाँ निर्मिति नहीं होतीं, वे निरंतर निर्माणशील रहती हैं। बदलते हुए मूल्यों के युग में हम इन मूलबद्ध सांस्कृतिक रचनाओं के ओर मुड़ते हैं और लौट कर देखते हैं कि हम केन्द्र से कितनी दूर चले गये हैं। नाभि से नेमि तक का संपूर्ण क्षेत्र कृतिकार की अशेष ऊर्जा से व्याप्त रहता है और इस ज्योतिर्वृत्त से बाहर जाना हमारे लिए असंभव बात है। यह स्पष्ट है कि रामचरितमानस की आध्यात्मिक और सांस्कृतिक चेतना अब भी निःशेष नहीं हुई है और पिछले चार सौ वर्षों से वह हमारे सामने प्रश्न-चिह्न की भाँति मूक खड़ी है।

राष्ट्रकवि श्री मैथिलीशरण गुप्त

राष्ट्रकवि श्री मैथिलीशरण गुप्त को आज साठ वर्षों की काव्य-साधना का श्रेय प्राप्त है। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की छत्रच्छाया में अपनी काव्य-रचना को आरम्भ कर वह द्विवेदी-युग के प्रतिनिधि कवि बने और छाया-वाद, प्रयोगवाद, प्रगतिवाद आदि काव्यान्दोलनों के साथ अपने कवि-कर्म के प्रति जागरूक रहे। गांधीवादी मनश्चेतना और मध्यवर्ग की सांस्कृतिक गतिशीलता का जैसा चित्र उनके काव्य में उभरता है वैसा किसी अन्य समसामयिक कवि की रचना में नहीं। वैष्णव विचार-धारा और सनातन भारतीय संस्कृति को उन्होंने युग के अनुकूल नये अर्थ दिये हैं और उनके काव्य में मानव-जीवन की सार्थकता उच्चतम संदर्भों और श्रेष्ठतम राष्ट्रीय एवं जातीय प्रतीकों के माध्यम से व्याख्यापित हुई है।

गुप्त जी का काव्य सामाजिक और सांस्कृतिक संदर्भों से ओत-प्रोत है। उसे विशुद्ध काव्य नहीं कहा जा सकता। वह युगमनीषी, ऋषि और द्रष्टा का काव्य है। उसमें राष्ट्रीय संवेदनाओं को काव्य का विषय बनाया गया है और साधारण उद्बोधन-गीत से लेकर महाकाव्यात्मक जीवन-विस्तार तक उनका काव्य-क्षेत्र है। अपने युग के श्रेष्ठ कवि के रूप में उन पर विचार करते हुए हम उनकी इस भूमिका को अनदेखा नहीं कर सकते। उन्हें भारतीय संस्कृति का व्याख्याता कहा गया है, अतः उनका काव्य सांस्कृतिक काव्य होकर काव्य-मात्र से कुछ भिन्न और संभवतः बड़ी चीज़ हमें देता है।

यहाँ प्रश्न उठता है कि काव्य का विचार से क्या सम्बन्ध है? क्या वह केवल अनुभूतिपरक वस्तु नहीं है? व्यक्तिगत भावस्पन्दन को रसानुभूति का साधन बना कर कवि जीवन के माधुर्य और तेज के प्रति हमें जागरूक बनाता है। परन्तु ये भावस्पन्दन क्या नितान्त व्यक्तिगत होते हैं? क्या उनमें युग का समस्याओं, युग-जीवन की प्रेरणाओं तथा सामाजिक और

राष्ट्रीय हलचलों का प्रतिबिंब भी नहीं उभरता ? कवि का शाश्वत रस-बोध क्या अपने भीतर युग-बोध को भी नहीं समेट लेता ? प्रश्न मर्यादा-वादी अथवा स्वच्छंदतावादी कव्य का नहीं है, यह काव्य के मूल संवेदन और कवि के व्यक्तित्व की सजीवता तथा युग के प्रति उसकी ईमानदारी का प्रश्न है। श्रेष्ठ कवि अपने प्रति उत्तरदायी होने के साथ युग के प्रति भी उत्तरदायी होते हैं। नहीं, युग के प्रति उत्तरदायी होकर ही वे अपने प्रति उत्तरदायित्व का निर्वाह करते हैं। "काव्य के लिए काव्य" और "कला के लिए कला" वाला सिद्धांत उन्हें विचलित नहीं करता, क्योंकि काव्य और कला को जीवन-सापेक्ष तथा जीवन के प्रति उत्तरदायी मान कर वे युग के लिए प्रकाशस्तम्भ बन जाते हैं। स्पंज जैसे पानी को अपने भीतर सोख लेता है, उसी तरह संवेदनशील कवि युग की प्रवृत्तियों को आत्मसात कर, उन्हें अपनी संवेदना का अभिन्न और गंभीरतम अंश बना कर काव्योत्कृष्टता का निर्वाह करता है। फलतः विचारोत्कृष्टता ही उसकी काव्योत्कृष्टता का मूलाधार बन जाती है। "जो-है" ही नहीं, "जो होना चाहिये" वह भी उसके काव्य में रेखांकित रहता है। तात्पर्य यह है कि गुप्त जी के काव्य का उचित मूल्यांकन उसी समय हो सकेगा जब हम उनके काव्य को युग से जोड़ें और उसके सामाजिक, सांस्कृतिक और राष्ट्रीय महत्व को निरंतर अपने सामने रखें। छायावाद, प्रयोगवाद और नयी कविता के आन्दोलनों ने काव्य को सामाजिक, सांस्कृतिक और राष्ट्रीय संदर्भों से अलग कर उसे कवि के व्यक्तित्व तक सीमित कर दिया है। पिछले तीस वर्षों का हमारा काव्या-लोचन वादीय भूमिकाओं से ग्रस्त है। वह व्यक्तिमुखी और अंतर्धर्मी बन गया है। उसमें व्यक्ति की क्षुद्रताएँ ही उभरी हैं, जीवन के परिष्करण एवं उदात्तीकरण की कोई चेतना उसमें नहीं है। फल यह है कि गुप्त जी का काव्य लोकप्रिय होने पर भी आलोचकों को पूर्ण तोष नहीं दे सका है। हमने उसे भारतीय काव्य-परंपरा और नवजागरणमूलक जीवनचेतना के भीतर से नहीं देखा है। यूरोपीय वादों की चकाचौंध ने हमें दिग्भ्रमित कर दिया है।

गुप्त जी ने जिन दिनों खड़ी बोली में काव्य-रचना आरम्भ की, उन दिनों उनके पास न भाषा की शक्ति थी, न भावना का परिष्कार, न कल्पना का

ऐश्वर्य। वह नितांत नयी काव्य-भाषा थी, जिसके पीछे पंद्रह-बीस वर्षों के अधिक समय का साहित्यिक प्रयत्न नहीं था। श्रीधर पाठक ने गंभीरता-पूर्वक उसे काव्य के लिए प्रयुक्त किया और समसामयिक प्रश्नों से मुक्त कर उसे श्रेष्ठ साहित्यिकता दी। भारतेन्दु हरिश्चंद्र से मैथिलीशरण गुप्त तक खड़ी बोली की रचना के तीन दशक व्यतीत होते हैं, परन्तु इन वर्षों का खड़ी बोली काव्य औपचारिक ही कहा जा सकता है, क्योंकि रसात्मक काव्य की परिपाटी ब्रजभाषा काव्य तक ही सीमित है। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने खड़ी बोली को काव्यभाषा बनाने का आन्दोलन चला कर कवियों के एक नये वर्ग को जन्म दिया, जिसकी परिबद्धता एक-मात्र खड़ी बोली के साथ थी। इस वर्ग के कवियों ने उसे नये छंद और नये काव्यरूप दिये, उसकी भाषा-शैली का निर्माण किया और उसे साहित्यिकता तथा रसात्मकता देकर उसके अस्थि-पंजर को मांसलता से ही मण्डित नहीं किया, उसमें सच्चे अर्थों में प्राण की प्रतिष्ठा की। गुप्त जी ऐसे कवियों में अन्यतम हैं। उन्हें हम खड़ी बोली काव्य का प्रथम ज्योतिस्तम्भ कह सकते हैं।

नयी काव्यभाषा के निर्माण और उसके विकास में ही नहीं, उसके भावना और विचार के स्वरों को भी निश्चित एवं परिमार्जित करने में गुप्त जी का योग-दान महत्वपूर्ण है। नयी काव्यभाषा को स्थायित्व उसी समय मिल सकता है जब वह परंपरा को समेट सके और उसके प्रयोग वायवी न होकर एक-निश्चित विकास-क्रम को सूचित करें। उसमें जातीय, सांस्कृतिक और राष्ट्रीय संदर्भों का समावेश करने पर ही हम उसे प्राणवान, सक्षम और सार्थक बनाते हैं। परन्तु यह परंपरा का अनुकरण नहीं है, उसका सर्जनात्मक तथा विकासात्मक स्वीकार है। सनातन के साथ नूतन को मिला कर ही परंपरा को सर्जनात्मक और विकासोन्मुख बनाया जा सकता है। गुप्त जी ने काव्य-विकास के इस रहस्य को आरम्भ से ही पहचान लिया था। फलतः उन्होंने सनातन भारतीय जीवन और परंपरागत सांस्कृतिक मूल्यों को नये सिक्कों में ढाला और उनका काव्य नये मध्यवर्ग की जीवन-चेतना का प्रतीक-काव्य बन गया। भारतीय नैतिकता, भारतीय धर्म-चेतना, नवीन संस्कारिता तथा राष्ट्रीय जीवन के असंख्य संदर्भों को उन्होंने काव्य का विषय बनाया और नये मध्य वर्ग की चेतना के लिए दर्पण का कार्य किया। गद्य के क्षेत्र में यही

काम प्रेमचन्द ने किया। नये युगजीवन को प्रबुद्ध, संतुलित और मर्यादित कर उन्होंने नयी कर्मण्यता, आशावादिता तथा राष्ट्रीयता का मार्ग प्रशस्त किया। भाषा और भाव के दो क्षेत्रों में एक साथ इतना क्रांतिकारी परिवर्त्तन आज भले ही साधारण बात लगे, द्विवेदी-युग के किसी भी कवि के लिए यह असाधारण अध्यवसाय, अप्रतिम साहस और अद्भुत सांस्कृतिक क्षमता की बात कही जायेगी। काव्य के कलेवर को ही नहीं, उसकी आत्मा को भी एकदम बदल कर नये खड़ी बोली काव्य को शिक्षित जन का कण्ठहार बना देना चमत्कार से कम नहीं है। राष्ट्रकवि श्री मैथिलीशरण गुप्त का काव्य-विकास इस चमत्कार का जाज्वल्यमान प्रमाण है। इसीलिए छायावाद के श्रेष्ठतम कवियों ने उनके प्रति आभार प्रगट किया है और आज भी उनकी अग्रगामिता बनी हुई है। दिशाएँ भिन्न हों परन्तु हिन्दी काव्य का तारुण्य अभी भी उनकी प्रति श्रद्धालु है।

गुप्त जी के काव्य का प्रारंभिक विकास "जयद्रथ-वध" और "पंचवटी" पर समाप्त होता है। इन दोनों रचनाओं में हम पहली बार खड़ी बोली काव्य में उत्कृष्ट काव्य-गुणों का समावेश पाते हैं। महाभारत और रामायण भारतीय संस्कृति और काव्य के आदि-स्रोत रहे हैं। गुप्त जी ने इन रचनाओं में उन्हें इस रूप में स्वीकार किया है, परन्तु खण्ड काव्य की विशेषताओं का निर्वाह करते हुए प्रसंगों को युग की अनुकूलता भी दी है। "जयद्रथवध" में सधे हुए हरिगीतिका छंद में वीर और करुण रसों को मार्मिक रूप में प्रस्तुत किया गया है। नयी काव्यभाषा से रसात्मकता का निर्वाह कर यह प्रमाणित कर दिया गया है कि खड़ी बोली संवेदनापूर्ण संदर्भों का निर्वाह करने में पूर्णत: सक्षम है। "पंचवटी" में हमें रामकाव्य का नवीन रूप मिलता है। राम, लक्ष्मण, सीता, शूर्पणखा सब अत्यंत मानवीय रूप में सामने आते हैं। पारिवारिक हास-विलास और उत्फुल्ल प्राकृतिक सौन्दर्य के बीच में पंचवटी की कथा धीरे-धीरे खुलती है और देवता को मनुष्य के परिचित रूप में देख कर हम नये उत्साह का अनुभव करते हैं। इन दोनों रचनाओं की काव्योत्कृष्टता ने नयी पीढ़ी को गुप्त जी के प्रति आश्वस्त किया और खड़ी बोली काव्यभाषा के रूप में चलता सिक्का बन गई। इसी समय के लगभग, १९१३ में उनकी प्रसिद्ध वैचारिक और निबंधात्मक काव्य-रचना "भारत-भारती" सामने आई।

हाली के प्रसिद्ध मुसद्दस के अनुसरण पर लिखी यह रचना हिन्दू जातीयता का गौरव-गान कही जा सकती है। परन्तु गुप्त जी के वैष्णव संस्कारों में हिन्दू-जातीयता, राष्ट्रीयता और मानववाद का सर्वश्रेष्ठ इस प्रकार अंतर्भुक्त हो गया है कि कोई भी अंतर्विरोध हमें दिखलाई नहीं देता। "स्वदेश-संगीत" की स्फुट रचनाओं में उनका राष्ट्र-कवि का उत्कर्षमय रूप सामने आता है। सत्याग्रह-आन्दोलन के दिनों में "भारत-भारती" नवजाग्रत राष्ट्र की गीता बन गई थी और "स्वदेश-संगीत" के गीत सहस्रों नवयुवकों के लिए बलिदान के प्रेरक थे।

१९२५ तक, द्विवेदी-युग के भीतर, गुप्त जी का काव्य हिन्दू जातीयता, राष्ट्रीयता, महाभारत पर आधारित आख्यानमूलक साहित्यिकता और नये सांस्कृतिक आदर्शों के पल्लवन का काव्य है। बाद में "जय भारत" के नाम से उन्होंने महाभारत-संबंधी अपनी प्रबंधात्मक रचनाओं का संकलन एक स्थान पर कर दिया है। कुछ नये प्रसंग भी जोड़े हैं। "जय भारत" वह सेतु-बंध है जो प्राचीन भारतीय संस्कृति को नयी मध्यवर्गीय संस्कृति से जोड़ता है। नये पात्र में पुराना मधु कुछ अधिक ही मीठा सिद्ध हुआ है। वह निश्चय ही अमृतकल्पी है। परन्तु गुप्त जी के काव्य का चरमोत्कर्ष हमें १९२५ से १९४० तक के पंद्रह वर्षों में मिलता है। "साकेत", "द्वापर", "यशोधरा", "कुणालगीत" आदि प्रबंधात्मक रचनाओं और "मंगलघट" और "झंकार" जैसे रहस्यवादी प्रगीतों में उन्होंने युग-चेतना को मूर्त्त करने में काव्य की सारी शक्ति लगा दी है। यह ठीक है कि उनका काव्य छायावादी काव्य की नयी स्वच्छंदतावादी और रहस्यवादी भंगिमाओं को बहुत दूर तक अपना कर भी उनका अपना काव्य बना रहता है। उसमें नये कवियों की निर्बन्ध काव्य-साधना नहीं है। परन्तु काव्योत्कृष्टता के अनेक रूप हो सकते हैं और गुप्त जी के काव्य में उसका ऐसा स्वरूप हमें मिलता है जो उनके चरित्र की सात्विकता और व्यक्तित्व की कोमलता, उनकी वैष्णवधर्मी चेतना की उदारता तथा व्यावहारिक जीवन की मर्यादा का अंतिम सीमा तक निर्वाह करता है। उसमें उनके व्यक्तित्व और आदर्श की ही सुरक्षा नहीं है, सनातन जीवन-मूल्यों की भी सुरक्षा है। काव्य-कला का एक मर्यादित, प्रसाद-पूर्ण और प्रांजल रूप हमें उनकी श्रेष्ठतम कृतियों में मिलता है। गुप्त जी के लिए काव्य जीवन की

क्षतिपूर्त्ति नहीं है, न वह जीवन से पलायन है। वह उनके जीवन की सार्थकता है। वह इष्टदेव की पूजा का नैवेद्य है। जीवन की मांगलिकता और करुणामयता उनकी पंक्ति-पंक्ति पर छा गई है। शरद्काल की समुज्ज्वल धूप की तरह प्रकाशमान उनकी काव्य-चेतना जिस विषय को छूती है उसे पवित्र, गरिमामय और प्रसन्नचेतस् बना देती है। उससे हम अधिक आशा नहीं कर सकते। परन्तु वह हमें आशा से अधिक देती है। यही क्या कम है ?

गुप्त जी मूलतः प्रबंध कवि हैं। उन्होंने ढेर-सा आख्यान काव्य लिखा है और महाकाव्य, प्रगीतात्मक आख्यान तथा आख्यानात्मक प्रगीत के रूप में अनेक रचनाएं की हैं। संवादों के निर्वाह में वह अतुलनीय हैं और पारवारिक जीवन के माधुर्य पर उनकी दृष्टि बराबर रहती है। उन्होंने मानव-जीवन की सदाशयता तथा पवित्रता की अक्षुण्णता रखते हुए महान आदर्शों को युग की आँच में तपाया है। वे कथा-प्रसंगों की सजीवता बनाये रखते हैं और छोटे-से-छोटे आख्यान को भी नवीन अर्थों से फुला कर मांसल और प्राणवान बना देते हैं। वर्णन-कला और नाटकीयता के निर्वाह के साथ संवाद-चातुर्य तथा सरल-सरस शब्द-चयन उनके काव्य को उनके व्यक्तित्व की छाप दे देता है। समीक्षकों का एक वर्ग उनके कवित्व से संतुष्ट नहीं है, परन्तु स्वच्छंदतावादी और वैयक्तिक काव्य के मानदण्डों पर मर्यादावादी और सांस्कृतिक काव्य की परखना हास्यास्पद ही होगा। कविता के क्षेत्र में गुप्त जी के महत्व के विवेचन में हमें उनकी प्राथमिकता पर भी ध्यान रखना होगा और उनके व्यक्तित्व तथा युग की सीमाओं को भी देखना होगा। इन मर्यादाओं के भीतर उनका काव्य कटे-छंटे, जगमगाते हीरे की तरह अपनी आभा बिखेर रहा है और असाधारणता के आदर्श को क्षण भर के लिए हटा दें तो हमें उसमें पर्याप्त काव्योत्कर्ष मिलेगा।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि गुप्त जी के काव्य में हिन्दू समाज और राष्ट्र की नव जागृति का विकासोन्मुख चित्र हमें मिलता है और उन्होंने अपने युग की नवीन जीवनस्फूर्त्ति के निर्माण में पर्याप्त योग दिया है। उनके काव्य में न कल्पना की अमर्यादित उड़ान है, न भावना का हड़कंपी आवेग। जो

कुछ काव्य के रूप में प्रस्तुत है वह अपनी उज्ज्वलता में निष्कंप दीपशिखा-सा प्रकाशवान है। वह प्रकाश देते हैं, आंच नहीं देते। उन्होंने वैष्णव धर्म की शांति, सरसता और पवित्रता को नवयुग के आदर्शवाद में ढाल दिया है। सरल और प्रसादपूर्ण काव्यशैली में वे लोक-सामान्य भाषा और लोकप्रचलित भावों के आधार पर नये युग के जीवनस्पन्दन को वाणी देते हैं। निरुद्देशीय आलंकारिकता और अमर्यादित शृंगार उनकी रचना को विकृत नहीं करते, परन्तु जीवन का सहज-प्रसन्न, हास-विनोदपूर्ण, मानवीय संबंधों से पुष्ट नैतिक और नैसर्गिक रूप उनके काव्य को सहज आह्लादकर बना देता है। उसमें गुप्त जी के जीवन और चरित्र की सात्विकता, कोमलता तथा आदर्शप्राणता ही पल्लवित हुई है।

साठ वर्षों की यह काव्य-साधना काव्य के इतिहास में विरल ही समझी जायेगी। इस साधना का महत्व इस दृष्टि से बढ़ जाता है कि उसमें एक नयी काव्यभाषा, खड़ी बोली, के काव्य के आरंभ से लेकर आज तक का समस्त विकास आ जाता है। गुप्त जी के भगीरथ-प्रयत्न ने जिस काव्य-मंदाकिनी को दुर्गम गिरि-गह्वर-कानन से नीचे उतार कर भाव और विचार की समतल भूमि दी, वह अनेक समर्थ कवियों और काव्यान्दोलनों के अर्द्धशताब्दी के योग के बाद आज बड़ा चौड़ा फाट घेर कर बह रही है। यह उनके लिए कम गौरव और कम संतोष की बात नहीं है। उन्हीं के चित्रकूट-प्रशस्ति के शब्दों में हम उनकी अभ्यर्थना करेगें :

सिद्ध शिलाओं के आधार,
ओ गौरव-गिरि उच्च, उदार!

....

विविध राग-रंजित अभिराम,
तू विराम-साधन, वन-धाम,
कामद होकर आप अकाम,
नमस्कार तुझको शत बार।
ओ गौरव-गिरि, उच्च-उदार!

[२]

राम तुम्हारा चरित स्वयं ही काव्य है,
कोई कवि बन जाय, सहज संभाव्य है !

राष्ट्रकवि श्री मैथिलीशरण गुप्त की ये पंक्तियाँ उनकी वैष्णव भावना और उनके काव्य-दर्शन पर महत्वपूर्ण प्रकाश डालती हैं। "साकेत" उनकी केन्द्रीय रचना है और उसमें उन्होंने रामकथा को मानव-चरित्र की जिस सूक्ष्मता और नवीनता से देखा है वह उनके हृदय की कोमलता, भावना-मयता तथा परिष्कृति की सूचक है। यह परिष्कृति उनके काव्य का प्राण है। प्रेमचंद की भांति गुप्त जी भी जीवन-परिष्कार के साधक कलाकार हैं और उन्होंने जीवन-सापेक्ष कला और काव्य का अत्यंत पुष्ट और समर्थ रूप हमें दिया है। वैष्णव धर्म की देवतावादी और भक्तिवादी चेतना को उन्होंने नयी मानवतावादी और मानववादी चेतना की ओर मोड़ा और नये राष्ट्रवाद को भारतवर्ष की आध्यात्मिक संस्कृति से संपन्न किया। वैष्णव संस्कारों को राष्ट्रीय जीवन और स्वदेश-प्रेम में ढाल कर उन्होंने हमारे राष्ट्रीय काव्य के नैतिक और सांस्कृतिक स्तर को बहुत ऊँचा उठा दिया। देवता को मनुष्य के धरातल पर लाकर और मनुष्य के भीतर छिपे प्रच्छन्न देवत्व के प्रति हमें संवेदित कर वह जीवन की मंगलमयता तथा दैवीयता की प्रतिष्ठा करते हैं। उन्होंने महाभारत और रामायण के पात्रों, कथानकों तथा जीवनदृष्टियों को नयी युगचेतना का वाहक बनाया है। प्राचीन कथा को युगानुकूल नये सांस्कृतिक और मनोवैज्ञानिक अर्थ देकर गुप्त जी सांस्कृतिक सूत्रों की अविच्छिन्नता के लिए प्रयत्नशील दिखलाई देते हैं। इतिहास और पुराण में युगचेतना का आरोप कर उन्होंने परंपरा को नये अर्थ दिये हैं और नूतनता को प्रयोग की भूमिका से उठा कर उसे सनातन मूल्यों का संबल प्रदान किया है। कालांतर में सनातन जीवन-प्रवाह की मर्यादा स्थिर रखना सामान्य क्षमता की बात नहीं है, परन्तु गुप्त जी दिवोदास से आरंभ कर गांधी-युग तक की सहस्रों वर्षों के सांस्कृतिक विकास को अपने काव्य में नये जीवन की दीप्ति देते हैं और उसे हमारे पथ का साथी बना देते हैं। केवल यही काम उनकी अमरता के लिए काफ़ी था। परन्तु इस सांस्कृतिक चेतना का निर्माण श्रेष्ठ काव्य के भीतर से हुआ है और इस काव्य के छंद-विधान, भाषा-शैली, संवेदनात्मकता तथा सजीवता के निर्माण

की अपनी अलग कहानी है। युग की सांस्कृतिक और साहित्यिक चेतना का एक साथ नेतृत्व करने वाले गुप्त जी का आस्तिक व्यक्तित्व और सरल सात्विक जीवन युगों तक प्रेरणा का विषय बना रहेगा, इसमें कोई संदेह नहीं है।

गुप्त जी आरंभ से ही अपनी काव्य-साधना के प्रति आस्थावान रहे हैं, जैसा १९१२ में प्रकाशित "भारत-भारती" की इन पंक्तियों से स्पष्ट है :

मानस-भवन में आर्यजन जिसकी उतारें आरती,
भगवान, भारतवर्ष में गूँजे हमारी भारती!

उनकी प्रार्थना स्वीकार हुई है और इसमें और कोई भी संदेह नहीं रह गया है, क्योंकि हिन्दी भारती के कण्ठ-स्वर में सब से अधिक सशक्त योग उन्हीं का है। चाहे भावना राष्ट्रीयता की हो, या रहस्यमयता या भक्ति की, या रामकथा, या महाभारत का कोई प्रसंग, अथवा सामयिक जीवन और जगत की कोई हलचल, गुप्त जी का काव्य उसे सरल, समर्थ और प्रामाणिक अभिव्यक्ति देने में सबसे आगे है। उनकी मृत्युंजयी वाणी में जीवन के प्रति अदम्य आस्था और मानव की अक्षय कर्मण्यता के दर्शन होते हैं। वर्षों पहले उन्होंने गाया था :

विचार लो कि मृत्यु है,
न मृत्यु से डरो कभी!
मरो, परन्तु यों मरो
कि याद जो करें सभी!
हुई न जो सुमृत्यु तो,
वृथा मरे, वृथा जिये,
मरा नहीं वही कि जो
जिया न आप के लिए!
यही पशु-प्रवृत्ति है कि
आप आप ही चरे!

वही मनुष्य है कि जो
　　मनुष्य के लिए मरे !
उसी उदार की कथा
　　सरस्वती बखानती,
उसी उदार से धरा
　　कृतार्थ-भाव मानती !
उसी उदार की सदा
　　सजीव कीर्त्ति गूँजती,
तथा उसी उदार को
　　समस्त सृष्टि पूजती,
अखण्ड आत्मभाव जो
　　असीम विश्व में भरे,
वही मनुष्य है कि जो
　　मनुष्य के लिए मरे !

और आगे बढ़ कर उन्होंने देशवासियों को पुरुषार्थ के लिए ललकारा था :

मानव-जीवन में जय के लिए
　　प्रथम ही दृढ़ पौरुष चाहिये,
विजय तो पुरुषार्थ बिना कहाँ ?
　　कठिन है चिर जीवन भी यहाँ !
भय नहीं, भव-सिंधु तरो, उठो !
　　पुरुष हो, पुरुषार्थ करो, उठो !
यदि अनिष्ट अड़ें, अड़ते रहें,
　　विपुल विघ्न पड़ें, पड़ते रहें !
हृदय में पुरुषार्थ रहे भरा :
　　जलधि क्या, नभ क्या, फिर क्या धरा ?
पुरुष हो, पुरुषार्थ करो, उठो !

उन्होंने हमें राष्ट्रीय गौरव का मंत्र इन शब्दों में दिया—

निज गौरव का नित ज्ञान रहे,
"हम भी कुछ" हैं, यह ध्यान रहे।
सब जाय अभी पर मान रहे,
मरणोत्तर गुंजित गान रहे।

और "भारत-भारती" में देश के अतीत, वर्तमान और भविष्य की झाँकी दिखला कर उन्होंने अनेक सुन्दर गीतों में राष्ट्र के स्वरूप का निर्धारण किया। राष्ट्रीय काव्य के क्षेत्र में वह निश्चय ही अग्रगण्य हैं। उनका भारत संस्कृति के श्रेष्ठ गुणों का आगर है जिस पर वह तन-मन-धन से न्यौछावर हैं :

मेरे भारत! मेरे देश!
बलिहारी तेरा वर वेश!
बाहर मुकुट-विभूषित भाल,
भीतर जटा-जूट का माल,
ऊपर नभ, नीचे पाताल
और बीच में तू प्रणपाल
बंधन में भी मुक्ति-निवेश!
मेरे भारत, मेरे देश!
इधर विविध लीला विस्तार,
उधर गुणों का भी परिहार!
जिधर देखिये एकाकार,
किधर कहें हम तेरा द्वार!
हृदय कहीं से करे प्रवेश,
मेरे भारत, मेरे देश!

रहस्यवादी और भक्तिवादी विचारधाराओं में भी उनका योग कम महत्वपूर्ण नहीं है। रहस्यवाद संबंधी उनकी रचनाएँ "झंकार" (१९२९) में मिलती हैं। "झंकार" शीर्षक रचना में ही इस रहस्य की बानगी देखिये :

इस शरीर की सकल शिराएँ हों तेरी तंत्री के तार,
आघातों की क्या चिंता है, उठने दे ऊँची झंकार।
नाचे नियति, प्रकृति सुर साधे, सब सुर हों सजीव, साकार,
देश-देश में काल-काल में उठे गमक-गहरी गुंजार।
कर प्रहार, हाँ, प्रहार तू, भार नहीं, वह तो है प्यार।
प्यारे ! और कहूं क्या तुझको, प्रस्तुत हूं मैं, हूं तैयार।

इसी शैली की अन्य कविता "आमंत्रण" इस प्रकार है :

आओ, हृदय-डोल पर झूलो !
मेरे मानस के सहस्र दल,
फूलो, फूलो, फूलो !
ऊँचे से ऊँचा जाता है,
नीचे से नीचे आता है,
यह यों ही झोंके खाता हैं,
भावुक इसे न भूलो !
आओ, हृदय-दोल पर झूलो !
पवन कुसुम-पर झटक रहा है,
भौंरे को यह खटक रहा है,
दोनों का मन अटक रहा है,
ऐसे में अनुकूलो !

परन्तु गुप्त जी की काव्यकला का प्रौढ़तम स्वरूप उनके महाकाव्यों और खण्डकाव्यों में मिलता है, जिनकी बड़ी संख्या है। "साकेत", "यशोधरा" और "द्वापर" इनमें सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। इन रचनाओं में वह सांस्कृतिक कवि और श्रेष्ठ प्रबंधकर्त्ता के रूप में सामने आते हैं। "साकेत" में उर्मिला और कैकयी के चरित्रों और मनोभावों को लेकर उन्होंने जो नवीन काव्य-सृष्टि प्रस्तुत की है, वह नितांत अभिनव वस्तु है। यही नहीं, "साकेत" के सभी पात्रों में सहज मानवीयता का स्वर मुखरित हुआ है

और साकेत के पारिवारिक जीवन की ऐसी सुन्दर झांकी हमें मिलती है कि हम विभोर हो जाते हैं। "साकेत" की सीता की यह छवि देखिये :

अंचल-पट कटि में खोंस, कछोटा मारे,
सीता माता थीं आज नई धज धारे।
अंकुर-हितकर थे कलश-पयोधर पावन,
जन-मातृ-गर्वमय कुशल वदन मनभावन।
पहने थीं दिव्य दुकूल अहा! वे ऐसे,
उत्पन्न हुआ हो देह-संग ही जैसे!
कर, पद, मुख तीनों अतुल अनावृत पट से,
थे पत्र-पुंज में अलग प्रसून प्रगट से!
कन्धे ढक कर कच छहर रहे थे उनके,
रक्षक तक्षक से लहर रहे थे उनके।
मुख धर्म-बिन्दुमय ओस-भरा अंबुज-सा,
पर कहां कंटकित नाल सुपुलकित भुज-सा।

उनके मानसिक वैभव का सौन्दर्य भी आकर्षक है जो चित्रकूट-प्रसंग के इस गीत में उभरा है :

निज सौध-सदन में उटज पिता ने छाया,
मेरी कुटिया में राजभवन मन भाया।
सम्राट् स्वयं प्राणेश, सचिव देवर हैं,
देते आकर आशीष हमें मुनिवर हैं।
धन तुच्छ यहाँ—यद्यपि असंख्य आकर हैं,
पानी पीते मृग-सिंह एक तट पर हैं।
सीता रानी को यहाँ लाभ ही लाया,
मेरी कुटिया में राजभवन मन भाया।
क्या सुन्दर लता-वितान तना है मेरा,
गढ़ चित्रकूट दृढ़ दिव्य बना है मेरा।

प्रहरी निर्झर, परिखा-प्रवाह की काया,
मेरी कुटिया में राजभवन मनभाया !

उर्मिला का चरित्र-चित्रण तो "साकेत" का प्राण है। आरंभ की मुखर और चंचल नवयौवना अंत में विरहाग्नि में तप कर किस प्रकार कुन्दन बन गई है, यह युगल प्रेमियों के मिलन को चित्रित करने वाली इन पंक्तियों से स्पष्ट है :

स्वामी, स्वामी, जन्म-जन्म के स्वामी मेरे,
किन्तु कहाँ वे अहोरात्र, वे सांझ-सवेरे।
खोई अपनी हाय ! कहाँ वह खिल-खिल खेला ?
प्रिय जीवन की कहाँ आज वह चढ़ती बेला।
कांप रही थी देह-लता उसकी रह-रह कर,
टपक रहे थे अश्रु कपोलों पर बह-बह कर।
वह वर्षा की बाढ़ गई, उसको जाने दो,
शुचि गंभीरता, प्रिये, शरद की यह आने दो।
धरा-धाम को राम-राज्य की जय गाने दो,
लाता है जो समय, प्रेमपूर्वक लाने दो।

परन्तु वियोगिनी उर्मिला की चुनौती का वह रूप भी कितना सुन्दर है जिसमें वह कंदर्प को ललकारती है :

मुझे फूल मत मारो।
मैं अबला बाला वियोगिनी, कुछ तो दया विचारो।
होकर मधु के मीत, मदन, पटु तुम कटु गरल न गारो,
मुझे विकलता, तुम्हें विफलता, ठहरो, श्रम परिहारो।
नहीं भोगिनी यह मैं कोई, जो तुम जाल पसारो,
बल हो तो सिन्दूर बिन्दु यह, यह हर-नेत्र निहारो।
रूप-दर्प, कंदर्प, तुम्हें तो मेरे पति पर वारो,
लो, यह मेरी चरण-धूलि उस रति के सिर पर धारो।

उर्मिला के इस गीत में उसकी हृदय-व्यथा, आत्म-संयम एवं नारीत्व के तेज का सुन्दर चित्र उभरा है। संपूर्ण नवम सर्ग में विरहिणी उर्मिला के मनोभावों का बड़ी विदग्धता से अंकित किया गया है। यह सर्ग "साकेत" का सब से अधिक मौलिक और काव्यात्मक अंश है। सच तो यह है कि राष्ट्र-कवि मैथिलीशरण गुप्त के काव्य में ऐसे स्थल विरल नहीं है। एक विशेष मर्यादा के भीतर उन्होंने अपनी काव्य-साधना को निरंतर विकासोन्मुख रखा है।

यह स्पष्ट है कि ६० वर्षों की इस लंबी काव्य-साधना में खड़ी बोली काव्य के विकास का संपूर्ण इतिहास ही नहीं आ जाता, उत्कर्षपूर्ण काव्य भी कम मात्रा में नहीं मिलता। मैत्री, करुणा, त्याग, तपस्या, शौर्य और बलिदान का जैसा आदर्श गुप्त जी के काव्य में निर्वाहित है, वैसा और कहाँ मिलेगा! उन्होंने युग की ललकार को स्वीकार करते हुए जयघोष किया है:

अपने युग को हीन समझना आत्महीनता होगी,
सजग रहो, इससे दुर्बलता और दीनता होगी।
जिस युग में हम हुए, वही तो अपने लिये बड़ा है,
अहा, हमारे आगे कितना कर्मक्षेत्र पड़ा है।
हीन गया है काल कौन-सा? क्या घन मंद्र नहीं अब?
सायं-प्रात, रात-दिन, ऋतुएँ या रवि-चन्द्र नहीं अब?
सावधान! युग के अधर्म को हम युग-धर्म न समझें!
कर्म नहीं, हम पतित आप यदि उनका मर्म न समझें!

साथ ही युगेतर जीवन के लिए भी उन्होंने कम भाव-सूत्र हमें नहीं दिये हैं। उनका सन्देश उनके इस गीत में मुखरित है जिसमें उन्होंने मैत्री-करुणा में मानव-कल्याण की कल्पना की है:

मैत्री-करुणा में कल्याण,
विश्वबन्धुता में ही त्राण!
देश-काल, गुण, कर्म, स्वभाव,
ये शाखाओं के अलगाव।

खोलो तनिक मूल प्रस्ताव,
तोलो साधन के परिमाण।
विश्वबन्धुता में ही त्राण !
आकृति, वर्ण और बहु भेष,
ये सब निज वैचित्र्य विशेष।
डालो अंतदृष्टि निमेष,
देखो, अहा ! एक ही प्राण !
विश्व-बन्धुता में ही त्राण !

और अंत में वह अपने मानववाद के चरम उत्कर्ष पर पहुँच कर नर को नारायण बनाने का उत्साह दिखलाते हैं :

पार उतरना है तो तर,
नारायण हो, मेरे नर !
यहाँ उसी का स्नेह पला,
जो दीपक सा उजल जला।
यों सब का निर्माण भला,
अंतर से ही अंतर भर।
नारायण हो, मेरे नर।
बन्धन जाएं, नियम रहें,
भव न बहें, सौ विभव बहें।
दुःख भले, हम जिन्हें सहें,
बिचर जहाँ, निर्वैर विचर !
नारायण हो, मेरे नर !

मनुष्य के भीतर के देवता को ऊपर उठा कर ही हम उसे सार्थक बनाते हैं। 'नहुष' की ये अंतिम पंक्तियां गुप्त जी के काव्य का मूल मंत्र हैं :

उठना मुझे ही नहीं एक मात्र रीते हाथ,
मेरी देवता भी और ऊँची उठे मेरे साथ।

"निराला" का काव्य

काव्य "निराला" के साहित्य का मेरुदण्ड है। वहीं वे सबसे अधिक और प्रकृत्यः निराला हैं। शेष जो कुछ है उनके कवि-व्यक्तित्व की प्रतिध्वनि मात्र है जो काव्य की मूर्च्छनाओं से ही प्रियता प्राप्त कर सकी है। लगभग ५० वर्षों की काव्य-साधना स्वयं अपने में कोई कम महत्वपूर्ण वस्तु नहीं है। "जुही की कली" "निराला" की पहली रचना है, मात्र १६ वर्ष के किशोर की कृति, संभवतः १९१२ में लिखी। प्रथम रचना होने के नाते वह "निराला" की प्रिय रचना रही है, परन्तु इस काल के किसी भी अन्य कवि की रचना के सामने वह क्या नहीं है! जिस समय हिन्दी का किशोर कण्ठ फूटा ही नहीं था उस समय जीवन-शक्ति और सुन्दरता से ओतप्रोत आत्मा की आनन्द-केलि का सटीक रूपक प्रस्तुत करना सरल बात नहीं होगी। परन्तु "निराला" की इस पहली रचना ने उस असंभव को संभव बना दिया। "जुही की कली में प्रयुक्त मुक्त छंद को" "निराला" कवित्त के शिल्प से जोड़ते हैं और इसमें संदेह नहीं कि इसके पीछे "निराला" की कवित्त-सवैया छंद की ब्रजभाषा-काव्य की साधना भी रही होगी। वाणी-बन्दना संबंधी अपने कतिपय ब्रज-भाषा छंद वे बराबर सुनाया करते थे और ब्रजभाषा के वैष्णव काव्य और रीतिकाव्य में उनकी गहरी पैठ थी। रीति-कवियों के पचासों छंद उन्हें कण्ठस्थ थे। इसी से अपनी इस पहली शृंगारात्मक रचना में वे निर्बाध गति से शृंगार की पूर्णता को चित्रित कर सके हैं। रवीन्द्रनाथ के "निर्झरेर स्वप्न-भंग" की भाँति इसे भी निराला की काव्य-प्रतिभा का नवजागरण कहा जा सकता है। जुही की कली वृंत पर ही नहीं खिलती, तरुण कवि की कोमल आत्मा में भी खिलती है। अप्रतिहत आवेग और अक्षुण्ण उल्लास को मूर्तिमान करने वाली यह रचना हिन्दी कविता के नवजागरण का सबसे सुन्दर प्रतीक है। इस प्रकार निराला की यह रचना उनके काव्य का उचित श्री गणेश है। निराला कहा करते थे कि उन्होंने श्मसान में टहलते हुए यह कविता मौखिक ही रच डाली थी। कैसा स्थान और कैसी कविता! परन्तु निराला का जीवन विरो-

धाभासों का जीवन ह, और उनके काव्य में भी आंतरिक सूत्र ही खोजना ठीक बात होगी। उसे सतह पर नहीं लिया जा सकता।

निराला की अठतालीस वर्षों की काव्यसाधना को तीन आयामों में बांटा जा सकता है। पहला, जिसमें नव्यवेदांती और रोमांटिक भावभूमि का प्रसार है। लगभग पच्चीस वर्षों तक निराला इस भावभूमिका पर टिके रहे। "परिमल", "अनामिका", "गीतिका" और "तुलसीदास" उनकी इसी भावभूमिका से संबंधित हैं। संख्या की दृष्टि से ये रचनाएँ अधिक नहीं हैं परन्तु निराला की यह विशेषता है कि वे एक ही भावना की अनेकानेक आवृत्तियां प्रस्तुत नहीं करते। उनकी प्रत्येक कविता उन्हें निःशेष करके ही सामने आ पाई है। जहाँ भावना का उत्कर्ष है वहाँ वे अंतिम विराम पर पहुँच गये हैं और जहाँ अलंकृति है वहाँ उनकी कलाकारिता मीनाकारी की सीमा तक पहुँच गई है। भाषा, भाव, छंद, अभिव्यक्ति तथा शिल्प के असंख्य प्रयोग इन रचनाओं में मिलेंगे। वैष्णव पदावली, विवेकानन्द, रवीन्द्रनाथ, माइकेल और कालिदास-बाल्मीकि-तुलसीदास इन पच्चीस वर्षों में कवि की निरंतर प्रेरणा रहे हैं, परन्तु ग़ालिब और इक़बाल जैसे उर्दू कवियों एवं अंग्रेज़ी रोमांटिक कवियों के कण्ठस्वर से भी निराला ने कम नहीं सीखा है। यह दूसरी बात कि सीख कर भी स्वर उनका अपना रहा है क्योंकि वे शब्द और अलंकार ग्रहण नहीं करते, आत्मा ग्रहण करते हैं। केवल राष्ट्रवादी चेतना ही नहीं, तीन दशकों के समस्त भावोच्छ्वास इन रचनाओं में प्रतीकस्थ हैं।

बयालीस वर्ष की आयुमें, १९३९ में, निराला अपने काव्य को नया मोड़ देते हैं। यह परिवर्त्तन अप्रत्याशित रहा है। समीक्षकों ने इसे प्रगतिवादी आंदोलन से जोड़ दिया है और इस प्रकार उसे युग की मांग से संपृक्त किया गया है। वास्तव में यह निराला का द्वितीय महायुद्ध-काल का साहित्य है (१९३९-१९४५)। काव्य ही नहीं, गद्य में भी उनकी रचना की प्रकृति बदली हुई है। उसकी चेतना प्राकृतिकवादी अथवा यथार्थवादी है और वस्तून्मुखी दृष्टि का व्यापक प्रसार उसमें मिलता है। इन छः वर्षों के काव्य (कुकुरमुत्ता, बेला, नये पत्ते और अणिमा) की यथार्थनिष्ठ एवं बौद्धिक भावभूमि हमें एक नये निराला के दर्शन कराती है। इस नये काव्य में बहुत कुछ ऐसा है जो व्यंग-

काव्य है परन्तु स्वच्छंदतावादी मनोभूमि और सौन्दर्यनिष्ठा के प्रति विद्रोह भी कम नहीं है। ग्रामीण जीवन, ग्रामीण प्रकृति, नगण्य और सामान्य (कभी-कभी विद्रूपी) जीवन, अवचेतनीय मन:स्थिति तथा मध्यवर्गीय जीवन एवं नागरिक संस्कारों के व्यंग,—ये उनके कुछ प्रिय विषय रहे हैं। जहाँ पंत ने मार्क्सवाद और गांधीवाद के विश्लेषण को "निबंध-काव्य" का रूप दिया और "युगवाणी" तथा "ग्राम्या" में नए युगधर्म की सूचना दी, वहाँ निराला अपनी इस युग की रचनाओं में एक बड़े सशक्त व्यंग की रचना करते हैं। "प्रयोग" इन रचनाओं का दूसरा पक्ष है। पहले भी निराला कुछ कम प्रयोगी नहीं रहे हैं परन्तु जहाँ पहले प्रयोग विद्रोह की सूचना देते हैं वहाँ ये नये प्रयोग आक्रोश एवं निरानंद की उपज हैं। उनमें भावशैथिल्य भी कम नहीं है, जैसे कवि अपने पूर्व काव्य में निःशेष हो गया हो और एकांततः नवीन काव्यभूमि की ओर चल पड़ा हो। यथार्थनिष्ठ और बौद्धिक भावभूमि से संपन्न यह संधि-काव्य स्वप्न-भंग की पीड़ा का द्योतक है।

निराला के काव्य का तीसरा आयाम १९५१ से आरंभ होकर १९५८ पर समाप्त होता है। यह उनका गीत-काल है। "आराधना", "अर्चना" और "गीत-गुंज" में उन्होंने नई गीत-कला का समारंभ प्रस्तुत किया। इन गीतों में कहीं-कहीं "गीतिका" की ध्वनि भी है, परन्तु गीतों का अंतस् भिन्न है। उनकी भावभूमि प्रार्थनापरक है। वे अवचेतनीय और जातीय भावभूमिका के गीत हैं, क्योंकि उनमें निराला निराला नहीं रहे हैं, वे किसी अदृश्य की बन गये हैं। वे लिख नहीं रहे हैं, उन्हें लिखाया जा रहा है। चेतना के निवेदित स्तर पर पूर्व स्मृतियों और शब्द-झंकारों के सहारे रंग-विरल रेखाएँ मात्र उभार दी गई हैं। इन्हें हम कवि की विनय-पत्रिका भी कह सकते हैं। १९४५ के बाद लगभग ५ वर्षों के मौन ने कवि के व्यक्तित्व को एकदम बदल दिया है। इन गीतों में शांत रस का सागर बह रहा है। उनमें बहुत कुछ ऐसा है जो अस्पष्ट है, धूमिल है,—कदाचित् अनायासी ही अधिक है, इसीलिए उनमें साधना की अपेक्षा सिद्धि के स्वर ही अधिक बजते हैं। भाषा की ओर कवि का ध्यना नहीं है, न शैली-शिल्प की ओर। शब्दार्थ के पीछे जो "अकहा" है उसे ही कवि ने यहाँ व्यंजित किया है, या वह चाहे-अनचाहे व्यंजित हो गया है। ये गीत कवि के अन्यमनस्क एवं अंतःप्रवाहित चेतना की प्रातिनिधिक रचनाएँ

हैं। उनमें कवि प्रकृतिस्थ एवं अंतस्थ होना चाहता है। काव्य उसका ध्येय नहीं हैं,—वह माध्यम मात्र है। अपनी आत्मतल्लीन चेतना को सतह पर ला कर कवि ने हमारा उपकार ही किया है, यद्यपि श्रोता वहाँ अवांछनीय ही नहीं है, व्यर्थ भी है। कहना कठिन है कि यह कवि की रस-साधना है या अद्वैती चेतना की चिन्मयी शक्ति-साधना।

इन तीनों काव्यभूमियों पर समान रूप से संतरण करने वाले निराला का व्यक्तित्व वह एकान्वयी सूत्र है जो इन तीनों आयामों को जोड़ता है। मध्यवर्ग की समस्त भावात्मक एवं काव्यात्मक चेतना का संभार इनमें आ जाता है। १९३८ तक निराला का काव्य नवजागरण का काव्य है, जिसमें राजा राम-मोहन राय से महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर तक की समस्त भावसुषमा और दृष्टिकोणगत उदारता आत्मसात है। प्रकृति के प्रति उन्मुक्त और स्वच्छंद दृष्टि, नारी के प्रेम और सौन्दर्य के प्रति साहसपूर्ण आकर्षण, दैन्य और दुःख के प्रति करुणा, उत्पीड़न एवं शोषण के प्रति खड्गहस्तता, उत्कृष्ट देशप्रेम, भारतवर्ष के सांस्कृतिक स्वरूप एवं प्रतीकों के प्रति सम्मान-भाव, ब्रह्म-जीव-जगत के संबंध में औपनिषदिक और नव्यवेदांती दृष्टि, बौद्धिकता का अपार समारंभ,—ये सब निराला के स्वच्छंदतावादी काव्य के अंग हैं। माइकेल, विवेकानन्द और रवीन्द्रनाथ के बंगला काव्य ने निराला की काव्यप्रतिभा को विशिष्ट दिशा दी है और बंगभूमि की "सुजलम् सुफलम् मलयजशीतलम् शस्य-श्यामलम्" प्रकृति-सुषमा ने उनके सपनों का माँसल धरातल निर्मित किया है। रूप-रंग-रस-गंध-स्पर्श के संसार के प्रति उत्कट रागात्मकता और भावानुबंध को छंद की सहज प्रक्रिया में बांधने की स्फूर्त्ति में वे अपने प्रेरक कवियों को भी पीछे छोड़ आये हैं। यही नहीं, उनकी रचनाओं ने हिन्दी को नई काव्यभाषा दी है और उसके काव्यकण्ठ का निर्माण किया है। परन्तु इससे भी महत्वपूर्ण बात यह है कि निराला का काव्य एकालापी है। वह घूम-फिर कर एक ही सम पर आता है,—वह है उनका व्यक्तित्व। उसे हम "व्यक्तिगत" कह सकते हैं। प्रारंभिक चार कृतियों में बीसियों रचनाएँ हैं जो व्यक्तिगत संदर्भों से पुष्ट हैं और जहाँ ऐसे संदर्भ नहीं हैं वहाँ दृष्टिकोण और भावना की एकांतिक व्यक्तिमत्ता तो है ही। "राम की शक्ति-पूजा" और "तुलसीदास" रचनाओं को लें (जो महाकाव्यात्मक रचनाएं हैं) या "बनबेला" को, सर्वत्र

निराला के स्वच्छंद, साहसी, अभिमानी और निरंकुश कवि-व्यक्तित्व का ही प्रसार है। "निरंकुशः कवयः" उक्ति उनके कवि-कर्म पर जितनी सार्थक और सटीक उतरती है उतनी किसी भी आधुनिक कवि पर नहीं। इस भूमिका पर उनका काव्य सरहपा और कबीर के काव्य के ही समकक्ष रखा जा सकता है। द्वितीय महायुद्ध के आरंभ तक निराला का काव्य संपूर्ण मध्यवर्गीय चेतना का वाहक है। दो महायुद्धों के बीच की राष्ट्रीय, सांस्कृतिक और स्वच्छंदतावादी जन-चेतना का व्यापक प्रसार उसमें मिलता है। वह इन बीस वर्षों की समसामयिक यूरोपीय कविता से नितांत भिन्न है। जहाँ इन दो दशकों की पश्चिमी काव्यचेतना पतनोन्मुख, कुंठित, बाधित और अंतश्चेतना-मूलक है वहाँ निराला का काव्य नवोदित राष्ट्रीय चेतना और नव्य वेदांत से संपृक्त लोकसेवी, मानववादी आत्मस्फूर्ति का भण्डार है। वह गाँधी-युग की भावात्मक अभिव्यक्ति है। अदम्य आशावाद, अपराजित पौरुष तथा अप्रतिम सौन्दर्य-चेतना का पुंजीभूत काव्य-प्रतिरूप उनका कृतित्व प्रजातंत्री भारतवर्ष की उसी प्रकार की भावभूमिका है जिस प्रकार वाल्ट ह्विटमैन का काव्य अमरीकी प्रजातन्त्र की अथवा पुश्किन का काव्य साम्यवादी रूस की। ह्विटमैन के मुक्त छंद और पुश्किन के पौरुष को निराला अपने इकेले व्यक्तित्व में पूर्णतः आत्मसात कर सके हैं और उसमें "क्वचिदन्यतोऽपि" की गुंजाइश भी कम नहीं है। विरोधों और चुनौतियों पर पलने वाला निराला का व्यक्तित्व नव्य-वेदांती चेतना की भूमि पर खड़ा है और उसमें अनागत युगों को चमत्कृत करने तथा प्रेरणा देने की अपार क्षमता है।

द्वितीय महायुद्ध के छः वर्षों में निराला एक नई ही भावभूमि पर सक्रिय रहे हैं। जहाँ इन वर्षों में पंत का काव्य बौद्धिकता और मार्क्सवादी धारणाओं से ओतप्रोत है और उसमें नई बर्बरता का स्वागत है वहाँ निराला पौरुष और अहंता में डूब कर भी अपनी अंतरंगी सदाशयता और अभिजाती चेतना के कारण युग की ठीक पहचान रखते हैं। युद्धकाल के दमन, महंगी, अकाल और अराजकता से उत्पन्न मध्यदेशीय जन की कुंठा और अवसादजनित मनःस्थिति का रंग "बेला" की कुछ रचनाओं में अत्यंत स्पष्ट है। विषय के अनुरूप कला की रूपरेखा भी बदल गई है,—भाषा गद्यात्मक है, छंद प्रायोगिक, परन्तु कवि ने न साम्यवाद को प्रगति माना है, न किसी थोथे जनवाद को ही समस्या का

समाधान समझा है। निराला जानते हैं कि जहाँ तक उच्च सांस्कृतिक परंपराओं का संबंध है, यह च्युति और आत्महानि का युग है। पंत बौद्धिकता और तर्कवाद की आड़ लेकर इस सत्य को स्वीकार करने को तैयार नहीं हैं। परन्तु निराला प्रकृत्या संवेदनाशील कवि हैं, उनकी वस्तुमत्ता की पकड़ अपूर्व है। इसीलिए उनकी काव्यचेतना में युग का "स्पन्दन" पकड़ लिया गया है। बौद्धिक स्तर पर नहीं, भावना के स्तर पर उन्होंने अपनी रचनाओं में युग-शैथिल्य को वाणी दी है। इसलिए उनका काव्य प्रगतिशील आन्दोलन का प्रेरक होकर भी उसका अविच्छिन्न और अनिवार्य अंग नहीं बन सका है। वह अब भी अपने भीतर वेदांती भूमि पर स्थिर है, फलतः यह "नया काव्य" व्यंग्य मात्र ही हो सकता है। जहाँ वह व्यंग्य नहीं है, गंभीर संवेदन है वहाँ भी अलक्ष्य रूप से वह युगसत्य में व्यंग्य की अभिव्यंजना कर रहा है। "कुकुरमुत्ता" में निराला ने जिस अद्वैतवादी मनोभूमि पर यथार्थ को स्वीकार कर अभिजाती गुलाब-संस्कृति के विरोध में कुकुरमुत्तात्मक जन-संस्कृति को उभारा है, वह निराला की द्विधात्मक चेतना का प्रतीक है। भारतीय संस्कृति की सर्वोत्कृष्ट भावभूमिका से एकदम निम्नतम जनजीवनीय स्तर पर उतरने की चीत्कार उनकी इन कृतियों में हैं यद्यपि वेदांत ने निराला को पर्याप्त सहारा दिया है। यथार्थ, दैन्य, विक्षोभ और विद्रोह से आक्रांत यह नई मनोभूमि निराला की भाषा को ही नहीं तोड़ती, स्वयं उन्हें भीतर से तोड़ देती है। फलस्वरूप १९४५ के बाद वे पाँच लंबे वर्षों तक मौन रह जाते हैं। निराला जैसे अतिसंवेदित कवि का भारतीय जीवन के इन संक्रांतिपूर्ण वर्षों में मौन रह जाना कुछ विशेष अर्थ रखता है। जो लोग इन पाँच वर्षों में उनके साथ रहे हैं वे समसामयिक घटनाओं और दुर्घटनाओं के संबंध में उनकी प्रतिक्रियाओं से परिचित हैं। इन भयंकर विस्फोटों ने उनके चेतन जीवन को तोड़ दिया है,—वे अंतस्थ हो गये हैं,—अवचेतन में टिक कर उन्होंने अपनी सुरक्षा समझी है और यह अवचेतन उपनिषद, नव्यवेदांत, भक्तिवाद और निवेदन की संहृति है। उसमें प्रारंभिक पच्चीस वर्षों की काव्य-साधना की प्रतिध्वनियाँ निरंतर उभरती रही हैं। यह कवि की कूर्म-साधना है, अंगों को बाहर से सिमेट कर वह आत्मस्थ हो जाना है। जहाँ वह बाहर से जुड़ा है, वहाँ असंपृक्ति, निर्वेद और अस्वीकृति ही उभरी हैं। स्वाधीन भारत के चौदह वर्षों में निराला का गीत-विहग क्यों पंख नहीं खोल सका, यह हमारे शीर्षस्थ

नेताओं के लिए हृदय-मन्थन की बात होनी चाहिये। इस एक दशक के लंबे समय में कवि क्यों आत्मरक्षात्मक बना रहा ? क्या इससे यह व्यंजित नहीं है कि हमारी नवनिर्माण की योजना में उसका वह स्वप्न रंग नहीं भरता जिसके लिए बड़ी भावुकता से वह जिया है ? क्या इसमें आत्मपीड़ा के साथ चुनौती भी नहीं है,—यद्यपि इस बार चुनौती विद्रोह की नहीं, प्रेम की है। यह कहा जा सकता है कि उत्तर निराला की गीत-साधना उनकी अद्वैत-प्रकृति, काव्यचेतना और साधना की स्वाभाविक परिणति है, परन्तु तब यह प्रश्न होगा कि उसमें संकोच क्यों है, निरानंद क्यों है, आशंका और विपर्यस्तता क्यों हैं ? निराला का अविनीत स्वर जहाँ झुका है वहां राष्ट्र झुका है, उठा नहीं है, यह मान कर हमें काव्य-पुरुष के पराजित क्षणों को समझना है और अपने भीतर टटोल कर देखना है कि हम इसके लिए कहाँ तक उत्तर-दायी हैं।

जो हो, इन तीन आयामों में कवि की अंतर्यात्रा की तीन मंज़िलें हैं,—जब वह सब से संपृक्त है, जब वह कुछ से संपृक्त है और जब वह किसी से भी संपृक्त नहीं है, केवल अपने भीतर से ही जुड़ा है। पिछले पचास वर्षों के भावात्मक राष्ट्रीय इतिहास के ये तीन चरण हैं जो नवजागरणमूलक संस्कृति के चरमोत्कर्ष, संकट और ह्रास के तीन आयामों के सूचक हैं। सांस्कृतिक संक्रांति को अदेखा करना सरल है, उसे बौद्धिकता का आवरण देकर नवीन चेतना के जन्म की कल्पना करना भी कठिन नहीं है, परन्तु समस्त राष्ट्र के भाव-संकट को ध्वनित करना महाकवि का ही काम है। निराला की आत्मदमित मनश्चेतना ने यह कार्य अनायास ही संपन्न कर दिया है। कारण, कि निराला व्यक्ति को देखते हैं और बाहर की भौतिक उपलब्धियों को उतना महत्व नहीं देते। आदमी यदि टूट गया तो जड़ ईंटों-पत्थरों से क्या होगा ? उन्होंने पिछले दशक में भारतीय मनुष्य का टूटना देखा है और उनके छंद इसके चीत्कार हैं, या मौन हैं। कवि का चीत्कार जितना मुखर है, मौन उससे कम मुखर नहीं है। निराला के काव्य में नव्य-वेदांत-चेतना की स्वाभाविक परिणति है,—ऐसी परिणति जो परिवेश में बँधी है। वे कल्पना में नहीं डूबे, न उन्होंने विषम परिस्थितियों को आँखों की ओट किया। वे खुली आँखों, खुले मन सब देखते रहे और परमहंस की तरह हँसते रहे, क्योंकि जिन देवताओं को उन्होंने

बड़े परिश्रम से गढ़ा था उन्हें हम खिलौने समझ कर बड़ी निर्दयता से चूर-चूर करते रहे। परन्तु वेदांती और निवेदित कवि के लिये आक्रोश के लिए स्थान ही कहाँ है ! वह हमारे अबोध बालकों जैसे अतिचार पर खिन्न हो सकता है, परन्तु वह राष्ट्र के जीवन को विषाक्त क्यों करे ? ऐसी ही मनःस्थिति में गांधी जी के अंतिम क्षण बीते थे। गांधी जी के निधन के बाद एक पूरे युग में निराला ने अपनी मनश्चेतना तथा काव्यसाधना के भीतर उनके द्वन्द्वों को ही साधा है। उनका स्वर ईश्वरमज्जित हो उठा है, क्योंकि निवेदित आत्मा की शरण तो वही अशरण-शरण है। परन्तु अस्वीकृत की पीड़ा और आत्म-मन्थन तो रहेगा ही और वह उनके उत्तर काव्य में पर्याप्त है। मनुष्य हार गया (मनुष्य भी ऐसा-वैसा नहीं, नवजागरण के जादू से जगाया वेदांती मनुष्य) और "प्रपंच" (संसार) जीत गया। हां, कवि हारा नहीं है, वह तटस्थ हो गया है, लहरों से जूझना छोड़कर किनारे पर आ बैठा है और शायद अपने प्रारंभिक स्वर पर ही उतर आया है :

डोलती नाव, प्रखर है धार,
सँभालो जीवन-सेवनहार !
तिर तिर फिर फिर
प्रबल तरंगों में
घिरती है,
डोले पग जल पर
डगमग डगमग
तिरती है।
टूट गई पतवार—
जीवन–खेवनहार ।
मैं भय से हूँ तन्मय,
धर - धर कम्पन
तन्मयता,
छन-छन में
बढ़ती ही जाती है
अतिशयता !

पारावार अपार,—
जीवन–सेवनहार !

(खेवा)

परन्तु अब पल-पल बढ़ती-जाती अतिशयता का स्थान "परम विश्रामु" ने ले लिया है और कवि की दृष्टि अपरा से ऊपर उठ कर परा से बँध गई है। यह जहाँ कवि के व्यक्तित्व और आंतरिक साधना की जीत है वहाँ राष्ट्र के व्यक्तित्व और उसकी नवनिर्माणात्मक साधना की हार। निर्माण भीतर से होगा, बाहर का निर्माण छल ही रहेगा। निराला इस महान सत्य को अपने उत्तर काव्य और उत्तरोत्तर मौन के द्वारा संपूर्णतः चरितार्थ करते हैं।

जहाँ तक काव्यरूपों का संबंध है निराला का काव्य प्रगीत काव्य, महाकाव्यात्मक खण्ड काव्य (महत् काव्य), "नयी कविता" और गीत के चार शिल्प-निकायों में विभाजित है। इनमें से केवल "गीत" की ओर ही उनका आकर्षण निरंतर बना रहा है। "परिमल" से "गीत-गुंज" तक गीत की व्याप्ति है, परन्तु उसका शिल्प-विधान और भावात्मक स्वरूप इतना बदल गया है कि उन्हें एक ही प्रकार मानना कठिन है। वैसे निराला की प्रत्येक रचना नई भावभूमि ही नहीं लाती, नई शिल्प-साधना भी उभारती हैं। निरंतर प्रयोग, निस्सीम साहस और निःशेष काव्य-प्रतिभा उनकी रचना-शक्ति की अप्रतिम दृढ़ता और संकल्प की प्रगाढ़ता की सूचक हैं। परन्तु आद्यंत प्रयोगी (अंततः निराला) होकर भी "निराला" अपने व्यक्तित्व के आधार पर टिके रहने के कारण एक सा बने रहे हैं। उनमें आर्केस्ट्रा का वैभव है, परन्तु वे वैचित्र्य-मूलक न होकर समरसी हैं। ऐसा एकाकी व्यक्तित्व किस आधुनिक भारतीय साहित्य को प्राप्त हुआ है ? इसे हम रामकृष्ण परमहंस या विवेकानन्दी अद्वैती चेतना की देन ही कह सकते हैं।

निराला बंगाल के नवजागरण और बंगभाषा एवं साहित्य की शताब्दिक-साधना का पुंजीभूत स्तूप हैं, परन्तु उनका स्वर हिन्दी का ही स्वर है। उन्होंने हिन्दी साहित्य का गंभीर अध्ययन किया है और उनमें मध्यदेशीय सांस्कृतिक और

काव्य-चेतना का स्वाभाविक रूप से विकास हुआ है। आधुनिक काव्य के क्षेत्र में भारतेन्दु के बाद उन्हीं का व्यक्तित्व ऐसा है जो शत-प्रति-शत कवि का व्यक्तित्व है। उन्होंने अपने व्यक्तित्व को निर्वैयक्तिकता की ऊँचाई तक उठा दिया है और उनकी समरसी साधना में संपूर्ण अर्द्धशताब्दी की भाव-साधना जावंत है। इस साधना में बीस करोड़ व्यक्तियों ने उनका साथ दिया है, क्योंकि मातृभाषात्मक भूमि पर हिन्दी आधी भारतीय जन-संख्या की भाषा है। उनका साहित्य बंगभाषा और उर्दू से हमें सीधा जोड़ता है, परन्तु अन्य भारतीय भाषाओं के सर्वश्रेष्ठ कवियों के साहित्य से वह किसी प्रकार भी कम नहीं हैं। उसकी प्राणवत्ता नि:संदेह अपूर्व है और वह हिन्दी काव्य के लिए गौरव और आश्चर्य का विषय रहेगी। बीसवीं शताब्दी के पहले दशक की हिन्दी की तुकान्ती बाल-कविता को उन्होंने जुही की कली को झकझोरने वाले मुक्त संचरणशील मलय-पवन जैसी अपनी प्रतिभा से एकदम झकझोर डाला कि

चकित चितवन निज चारों ओर फेर,
हेर प्यारे को सेज-पास,
नम्रमुखी हँसी—खिली,
खेल रङ्ग, प्यारे—सङ्ग।
(जुही की कली)

शेष दशकों में उनकी जुही की कली के सुगन्ध शेफालिका, नरगिस और बन-बेला की सुगंधों से लिपट कर साहित्याकाश पर इस तरह छा गई कि कोई भी रिक्त कोना उससे नहीं बचा। अपने उत्तर जीवन के बीस वर्षों में महा-कवि ने काव्यजगत के प्रचलित पादप-पुष्पों को छोड़ कर ग्रामीण प्रकृति और सामान्य जन-जीवन के वन्य और अपरिचित रूप-रस-गंध वाले सुमनों को अपने काव्य और साहित्य में सजाया। यह उपक्रम उन्हें नयी कविता की बहुविधिक उपलब्धियों से जोड़ता है। पर सच तो यह है कि निराला का काव्य "वादीय" नहीं है। आरंभ से अंत तक उसमें एक जीवंत और जागरूक तथा संवेदनाशील व्यक्तित्व का अबाघ प्रसार है जो न स्वच्छंदतावाद की प्रथित सीमाओं में बँधता है, न छायावाद की न रहस्यवाद अथवा प्रगतिवाद-प्रयोगवाद की। "वाद" उन्हें नि:शेष नहीं करते, वे ही "वादों" को नि:शेष कर देते हैं। आधु-

निक हिन्दी कविता को सहज विकास के रूप में न देख कर हम उसे पारस्परिक विरोधों और प्रतिगामी काव्यधाराओं के रूप में देखते हैं। इसीलिए हम महाकवि निराला जैसे महाप्राण व्यक्तित्व के प्रति न्यायी नहीं हो सके हैं। निराला का काव्य श्रेष्ठ काव्य की स्वतंत्र और विकासात्मक भूमिका पर ही श्रेयस्कर ठहरता है, क्योंकि वह युग-धर्मी होकर भी सनातनधर्मी है। उसका धर्म काव्य का प्रकृत धर्म है। "परिमल" की 'कविता' शीर्षक रचना में इस कविधर्म की बड़ी मार्मिक व्यंजना है। निराला के काव्य में इसी कवि-धर्म का विशद एवं व्यापक रूप से निर्वाह हुआ है। वह युग की भूमि पर शाश्वत कवि का मुक्त विहार है। नवजागरणमूलक संस्कृति के चरमोत्कर्ष को अभिव्यंजना देकर ही निराला मौन नहीं रह गये, उन्होंने नई, विस्फोटात्मक और आत्म-घाती मनश्चेतना को वाणी दी, भले ही वह स्वीकारात्मक न होकर नकारात्मक हो। दो सांस्कृतिक चरणों में इस प्रकार का सहज संचरण सामान्य कवि-प्रतिभा का कार्य नहीं है। अभी भी निराला का नवजागरण-चेतना का प्रतिनिधित्व समाप्त नहीं हुआ है। हमारी स्वस्थ जीवन-चेतना को बार-बार उनकी ओर लौटना होगा और हम अपने भावात्मक अंतः-निर्माण को वहीं से शुरू करेंगे जहाँ से निराला ने उसे छोड़ा है। इसीलिये उनका काव्य हमारे लिए निरंतर प्रेरणा और चुनौती बना रहेगा। उससे खड़ी बोली की काव्यभाषा के पंख खुले-भर हैं, उसकी आकाश-यात्रा अभी आरंभ ही नहीं हुई है। स्वच्छंदतावादी और प्रयोगवादी भूमिकाओं पर दो काव्यभाषाएँ गढ़ कर निराला ने खड़ी बोली की अपराजित शक्ति का प्रमाण-मात्र दिया है। इस दृष्टि से निराला का काव्य हमारे अभियान की पहली मंज़िल है। महाकवि के असंख्य प्रयोगों ने हमें अनेक क्षितिज दिये हैं, हमारी संभावनाओं को समाप्त नहीं किया है। इस दृष्टि से वे कविगुरु रवीन्द्र से भिन्न हैं, जो बंगला-काव्य को बहुत दिनों के लिए चरम बिन्दु पर पहुँचा गये हैं। इसका कारण यह है कि निराला कोई परंपरा नहीं बना गये, वे अपने प्रयोगों में ही जीते हैं और निरंतर अभिनव प्रयोगों के लिए हमें ललकारते हैं।

सुमित्रानंदन पंत

कवि श्री सुमित्रानंदन पंत का जन्म २० मई १९०० ई० को कूर्मांचल प्रदेश के कौसानी ग्राम में हुआ। कौसानी अपनी पर्वतीय शोभा और नैसर्गिक सुषमा के लिए प्रसिद्ध है। छुटपन से ही कवि ने कौसानी के धूपछांही शिखरों पर विचरण किया है और उसके मन में हलकी-गहरी छायाओं से रेखांकित इन पर्वतों ने आदिम विस्मय के अनेक सूत्र पिरो दिये हैं। ऐसे निर्निमेष सौन्दर्य में पले बालक का कवि हो जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। कवि बचपन से ही मातृहीन हो गया और पिता तथा दादी के वात्सल्य की गंभीर छाया में उसका प्रारंभिक लालन-पालन हुआ। दोनों की मधुर स्मृतियाँ कवि के मन में बराबर संचित रही हैं। "आत्मिका" ('वाणी' संकलन की एक प्रमुख कविता) और "साठ वर्ष—एक रेखांकन" में कवि ने अपने बाल-जीवन के प्राकृतिक और मानवीय वातावरण का बड़ा सुन्दर और रोचक चित्र उपस्थित किया है। सात वर्ष की आयु में चौथी कक्षा में पढ़ते हुए ही कवि को छंद-रचना की स्मृति बनी है और १९०७ ई० से १९१८ ई० काल को उसने अपने कवि-जीवन का प्रथम चरण माना है। उसने इन बारह वर्षों में प्रकृति के अंचल में रह कर ही काव्य-रचना की है। बड़े भाई के "मेघदूत" के सस्वर पाठ, घर के धार्मिक वातावरण और "अलमोड़ा अख़बार", "सरस्वती", "बेंकटेश्वर समाचार" प्रभृति पत्रों से कवि के मन ने काव्य के प्रति जो अभिरुचि प्राप्त की, वही धीरे-धीरे संस्कार के रूप में परिणत होकर प्रथम रचनाओं के लिए बुद्बुद बनी। मैथिलीशरण गुप्त और अयोध्यासिंह उपाध्याय "हरिऔध" की रचनाओं से कवि को छंद और शब्द-योजना में पर्याप्त सहायता मिली और कवि ने इन अग्रजों का बड़े सम्मान और प्रेम से उल्लेख किया है। उच्च कक्षा में पढ़ने के लिए अलमोड़ा जा कर कवि को पहली बार नागरिक जीवन का परिचय हुआ और यहीं उसने अपने नाम गुसाईंदत्त से बदल कर सुमित्रानंदन रख लिया। कवि के प्रथम काव्य-प्रयास "कलरव" और "नीरव तार" संग्रह थे जो १९२० ई० में नष्ट हो गये। इनकी केवल कुछ स्मृतिशेष रचनाएँ "वीणा" और अन्य संकलनों में स्थान पा सकी हैं।

१९१८ में कवि अपने मँझले भाई के साथ बनारस चला आया और स्थानीय क्वीन्स कालेज में शिक्षा प्राप्त करने लगा। यहीं से उसका वास्तविक कवि-कर्म आरंभ होता है। १९१८ कवि के जीवन का महत्व वर्ष है जैसा इस वर्ष की प्रचुर रचना से स्पष्ट हैं। ये प्रारंभिक रचनाएँ "वीणा" (१९२७) में संकलित हैं। काशी में कवि सरोजिनी नायडू, कवीन्द्र और अंग्रेज़ी रोमांटिक कवियों की रचना से भी परिचित हुआ और यहीं उसने पहली बार काव्य-प्रतियोगिता में भाग लेकर प्रशंसा प्राप्त की। काशी-प्रवास में कवीन्द्र रवीन्द्र के साक्षात्कार तथा उनकी लोकमान्यता का कवि पर गंभीर प्रभाव पड़ा और वह अंतःसंकल्पित होकर काव्य-रचना की ओर दत्तचित्त हुआ। काशी से लौट कर गर्मियों की छुट्टियों में कवि ने "उच्छ्वास" और "ग्रंथि" की रचना की जो उसके वयःसंधिक अतीन्द्रिय प्रेम-भाव और अस्पष्ट आंतरिक आकुलता को वाणी देती हैं। १९१९ की जुलाई में कवि म्योर कालेज (प्रयाग) में भरती हुआ और शीघ्र ही "छाया" और "स्वप्न" प्रभृति रचनाओं के द्वारा उसने काव्य-मर्मज्ञों में अपनी धाक जमा दी। "सरस्वती" में प्रकाशित होने पर इन रचनाओं ने उदीयमान कवि को युगप्रवर्त्तन का श्रेय दिया। १९२२ में "उच्छ्-वास" और १९२८ में "पल्लव" के प्रकाशन ने नई काव्यधारा के किशोर कण्ठ फूटने की स्पष्ट सूचना दी। इस काव्यकाल को "वीणा-पल्लव काल" कहा जा सकता है। सन् १९२१ ई० में कवि ने अपने मँझले भाई के कहने पर कालेज छोड़ दिया, परन्तु अपनी कोमल प्रकृति के कारण वह सक्रिय रूप से सत्याग्रह आंदोलन में भाग नहीं ले सका। अपने नये जीवन में एकांत चिन्तन और गंभीर अध्ययन के द्वारा उसने शिक्षा की कमी को पूरा करने का प्रयत्न किया, परन्तु भीतर और बाहर का इकेलापन उसकी "गुंजन" की कविताओं में फिर भी स्पष्ट रूप से मुखरित होता है। १९३२ में "गुंजन" के प्रकाशन के साथ कवि की काव्य-साधना का नया पक्ष उद्घाटित होता है जो प्रकृति और मानव-सौन्दर्य के प्रति नवीन उन्मेष के साथ मानव के प्रति उसकी मंगल-कामना और नवीन कला-चेतना की सूचना देता है। सन् १९३१ में कवि कालाकांकर चला गया और वहीं उसकी युवावस्था के सर्वश्रेष्ठ वर्ष (सन् ३० से सन् ४० तक) वानप्रस्थ स्थिति में ज्ञान-साधना में पशु-पक्षियों के साथ व्यतीत हुए। यहीं उसने "ज्योत्स्ना" जैसे मनःकल्प की सृष्टि की, जो उसकी केन्द्रीय रचना मानी जा सकती है। गाँधीवादी और मार्क्सवादी विचारधारा को लेकर नवीन

जीवन-तंत्र के संबंध में कवि का अंतःसंघर्ष भी इन्हीं दिनों की चीज़ है। "युगांत" से "ग्राम्या" तक इस संघर्ष की गूंज स्पष्ट सुनाई देती है। अपने कालाकांकर-विकास के समय में कवि प्रयाग और लखनऊ के साहित्यिक जीवन से निकट संपर्क बना सका था और राजनीतिक-सामाजिक क्षेत्रों की नवीनतम प्रवृत्तियों की उसे व्यापक रूप से जानकारी थी। सन् ४० में कवि पंत कालाकांकर के स्वप्न-नीड़ से बाहर आये। सन् ४१ में प्रायः एक वर्ष उन्हें अल्मोड़े में रहना पड़ा और १९४२ में "भारत छोड़ो" आन्दोलन में संत्रस्त वातावरण में उन्होंने "लोकायन" नाम के एक व्यापक संस्कृति-पीठ की योजना बनाई। इस योजना को कार्यान्वित करने की आकांक्षा से कवि ने अल्मोड़े के उदयशंकर संस्कृति-केन्द्र से संपर्क स्थापित किया और १९४३ में उदयशंकर के ट्रूप के साथ दो-तीन महीने भारतभ्रमण भी किया। सन् ४४ में कवि ने उदयशंकर के "कल्पना" चित्र के लिए गीत भी लिखे और इसी मद्रास-प्रवास में वह पहली बार योगी अरबिंद और उनकी दार्शनिक एवं साधनात्मक प्रवृत्तियों से परिचित हुआ। कवि ने सन् १९४५ से सन् १९५९ तक के अपने जीवन-काल को 'नवमानवता का स्वप्न-काल' कहा है। "स्वर्णधूलि" से "उत्तरा" तक के स्फुट काव्य में कवि की अरविंदवादी (चेतनावादी) काव्यभूमि के विशद दर्शन होते हैं। सन् १९४६ में प्रयाग लौट कर कवि एक बार फिर नई सांस्कृतिक प्रवृत्तियों के उन्नयन की दिशा में प्रयत्नशील हुआ और उसने "लोकायन" की योजना को मूर्त्त करना चाहा। परन्तु साहित्यिक क्षेत्र की गुट-बंदियों के कारण कवि को इस प्रयत्न में सफलता प्राप्त नहीं हुई। सन् ५० में वह आल-इंडिया-रेडियो के परामर्शदाता के पद पर नियुक्त हो गया और सन् "५७ की अप्रैल तक वह रेडियो से प्रत्यक्ष रूप से संबद्ध रहा। इस कार्यकाल में उसके "रजतशिखर", "शिल्पी", "सौवर्ण" और "अतिमा" के नाम से चार काव्य-रूपक संग्रह "कला और बूढ़ा चांद" सन् ५८ की रचनाओं का संग्रह है। इन रचनाओं का रूपविधान पिछली समस्त रचनाओं से भिन्न है। कवि अपने कवि-कर्म के प्रति पूर्णतः आश्वस्त और अपने भविष्य के प्रति सजग हैं, जैसा उसकी उक्ति "पूर्ण नहीं कर सका अभी तक मैं प्रणिहित कवि-कर्म धरा पर" से प्रगट हो जाता है। उसने अपने रेखांकन के अंत में एक वृहद उपन्यास के रूप में अपने सर्जन के समापन की भी सूचना दी है।

पंत की प्रकाशित रचनाएँ इस प्रकार हैं :

(१) काय—उच्छ्वास (१९२०), ग्रंथि (१९२०), वीणा (१९२७), पल्लव (१९२८), गुंजन (१९३२), युगांत (१९३६), युगवाणी (१९·९), ग्राम्या (१९४९), स्वर्णकिरण (१९४७), स्वर्णधूलि (१९४७), युगपथ (१९४८), उत्तरा (१९४९), रजतशिखर रूपक, (१९५१), शिल्पी (रूपक, १९५२), अतिमा (१९५५), वाणी (१९५७), सौवर्ण (रूपक, १९५७), कला और बूढ़ा चाँद (१९५९) ।

(२) नाटक—ज्योत्स्ना (१९३४)

(३) कहानी—पाँच कहानियाँ (१९३६)

(४) समीक्षात्मक गद्य—गद्यपथ (१९५३)

(५) आत्मकथा—साठ वर्ष : एक रेखांकन (१९६०)

(६) संचयन—आधुनिक कवि (१९४१), पल्लविनी (१९४०), रश्मि-बंध (१९५८), चिदंबरा (१९५९)

(७) अनुवाद—मधुज्वाल (रचनाकाल १९२९)

अप्रकाशित रचनाओं में "परी" और "हार" नाटकों तथा उन वार्त्ताओं और संस्मरणों का उल्लेख आवश्यक है जो आकाशवाणी से प्रसारित होते रहे हैं। पंत का व्यक्तित्व भावुक और चिन्तनशील कवि का व्यक्तित्व रहा है। उनकी भावुकता का श्रेष्ठतम स्वरूप हमें "पल्लव" (१९२८) की रचनाओं में मिलता है और उनकी चिन्ता हमें "युगवाणी" (१९३६) से लेकर "वाणी" (१९५८) तक की समस्त कृतियों में मिलती है। उन्होंने रसबोध और युग-बोध दोनों क्षेत्रों में अपने व्यक्तित्व का प्रसार किया है और प्रत्येक क्षेत्र में वह सफल हुए हैं। जहाँ तक विचारों का प्रश्न है, यह कहा जा सकता है कि विचार-धारा समसामयिक मध्यवित्तीय समाज की विचारधारा का प्रतिनिधित्व करती है। जितनी विश्व और व्यापक विचारभूमि उनकी रचनाओं में सिमटी है उतनी इस युग के किसी भी कवि की रचनाओं में नहीं मिलती। समीक्षकों को शिकायत है कि पंत के व्यक्तित्व में भावना और विचारणा का वह एकी-

करण नहीं हो सका है जो श्रेष्ठ काव्य के लिए अभीप्सित है अथवा कालिदास जैसे कवि में जिसके दर्शन होते हैं। उनमें पूर्व पंत और उत्तर पंत के दो व्यक्तित्व पूर्वापरता से संबद्ध हैं। यह नहीं कहा जा सकता कि इस उपालंभ में कितना सत्य है, परन्तु इसमें संदेह नहीं कि पंत ने अपने युगधर्म को भी पहचानने की चेष्टा की है और जागरूक बौद्धिकता को उन्होंने काव्यक्षेत्र से वहिष्कृत नहीं किया है। सांस्कृतिक संघात के इस युग में किसी भी श्रेष्ठ कवि का विचार-जगत से पलायन करना संभव नहीं है, इसी से पंत को कई बार अपने काव्य को नया मोड़ देना पड़ा। "वीणा" (१९२७) उनकी प्रारंभिक कृति हैं परन्तु इसमें भी वह दर्शन, राजनीति, युगधर्म और समाज के अनेक पहलुओं को छूते हैं। "तिलक", "महायुद्ध" और विवेकानन्द पर लिखी रचनाएँ प्रमाण हैं। वेदांत-दर्शन के अध्ययन की गहरी छाप उन पर आरंभ से रही है। तात्पर्य यह है कि कवि का बालकण्ठ जिस जिज्ञासा को उभारता है वह केवल प्रकृति और नारी के प्रेम और सौन्दर्य से ही परितोष नहीं प्राप्त कर सका है। किशोर पंत ने कल्पना के सहारे किसी अश्रुमती नारीमूर्त्ति को केन्द्र बना कर अपने वयःसंधिक उच्छ्वासों को मिलन और वियोग की भूमिका पर उतारा है, परन्तु उसमें आत्मिक कितना जुड़ा है, यह कल्पना असंभव है। प्रारंभिक काव्य के नाते समीक्षकों ने पंत को सौन्दर्य, कल्पना और श्रृंगार का कवि कहा है और उनकी काव्यभाषा की कोमल, मसृण, मधुर साधना की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। "पल्लव" (१९२८) में पंत के स्वच्छंदतावादी (छायावादी) रूप को परिणति प्राप्त होती है और "बाल-कवि" छाया-काल से बिदा लेकर नये तरुण कवि का स्वस्ति-गान करता दिखलाई देता है। "पल्लव" की रचनाएँ अमूर्त्त भाव-चेतना और मूर्त्त प्रकृति-सौन्दर्य को कल्पना के असंख्य आवर्त्तों-विवर्त्तों में बाँधती हैं और उनमें कवि सरोजिनी नायडू, कवीन्द्र रवीन्द्र, कालिदास और अंग्रेज़ी रोमांटिक कवियों से स्पष्टतः होड़ करता तथा उनकी कला को आत्मसात करता दिखलाई देता है। "पल्लव" की भूमिका काव्य-कला के नये मानदण्ड प्रस्तुत करती है और हिन्दी समीक्षा के क्षेत्र में क्रांति-कारी रचना कही जा सकती है। "गुंजन" (१९३२), "ज्योत्स्ना" (रूपक, १९३४) और "युगांत" (१९३६) को हम "वीणा"-"पल्लव" से भिन्न नई काव्यश्रेणी में रख सकते हैं। इसे हम पंत की काव्यकला का दूसरा युग कह सकते हैं। "गुंजन" में कवि मंगलाशी दार्शनिक और सौन्दर्यचेता कवि

के रूप में सामने आता है और प्रकृति से हट कर उसकी दृष्टि "मानव" पर टिकती है। यहीं से पंत के मानववाद का जन्म होता है जो गाँधी जी का व्यक्तित्व और उनके आध्यात्मिक जीवनदर्शन से पूर्णतः प्रभावित है। "युगांत" और "युगपथ" (१९४८) के साथ यह दूसरी भूमिका समाप्त होती है और कवि गाँधीवाद की देहरी लांघ कर मार्क्सवादी चेतना और जनजीवन की ओर आगे बढ़ता है।

यह स्पष्ट है कि पंत की प्रगतिशीलता राजनीतिक और सामाजिक दर्शन के लिये गाँधीवाद की आध्यात्मिकता पर रुकना नहीं चाहती और वह बौद्धिकता का पल्ला पकड़ कर मार्क्स और मार्क्सवाद की ओर मुड़ती है। "युगवाणी" (१९३८) और "ग्राम्या" (१९४०) द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी समाजदर्शन से ओतप्रोत हैं। "युगवाणी" में कवि ने गाँधीवाद और मार्क्सवाद के समन्वय की भी चेष्टा की है और "ग्राम्या" में वह भारतीय ग्रामों की द्वन्द्वात्मक स्थिति को उभारने में लगा है। वह ग्राम को सांस्कृतिक इकाई मानने के लिए तैयार नहीं है, परन्तु उस दिन की वह कल्पना करता है जब ग्राम हमारी संस्कृति की सर्वोज्ज्वल अभिव्यक्ति बन सकेंगे। "ग्राम्या" का पहला प्रगीत इसी मंगलाशा से ओतप्रोत है। "ग्राम्या" में प्रकृतिबोध और नारी-दर्शन के नये आयाम भी हमें प्राप्त होते हैं और रूपसज्जा से निकल कर कवि की काव्यकला आलंकारिकता के भार से मुक्त होने का प्रयत्न करती है एवं आधुनिकता का तन्वी रूप धारण कर लेती है। एक प्रकार से "ग्राम्या" के साथ ही कवि के इस भावद्वन्द्व का पटाक्षेप होता है। पश्चात् हम पंत के काव्य में अध्यात्म के दर्शन पाते हैं जो अरविंदवाद या चेतनावाद के नाम से प्रसिद्ध है। "स्वर्णकिरण" (१९५०) से लेकर "वाणी" (१९५८) तक कवि के उत्तरकाव्य में अरविंद के अध्यात्मवाद का प्रभाव स्पष्टतः लक्षित है। इस प्रभाव ने उसके चिन्तन और काव्यकला को पीछे लौटाया है या आगे बढ़ाया है, इस विषय में आज तक आलोचकों में सहमति नहीं हो पाई है, परन्तु लाभप्रद हो या हानिकर, वह पंत के काव्य का अनिवार्य सत्य बन गया है। यह स्पष्ट है कि यह नई आध्यात्मिकता प्रारंभिक वेदांतवाद का ही विकास है, यद्यपि इसके लिए पंत को अरविंद की साधना और चिंताधारा का आभार ग्रहण करना पड़ा है।

यह स्पष्ट है कि पंत का काव्य किसी एक घेरे को स्वीकार नहीं करता। उनकी "वीणा"-"पल्लव" काल की रचनाओं ने ही "छायावाद काव्यधारा" का प्रवर्त्तन किया। संभवतः नवीन काव्यधारा को यह नाम भी उन्हीं की रचनाओं के कारण प्राप्त हुआ। परन्तु पंत "छायावाद" से बँधे नहीं। उन्होंने नवीन जीवन से चेतना ग्रहण की और उसे व्यक्त करने के लिए नयी काव्यशैलियों को जन्म दिया। इस प्रकार वह "युगवाणी" और "ग्राम्या" के कवि के रूप में प्रगतिवादी काव्यधारा के अग्रणी कवि बने। उनके काव्य का यह मोड़ शीघ्र ही समाप्त हो गया और अपने राजनीतिक-सामाजिक चिन्तन को अधिक गहराई देने के लिए उन्होंने अरविंददर्शन को अपनाया। अरविंदवाद को हम काव्य की कोई नई धारा नहीं कह सकते और अपने नवीन काव्य को किसी नयी काव्यधारा के रूप में प्रस्तुत करने की आकांक्षा पंत ने प्रदर्शित भी नहीं की है। परन्तु यह स्पष्ट है कि इस चिन्तनशील भावुक कवि ने अर्द्ध-शताब्दी से अधिक काल में भारतवर्ष के गतिमान और वर्द्धमान बौद्धिक चिन्तन और भाव-सौन्दर्य को वाणी दी है। आधुनिक कवियों में उनका युगप्रतिनिधित्व सब से अधिक व्यापक और स्थायी है।

कहा जाता है कि पंत का जीवनदर्शन स्वानुभूत नहीं है, उन्होंने उसे दूसरों से उधार लिया है और उनका बौद्धिक चिन्तन काव्य का रूप धारण नहीं पाता। स्वयं कवि ने अपनी एक रचना (देखिये, "वाणी" : नम्र अवज्ञा) में इस आरोप का उत्तर दिया है, परन्तु उत्तर क्या है, व्यंग्य है कि जीवंत व्यक्तित्व यदि सबसे लेता है तो हर्ज ही क्या है। बौद्धिक युग के सचेतन कलाकार के लिए युगधर्म का परिपूर्ण बोध आवश्यक है और पंत ने अपने इस उत्तरदायित्व का निर्वाह भली भाँति किया है। युगबोध ही यदि रसबोध बन जाये तो लांक्षा की क्या बात है ? निश्चय ही इस रसात्मक रसबोध की वाणी कल्पना की वाणी नहीं होगी। उसमें बौद्धिक स्तर के संदर्भ भी मिलेंगे और अभिव्यंजना में संयम, मर्यादा तथा संतुलन का योग होगा। वयःसंधिक अथवा कैशोर भावोन्मुक्ति प्रौढ़ कवि की काव्यसाधना नहीं बन सकती। फिर काव्य की कोई एक ऊँचाई ही क्यों परिकल्पित की जाये ? क्या कई समान अथवा समकक्ष ऊँचाइयों का काव्य-क्षेत्र में अस्तित्व संभव नहीं है ? क्यों हम कवि से अपने रसबोध और युगबोध के प्रति ईमानदारी की आशा नहीं करें ? संभव

है, बदलते युगधर्म अथवा विचार के नये समीकरण प्रस्तुत करने में काव्यरस की किंचित् हानि भी हो, परन्तु क्या उससे बचना संभव है? निराला ने अपने एक पत्र में कवि से कल्पना का मधु पिलाते रहने की प्रार्थना की थी, परन्तु नये मानव-मूल्यों अथवा मानव-संबंधों की भविष्यत् कल्पना क्या कवि-कल्पना से कम आकर्षक वस्तु है? "ज्योत्स्ना" में पंत ने अपने युगबोध को कल्पना का अत्यन्त आकर्षक चीरवास दिया है। क्या इस सफलता को नये युगधर्मीय संदर्भों की भूमि पर दुहराया नहीं जा सकता?

पंत का संपूर्ण कृतित्व हिन्दी साहित्य की आधुनिक चेतना का प्रतीक है, जो इहलौकिक जीवनमूल्यों के निर्माण की ओर अग्रसर है और जिसने पारलौकिक चिन्ता और आध्यात्मिक साधना को ही एकमात्र लक्ष्य नहीं समझा है। यह श्रेय की बात है कि युगधर्म के भौतिक, सामाजिक और नैतिक पहलुओं के साथ पंत का काव्य अध्यात्म-चेतना के सूत्र भी समानान्तर लेकर चलता है और इस प्रकार उनका जीवन-चिन्तन एकांगी न रह कर संतुलित और परि-पूर्ण बन जाता है। उन्होंने प्रकृति, नारी, सौन्दर्य और मानव-जीवन की ओर देखने की मध्यवर्गीय जीवनदृष्टि को अपरिमित परिष्कार दिया है और राष्ट्र-जाति-वर्ण-रंगभेद से ऊपर उठ कर अखिल मानव की कल्याण-कामना को उसी तरह मुखरित किया है, जिस तरह हिन्दी के मध्ययुगीन संतों और भक्तों ने मानव की महीयानता की मुक्तकण्ठ घोषणा की थी। उत्तर रचनाओं में कवि परात्पर सत्ता के आरोहण-अवरोहण के आध्यात्मिक संदर्भों को काव्य का बाना पहना कर नई आध्यात्मिकता के निर्माण की ओर अग्रसर हुआ है, परन्तु इस चेतनावादी भूमि को छोड़ भी दें तो भी पंत का भू-वाद अंतर्राष्ट्रीय चेतना से संपन्न सार्वभौम मानवता का मंगलघोष है। यह कहा जा सकता है कि मध्ययुगों के लिए तुलसी के काव्य ने जैसी विराट समन्वय-भूमि प्रस्तुत की थी वैसी ही, कदाचित् उससे भी प्रशस्त और ठोस, जीवन-भूमि पंत के भविष्य-कल्प में उद्घाटित हुई है। उन्होंने कवि के द्रष्टा नाम को सार्थक ही किया है। आधुनिक हिन्दी काव्य को व्यक्तिमत्ता, भाषा-सामर्थ्य तथा नयी छन्द-दृष्टि प्रदान कर उन्होंने खड़ी बोली की काव्यशक्ति का जो संवर्द्धन और परिष्कार किया है वह स्वयं अपने में एक सुन्दर और महत्वपूर्ण देन कही जा सकती है। यही नहीं, उनकी गद्य-रचनाएँ भी अनाविल वैदिक चिन्तन और

श्रेष्ठ अभिव्यंजना से पुष्ट हैं। काव्य के अतिरिक्त गद्य-क्षेत्र में पंत का योगदान नाटककार, कहानीकार, समीक्षक, निबंधकार और उपन्यासकार के रूप में रहेगा। उनका "ज्योत्स्ना" (१९३४) रूपक श्रेष्ठ प्रतीक-नाटक है, जिसमें उनकी कवि-कल्पना रंग-बिरंगे कुतूहली पात्रों में मूर्त्तिमान हुई है। "पाँच कहानियाँ" नाम से उनका एक कहानी-संकलन भी प्रकाशित हो चुका है और "हार" नाम से उनके प्रथम औपन्यासिक प्रयास भी हमारे सामने आ चुका है। "साठ वर्ष—एक रेखांकन" में उन्होंने अपनी जीवन-कथा को भी मार्मिक ढंग से प्रस्तुत किया है। यह उनकी नवीनतम कृति है। इसी में उन्होंने विज्ञप्ति दी है कि वे अपने सर्जन की परिसमाप्ति एक वृहद् औपन्यासिक रचना से ही करेंगे। समीक्षात्मक निबंधों और "भूमिकाओं" का "संकलन" "गद्यपथ" के नाम से प्रकाशित है और इस श्रेणी की अनेक रचनाएँ आकाश-वाणी-वार्त्ताओं और स्फुट विवरणों के रूप में बिखरी हैं। अंत में यह कहा जा सकता है कि साहित्य की अनेक दिशाओं को छूने का प्रयास पंत के मूलगत कवि-व्यक्तित्व का ही प्रसार है, क्योंकि काव्य ही उनके अंतस् की सबसे प्रौढ़ अभिव्यक्ति है।

प्रेमचंद

प्रेमचंद में जो चीज़ मुझे सबसे आकर्षक लगती है वह है उनका अपराजित मानवत्व। इस अपराजित मानवत्व को वे किसी दैवी शक्ति का सहारा नहीं देते। प्रेमचन्द चाहते तो वे भारतवर्ष की आध्यात्मिक परंपरा पर टिक सकते थे, परन्तु उन्होंने वैसा नहीं चाहा। यह नहीं कि वह उस परंपरा से परिचित नहीं, या उनके व्यक्तित्व में भारतीय प्रकृति का वह अंश नहीं था, जिसे हम अध्यात्म कहते रहे हैं। परन्तु प्रेमचन्द अध्यात्म के नाम पर सांप्रदायिक संगठनों से परिचित थे। पंडों, पुरोहितों और मुल्लाओं ने धर्म के नाम पर अधर्म का जो बड़ा व्यापार खोल रखा है, बड़ी निर्ममता से प्रेमचंद ने उसकी क़लई खोली है और इस समस्त तंत्र को प्रगतिशील शक्तियों का विरोधी समझ कर वह धर्म और अध्यात्म के प्रति अनासक्त हो गये हैं। सच्चे धर्म और सच्ची आध्यात्मिकता से किसी को भी संकट नहीं हो सकता, परन्तु प्रेमचंद मानव के भीतर उस देवत्व को जगाना चाहते थे जो मानव से इतर और किसी भी शक्ति पर आश्रित न हो। मानव की मानवीयता ही प्रेमचंद के लिये देवत्व है। इस देवत्व के सहारे वह अडिग, अपराजित, अस्खलित खड़े रह सकते हैं। दुबल-से-दुर्बल मनुष्य अपने भीतर के इस देवत्व (मानवत्व) से बल प्राप्त कर सकता है। इस देवत्व का बल है प्रेम और सच तो यह है कि अपने प्रकृतिस्थ प्रेम की भूमि पर ही मनुष्य टिक सकता है। मानवीय प्रेम के अप्रतिम प्रसार से उनकी रचनाएँ ओत-प्रोत हैं। उनकी विभिन्न कृतियों में यह मानवीय प्रेम व्यक्ति-व्यक्ति, परिवार-समाज, राष्ट्र और बंधुत्व की भूमि पर चरितार्थ होता है और देश-काल में बँधे पात्र मानव-धर्म की ऊँचाई पर उठ कर अपराजित मानव को चरितार्थ करते हैं। बलराज, बिजय, अमरकांत, सूरदास, होरी,—अनेक कर्मण्य नायकों की उन्होंने सृष्टि की, जिनके पास पैतृक कुछ भी नहीं है, या जो उसे एकदम छोड़ आये हैं और अपने सहज मानव होने के नाते हमारी अपार सहानुभूति पाते हैं। वे गिरते हैं, परन्तु गिर कर भी खड़े हो जाते हैं; फिर गिरते हैं, फिर खड़े होते हैं और प्रत्येक बार धरती को छू कर नया बल प्राप्त करते हैं। मर कर भी वे अमर हो जाते हैं, क्योंकि उनकी पराजय में

आत्मा की विजय है। अपने आदर्श के लिए, प्रेम के लिए, मानवीय संबंधों के लिए त्याग और बलिदान के मैदान में डग भरते चले जाते हैं। धर्मनिरपेक्ष-अध्यात्मनिरपेक्ष मानव की जो आकाशचुंबी विराट् मूर्त्ति प्रेमचंद ने अपने साहित्य में प्रतिष्ठित की है वह विश्व-साहित्य में अपूर्व है। मानव के प्रति अडिग आस्था से उनका साहित्य ओत-प्रोत है।

"धनपत" और "नवाब" न बनकर प्रेमचंद "प्रेमचंद" बने। धन और अधिकार की लिप्सा को उन्होंने मनुष्य का कलंक माना। महाजनी सभ्यता के वह कट्टर शत्रु थे और नौकरशाही के प्रति उससे कम निर्मोही नहीं थे। उन्होंने मानव की मैत्री-भावना को चरम उत्कर्ष पर पहुँचा दिया। इस मैत्रीभाव से दलितों-शोषितों के प्रति उनकी करुणा परिचालित है। भारतीय मानव के मानवत्व को किसने पराजित कर रखा है, प्रेमचंद यह जानते थे। धन ने ? विदेशी सत्ता ने ? अपने सामाजिक उपन्यासों ('प्रतिज्ञा', 'सेवासदन', 'निर्मला' और 'ग़बन') में उन्होंने निर्धनता का भीषण चित्र खींचा और उन सामाजिक शक्तियों का पर्दा फ़ाश किया,जो मनुष्य की प्रगतिशीलता को नष्ट करती थीं। परन्तु धन की शक्ति यहीं समाप्त नहीं हो गयी थी। उसका भीषणतम रूप विदेशी सत्ता, नौकरशाही, अमले और ज़मींदारी के रूप में उपस्थित था। अधिकार के छद्म रूप में धन ही सिंहासन पर विराजमान था। प्रेम के स्वच्छंद प्रवाह में वही बाधा था। इसीलिए प्रेमचंद ने अपनी अदम्य जीवन-शक्ति को इस ओर लगाया कि राष्ट्र, समाज और व्यक्ति के जीवन-प्रवाह के समस्त बाधक उपकरणों को वह ध्वस्त करे और भारतीय जनता तथा भारतीय मानव के लिये स्वस्थ, संपन्न तथा नैतिक जीवन के द्वार खोले। उनका समस्त कृतित्व इसी लक्ष्य की ओर दौड़ता है। मानव की अपरिसीम शक्ति का ही नहीं, उसके अपरिमित प्रेम का भी उनकी रचनाओं के उद्घोष है। यह प्रेम जाति, धर्म, वर्ग के बंधन नहीं मानता। वह एकांतिक और समाज-विच्छिन्न भी नहीं है, यद्यपि अंततः उसमें व्यक्ति-मानव की ही विजय है। मनुष्य की कठोरता पर यदि कोई विजय पा सकता है तो वह मनुष्य का प्रेम ही है जिसके उत्स भीतर हैं, प्राकृतिक हैं और कभी भी बंद नहीं होते।

मानव-प्रेम का जितना व्यापक चित्रण प्रेमचंद के साहित्य में हुआ है उतना कदाचित् किसी अन्य लेखक के साहित्य में नहीं हुआ है। अवश्य वह नर-नारी

के प्रेम तक सीमित नहीं है यद्यपि प्रेमचंद "कायाकल्प" के एक बड़े अंश में ऐन्द्रियिक प्रेम की समस्याओं को ही सुलझाते हैं और प्रेम के कई रूप हमारे सामने रखते हैं। वे लौंगी के प्रेम को सर्वोपरि मानते हैं यद्यपि वह विवाहिता पत्नी नहीं है और जन्मजन्मांतरों तक चलने वाली दैहिक प्रेम की अतृप्ति के सम्मुख लौंगी के आत्मिक प्रेम और आत्मसमर्पणमूलक प्रशांति का बड़ा मनोरम चित्र सामने लाते हैं। अहं के तृण जैसे व्यवधान से भी प्रेम की पवित्रता खण्डित हो जाती है। आत्मिक प्रेम के दैवीय रूप की खोज व्यर्थ है, क्योंकि मनुष्य को तो जो मिल सकता है वह देह के माध्यम से ही मिल सकता है। आत्मा के सर्वसमर्पण में देह का समर्पण पहले आता है, परन्तु वह आत्म-बलिदान के साथ हो, अहं-तृप्ति का साधन न हो। अपनी बलिदानी पात्रियों और नायिकाओं को प्रेम और मर्यादा के ऊँचे धरातल पर रख कर प्रेमचंद प्रेम की चरम मानवीयता को ही घोषित करते हैं। उनके लिए अतृप्त प्रेम कुंठा का मार्ग नहीं, कर्म, उत्सर्ग और त्याग का मार्ग खोलता है। मानव-मात्र की सेवा शुश्रूषा में अपने अहं और वासना का विसर्जन कर उनके पात्र-पात्री अपनी चित्तवृत्तियों को गंगाजल से धो लेते हैं। दाम्पत्य में ही प्रेम की सार्थकता है, ऐसा प्रेमचंद मानते हैं और मानवीय कर्त्तव्यों का निर्वाह करते हुए, सब से छला जा कर भी मनुष्य (होरी) अपने जीवन को चरितार्थ करता है, किन्तु जीवन की चरितार्थता जीने में ही है, किसी दर्शन विशेष में नहीं।

किसी निर्विशेष "मानवत्व" पर प्रेमचंद की श्रद्धा हो, यह बात नहीं। वह सिद्धांतवादी नहीं, जीवनवादी हैं। अतः उनके कथानायक भारतीय मानव हैं,– भारतीय नर-नारी, आबाल-युवा-वृद्ध। इसी भारतीय मनुष्य को उन्होंने मूर्त्त किया है, इकेले भी और परिवार, समाज तथा समूह के साथ भी। परन्तु वह इस भारतीय मानव में परंपरा की खोज नहीं करते, उसमें अतीत का गौरव नहीं है, संभवतः भविष्यत् के सपने भरना भी उन्हें पसंद नहीं था। वह भारतीय मनुष्य को उसके वर्त्तमान में ही प्रतिष्ठित करते हैं, क्योंकि वह उसे बचाना नहीं चाहते। इसी दीन-हीन, परंपराविच्छिन्न, राष्ट्रीय और आध्यात्मिक गौरव से निरपेक्ष अपने देशवासी को उन्होंने खाते-पीते, गिरते-उठते और जीतते-हारते चित्रित किया है। परन्तु, कौन जीतता है, कौन हारता है? क्योंकि यहाँ तो रंगभूमि है कि सब अपना खेल दिखा कर चले जाते हैं, या

कर्मभूमि है कि जहाँ पग-पग पर समझौता करना होता है। अच्छा तो यह है कि हम इसे प्रेमभूमि मान कर चलें और क़दम-क़दम पर प्रेमाश्रम स्थापित कर लें। प्रेमचंद के सेवासदनों और प्रेमाश्रमों की दिल्लगी उड़ाई गई है, परन्तु यह नहीं बतलाया गया कि अपराजित मानव लोकसेवा को साधन बना कर अपनी चारित्रिकता को किस प्रकार खण्डित करता है। भारतीय मानव का जैसा विभिन्न, विशद, स्वाभाविक और संपन्न चित्र प्रेमचंद-साहित्य में है, वैसा और कहाँ है ? उसमें यदि दुर्बलताएँ-ही-दुर्बलताएँ नहीं हैं तो छिद्रान्वेषी समीक्षक प्रेमचंद को दोष क्यों देते हैं, भारतीय मानव की उस दृढ़ चेतना को दोषी क्यों नहीं ठहराते जो पतन में भी उठने की सामर्थ्य रखती है। पतन यदि मानवीय है,—तो गिरे हुए का उठना भी मानवीय है। उसमें लेखक की सदाशयता हम पढ़ें, परन्तु उसके आदर्शवाद की क्यों दुहाई दें ! यह स्पष्ट है कि प्रेमचंद खंडित या अस्वस्थ मनुष्य को चित्रित नहीं करते, वे समग्र और स्वस्थ मनुष्य के चित्रकार हैं। इसीलिए उनकी कला विकृति के उपासक कलाकारों की कला से भिन्न है। अदम्य आशावादी और अथक मानववादी कलाकार से हम विकृतियों में डूबे रहने अथवा मानस-रोगों के आस्वादन की आशा कैसे कर सकते हैं ? यदि आशावाद और मानववाद गाली नहीं हैं तो प्रेमचंद की कला भी दुर्बल या अवास्तविक नहीं कही जा सकती। अध्यात्म, धर्म, परंपरा (अतीत) और अवचेतनीय विस्फोट (विकृति) से पल्ला छुड़ा कर प्रेमचंद मानव के सहज जीवनधर्म को ही उभारते हैं, जो संस्कारबद्ध, स्वार्थपर और तात्कालिक होते हुए भी उत्सर्ग के लिए तैयार हो सकता है, प्रेम को पहचान सकता है और समाज एवं राष्ट्र के लिए अपने नित्य सुखों का बलिदान कर सकता है। प्रेमचंद यह नहीं कहते कि यह मानव हमारा अपरिचित है, परन्तु इसे "राष्ट्रीय" बना कर वह प्रस्तुत करते हैं और इस प्रकार भविष्यत् पीढ़ियों के लिए राष्ट्रधर्म का प्रतीक खड़ा करते हैं। शोषण, उत्पीड़न और अनाचार से मृत्यु-पर्यन्त जूझने वाला परन्तु हृदय में रंच-मात्र कटुता न ला कर अपनी चरितार्थता में ही "परम विश्राम" पाने वाला प्रेमचंद का नायक निःसंदेह राष्ट्रीय नायक है। वह दुर्बल होकर भी महान है, क्योंकि वह धर्म-अधर्म के संघर्ष में पराजित होकर भी विजयी है। भारतीय महाकाव्यों के महान नायकों का आशीर्वाद उसे प्राप्त है, जिन्होंने अधर्म को जीर्ण धनुष की तरह तोड़ दिया है। प्रेमचंद की विशेषता यही है कि उन्होंने दुर्बल मनुष्यों

में "नायकत्व" देखा और स्वयं देखा ही नहीं, करोड़ों को दिखलाया। उन्होंने हमें दृष्टिसंपन्न किया कि हम भारतीय जन-जीवन के अतुल पराक्रम को देख सकें और क्षुद्रों में महानों की भंगिमा पढ़ सकें। उनके पात्र "राम-चरितमानस" के "मानसी" युग या किसी पौराणिक अथवा ऐतिहासिक युग के पात्र नहीं हैं। वे तात्कालिक हैं, समसामयिक हैं, जीते-जागते, चलते-फिरते "हम-तुम" हैं। फलतः हम उनमें अपने शौर्य, तेज, सामर्थ्य, शक्ति, माधुर्य और बलिदानी अमृतत्व का प्रसार देखते हैं और उनके व्यक्तित्व से अपने व्यक्तित्व को संपन्न बनाते हैं। अब तक भारतवर्ष के साहित्यरसिकों के पास रामायण-महाभारत, रघुवंश और टॉड के राजस्थान के चरित्र थे, जिनमें वे अपने भाव प्रतिबिंबित देखते थे। प्रेमचंद-साहित्य में उसी कोटि की एक नवीन चित्रपटी हमारे सामने आई और हमारे दैनंदिन जीवन के श्वासों में घुलमिल गई। अपराजित मनुष्यत्व, अपरिमित प्रेम, निस्सीम बलिदान, अतुलित करुणा,—आखिर यही तो प्रेमचंद का साहित्य है या कुछ और ? यदि तुलसीदास बड़े हैं तो प्रेमचंद कैसे छोटे हैं ? तुलसीदास ने देवता में मानवत्व की स्थापना की और इस प्रकार निर्विकल्प ब्रह्म को मानवीय सुख-दुख की भूमिका पर उतारा तो प्रेमचंद ने मानव में,—सामंती मानव में नहीं, नगर-ग्राम के सामान्य मानव में,—'देवत्व की प्रतिष्ठा की और उसे राष्ट्रीय स्पन्दन की गरिमा दी। यह कोई कम कठिन काम नहीं है। प्रेमचंद की साधना से यह सरल और स्वाभाविक बन कर सहज जीवनधर्म के रूप में सामने आ गया। इसमें प्रेमचंद की साधना की ही विजय है। मानव-धर्म (प्रेम) को ईश्वर की ऊँचाई तक पहुँचा देना प्रेमचंद की कला का चरमोत्कर्ष है। गाँधी जी के लिए सत्य ईश्वर है और ईश्वर सत्य है। प्रेमचंद के लिये प्रेम ईश्वर है और ईश्वर प्रेम है। कलाकार सुन्दरम् की ही व्यक्तिगत भूमिका है। भारतीय जीवन, मनुष्य और प्रकृति के सहज-सुन्दर को प्रेमचन्द ने उतनी ही सहज-सुन्दर भाषा में साहित्य में बाँधा। उनकी भाषा प्रेम की भाषा है और उनका चित्रण प्रेम का अप्रतिहत प्रसार। उन्होंने असुन्दर को असुन्दर के रूप में नहीं देखा, इसीलिए उन्होंने विकृति का साहित्य नहीं दिया और घृणा तथा नैष्कर्म्य का प्रचार नहीं किया। उनकी अंतर्वर्तिता मानवधर्मी है, उसमें मनोविश्लेषणात्मक ऊहापोह नहीं है। वे पात्रों के अंतरंग में डूब कर भी उनके

विवेक से संपृक्त रहते हैं। इसीलिए वे विस्फोटक और अतिवादी नहीं हो पाते। उनके स्खलन में भी मानवीयता है, दानवत्व नहीं।

प्रेमचंद के साहित्य में बीसवीं शताब्दी के पहले छत्तीस वर्ष शिल्पित हो गये हैं। उनके सभी पात्र समसामयिक हैं, उनकी पूर्वापरिता भारतीय जीवन से प्रेमचंद के अधिकाधिक परिचय और भारतीय आत्मा की नव्यतर विवृत्तियों की देन है। एक पूरी दुनिया उनके साहित्य में सिमट आयी है। भारतीय जीवन का विशाल और संपन्न "एलबम" प्रेमचंद का साहित्य है। प्रताप से होरी तक और व्रजरानी (विरजन) से धनिया तक नायक-नायिकाओं और नर-नारियों की एक लंबी पंक्ति कल्पना के क्षितिज पर प्रेमचंद की लेखनी से उदित हो गयी। उनके पात्र अपने व्यक्तिगत छोटे-से जीवन से बाहर जा कर समस्त जाति, समाज और राष्ट्र पर छा गये हैं। विजय की भाँति उनकी क्रियाशीलता उत्तर भारत के संपूर्ण विस्तार को घेर लेती है। परन्तु प्रेमचंद दिग्विजय के मर्म को समझते हैं जो देशकालबद्ध मानव के मानवत्व की विजय है। इसीलिए सूरदास जैसे पात्र भी हैं जो अपने अपरिचित, अनजाने गाँव में डट कर खड़े हो जाते हैं और वहीं खड़े रह कर हमें मनुष्य की अपराजितता, मानवीयता तथा विशिष्टता का संदेश देते हैं। अपढ़ और अंधा सूरदास हमें वह दे जाता है जो शिक्षित और सर्वगुणसंपन्न पात्र नहीं दे पाते, क्योंकि वह भारतवर्ष की सत्याग्रही प्रकृति से संपृक्त है, जो अपने "सत्" को पहचानता है और संतत्व में जीता है। दया, क्षमा, वात्सल्य, लोकसेवा और आत्म-बलिदान में ही श्रेष्ठ मानव-मूल्यों की कल्पना है। उनमें जीना ही वास्तविक जीना है। यह जीने की कला प्रेमचंद जानते हैं और इस जीने में क्या आनन्द है, अपने पात्रों में चरितार्थ करते हैं। आत्मसम्मान से जीना और किसी व्यक्ति, सिद्धांत या आदर्श के प्रति उत्सर्गित होकर मरना जीने की श्रेष्ठतम कला है। प्रेमचंद को उपदेशवादी कहा गया है और उनकी सतही नैतिकता की खिल्ली उड़ाई है, क्योंकि उनके समीक्षक अपनी कैशोर द्वैधता से ऊपर नहीं उठ सके हैं और उन्होंने वैचित्र्य को ही जीवन समझ लिया है। प्रेमचंद की पीढ़ी के अंतर्भुक्त जीवन को वे समझ ही नहीं पाते हैं जिसके पीछे उन्नीसवीं शताब्दी के जन-जागरण का संपूर्ण बल है और जो भारतीय आध्यात्मिकता एवं नैतिकता से असंपृक्त नहीं हुआ है। प्रेमचन्द भले ही आध्यात्मिक या धार्मिक विचारों और

आधारों को ग्रहण नहीं करें, उनकी नास्तिकता में श्रेष्ठतम आस्तिकता व्यंजित है क्योंकि उसमें आस्तिकत्व के समस्त श्रेष्ठ मूल्य निर्विरोधी स्तर पर आत्मसात् हो गये हैं। मनुष्य में प्राणवान क्या है? वह नहीं जो सतही है, या विस्फोटक है, या वैचित्र्यमूलक है, क्योंकि इससे उसकी मानवता खण्डित होती है। जहाँ टूटा जुड़ता है, भेद मिटता है और अभेद की भूमि स्थापित होती है वही मनुष्य है। यही अभेदी मनुष्य प्रेमचंद का लक्ष्य है। मनुष्य की मनुष्यता में ही प्रेमचंद अपने अभेदत्व के सूत्र खोजते हैं, अध्यात्म में नहीं। परन्तु यह मनुष्यता कोई बौद्धिक विकल्प नहीं है, वह लोकमांगलिक चेतना की व्यक्तिनिष्ठ और समष्टिगत संहृति है। आध्यात्मिक मनुष्य नहीं, नैतिक और मानवीय मनुष्य ही प्रेमचंद का उपजीव्य है। उसकी नैतिकता भी अंततः मानवीय ही है, क्योंकि उसका आधार अध्यात्म नहीं, व्यावहारिक जीवन-दर्शन है। वह जीने की कला का ही प्रतिफलन है।

प्रेमचंद का साहित्य राष्ट्रीय जीवन का महाकार दर्पण ही नहीं है, वह हमारी राष्ट्रीय चेतना का पुंजीभूत ज्योतिस्तूप भी है। राजा राममोहन राय (१७७२-१८३३) से महात्मा गांधी (१८६६-१९४८) तक हमारी राष्ट्रीय चेतना उत्तरोत्तर विकासोन्मुख रही है। १९०२ में "वरदान" लिखकर प्रेमचंद ने राष्ट्रीय चेतना से अपना संबंध जोड़ा और अपने जीवन के अंतिम क्षण तक वे राष्ट्रधर्म के प्रवक्ता बने रहे। उनका साहित्य अंतर्योजित राष्ट्र-धर्म का प्रतीक है। उसमें हिन्दू-मुसलमान, सिख, जैन, ईसाई, हिन्दू नर-नारी कंधे से कंधा मिला कर चलते हैं और एक दूसरे के लिये बलिदान करते हैं। राष्ट्रधर्मी चेतना को भावना और अनुभूति से मंडित कर प्रेमचंद गाँधी-युग के भावात्मक संस्करण बन गये। उन्होंने राष्ट्रधर्म की व्याख्या नहीं की, अपने पात्रों में उसे जिया, पात्रों के बाहर अपने जीवन में उसे जिया। अपनी उत्कट राष्ट्रधर्मी अनुभूति को उन्होंने कल्पना के सहारे असंख्य पात्र-पात्रियों में मूर्त्तित किया और अपनी भाषा की अप्रतिम शक्ति से उन्हें चिर परिचित नर-नारियों की तरह स्वाभाविक और सामान्य बना दिया। वह असाधारण के नहीं, साधारण के कलाकार बने। फलतः उनके साहित्य में साधारणीकरण की समस्या ही नहीं है। संप्रेषण और निवेदन के प्रश्न ही वहाँ नहीं उठते, क्योंकि प्रेमचंद का हृदय स्वच्छ दर्पण है और उसमें वह अपनी अनुभूति के प्रतीक पात्रों को इस प्रकार झलका देते हैं कि शेष कुछ भी नहीं।

रह जाता। ज्ञाता और ज्ञेय का भेद प्रेमचंद की तीव्र अनुभूति मिटा देती है और हम उनकी कथा-धारा में डूब जाते हैं। वह द्रष्टा नहीं, दृष्टि हैं। वह स्रष्टा भी हैं और सृष्टि भी और संभवतः स्रष्टा (विधाता) की अपेक्षा अपनी सृष्टि में कहीं अधिक हैं और जहां हैं वहां पूर्णतः संश्लिष्ट हैं। यह तादात्म्य प्रेमचंद की आत्मिक प्रेरणा के कारण संभव है। उनका साहित्य गांधी-युग की भाव-समष्टि है। उसमें जीना गांधी-युग में जीना है। उसमें मध्यवर्गी चेतना की अहंता लोकधर्मी और मानवीय चेतना में पर्यवसित होकर पवित्रतावादी बनती है। यहाँ पवित्रतावादी कह कर हम प्रेमचंद को छोटा नहीं कर रहे, न उन्हें अतिनैतिक मान रहे। प्रेमचंद के साहित्य में मनुष्य का हार्दिक जीवन चित्रित है। विनोद, व्यंग्य, आमोद-प्रमोद, स्खलन और आत्मछल भी अकुंठित भाव से वहाँ हैं, परन्तु मानवीय संबंधों को वह मर्यादा के भीतर ही रखते हैं और प्रेम की पवित्रता को देह के आवेशों से कलुषित नहीं होने देते।

प्रेमचंद जन-शक्ति के कलाकार हैं। इसी से वह सामूहिक मनुष्य से घृणा नहीं करते। वह उसे प्यार करते हैं और बड़ी कुशलता से उसके व्यक्तित्व का चित्रण करते हैं। उनके उपन्यास आन्दोलनमूलक हैं, परन्तु इन आन्दोलनों की आग में तप कर दुर्बल व्यक्ति महान हो जाते हैं। जनता प्रेमचंद की कसौटी है, जिस पर खरे-खोटे कंचन की पहचान होती है। सामूहिक और आन्दोलनशील जन-जीवन की प्रत्येक भंगिमा को प्रेमचंद ने परखा है। जनता उनके लिये वायवी या सैद्धांतिक तत्व नहीं, वह व्यक्ति-मानस का पुंजीकृत रूप है। वह अभेदत्व का प्रतीक है। वह जीवित, स्पन्दित, कर्मशील इकाई है। प्रेमचंद के पात्र उसी में अपनी व्यक्तिगत सीमाओं और दुर्बलताओं का परिहार करते हैं। असंख्य दृष्टिकोणों और भावनिकायों को एक बिन्दु पर लाना सरल कार्य नहीं है। जो प्रेमचंद को अमनोवैज्ञानिक या कम-मनोवैज्ञानिक कहते हैं वे देखें कि प्रेमचंद ने एक ही व्यक्ति, घटना या संवेदन पर अनेक व्यक्तियों की प्रतिक्रिया को किस प्रकार सूक्ष्मता में चित्रित किया है और उनकी लेखनी के नीचे समष्टि-मानस कितना तरल, सजीव और अप्रतिहत हो उठा है। आल्डस हक्सले ने अपने एक निबंध में लिखा है कि भारतवर्ष का एक बड़ा वर्ग मनुष्य को बिंब में बाँधना पाप समझता है, क्योंकि उसके धर्म में इसका निषेध है और दूसरा बड़ा वर्ग उसे अतिप्राकृत, अमान-

वीय और आध्यात्मिक बना कर विद्रूप की सृष्टि करता है। "प्राकृत जन-गान" को तुलसीदास वाणी की विडंबना मानते हैं और राम के अप्राकृतत्व की घोषणा करते नहीं थकते। परन्तु आल्डस हक्सले प्रेमचंद के साहित्य से परिचित नहीं जान पड़ते, जिसमें "प्राकृत जन" को ही नायकत्व मिला है और प्राकृत जन-जीवन को ही आग्रह, आकांक्षा तथा आलंबन का रूप प्राप्त है। जनान्दोलन के अप्रत्याहृत प्रवाह में प्रेमचंद के नायक तृण की तरह नहीं बहते, वे उसके नियामक और नियंता बन कर धीरोदात्ती शीर्ष-बिन्दु पर विराजमान होते हैं। व्यष्टि और समष्टि का यह अपूर्व गठबंधन प्रेमचंद-साहित्य का चमत्कार ही कहा जायेगा। पार्थिव को पार्थिव बनाये रखने में ही प्रेमचंद ने अपनी समस्त कल्पना और कला-सामर्थ्य का उपयोग किया है और इसमें उन्हें अप्रत्याशित सफलता मिली है। जहाँ अपार्थिव आया है, जैसे "कायाकल्प" में, या कुछ कहानियों में, वहाँ वह पार्थिव की भूमिका ही तैयार करता है अथवा उसे अपार्थिव से उत्कृष्ट सिद्ध करता है। लोक में लोकोत्तर की अन्वेषणा प्रेमचंद की कारयित्री प्रतिभा का सर्वश्रेष्ठ प्रमाण है।

: २ :

प्रेमचंद कवि नहीं थे। उनके आलोचक उपन्यासों के बीच में समवेत गायन या विशुद्ध भावस्फोट के रूप में आने वाली गद्यात्मक तुकबंदियों को प्रमाण में प्रस्तुत करते हैं, परन्तु प्रेमचंद जो नहीं थे वह नहीं ही थे। उपन्यासकार के लिये कवि होना आवश्यक नहीं है। कवि और उपन्यासकार की जीवन-दृष्टियाँ भिन्न हैं, उनकी भाव-प्रक्रिया भिन्न है और साहित्यिक भूमिकाएँ भी समान नहीं हैं। ऐसा न समझ कर कतिपय समीक्षक प्रेमचंद को काव्य-शून्य, नीरस, सतही और दार्शनिकता से असंपृक्त कहते आये हैं। वे नहीं जानते कि उपन्यासकार जीवनद्रष्टा है। वह जीवन को दर्पण की भांति सामने रखता है और उसी में अपनी मानसी भाव-प्रतिमा को झलकाता है। छोटे-छोटे जीवन-खण्डों या खण्ड जीवनों को नहीं, प्रेमचंद ने विराट्, महाकाव्याकार विधाता की सृष्टि के प्रतिरूप वैविध्य और वैचित्र्य से पूर्ण तथा आकांक्षा से आन्दोलित जीवन-चैतन्य को मूर्त्त किया है। "टू होल्ड मिरर टु द नेचर" (प्रकृति को जैसे दर्पण में बिंबित करना) : शेक्सपिअर के संबंध में कहा गया है कि उसमें उपर्युक्त विशेषता है, परन्तु प्रेमचंद भी क्या इस विशेषता के धनी नहीं हैं। वह कवि या तत्वदर्शी की भाँति अपने अंतस्तल में डूब कर

आत्मचिन्तन या आत्मोपलब्धि के रूप में हमें अधिक नहीं देते, क्योंकि वह न पुरातन की उद्धरिणी करना चाहते हैं, न संकल्पात्मक चेतना को जगाकर वायवी शून्य के ताने-बाने बुनना चाहते हैं। कवि जीवन को सतह पर छोड़ कर अपने भीतर डुबकी लगा सकता है, परन्तु उपन्यासकार के लिये क्षण भर के लिये भी जीवन को छोड़ना शक्य नहीं है। वह सतह पर तैरता रहेगा और उसी में इन्द्रधनुषी प्रतिभा के मोती खोजेगा। मानव की दैनंदिन अनुभूति को छोड़ कर उसके पास कुछ भी नहीं है। इसी में उसको आत्मा की झलक देना है और मानव-व्यवहार के श्रेष्ठतम नियम उद्घाटित करना है। चिन्तन उसका धर्म नहीं है, चित्रण उसका धर्म है। जीवन के चिरन्तन प्रवाह में खड़े होकर उसे उतना ही जल अंजुलि में भरना है जितना समा सके, परन्तु उसे ही मंत्रपूत कर उसमें दिव्य जीवन को प्रतिबिंबित करना है। जीवन को निरंतर परिप्रेक्ष में रखने के कारण प्रेमचंद अबूझ रहस्यवादिता या तलस्पर्शी जीवन-चिन्तन के चक्कर में नहीं पड़े हैं। वह जीवन के कवि हैं और उनकी कविता उनके चरित्र हैं जो भारतीय जीवन और नैतिकता के प्रतीक हैं। इस जीवन-कला को उभारने के लिए जितनी काव्यक्षमता अनिवार्य थी उतनी प्रेमचंद में है। इससे अधिक के प्रति स्पृहा उनके मन में नहीं है। जीवन की कविता को नितांत गद्य में बाँधने का उनका उपक्रम इसीलिये है कि वह अपने आदर्शवाद को यथार्थ जीवन की भूमिका पर ही पल्लवित करना चाहते हैं। वह धरती को पकड़े रहने को ही सुविधा समझते हैं। दैनंदिन जीवन के यथार्थ में ही उन्होंने श्रेष्ठतम मानव-मूल्यों की प्रतिष्ठा की है। ये मानव-मूल्य ही उनकी आदर्शोन्मुख जीवनदृष्टि का निर्माण करते हैं। प्रेमचंद जब आदर्शोन्मुख यथार्थ का नारा लगाते हैं तो उनका तात्पर्य मानववादी यथार्थ ही होता है। उन्होंने मानवीय संबंधों के छंद रचे हैं और जीवन की लयबद्धता में जीने की कला की अभिव्यक्ति की है। वह कवि हैं परन्तु उनकी कल्पना जीवन की दैनंदिन संवेदना, जीवन के यथार्थ और नैतिकता के सौंदर्य का ही उद्घाटन करती है। विच्छिन्न और कल्पित जीवनभूमियों पर शब्दाडम्बर और रहस्यानुभूति के द्वारा जो भावानुभूति प्रकट की जाती है वह प्रेमचंद के साहित्य-जगत की वस्तु नहीं है। वह "अलख" नहीं जगाते, क्योंकि तुलसी की भाँति वह भी प्रत्यक्षवादी हैं। कवि और उपन्यासकार की विभिन्न भूमिकाओं को सम्यक् रूप से समझ कर ही हम प्रेमचंद की कविता-

को हृदयंगम कर सकेंगे। काव्य उन्हें जीवन के भीतर अंतर्भुक्त मिला है, उसे वह जीवन पर ऊपर से नहीं लादते। काव्यालोचकों ने प्रेमचंद को काव्य के मापदण्ड से मूल्यांकित करना चाहा है और उनके मापदण्ड असमर्थ सिद्ध हुए हैं, क्योंकि उनमें जीवन के यथार्थ की गहराइयाँ छूने की क्षमता नहीं है। काव्य से दैनंदिन जीवन की क्षुद्रताओं और समस्याओं को उन्होंने ढका नहीं है, क्योंकि उनके लिये जगत कल्पनालोक नहीं, व्यावहारिक जीवन का गंभीर सत्य है। चेतना के स्वस्थ और जाग्रत धरातल पर ही उनका निर्माण चलता है। यह उनकी सीमा है, परन्तु सीमाएँ किस कलाकार में नहीं मिलतीं ? देखना यह है कि उनका जीवन-चित्रण क्या सचमुच सतही या अकाल्पनिक है, अथवा उसमें संग्रह और त्याग के द्वारा युगधर्म की विशिष्टता और मानव-धर्म की शाश्वतता ठीक तरह से उभारी गई हैं।

फिर प्रेमचंद की जो सबसे बड़ी शक्ति है वह इन आलोचकों ने पहचानी ही नहीं है। वह है आचरण की भूमि। प्रेमचंद के जीवन-चित्रण और आचरण में पूर्ण साम्य है। उनका समस्त साहित्य उनकी आत्माभिव्यक्ति है। असंख्य पात्रों में उनकी अपनी सात्विकता चरितार्थ हुई है। अपने ही नैतिक, राष्ट्रीय और भावुक व्यक्तित्व को अनेकानेक कल्पित नर-नारियों के चरित्र में बाँट कर वह अपने साहित्य-जगत पर छा गये हैं। उनके लिए साहित्य आचरण से स्वतंत्र कला-कर्म मात्र नहीं है। उनके पात्रों की दया, क्षमा, ममता, ओजस्विता और बलिदानशीलता प्रेमचंद की अपनी अनुभूति है। सामग्रिक संपृक्ति का ऐसा उदाहरण बिरले ही मिलेगा। प्रेमचंद के प्रत्येक पात्र पर उनके व्यक्तित्व तथा आचरण की छाप है। वह अपने पात्रों का जीवन जिये हैं और उन्होंने अपने आचरण की सम्यक्ता और पवित्रता का झीना आवरण अपनी कलासृष्टि पर डाल दिया है। इसीलिए वह तटस्थ कलाकार नहीं कहे जा सकते, न उनका चित्रण बालज़ाक के चित्रण की भाँति पूर्णतः वैज्ञानिक और वर्गीय बन सका है। वह परिबद्ध हैं, सहकर्मी हैं, अपने युग-मानव से क्षण-प्रतिक्षण संपृक्त हैं। प्रेमचंद के चरित्र की पवित्रता ही उनके पात्रों को पवित्रतावादी बना देती है, परन्तु उसके लिए हम पहले से ही तैयार रहते हैं, क्योंकि हम प्रेमचंद की उदात्त जीवन-चेतना से परिचित होते हैं। आचरण के द्वारा ही हम जीवन से संपृक्त होते हैं और जिस कलाकार के पास आचरण का बल नहीं है वह पाठक के अंतर्मन में प्रवेश प्राप्त करने का अधिकारी

नहीं होता। जिस कलाकार की क़लम से एक भी अनैतिक वाक्य नहीं निकला, दैहिक आवेश का एक भी स्पन्दन नहीं उभरा; वासना, कटुता और घृणा से जिसका कोई पात्र विषाक्त नहीं हुआ, उस कलाकार की जीवन-चेतना हमारी उदात्त नैतिक चेतना का पर्याय ही होगी। कल्पित सत्य को छोड़ कर प्रेमचंद आचरित सत्य को सामने लाते हैं और इस शक्ति से कि पाठकों का भाव-जगत ही बदल जाता है। वह नीति के कलाकार हैं, अनीति के कलाकार नहीं हैं, क्योंकि वह जीवन-शिल्पी हैं। वह साहित्य को समाज के आगे-आगे चलने वाली मशाल मानते हैं। इसी नेतृत्व में साहित्य की शान है। वह निश्चल या पिश्चल मनोभूमियों के संचयिता नहीं, इस्पाती धारणाओं के सर्जक युगनेता हैं। उनके भाव-जगत में कुछ भी ऐसा नहीं जो अनाहूत हो।

प्रेमचंद देश की धरती, प्रकृति और मानव से पूर्ण रूप में एकाकार हैं। जब तक देश की धरती की संपन्नता है, प्रकृति की सौन्दर्य-सुषमा है और मानव की कर्मण्यता है तब तक प्रेमचंद का साहित्य हमें रससिक्त करता रहेगा, क्योंकि वह व्यक्तिगत न होकर समष्टिगत है, समाज तथा जीवन से संपृक्त है। युग बदलेंगे परन्तु न देश की धरती बदलेगी, न प्रकृति, न मानव की चरित्रात्मक भूमिका। भारतीय जीवन के शाश्वत शक्ति-स्रोत और सूनृती चेतना से परिचित होने के कारण प्रेमचंद परम्परा को प्रयोग में ढाल कर नई सर्जना-शक्ति का उन्मीलन कर सके हैं। वे महानों में महान हैं और व्यास, बाल्मीकि, तुलसी और इक़बाल की परंपरा में हैं। उनका साहित्य हमारी जनतांत्रिक जीवन-चेतना का प्रभात-चारण है। वह दैन्य के भीतर से शक्ति को उभारता है और करुणा को जीवन-परिष्कार का साधन बनाता है। एक पूरी पीढ़ी का अंतर पड़ने पर भी आज उनके साहित्य की प्राणवत्ता अक्षुण्ण बनी हुई है। जनतांत्रिक और राष्ट्रीय भारत की स्मारक गांधीवादी चेतना का प्रतीक प्रेमचंद का साहित्य आज "क्लासिक" बन गया है, परन्तु वह मशाल बन कर हमारी नासीर-सेना के आगे-आगे भी चल रहा है। वह हमारी राष्ट्रीय चेतना और साहित्यिक प्रगतिशीलता के लिए निरंतर माप-दण्ड बना रहेगा। अपराजित मानव की उद्ग्रीव जीवन-चेतना से ओत-प्रोत यह गरुड़ध्वज कभी भी नहीं झुकेगा। यदि मानव की सदाशयता और प्रेम-परता अमर है तो प्रेमचंद का कृतित्व भी अमर है, क्योंकि वह मानव-प्रेम का पुंजीभूत ज्योतिस्तूप है।

सामयिक काव्य : रसास्वादन की समस्या

काव्य के रसास्वादन की समस्या स्वयं अपने में एक अत्यंन्त महत्वपूर्ण समस्या है। क्या हम काव्य को व्यक्तिगत भूमिका पर ग्रहण करें या सामाजिक भूमिका पर ? क्या इन दोनों ही भूमिकाओं पर एक साथ काव्य-रस का आत्मसात संभव है ? इन दोनों भूमिकाओं पर काव्यास्वादन की शर्त्तें क्या हैं और कठिनाइयाँ क्या हैं ? परंपरा और प्रयोग, प्राचीन और नवीन काव्य के अपने अध्ययन और आस्वादन में हम पटरी कैसे बैठाएं ? क्यों काव्य का आस्वादन हमारे लिए आवश्यक है ? उससे हमारे सांस्कृतिक व्यक्तित्व का क्या संबंध है ?—इस प्रकार के अनेक प्रश्न काव्य के रसास्वादन की समस्या से संबंधित हैं। सामयिक काव्य के रसास्वादन की समस्या और भी कठिन है क्योंकि उसकी नवीनता ही नहीं, विविधता भी हमारी संवेदनाओं को परीक्षा में डाल देती है। यहाँ प्रेषणीयता का ही प्रश्न नहीं उठता, काव्य की प्रगतिशीलता और अगतिशीलता का भी प्रश्न उठता है। नया शिल्प, नई भाषा, नए बिंब-विधान, नए अधखुले-अधमुँदे संवेदन सामयिक काव्य के प्रति हमारे बोध को प्रयासी बना देते हैं। वह तात्कालिक और सहज नहीं हो पाता। परन्तु उसमें संवेदना के परिष्कार और उसकी नई दिशाओं के उद्घाटन की जितनी संभावनाएं हैं उतनी प्राचीन काव्य में नहीं।

सामाजिक भूमिका पर काव्य के रसास्वादन का अपना इतिहास है। ग्रीस में काव्य और नाटक का जन्म सामूहिक और सामाजिक भूमिका पर धार्मिक कृत्यों और उत्सवों के बीच में हुआ और इसी प्रकार पिंडार के संबोधिगीत विशिष्ट सामाजिक अवसर की वस्तुएं हैं। अपने इस सामाजिक और धार्मिक ढाँचे के भीतर से ही प्राचीन काव्य ने अपना सर्वोच्च विकास किया। ऋग्वेद की ऋचाएं याज्ञिक चेतना से ओतप्रोत हैं और पुराणों में धार्मिक आख्यानक-काव्य का लोकप्रिय रूप हमें मिलता है। मध्ययुग के हिन्दी कृष्ण-काव्य में ऐसा बहुत कुछ है जो नित्य और नैमित्तिक सांप्रदायिक कर्मों से संबंधित है। उसकी सांप्रदायिक विचारधारा से तो इंकार ही नहीं किया जा सकता। नीतिकाव्य सामाजिक काव्य की एक अन्य कोटि है जिसकी हमारी लंबी परंपरा है। इसी तरह घाघ और भड्डरी की कृषि-संबंधी काव्योक्तियाँ उपयोगी काव्य की श्रेणी में आती हैं। काव्यरूपक अथवा गीतिनाट्य के रूप में काव्य का एक रंगमंचीय रूप भी विकसित होता रहा है और उसके साहित्यिक तथा लोकप्रिय रूपों का निर्देश हमें भरत के नाट्य शास्त्र से लेकर "आईने-अकबरी" तक मिलता है। आज भी हमारे यहाँ

लोक-मंच के रूप में काव्य अपनी सामाजिक उपयोगिता पूरी कर रहा है। साहित्य में प्रथित सामाजिक काव्य के श्रेष्ठतर रूप हमें व्यंग काव्य, दार्शनिक काव्य तथा राजनीतिक अथवा राष्ट्रीय काव्य में मिलते हैं। इसमें संदेह नहीं कि काव्य का ऐसा रूप हमारे बीच में प्रचलित रहा है जिसमें कविता आनन्द से कुछ अधिक हमें देती है और यह "कुछ अधिक" सामाजिक और बौद्धिक भूमिका पर ग्रहीत होता है। कविता को पहले आनंदनीय होना है, परन्तु यह कहना ठीक नहीं है कि "कुछ और" होने में कविता की सार्थकता नहीं है। कविता को विचार और सामाजिक हेतु से निःशेष कर हम उसे उतनी ही मात्रा में दुर्बल और वायवी बना देते हैं। कवि की क्षमता इसी में है कि वह इस "कुछ और" को संवेदनीय और रसात्मक बना कर हमारे बोध-जगत का विस्तार करे और हमारे जीने को नए आयाम दे।

काव्यरसिक सहृदय व्यक्तित्व-संपन्न सामाजिक प्राणी होता है। वह ऐसी इकाई है जो अनेक धरातलों पर समाज के अन्य प्राणियों से संपृक्त है। यही नहीं, समाज की सनातन और सामयिक विचारधारा भी उसी प्रकार उसके व्यक्तित्व का निर्माण करती है जिस प्रकार उसके अपने रागात्मक अनुभव उसकी संवेदना के स्वरूप को रूपायित करते हैं। प्रौढ़ कवि की रचना में विचार और अनुभूति के उभय पक्ष उच्चतम सामाजिक आशय की भूमिका पर आत्मसात होते हैं और वह स्वयं संश्लिष्ट तथा समष्टिगत व्यक्तित्व का रूप धारण कर लेती है। उसे विश्लेषण से नहीं समझा जा सकता, उसका अनुभव किया जा सकता है। रचना में रचनाकार का व्यक्तित्व संपुटित होता है परन्तु वह रचनाकार से अलग स्वतंत्र व्यक्तित्व भी होती है। काव्य का रसास्वादन इस स्वतंत्र व्यक्तित्व की अनुभूति पर टिक जाता है।

प्रश्न यह है कि काव्य का प्रयोजन क्या है—आत्मानुभूति या परानुभूति ? या विषय की अनुभूति ? क्या ये सभी काव्य-हेतु के अंतर्गत आ जाते हैं ? क्या काव्य का सहृदय विशिष्ट जन है या उसकी अनुभूति भाषा के द्वारा सामान्य जनों की अनुभूति का प्रतिनिधित्व करती है। सामयिक काव्य में जहाँ संवेदना के स्वर नए हैं, वहाँ भाषा भी असामान्य और प्रायोगिक हैं। वहाँ जन विशिष्ट से कैसे जुड़ेगा ? सामयिक काव्य के रसास्वादन की समस्या अप्रत्याशित जीवनस्पन्दनों और नए परिवेश से उत्पन्न नए रागात्मक संबंधों के आत्मसात की समस्या है। भाषा और छंद के नए प्रयोग नए प्रवर्त्तन की भूमिका पर ही महार्घ बनते हैं। आवश्यकता इस बात की है कि हम प्रयोगों की प्रयोग-मयता से दृष्टि हटा कर कवि के आशय और उसकी नव्य अनुभूति पर दृष्टि

केन्द्रित करें। सामयिक को शाश्वत की भूमिका पर से देख कर ही हम उसकी नवीनता के प्रति अपने अतिवादी आग्रह को कम कर सकते हैं। काव्य का रस वैचित्र्य का रस नहीं है, वह निगूढ़ चेतना और व्यापक सहानुभूति की उपज है। भाषा और शिल्प सब जगह माध्यम हैं,—प्रथित में भी, प्रयोगी में भी,—इस सत्य के हृदयंगम करने पर ही हम काव्य की प्रेषणीयता के प्रश्न को सुलझा सकेंगे।

नयी कविता पर लांछा लगाई गई है कि वह प्रयोग के लिए प्रयोग को अपनाती है, वह ठाली बैठों का धंधा है, कवि-क्रीड़ा मात्र है। कदाचित् इसी धारणा के कारण हमारे कुछ वरिष्ठ समीक्षकों के लिए "नयी कविता" के मर्म तक पहुँचना कठिन हो गया है। यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक युग में कविता सभी सामाजिकों के द्वारा अनुभूतिगम्य हो, न यह कि उसमें समस्त युग का भावस्पन्दन हो। अपने देश-काल से बाहर जा कर भी कोई काव्य-धारा हृदयंगम हो सकती है और यदि वह निरंतर सभी युगों और सभी देशों में कुछ सहृदयों के द्वारा आत्मसात की जा सकती है तो वह सार्थक है। सार्थकता काव्य के सव्यसाचीपन में नहीं, उसकी निगूढ़ता, व्यक्तिमत्ता और निजता में है। सामयिक कविता में यह सार्थकता पर्याप्त मात्रा में मिलेगी।

सामयिक काव्य को बौद्धिक बतलाया गया है परन्तु उसकी बौद्धिकता आत्मपरकता की कोटि की चीज़ है। उसमें नयी पीढ़ी का भावात्मक और बौद्धिक ऐश्वर्य तो है ही, साथ ही उसका मौलिक परिवेश भी है। इस भौतिक परिवेश को हम आधुनिक युग की संवेदना का एक अंश मान सकते हैं। परन्तु वह हमारी सामयिकता का बहुत थोड़ा अंश है। सामयिक काव्य को युग का प्रतिनिधि काव्य ही नहीं बनना है, उसे पहले काव्य बनना है। इसी प्रकार युग के प्रति ईमानदारी और असंतोष सामयिक काव्य के महत्वपूर्ण अंग हैं और इससे जान पड़ता है कि नयी कविता ने एक नया गांभीर्य और अभिनव सामाजिक महत्व प्राप्त किया है। प्रयोगवादी काव्य में ये तत्व स्पष्ट नहीं थे। वह बहुत अंशों में व्यक्तिवादी काव्य था। वह एक छोटे से वर्ग की कलात्मक अभिरुचि तक सीमित था। वह चित्रण में नया था, चिन्तन में नहीं। पिछले वर्षों में नयी कविता ने सामाजिक मूल्यों को अपनाया है और कवि अपने समाजगत संबंध की अभिव्यक्ति करने लगा है। वह नैतिक प्रश्नों के साथ है, उनसे तटस्थ नहीं है। धर्मवीर "भारती" के "अंधा युग" से लेकर दिनकर सोनवालकर की रचनाओं तक सामयिक काव्य की समाजपरता बढ़ती ही गई है। तात्कालिकता की वेदी पर शाश्वत का बलिदान

हम नहीं कर सकते, न सामाजिक मूल्यों के नीचे व्यक्तिगत मूल्यों को दबा सकते हैं। नयी कविता ने भविष्यत् से वर्तमान और समाज से व्यक्ति तक के संपूर्ण क्षेत्र को अपना लिया है और उसके रसास्वादन के लिए हमें बोधि या अनुभूति के पूरे "सरगम" पर दौड़ना आवश्यक हो जाता है।

व्यक्ति की व्यक्तिमत्ता (निजता) और उसकी समाजगत सदस्यता से मिल कर एक इकाई बनती है। वही आज के मनुष्य की इकाई है। यह इकाई कवि की भी है और पाठक की भी। दोनों को जोड़ने वाली चीज़ अनुभूति या संवेदना है जो युग और भाषा के दो माध्यमों के द्वारा इन दो छोरों को जोड़ती है। अपनी व्यथा में कवि मौन के साथ है क्योंकि तब वह समाज का सदस्य नहीं है, इकेला है और इकेलेपन की पीड़ा उसे समाज के अन्य सदस्यों से अलग कर एक निजी व्यक्तित्व देती है। परन्तु वह अपनी सामाजिक भूमिका को सब समय के लिए छोड़ भी नहीं सकता और उसकी मुखरता में उसके सामाजिक संबंधों, सहानुभूतियों एवं सहजीवन के अनुभवों की हीं अभिव्यक्ति होती है। सामयिक काव्य का रसास्वादन इसीलिए सरल बात नहीं है क्योंकि वह नए जीवन की संपूर्णता तथा निगूढ़ता को एक ही साथ, कभी-कभी एक ही रचना में, व्यक्त करना चाहता है। उसमें आज के कवि का मौन भी उतना ही मुखर है जितनी उसकी वाचालता। उसे शब्दों के भीतर से भी पकड़ना होगा और बाहर से भी। शब्द को अशब्द की सीमा तक खींच कर ही हम आज के अनिर्दिष्ट और अस्फुट संवेदनों को अपने लिए मूर्त्त कर सकते हैं। हमारी चेतना के क्षितिजों पर घूमने वाले अदृश्य नक्षत्र भाषा के धूपछांही उजाले में ही पकड़े जा सकते हैं। ऐसी स्थिति में सामयिक काव्य के रसास्वादन की समस्या नए जीवन और नए मनुष्य के प्रति बौद्धिक और हार्दिक सहानुभूति की समस्या ही नहीं है, वह संवेदना के क्षेत्र में हमारे निरंतर समृद्ध और विकासमान होने की समस्या भी है। हमें नए जीवन का संस्पर्श चाहिये। सामयिक काव्य का नयापन नए जीवन के परिवेश, नए विचार तथा यौन-संबंधी नई अनुभूतियों तक ही सीमित नहीं हो, उसमें हम नए राष्ट्रीय जीवन और सार्वभौमिक चिन्तन का भी स्पन्दन भी पा सकें। सामयिक काव्य के रसास्वादन की समस्या को भाषा की प्रेषणीयता और छंदों की नवीनता तक सीमित कर हमने युगधर्म के प्रति अपने दृष्टिकोण को संकुचित कर लिया है। सामयिक जीवन की तरह आज का सामयिक काव्य भी प्रयोग का विषय नहीं, वस्तु-स्थिति का सत्य है। वर्त्तमान क्षण को अपने संपूर्ण व्यक्तित्व की जागरूकता देकर ही हम उसे रस की मार्मिकता में आस्वादनीय बना सकेंगे।

आज का आलोचना-साहित्य

आज के हिन्दी आलोचना-साहित्य के पीछे लगभग सौ वर्षों के विकास का इतिहास है और उसमें हमारे बौद्धिक वर्ग की सौन्दर्य-चेतना के नव-निर्माण का इतिहास ही गुंफित नहीं है, पश्चिमी साहित्य के अध्ययन और आस्वादन से विकसित उसकी नई साहित्यिक दृष्टि का स्वरूप भी उसमें प्रतिफलित है। इसीलिए सामयिक समीक्षा के विवेचन के लिए ऐतिहासिक भूमिका अनिवार्य हो जाती है। यह स्पष्ट कर देना होगा कि हमारे साहित्य की तरह समीक्षा की सीमा-रेखा भी मध्यवर्ग ही है और उसी की चेतना में हमारा सौन्दर्य-बोध और रसास्वादन मूर्त्तिमान है। मध्यवर्ग में भी बौद्धिक और शिष्ट जन ही हमारी साहित्यिक चेतना के केन्द्र में हैं और उन्हीं की प्रवृत्तियाँ हमारे साहि-त्यिक "वादों" तथा सर्जनात्मक प्रेरणाओं में मुखरित होती हैं।

प्रश्न यह है कि समीक्षा से हमने क्या समझा है और उसके हेतु तथा लक्ष्य क्या हैं? समीक्षा क्या रसास्वादन है या मूल्यांकन? क्या वह वादीय जीवन-दृष्टि है या उसमें हम सीधे जीवन की साक्षात्कारी और समीपी अनुभूति तक पहुँचते हैं? मेरे विचार में पिछले तीस वर्ष हिन्दी समीक्षा के स्वर्ण युग का निर्माण करते हैं और इन वर्षों में हमने पुराने मार्गों को प्रशस्त ही नहीं किया है वरन् अपने लिए नई राहें भी खोज निकाली हैं। सामयिक समीक्षा का धरातल ही ऊँचा नहीं है, उसका स्वरूप और विन्यास भी भिन्न है और उसमें साहित्य तथा जीवन के सम्बन्ध में जिज्ञासा और समाधान के अनेक रूप दिख-लाई देते हैं। समीक्षा के दो छोर हैं,—एक छोर है अंतर्ज्ञान जो व्याख्या या सूचना तक सीमित हो सकता है। समीक्षा को वैज्ञानिक बना कर हम उसके रस-कोषों को क्षीण कर देते हैं। दूसरा छोर है रचना का रसास्वादन परन्तु उसके साथ भी यह भय लगा हुआ है कि वह व्यक्तिगत और प्रभाववादी कोटि की वस्तु नहीं बन जाये। सच तो यह है कि समीक्षा की मर्यादा इन दो अति-वादों के बीच में है और प्रकृत्य: मूल्यांकन और रसास्वादन में कोई असंगति भी नहीं है। रचना के आस्वादन के संबंध में हमारे पास अनेक मानदण्ड पश्चिमी संपर्क से पहले थे और पश्चिम के मापदण्डों को हमने नए समझौतों के द्वारा घर की चीज़ बना लिया है। प्रभाववादी आलोचना से आरम्भ कर आज हम विश्लेषणात्मक और मार्क्सवादी समीक्षा तक पहुँच गये हैं। आगे क्या है, यह कहना संभव नहीं है परन्तु यह स्पष्ट है कि आलोचना का संबंध जीवन की संपन्नता, प्रौढ़ता और विशिष्टता से है और उसके परिवर्त्तन के साथ समीक्षा का बदलना भी अनिवार्य है।

भारतीय नवजागरण पश्चिम के संघात का ही फल है। मध्ययुग की अगतिशील और रूढ़िवादी मनश्चेतना को पीछे छोड़ कर ही भारतवर्ष आधुनिक युग में प्रवेश करता है और पूर्वीय मन पर पश्चिमी विचार और चिन्तन की क्रिया-प्रतिक्रिया ही नवीन जीवन-चेतना को जन्म देती है। शक्ति और कर्म-चेतना से ओतप्रोत पश्चिम के मन के तारुण्य और उसकी दीप्ति ने भारतीय जीवन, कला और कला-चिन्तन पर गहरी छाप छोड़ी और उसे भीतर से उन्मुक्ति दी। फलस्वरूप घात-प्रतिघात की कई मंज़िलों को पार कर आज हम पश्चिम के साथ-साथ चल रहे हैं। मध्ययुग में हमारी साहित्य-चेतना जीवन के महत् उद्देश्यों और व्यापक भूमिकाओं को छोड़ बैठी और कला-साधना के गौण, सतही और आलंकारिक विन्यास ही हमारी आकांक्षा का विषय बने। हमने सामग्रिक अंतर्दृष्टि को खो दिया। नायिकाभेद की कड़ियों में उलझ कर हमने नारी के सौन्दर्य को वासना से कलुषित किया और अलंकारों की श्रेणियाँ बाँध कर समस्यापूर्ति के अखाड़े खड़े कर दिये। छविगृह में जलने वाली अकंपित दीपशिखा का स्थान वार-वनिता की चिर चंचल लावण्य छटा ने ले लिया। पश्चिमी संस्कृति के संघात से मध्यवर्ग के नेतृत्व में जो नया जीवन देश में विकसित हुआ उसके लिए साहित्य और कला के ये पैमाने एकदम छोटे थे। पश्चिमी साहित्य की लोकप्रियता के साथ पश्चिम की सौन्दर्यदृष्टि और कला-चेतना के प्रति भी हमारा आकर्षण बढ़ा और पश्चिमी आलोचकों के प्रश्न और समाधान हमारे चिन्तन और विवेचन के विषय बने। जहाँ पश्चिम के साहित्य-रूपों को अपना लिया गया वहाँ तो पश्चिम के सिद्धांतों और मानदण्डों का आना अनिवार्य ही था, जैसे उपन्यास, निबंध, जीवनी और आत्मकथा के क्षेत्रों में, परन्तु काव्य और नाटक के हमारे चिरपरिचित क्षेत्रों में भी रचना-तत्व और शिल्प में अभूतपूर्व परिवर्त्तन हुआ जिसके लिए हमारा पश्चिमी साहित्य का अध्ययन ही उत्तरदायी था। फलतः इन क्षेत्रों में भी हमारी दृष्टि उधार की ही रही। आरंभ में हम अरस्तू को भरत से बड़ा मान कर चले परन्तु राष्ट्रीय आत्मसम्मान के तक़ाज़े के साथ हमने शीघ्र ही इनमें पटरी बैठाने का प्रयत्न किया। अरस्तू की क्यों, आगे बढ़ कर हमने कॉलेरिज और आरनॉल्ड से रिचर्ड्स और इलियट तक की सारी ऐतिहासिक और विकासात्मक दूरी को कुछ ही दशकों में पार किया और साहित्य को रचनाकार, युग, शिल्प और भाषा के माध्यम से समझने के नए आयाम पश्चिम से प्राप्त किये। रसात्मक बोध की मनोवैज्ञानिक भूमिका

के क्षेत्र में हमारे पास बहुत कुछ और बहुत मात्रा में सूक्ष्म था परन्तु वह कवि की व्यक्तिगत अनुभूति और पाठक की निजी आस्वादन-क्षमता से संबंधित था। इन क्षेत्रों में भी हमने पश्चिम से पर्याप्त नवीन सामग्री प्राप्त की। तात्पर्य यह है कि आज का आलोचना-साहित्य पूर्व-पश्चिम की रसज्ञता और साहित्य-चेतना के आधार पर नई परंपरा का प्रवर्त्तक बना और उसके नए मूल्य बाज़ार में चलते सिक्के की मान्यता प्राप्त करने लगे।

छायावाद काव्य के साथ हिन्दी में आलोचना का स्वरूप एक विकसित हुआ जिसे सर्जनात्मक समीक्षा या प्रभाववादी समीक्षा कहा गया परन्तु समीक्षा शब्द के भीतर जिस मूल्यस्थापन और निर्णायकता का बोध सन्निहित है वह संतुलन की अपेक्षा रखता है। पूर्वी समीक्षा में सहृदय का पक्ष ही महत्वपूर्ण था, कवि, युग, शिल्प और भाषा की चर्चा कम हुई थी। काव्य और साहित्य के व्यक्तिगत पक्ष ने निर्वैयक्तिक और वैज्ञानिक तत्वों को दबा दिया था। पश्चिमी समीक्षा के संपर्क से साहित्य के आस्वादन का स्वरूप ही बदल गया। हमने कवि के विकास और रचना में उसके अंतर्जगत के उद्‌घाटन को पहली बार महत्व देना सीखा। परन्तु यह नयी समीक्षा का एक पक्ष था। दूसरा पक्ष कवि अथवा साहित्यकार के परिवेश और युग से संबंधित था क्योंकि विषय ही नहीं, अनुभूति पर भी युग का रंग चढ़ना अनिवार्य बात है। तीसरा पक्ष साहित्य और काव्य के रूप-विशेष और शिल्प का था। काव्य, नाटक, उपन्यास, कहानी और निबंध अपनी-अपनी मर्यादाओं के भीतर ही विशिष्ट बनते हैं और इनके शिल्प की विभितन्ना संवेदना की प्रकृति और उसकी गंभीरता पर प्रभाव डालती है। अंत में भाषा का एक पक्ष है क्योंकि उसमें बद्ध परंपरा को कवि अपनी सूझ-बूझ और प्रतिभा के द्वारा नवीनता की और मोड़ता है। विचार, संवेदन और अंतर्बोध को बिंबों, प्रतीकों, ध्वनियों एवं संकेतों के द्वारा साधारणीकृत करना भाषा की क्षमता का ही प्रमाण है। आधुनिक काव्य में प्रेषणीयता का प्रश्न अत्यंत जटिल हो गया है क्योंकि युग-जीवन के विभिन्न धरातलों की अभिव्यक्ति समान भाषा से नहीं हो सकती और भाषा को कवि या कलाकार के भावों का निकटतम प्रतिनिधित्व मिलना उतना ही आवश्यक है जितना उसका वर्गों की दरारें पाटना। जहाँ सब हाशिये पर ही रहते हैं वहाँ भाषा में "हृदय की बात" कह कर केन्द्र को छूते रहना कम सार्थकता नहीं है। इसी से सामाजिक काव्य और कथा-साहित्य का एक वर्ग भाषा को

ही निःशेष हो जाता है और "भाषाई" समीक्षकों का एक दल भी पश्चिम में उठा है। जो हो, यह स्पष्ट है कि आधुनिक समीक्षा हमें दायरे के बाहर निकाल कर कवि के मन और युग के केन्द्र में खड़ा कर देती है और हम भाषा तथा शिल्प के संबंध में आवश्यकता से अधिक जागरूक हो जाते हैं।

साहित्य को युगों और प्रवृत्तियों में बाँट कर, उसमें राष्ट्रीय उपसर्गों की स्थापना कर, उसे कला के अन्य प्रकारों से स्वतंत्र, निरपेक्ष और स्वावलंबी बना कर तथा साहित्य के विभिन्न रूपों के तुलनात्मक उत्कर्ष का पता लगा कर हमने पश्चिम की समीक्षा-पद्धति को ही अपनाया है। भारतीय काव्य और साहित्य की रसज्ञता के अवयव इनसे भिन्न थे। नई प्रजातत्री चेतना ने युग और जीवन को साहित्य के केन्द्र में प्रतिष्ठित किया और कवि के अंतर्मन के रहस्यमय और अबूझे कोनों में प्रवेश कर प्रतीकों, बिंबों और स्वप्नों के नए छायालोकों का पता लगाया। पश्चिमी साहित्य-समीक्षा के सिद्धांतों के प्रकाश में हमने अपने सांस्कृतिक दाय की नए सिरे से परीक्षा की। पूर्व-पश्चिम के आदान-प्रदान की प्रक्रिया अन्य क्षेत्रों की भाँति साहित्य और समीक्षा के क्षेत्रों में भी आज तक बराबर चल रही है और आधुनिक साहित्य और समीक्षा का विकासात्मक इतिहास हमारे आत्मसंकोच, समन्वय और स्वातंत्र्य की क्रमिक प्रगति का सूचक है। अभी हम अपनी साहित्यिक और समीक्षात्मक चेनना को अपने राष्ट्रीय गौरव के अनुरूप आत्मनिष्ठा नहीं दे सके हैं। जितनी सीमा तक हमारा राष्ट्रीय व्यक्तित्व परिस्थितियों से दबा हुआ है उतनी ही सीमा तक हमारा सौन्दर्यबोध और रसास्वादन भी कुंठित है। पिछले तीस वर्षों में हम पश्चिम को ही अधिकाधिक आत्मसात कर सके हैं और आज का आलो-चना-साहित्य वादीय भूमिकाओं को छोड़ने में उसी प्रकार असमर्थ है जिस प्रकार हमारी मध्यवर्गीय संस्कृति पश्चिम के रहन-सहन, वेश-भूषा, भाषा और आचार-विचार में जकड़ी हुई है। आधुनिकीकरण और प्रजातंत्रीकरण की पश्चिमी प्रक्रियाओं ने हमारी राष्ट्रीय चेतना को ही कीलित नहीं किया है, उन्होंने हमारे साहित्य-बोध को भी जकड़ रखा है।

परन्तु ऐसा सदैव नहीं रहा है। हमारे पश्चिम के संबंधों ने अनेक मंज़िलें पार की हैं और हमारे नए रस-बोध और सौन्दर्यबोध की कहानियाँ भी बड़ी लंबी हैं। आरंभ में हम आत्महीनता से ग्रस्त हुए और भरत मुनि, भामह और आनन्दबर्द्धन जैसे पण्डित और आचार्य विस्मृत कर दिये गए। हम अंग्रेज़ों से भी बड़ा अंग्रेज बनना चाहते थे। हमने साहित्य और कला संबंधी अपनी

दृष्टि पश्चिम से ही उधार ली। शेक्सपियर और मिल्टन की तरह कॉलेरिज और आरनॉल्ड से भी हमने नैकट्य का अनुभव किया। राजनीतिक जीवन पर ही नहीं, पश्चिम हमारे सांस्कृतिक जीवन पर भी हावी हो गया और हमारा साहित्य-बोध भी बदला। परन्तु उसमें वास्तविकता नहीं थी, न पाठक को नई भावभूमि पर ले जाने की क्षमता ही थी। इस परिस्थिति को लेकर विद्रोह का भी जन्म हुआ और हम भरत मुनि और आनन्दवर्द्धन का जयघोष करने लगे। पश्चिम के बुद्धिवाद और उसकी ऐतिहासिक दृष्टि से हमें पता लगा कि हमारा साहित्यिक और समीक्षात्मक दाय अनेक प्रकार से महार्घ और महत्व-पूर्ण है। पूर्व और पश्चिम दो दृष्टिकोणों के प्रतिनिधि दिखलाई पड़े, परन्तु पश्चिम की कर्मण्यता की चकाचौंध भी हमें लगी और हमने वहाँ से अनेक नए साहित्यिक मूल्यों का भी आयात आरंभ किया। पश्चिमी समीक्षा के नए मोड़ पर हमें रिचर्ड्स, एम्पसन और "नयी समीक्षा" का भाषात्मक दृष्टिकोण भी मिला। इन दो जगतों का मिलन-बिन्दु हमें रस-सिद्धांत में मिला जिसकी पुनर्व्याख्या का प्रयत्न आचार्य रामचंद्र शुक्ल से आज तक बराबर दिखलाई देता है। अन्य प्राचीन संप्रदायों का भी सम्यक् अध्ययन हुआ। रस द्रष्टागत है, परन्तु विषय, शिल्प और भाषा की स्वतंत्र सत्ता है और जीवन के व्याख्याता तथा नवसर्जक के रूप में हमारे आस्वादन की परिधि भी बढ़ जाती है। गाँधी, रवीन्द्र और अरविंद की साहित्यिक दृष्टियों ने नए दृष्टिकोणों को भी जन्म दिया। तात्पर्य यह है कि पश्चिम का बहुत कुछ, कुछ वैसा ही, कुछ हमारे पुरातन सिद्धांतों का छद्म वेष धारण कर हमारा अपना बना। कविता को कविदृष्टि ही नहीं, ऋषि-दृष्टि भी समझा गया। नैतिक मूल्यों को सौन्दर्य-चेतना का अविच्छिन्न अंग मान कर हम साहित्य और समीक्षा को जीवनधर्मी बना सके। प्रश्न यह है कि यह आदान-प्रदान, समन्वय और आत्म-निष्ठा आज के आलोचना-साहित्य में कहाँ और कितनी प्रतिफलित है।

पिछले दिनों में इलियट की भाँति हमारे समीक्षकों को भी ऐसा लगा है कि हम काव्येतर भूमिकाओं और शास्त्रों के इन्द्रजाल में खो गये हैं और हमारी समीक्षा स्रोतों की ओर अधिक देखती है, रचना को अपरिचित ही छोड़ देती है। जहाँ पिछले खेवे के समीक्षक इतिहास के ऋणी थे, वहाँ आज के समीक्षक समाजशास्त्रीय अध्ययन को बहुमान्यता देते हैं। रचना का स्वतंत्र, निरपेक्ष और निजी व्यक्तित्व हमारे लिए आज नई चुनौती बन गया है। मार्क्सकीय और फ्रायडीय समीक्षा-पद्धतियाँ भी लागू की गई हैं और आज की हिन्दी

समीक्षा पर इन वादों की गहरी छाप है परन्तु मार्क्सवाद रचना के सामाजिक स्रोतों के विश्लेषण में तो सहायक हो सकता है वह उसके सौन्दर्य का समाधान नहीं बन सकता। इसी प्रकार फ्रायडवाद अवचेतन की सर्जनात्मक प्रक्रिया का तो उपयोग करता है परन्तु चेतन मन की अत्यंत समर्थ और जागरूक अभिव्यक्तियों को छोड़ देता है। शास्त्रीय समीक्षाओं की इन एकांगिताओं से अब हम भली भाँति परिचित हो गये हैं और अपने वैज्ञानिकता तथा शास्त्रीयता के आग्रह को थोड़ा ढीला करने लगे हैं।

पश्चिम की समीक्षा में काव्य का कोई ऐसा निरपेक्ष और शाश्वत मानदण्ड नहीं है जैसा भारतीय समीक्षा में 'रस'। अनुभूति की सापेक्षिकता और सामाजिक बोध को ही वहाँ अधिक महत्व मिला है। फलतः काव्य में तरतमता का आग्रह है कि उसे जीवन-धर्मी मान कर संतोष कर लिया जाये। तटस्थ, मूलभूत, अंतरंगी और शाश्वत कोटि की चीज़ वहाँ काव्य नहीं है। काव्यानुभूति और रसास्वादन की पूर्णता की जो कल्पना रस में है वह "ब्रह्मानन्द-सहोदर" कह कर लोकोत्तर, विशिष्ट और पूर्णातिपूर्ण मान ली गई है परन्तु पश्चिम उतनी दूरी तक जाने का साहस नहीं करता। फलतः वह सापेक्षता, तरतमता और काव्यानुभूति के विश्लेषण में ही उलझ कर रह जाता है। भारतीय समीक्षक के लिए व्यावहारिक और सापेक्षिक मान्यताओं से ऊपर उठ कर शाश्वत सौन्दर्यबोध और आत्मानुभूति के उच्चतम शिखर तक पहुँचना अनिवार्य ही नहीं, सरल भी है क्योंकि उसके आध्यात्मिक और नैतिक संस्कार व्यक्तित्व की गहराइयों में उतरने के आदि हैं। यह ठीक है कि पश्चिम की सामाजिक और सापेक्षिक दृष्टि हमारे लिए मूल्यवान रही है क्योंकि उसने हमें निचले स्तरों पर अनेक जीवन-सापेक्ष मानदण्ड दिये हैं, परन्तु वे हमारी रस-दृष्टि के पूरक ही बन सकते हैं, उसका स्थान नहीं ले सकते।

१९२३ ई० में अपने एक निबंध "द फ़ंक्शन आफ़ क्रिटिसिज़्म" में इलियट ने कलाकृतियों के स्पष्टीकरण और अभिरुचि के परिष्करण को समीक्षा का अंतिम लक्ष्य माना है। उनके विचार में समीक्षक के अस्त्र हैं तुलना और विश्लेषण यद्यपि इनका उपयोग अलक्षित तथा अतिवादी ढंग से नहीं हो सकता। जहाँ समीक्षक धारणाओं, मतों तथा कल्पनाओं का आरोप करता है वहाँ युग की अभिरुचि कुंठित और विकृत होती है। जहाँ वह कलाकृतियों के स्पष्टीकरण से इतिहास, पुरातत्व, जीवनी-शास्त्र तथा मनोविश्लेषण को ही सब कुछ समझ लेता है वहाँ वह समीक्षा के क्षेत्र बाहर हो जाता है। कहाँ तक

समीक्षा साहित्य है और किस सीमा तक वह समीक्षा है, यह जान कर ही हम समीक्षा को साहित्य की मर्यादा दे सकते हैं। पच्चीस वर्षों बाद अपने दूसरे निबंध "द फ़्रान्टियर्स आफ़ क्रिटिसिज़्म" (१९५६) में इलियट ने शास्त्रीय समीक्षा की अतिवादिता का विरोध किया है और आस्वादन की परिपूर्णता को शाश्वत मानदण्ड बना कर चलने की सुविधा की ओर इंगित किया है। वस्तुत: लोकधर्मी और लोकोत्तर सवेदनाएं एक ही साहित्य-धर्म के दो पहलू हैं। उनमें तरतमता की स्थापना व्यावहारिक ही है, मूलभूत नहीं क्योंकि शाश्वत जीवनधर्म और युगधर्म का कोई तात्विक विरोध नहीं है। कलाकार की मनोभूमि में युगसत्य आत्मधर्मी और संवेदनशील बन कर शाश्वत जीवन-बोध में बदलता रहता है। आवश्यकता इस बात की है कि पूर्व-पश्चिम के इस मिलन-बिन्दु को हम साहित्य-संगम का नया बोध दें। समीक्षा की सर्जनात्मकता और अभिरुचिमूलकता को सुरक्षित रखते हुए उसके व्याख्यात्मक, स्रोतमूलक और ऐतिहासिक अध्ययन को साहित्य की मर्यादा के भीतर उपयोग में लाना ही आज की आलोचना की सार्थकता कही जा सकती है। यह मध्यम-मार्गी स्थिति ही हमें द्विधाओं से उबार सकेगी। साहित्य-समीक्षा का लक्ष्य पाठकों के जीवन-बोध और आस्वादन को पुष्ट करना है, परन्तु यदि रचना उनकी अभिरुचि के अन्य क्षेत्रों को स्पर्श करती है तो उनसे वह अपने संदर्भों को पुष्ट भी कर सकता है। जीवन की समग्रगत चेतना में अनुभव, अनुभूति, संकल्प-विकल्प और आस्था सभी आ जाते हैं और प्रज्ञावादी मनुष्य के लिए उन्हें छोड़ना संभव नहीं है। परन्तु इस व्यापक भूमिका के निर्वाह में रचना के सम्यक् ज्ञान (बोधि) और रसानुभूति के पक्षों के आस्वादन का लक्ष्य बना रहना चाहिये। इन दोनों पक्षों में से हम एक को दूसरे से अधिक महत्व नहीं दे सकते। दोनों के संतुलन में ही समीक्षा-धर्म की चरितार्थता है।

इस पृष्ठभूमि में आज की हिन्दी आलोचना की क्या स्थिति है? क्या उसमें हमारी मन:स्फूर्त्ति का सर्वश्रेष्ठ आ सका है? क्या हमने पश्चिम के अनुकरण-अनुसरण और वादीय भूमिकाओं से ऊपर उठ कर अपने स्वतंत्र मानदण्डों का आविष्कार कर लिया है, या इस प्रकार के स्वतंत्र समीक्षा-शास्त्र की आवश्यकता भी है? उसकी दिशाएँ क्या हैं और सामयिक साहित्य के गत्यावरोध का उस पर क्या प्रभाव पड़ा है? ऐसे अनेक प्रश्न आज हमारे सामने हैं।

प्रभाववादी अथवा सर्जनात्मक समीक्षा से हम बहुत आगे बढ़ आये हैं और पिछले ३०–३२ वर्षों में हमने वैज्ञानिक विश्लेषण, शास्त्रीय चिन्तन और ऊहा-

त्मक विवेचना को अधिक प्रश्रय दिया है। छायावाद काव्य के आविर्भाव और विकास के साथ स्वच्छंदतावादी समीक्षा-शैली का भी जन्म हुआ और इस आन्दोलन की समाप्ति पर हमने प्रगतिवादी (मार्क्सवादी) और फ़ायडवादी समीक्षा का भी विकास किया। पिछले बीस वर्षों में समीक्षा-क्षेत्र में इन दो विचार-धाराओं और साहित्यचिन्तनों की प्रधानता रही है। इन दोनों के साथ कुछ ऐसे समीक्षक भी हमारे बीच में हैं जो साहित्य को इन दोनों वादों से अलग रखते हैं और उसके अपने निजी मानदण्ड चाहते हैं। ये मानदण्ड क्या हों, उनमें पूर्वी-पश्चिमी साहित्य-चिन्तन का कितना और कैसा समन्वय हो, इन प्रश्नों को लेकर मतभेद भी हो सकता है, परन्तु साहित्य के साहित्येतर मान-दण्डों से परखना इस वर्ग को स्वीकार नहीं है। इसे हम सौन्दर्यवादी अथवा रसवादी समीक्षा कह सकते हैं। पाँचवी कोटि की समीक्षा सौष्ठववादी या सर्वसंग्रही समीक्षा है जो समीक्षा के विश्वविद्यालयीन स्तर का निर्माण करती है। उसमें आवश्यकता के अनुसार सभी दृष्टिकोणों का उपयोग होता है।

यह निश्चित है कि नई समीक्षा के विकास में साहित्य के उच्चस्तरीय अध्ययन का योग महत्वपूर्ण है। विश्वविद्यालयों की साहित्य-कक्षाओं में व्यावहारिक समीक्षा के रूप में जन्म ले कर नया समीक्षा-बोध बहुशास्त्रीय और सटीक बन गया है। कॉलेजों और विश्वविद्यालयों में शोध और समीक्षा का दौरदौरा चल रहा है। द्विवेदी युग में साहित्यिक पत्रकारिता ने पुस्तक-परीक्षा और समीक्षात्मक निबंध का विकास किया, परन्तु बाद में यह माध्यम अपर्याप्त सिद्ध हुआ। पिछली पीढ़ी के आलोचक अधिक व्यापक जनता के लिए लिखते थे, परन्तु अपने गंभीर पत्रों का पाठक-समाज अपेक्षाकृत छोटा हो गया है और समीक्षा विशेषज्ञता की वस्तु बन गई है। शोधात्मक समीक्षा शोधप्रबंधों तक ही सीमित नहीं, वह बाज़ार का चलता सिक्का है क्योंकि प्रामाणिकता का ढोंग आज के वैज्ञानिक युग की अनिवार्यता बन गया है। दर्शन, सौन्दर्य-शास्त्र, मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, भाषाशास्त्र और अर्थविज्ञान को समीक्षा के क्षेत्र में लागू कर उसे पाण्डित्य का दर्प दे दिया गया है तो अध्यापक-समीक्षक की तटस्थ और सर्वग्राही समीक्षा ने उसके भीतर का डंक ही तोड़ दिया है। आज की आलोचना का संबंध साहित्य के रसास्वादन से उतना नहीं है जितना उसकी विविध सर्जनात्मक भूमिकाओं के उद्घाटन से। कला का दामन छोड़ कर वह शास्त्र और विज्ञान की बैसाखियों पर टिक गई है।

शिक्षा और संस्कृति

शिक्षा और संस्कृति

शिक्षा संस्कृति के सुरक्षण तथा विस्तार का एक प्रमुख माध्यम है। जाने वाली पीढ़ी अगली तरुण पीढ़ी के हाथ में संस्कृति का जो दीपदण्ड देती है वह शिक्षा की ही प्रक्रिया है। इस प्रकार शिक्षा साधन है, संस्कृति साध्य। इस दृष्टि से शिक्षा हमारे लिये और भी महत्वपूर्ण हो जाती है। वह सूचना से उठ कर सार्थकता बन जाती है। यह सार्थकता नयी पीढ़ी के निर्माण की सार्थकता है।

इसके लिये शिक्षा को सर्जनात्मक बनना होगा। हमारी आधुनिक शिक्षा सूचनात्मक है, सर्जनात्मक नहीं, क्योंकि उसमें व्यक्तित्व के निर्माण की क्षमता नहीं है। वह हमें भीतर से नहीं गढ़ती। आखिर संस्कृति क्या है ? वह सुखी और आनन्द जीवन ही है। हम सत्य, शिव और सुन्दर में जियें, आहार-निद्रा-भय-मैथुनादि से ऊपर उठ कर हम मानव-जीवन को सार्थकता दें। पशु और मनुष्य में अन्तर कहाँ है ? पशु प्रकृतिगत जीता है, मनुष्य संस्कृतिगत,—यही अंतर है। संस्कृति मनुष्य की सत्य, शिव और सुन्दर की साधना का ही दूसरा नाम है।

प्रश्न यह है कि हम शिक्षा के द्वारा सत्य, शिव और सुन्दर की साधना कैसे कर सकते हैं। सत्य की साधना हमारे चेतन मन का विषय है। यह निश्चय है कि सत्य-जिज्ञासा मानव का मूल प्रकृति है। वह बुद्धि, तर्क, अंतर्ज्ञान और मनन का विषय है। उसका सब से स्थूल रूप यह है कि हम पूर्वजों के अर्जित ज्ञान से परिचित हों और उनके अनुभवों से लाभ उठाएँ। इसे ज्ञान-विज्ञान कहा गया है। ज्ञान और विज्ञान का क्षेत्र बुद्धि के उपयोग का विशिष्ट क्षेत्र हैं। कार्य-कारणमूलक अथवा प्रयोग-निष्कर्षमूलक तर्कबुद्धि ही हमारे समस्त शास्त्रों का मूल है। उपयोगी शास्त्र, इतिहास, दर्शन और विज्ञान इसी क्षेत्र की चीजें हैं। यह संभव नहीं है कि प्रत्येक मनुष्य ज्ञान-विज्ञान के इस अपार कोष को अपनी संपति बना सके। वह किसी विशेष या किन्हीं विशेष क्षेत्रों

में सीमित रहेगा, परन्तु सामूहिक रूप से एक युग की समस्त मनुष्य-जाति पिछले युग के सामग्रिक ज्ञान-विज्ञान का वहन करेगी और उसे नयी पीढ़ी तक पहुँचायेगी। प्रत्येक राष्ट्र का शिष्ट समाज विशेषज्ञता और विशिष्टता के द्वारा इस बौद्धिक साधना को चरितार्थ करता है। शिक्षित समाज ही चेतन मन की ज्ञान-विज्ञान विषयक उपलब्धियों का वाहक होगा और विशेष वर्ग के रूप में उसका शिष्ट वर्ग उसके संरक्षण एवं प्रसार के लिये तथा विभिन्न ज्ञान-विज्ञानों के परस्पर आदान-प्रदान के लिये उत्तरदायी रहेगा।

परन्तु कठिनाई यह कि शास्त्र-ज्ञान हमारे लिये बोझा बन जाता है और हम जीवन भर उसके भार में दबे रहते हैं। उसे सत्य-जिज्ञासा का माध्यम बना कर ही हम इस भार को हल्का कर सकते हैं। वह हमें जीवनदृष्टि दे और वह चीज़ बन जाये जिसे "विद्या" (या "विस्डम") कहा गया है। वह हमारे लिये शक्ति नहीं बने, शांति भी बने। जैसे-जैसे हम ज्ञान-विज्ञान के प्रति आग्रही होते गये हैं वह शक्ति बनता गया है, परन्तु कोरी शक्ति की साधना हमें स्पर्द्धात्मक बनाती है और तब ज्ञान आनन्द का विषय न बन कर अशांति को जन्म देने लगता है। हम ज्ञान के लिये ज्ञान की उपलब्धि करें और उसे सर्जन और सहयोग का साधक बना लें।

क्या हमारी शिक्षा सर्जनात्मक और सहयोगात्मक है ? क्या उसमें मौलिक चिन्तन, व्यक्तिगत प्रयत्न तथा सहयोगी जीवन-मूल्यों को प्रश्रय मिला है ? क्या वह जीवन के लिये तैयार करती है ? क्या उसमें वातावरण का समुचित और सार्थक उपयोग हुआ हैं ? ऐसे अनेक प्रश्न हमारे सामने आते हैं। जब तक हम अपने शिक्षा-केन्द्रों को प्रकृति से सुन्दर, ज्ञान-भाण्डार से संपन्न और कलात्मक चेतनाओं से पुष्ट नहीं बनाते, वे "तपोवन" नहीं बन सकते। शिक्षा तप है परन्तु भारतवर्ष ने उनकी प्रतिष्ठा नगरों के भीतर न कर प्रकृति की क्रोड़ में की थी। प्रकृति के सौन्दर्य, उल्लास और नैसर्गिक जीवन के भीतर ही ज्ञान की साधना स्वस्थ और आनंदनीय भूमिका पर चल सकती है। इसके लिए संघर्ष का वातावरण नहीं चाहिये, न उपयोगिता का बवंडर उसे घेर कर चले। देह, बुद्धि की साधना को एक साथ लेकर चलना ही तप है। स्वस्थ देह में ही सुन्दर मन और सुन्दर बुद्धि का निवास होगा।

मरुभूमि में हम क्या उगायेंगे ? कुओं में विष और भाँग घोल कर हम उनसे जीवनप्रद जल कैसे पा सकेंगे ? हमारे नगर मानसिक और आध्यात्मिक दृष्टि से उजड़ा ग्राम हैं। वहाँ ज्ञान की साधना अहं की साधना बन रही है। वह अधिक-से-अधिक नशा बन सकती है, अमृत बनना उसके लिये असंभव बात है। हमारे विश्वविद्यालयों में अजायबघर कहाँ है ? कला-कक्षों, संगीत-भवनों, सरस्वती-मंदिरों, नाट्यभवनों, विचार-गोष्ठियों और सुन्दर तथा संपन्न पुस्त-कालयों की योजना हम कहाँ और कितनी कर सके हैं ? इसीलिए हमारे विद्या-भवन नागफनी के देश बन गये हैं और उनमें ज्ञान की जो आँधी उठती है वह परीक्षापत्रों में ही हलचल उठा सकती है। उससे हमारे मन को तोष नहीं मिलता।

परन्तु चेतन मन की उपलब्धियों से ही संस्कृति नहीं बनती। चेतन मन के नीचे उपचेतन मन है जो शिव और सुन्दर की क्रीड़ा-भूमि है। लोकमंगल, नीति, धर्म और आचार-विचार अंतर्बोध पर आधारित हैं। उनके लिए उस प्रकार की व्यवस्था संभव नहीं है जिस प्रकार शास्त्र-ज्ञान की व्यवस्था संभव है। वे मूल्यगत हैं, अतः यह आवश्यक है कि हम जीवन के "मूल्यों" को अपने मनन-चिन्तन, व्यवहार और साधना का विषय बना सकें। इसी प्रकार जो सौन्दर्य-चेतना हमारी कला-साधना का मूल है वह सतही वस्तु नहीं है, आत्मिक और गहरी चीज़ है। उसका मूलाधार हमारी प्रवृत्तियाँ, संवेदनाएँ तथा अभि-रुचियाँ हैं। यह हमारे व्यक्तित्व का भूगर्भीय कक्ष है। चेतन मन तार्किक ज्ञान और बुद्धि के द्वारा हमारी प्रवृत्तियों को अनुशासित कर सकता है, परन्तु उनके विकास तथा दिशा-निर्देश में वह अक्षम है। धर्म और कला बुद्धि के आविष्कार नहीं हैं। प्रत्येक मनुष्य लोकमंगल की भावना तथा सौन्दर्य-चेतना को लेकर जन्म लेता है। पाप-पुण्य और सुन्दर-असुन्दर को पहचानने की क्षमता हमें सहजात मिली है। यह हमारा उपचेतनीय संबल है। इसे आत्म-चेतन और जागरूक बना कर ही हम मनुष्य को संस्कृत बना सकते हैं। शिक्षा का उद्देश्य यह होना चाहिये कि वह शिव और सुन्दर के प्रति हमारे इस आभ्यंतरिक प्रेम को सक्रिय बनाये, बाहर लाये और प्रबुद्ध करे। धारणा का नहीं, भावना का क्षेत्र भी शिक्षा का क्षेत्र है—संवेदनाओं के संस्कार के द्वारा ही हम लोकमंगल के भाव से संपन्न और सौन्दर्य-चेतस् बन सकते हैं। शिव

और सुन्दर की चेतना को निरंतर शाण देते रहने का नाम ही आत्मसंस्कार है। वह शिक्षा नितांत अधूरी है जिसमें धर्मदृष्टि तथा कला-चेतना के परिष्करण एवं उन्नयन को स्थान नहीं मिला है। हमारी शिक्षा-योजना में धर्म, अध्यात्म, नैतिकता और कला की शिक्षा को कोई स्थान नहीं मिला है। बड़ौदा और शांतिनिकेतन जैसे कुछ विश्वविद्यालयों को छोड़ कर साहित्य, संगीत, मूर्त्तिकला और चित्रकला की शिक्षा की अवस्था कितने विश्वविद्यालयों में है ? सूचना के अंबार लग रहे हैं। साधना का नाम नहीं है। ऐसी स्थिति में आधुनिक शिक्षित मनुष्य भीतर से ख़ाली क्यों न हो ? हम उसे न जीवन-मूल्यों का अन्वेषी बना सकते हैं, न उसे कला की आँख देकर प्रकृति और जीवन के प्रति उल्लसित कर सकते हैं। फलतः शिक्षा उसके लिये आजीविका की तैयारी मात्र बन जाती है। श्रेय की साधना ही तो क्या, उससे प्रेय की साधना भी नहीं हो सकती। वह हमें बिकने के लिये बाज़ार में खड़ा कर सकती है, हमें आत्मप्रबोध और आत्मनिष्ठा नहीं दे सकती।

तात्पर्य यह कि शिक्षा का संस्कृति से नाता जुड़े और वह मानव के संपूर्ण व्यक्तित्व के लिये हो। चेतन और उपचेतन मन उससे पूर्णतः लाभान्वित हों और आज के जीवन की एकांगिता नष्ट हो। चेतन मन का बलात् आरोप जीवन को नीरस, दुर्वह और जड़ नियमों का शतरंजी खेल बना देता है तो उपचेतन का अबोध प्रसार उसे अप्रत्याशित, दुरूह और विस्फोटक। दोनों ही अतिवाद हैं। दोनों के संयमन और संतुलन में ही मानव का व्यक्तिगत और समष्टिगत कल्याण है। व्यक्ति को संतुलन और साहस में बाँध कर हम समाज, राष्ट्र और विश्व के लिये आस्था और आनन्द के स्रोत उन्मुक्त करते हैं। शिक्षा को संस्कृतिनिष्ठ और मूलबद्ध बना कर हम जीवन को आनन्द, सौन्दर्य और माधुर्य का वरदान दे सकेंगे। पिछले दो महायुद्धों ने मनुष्य के अन्तर्विरोधों और उसके उसकी पाशविक चेतनाओं के संबंध में हमें चिंताशील बना दिया है। यदि मानव-जाति को तीसरे महायुद्ध में आणविक प्रक्षेपणास्त्रों से नष्ट नहीं होना है तो यह आवश्यक है कि वह मनुष्य को भीतर से मर्यादित कर उसकी संस्थागत और सामूहिक चेष्टाओं का नियमन करे। व्यक्तिगत राग-द्वेष राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय भूमिकाओं पर सामूहिक संकट की सृष्टि करते हैं। भय अणु-अस्त्रों का नहीं है, उनके उपयोगकर्त्ता मनुष्य का है।

मनोवैज्ञानिक और अंतरंगी संतुलन के बिना मनुष्य संभवत: आज की संक्रांति से उबर नहीं सकेगा ।

शिक्षा को वैज्ञानिक और प्राविधिक (टेकनीकी) मूलाधार देकर हमने जहाँ भौतिक परिवेश को पूर्णत: बदल दिया है और जीवन को अप्रत्याशित गतिशीलता दे दी है, वहाँ साहित्य, कला, धर्म और दर्शन को अपनी चेतना से बहिष्कृत कर मानव-विकास को एकांगी बना दिया है। पिछली शताब्दी में विकास के सूत्र प्रकृति के हाथ से निकल कर मनुष्य के हाथ में पहुँच गये हैं और बंद गली में पहुँचने का अर्थ मानव-जाति का नाश भी हो सकता है। इसीलिये नैतिक और आत्मिक मूल्यों को साथ-साथ विकसित करते चलना है जिससे विज्ञान और टेकनीकी ज्ञान हमारे लिये भस्मासुर का हाथ नहीं बन जाये। व्यक्ति की क्षुद्रता यदि राष्ट्र की क्षुद्रता बन जाती है तो विज्ञान भस्मासुरी बन जाता है। इस सत्य को प्रत्येक क्षण सामने रख कर ही हम अणुविस्फोट को मानव-प्रेम और लोकहित की मर्यादा दे सकेंगे। अपरिसीम भौतिक शक्तियों का स्वामी मनुष्य आज अपने व्यक्तित्व के प्रति आस्थावान नहीं है और प्रतिक्षण अपने अस्तित्व के संबंध में शंकाग्रस्त है।

कैसे हम इस एकांगिता को दूर करें ? विज्ञान के साथ साहित्य और कला तथा साहित्य और कला के साथ विज्ञान की शिक्षा एक सीमा तक अनिवार्य हो और विशेषज्ञता का निर्वाह करते हुए भी हम सामान्य ज्ञान को उतनी व्यापकता दे सकें जितनी आज के अणुयुग में नितांत आवश्यक है। शिक्षा को जीवन, शांति और प्रजातंत्र तथा संस्कृति के लिये विकसित करने पर ही यह संभव हो सकेगा।

संस्कृति के परिवर्त्तन में वह निरंतरता क्या है जो उसे बद्धमूल करती है ? यदि है तो कहाँ है और हम उसे कैसे पकड़ें ? यह प्रश्न भी कम जटिल नहीं है। परन्तु इलियट ने अपने एक ग्रंथ में "क्लासिक्स" की ओर इंगित किया है। उनके विचार में विश्व-साहित्य की "क्लासिक्स" के अंतर्गत आने वाली रचनाएँ हमें वह भावात्मक एकता और मानवीय संवेदना की भूमिका

दे सकती हैं जो हमें भीतर से संतुलित कर सके और तात्कालिकता से बड़ा बोध बन सके। होमर, वाल्मीकि, व्यास, दांते, तुलसी, शेक्सपियर, कन्फ़्यूशस, लाउत्से, फ़िरदौसी, गेटे, कालिदास और टालसटाय प्रभृति लेखकों की कृतियाँ इस कोटि के अंतर्गत आती हैं वे ही मानव-जाति की सर्वश्रेष्ठ सांस्कृतिक उपलब्धियाँ हैं। उन्हें भाषाओं और राष्ट्रों की लक्ष्मण-रेखाओं से बाहर निकाल कर समान रूप से सार्वभौमिक महत्व देना होगा और शिक्षा के ठीक केन्द्र में उन्हें स्थान देना होगा। कदाचित् इसी दृष्टि से संयुक्त राष्ट्र संघ (यू० एन० ओ०) ने संसार की क्लासिक्स-रचनाओं को प्रमुख भाषाओं में रूपांतरित कराने की योजना तैयार की है। यह प्रारंभिक कार्य है, परन्तु आज की सांस्कृतिक संक्रांति की स्थिति में विश्व-मानव के निर्माण की दिशा में यह ठीक ही, यद्यपि पहला ही, क़दम होगा। कलान्तर में विश्वैक्य के अनेक अन्य सूत्र हमें मिलेंगे और यह विश्व प्रेम और सद्भावना का एक सुन्दर नीड़ बन जायेगा। महाकवि रवीन्द्र ने ही आधुनिक युग में पहली बार विश्व-जीवन की इस एकता की कल्पना की और शांतिनिकेतन के मूलमंत्र के रूप में उसे प्रस्तुत किया "यत्र विश्वं भवत्येकनीड़म्।" क्या यह असंभव है कि ज्ञाताज्ञात रूप से मनुष्य इसी आत्मिक ऐक्य और मानव जीवन की चरितार्थता की ओर बढ़ रहा हो? परन्तु विश्वकवि का यह सपना कब सफल होगा?

शिक्षा और समाज

शिक्षा का लक्ष्य अनिवार्यतः सुन्दर और संपन्न जीवन है। यहाँ सुन्दरता से हमारा तात्पर्य यह नहीं है कि शिक्षित व्यक्ति अपने चारों ओर लक्ष्मण-रेखा खींच लें और पलायनशील होकर कला और साहित्य में रम जाए और न संपन्नता का अर्थ आर्थिक संपन्नता है। सुन्दर और संपन्न जीवन यह है जिसे सरदार पूर्णसिंह ने आचरण की सभ्यता कहा है। हमारे व्यक्तिगत संस्कार जब हमें सबके प्रति सदाशयी, कर्त्तव्यनिष्ठ, शीलवान तथा प्रेमपूर्ण बनाते हैं तब हम वह जीवन जीते हैं जिसके लिए शिक्षा प्रारंभिक तैयारी मात्र है। हमारा बाहर का जीना भीतर के जीने का प्रमाण है, क्योंकि मनुष्य का प्रत्येक कार्य और व्यावहारिक जगत उसके आंतरिक जीवन को ही चरितार्थ करता है। शिक्षा यदि हमें सामाजिक चेतना नहीं देती और अपने चारों ओर फैले हुए विराट् मानव-समुदाय के प्रति कर्तव्यनिष्ठ तथा क्रियाशील नहीं बनाती तो वह व्यर्थ का बोझ है। तात्पर्य यह है कि शिक्षा समाज-निरपेक्ष नहीं हो सकती और सामाजिक जीवन के प्रति प्रबुद्धता ही शिक्षित मानव की पहचान हो सकती है।

पराधीनता के अभिशाप ने हमारे शिक्षित वर्ग को समाज से दूर कर दिया था। उसकी शिक्षा का माध्यम विदेशी (अंग्रेज़ी) भाषा थी और लक्ष्य विदेशी राजसत्ता की सरकारी मशीन का पुर्जा बनना था। अंग्रेज़ी शिक्षा ने जहाँ हमें यूरोप के ज्ञान-विज्ञान से परिचित कराया, वहाँ उसने हमें अपने समाज, साहित्य, धर्म और संस्कृति के प्रति उपेक्षावान, विद्रोही और संशयालु भी बनाया। हम रहन-सहन और आचार-विचार में पश्चिमी मनुष्य की "कार्बन-कापी" बन गये। हमने अंग्रेज़ की वेश-भूषा ही नहीं अपनाई, अपने चारों ओर के मानव-समाज को असंस्कृत और क्षुद्र मानकर चलना भी हमारे व्यक्तित्व का अंग बन गया। जिस संसार से हम जीवन-रस प्राप्त करते थे उसके प्रति सहानुभूति और प्रेम का भाव हममें नहीं था। हमने यह नहीं

चाहा कि हम अपनी ज्ञान की ज्योति को उन तक पहुँचाएँ जिनको विधाता ने उच्च शिक्षा की सुविधाएँ नहीं दी हैं। शिष्ट और जन का यह विरोध आधुनिक जीवन के लिये अभिशाप था और आज भी हम इस खाई को पाट नहीं सके हैं।

यह नहीं कि सामाजिक जीवन की अगतिशीलता, संकोच, दारिद्र्य और रूढ़िबद्धता का शिक्षित मनुष्य पर प्रभाव नहीं पड़ता। मनुष्य प्रकृति के भीतर ही नहीं जीता, सामाजिक जीवन के भीतर भी जीता है, क्योंकि मनुष्यनिर्मित समाज प्रकृति का एक अभिन्न भाग हो गया है। सामाजिक परिवेश में परिवार, संप्रदाय, धर्म तथा नागरिक अथवा ग्रामीण जीवन की वे सारी गतिविधियां आ जाती हैं, जो जन्म से मृत्यु तक हमें घेरे रहती हैं। आर्थिक दृष्टि से संपन्न और बौद्धिक स्तर पर स्वतंत्र तथा स्वनिष्ठ व्यक्ति भी समाज के दबाव से मुक्त नहीं होता। यदि समाज में दरिद्रता और अज्ञान का शासन है तो या तो वह उसके प्रति संवेदित होकर पीड़ा का अनुभव करे और अपनी सुख-सुविधा को छोड़ कर उसको बदलने का उपक्रम करे या अपने लिये हाथी-दांत की कोठरी तैयार कर ले और जीवन के प्रति अनुत्तरदायी तथा निर्मम होकर कटु वास्तविकता से किनारा कर जाए। शिक्षा के आयोजन व्यक्तिगत सुविधा के विषय ही नहीं हैं, वे समाज की ही देन हैं। लाखों मनुष्यों की श्रमशीलता और दरिद्रता पर कुछ थोड़े से लोगों के लिये राष्ट्र उच्च शिक्षा और संस्कृति की व्यवस्था करता है। इस भूमिका पर शिक्षित मनुष्य का कर्तव्य और भी स्पष्ट हो जाता है। शिक्षा और विज्ञान के प्रसार के जितने अधिक साधन आज हमारे पास हैं कदाचित् मानव-जीवन के इतिहास में कभी नहीं थे, परन्तु हमारे करोड़ों देशवासी अब भी अज्ञान, अंधविश्वास, दरिद्रता और आत्महीनता के शिकार हैं। क्या उनके प्रति हमारा कोई कर्तव्य नहीं है ? प्रकृति और मनुष्य की क्षमताओं का कहीं भी अंत नहीं है, परन्तु फिर भी हम साम्प्रदायिक और वर्गगत स्वार्थों में डूबे हुए हैं। अनेक शताब्दियों की संस्कृति, साहित्य और कला की परंपराएँ हमारे पीछे हैं, परन्तु उनसे कितने लोग परिचित भी हैं। हमारे मानसिक और संवेदनात्मक संगठन में यदि इन मूलभूत प्रश्नों का समाधान नहीं है और हम अपने परिवेश के प्रति पूर्णतः जागरूक नहीं हैं तो यह कैसे कहा जा सकता है कि हमने शिक्षा से लाभ

उठाया है। सामाजिक चेतना हमारी व्यवहार-बुद्धि की परख ही नहीं है, वह स्वातंत्र्य, साम्य और बन्धुत्व की भावना की ही सक्रिय चरितार्थता है। ये आदर्श चाहे फ्रांस की राज्यक्रांति से मिलें या अमरीका के स्वातंत्र्य-युद्ध और संविधान से, उन्हें पुस्तकों तक ही सीमित रखना संभव नहीं है। यह नैतिकता का ही तक़ाज़ा नहीं है, हमारी बौद्धिक ईमानदारी का भी प्रश्न है कि हम अपने लिये ही नहीं जियें, उनके लिये भी जियें जिन्होंने खाद बन कर हमारे जीवन को आकर्षक रूप-रंग और सुगंध से पुष्ट किया है। अपनी कंथा को बचा कर हम डूबते हुए मनुष्य को कब तक हाथ-पैर मारते देखेंगे ? यदि हम सामाजिक न्याय के संबंध में प्रयत्नशील नहीं हैं और अन्याय तथा शोषण हमें काटता नहीं तो हमने पश्चिम की ज्ञान-विज्ञान की परंपरा से क्या सीखा ? यह आवश्यक है कि हम सामाजिक चेतना के असुविधाजनक और तीव्र दंश का प्रतिक्षण अनुभव करें और क्रांति की पहली पंक्ति में खड़े हों।

आत्मकेन्द्रित जीवन व्यक्तिगत स्वार्थ और असामाजिकता का जीवन होता है। उससे प्रकाश नहीं मिल सकता, ताप ही मिलेगा, क्योंकि जीवन को सार्थकता और महत्ता तभी प्राप्त होगी जब वह मूलगत सामाजिक संवेदनाओं और समस्याओं से जूझेगा। कला, साहित्य और संस्कृति की अन्य अभिव्यक्तियां अपार हैं, यदि वे जीवन की संपन्नता, विविधता और सप्राणता से जन्म नहीं लेतीं और संकीर्ण, व्यक्तिगत तथा क्षणभंगुर आकांक्षाओं की क्षयिष्णु अभिव्यंजना बन जाती है। सामाजिक जीवन के महान स्पन्दनों को कला और साहित्य में बाँध कर और उसकी भौतिक आवश्यकताओं को विज्ञान तथा प्राविधिक ज्ञान द्वारा पूर्ण कर कलाकार, साहित्यकार और वैज्ञानिक अपने कर्त्तव्य का ही निर्वाह करते हैं। जहाँ व्यक्ति समाज के जीवनप्रवाह की धारा से कट कर अलग हो गया है वहाँ उसकी आनन्द देने और पाने की शक्ति भी नष्ट हो गई है और वह कुंठा तथा अवसाद के बोझ से दब गया है। आज हमारे शिक्षित समाज की यही मन:स्थिति है। पंजाब के रक्तपात और महात्मा गाँधी की हत्या ने हमारे स्वाधीनता के उल्लास और आनन्द पर ही नहीं, स्वाधीन भारत की सर्जनात्मक शक्ति पर भी कुठाराघात किया है। जनशक्ति के अवचेतन और असंस्कार के भयानक विस्फोट ने हमारी शिक्षा और हमारे संस्कार पर प्रश्नचिह्न लगाया तो राष्ट्रपिता पर उठे हुए अस्त्र ने शिक्षित-वर्ग

और विराट् भारतीय जन-समाज के बीच की एक मात्र कड़ी ही तोड़ दी, और हमारी शिक्षा के विदेशीपन और अनिर्दिष्ट स्वरूप को भी दैत्य के रूप में सामने खड़ा कर दिया।

शिक्षा और समाज का अनन्य संबंध है। शिक्षा से ही उच्चतर समाज का निर्माण होता है और समाज ही शिक्षा के लिए व्यवस्था करता है। शिक्षा समाज की आकांक्षाओं का प्रतिबिंब है तो समाज शिक्षा का दर्पण है। देखना यह है कि यह निगूढ़ संबंध हमारे राष्ट्र में कहाँ तक लागू होता है। क्या हमारी शिक्षा उच्चतर और प्रबुद्ध समाज के लिये है? क्या उसमें भारतीय समाज की संस्कृति, जीवन-निष्ठा तथा आकांक्षा मूर्त्त है? क्या हमें यह स्मरण है कि व्यक्तिगत और सामाजिक स्वार्थों तथा आर्थिक और सांस्कृतिक समस्याओं में अंतरंगी संबंध है और समाज को पीछे डाल कर इकेले भोगने में कोई सार्थकता भी नहीं है? क्या हम सब एक ही राष्ट्र-शरीर के विभिन्न अंग नहीं हैं? हमारी उपयोगिता भिन्न हो सकती है, परन्तु कोई छोटा-बड़ा क्यों होगा? धार्मिक और आध्यात्मिक जीवनदृष्टि हमें एक ही पिता की संतान बना कर बंधुत्व, साम्य और सहयोगिता का महामंत्र देती है तो आज के जीवन के आर्थिक और प्राविधिक तथ्य अनिवार्य रूप से इस धारणा की पुष्टि करते हैं। आज सारा मानव-समाज एक विराट् इकाई बन गया है और एक राष्ट्र की दुर्घटना सब राष्ट्रों के लिये संकट की वस्तु बन जाती है। सारे राष्ट्रों के सांपत्तिक, आर्थिक, व्यावसायिक और व्यापारिक स्वार्थ एक सूत्र में बंध गये हैं। साहित्य और कला की दृष्टि भी आज सार्वभौमिक होती जा रही है। अर्थ और काम के भीतर से विश्वैक्य की यह योजना मानव-समाज की अंतरंगी और मूलबद्ध एकता की सूचक है। शिक्षा के द्वारा हम इन एकता के सूत्रों को और भी दृढ़ कर सकते हैं। जो अकस्मात् ही घटित हो गया है उसे बुद्धि तथा व्यवस्था के सूत्र दे कर हम मानव-प्रगति की दिशा को ही निर्धारित नहीं करते, उसे चेतन मन की ऊर्जा देकर आत्मनिष्ठ और मानव-भविष्य के प्रति आस्थावान भी बनते हैं।

प्रश्न यह है कि हम कैसा समाज चाहते हैं। यह स्पष्ट हैं कि हमारी समाज की कल्पना समता, स्वतंत्रता और बन्धुत्व पर ही अवलंबित होगी। हम रूस और

चीन का परिबद्ध समाज नहीं चाहते। हम ऐसा समाज भी नहीं चाहते जो प्रतिद्वन्द्विता-ग्रस्त और स्पर्द्धान्ध हो, जिसके पल्ले भागदौड़ ही पड़े; जिसे हम न प्यार दे सकें, न भौतिक जीवन की सुविधा-असुविधा से ऊपर उठ कर क्षण भर के लिये चिरंतन दैवी शक्तियों से अपना संबंध जोड़ सकें। हम व्यक्ति-स्वातंत्र्य के दावेदार हैं, परन्तु व्यक्ति समष्टि के प्रति बलिदानी होकर ही पूर्ण हो सकता है, यह हमारी मान्यता होगी। अहंता नहीं, पूर्णाहंता। अल्प नहीं, भूमा। सब के लिये हम जियें, हम सब में जियें, सब के साथ जियें। व्यक्ति समाज की इकाई ही नहीं है, वह समाज का प्रतिबिंब है। नहीं, आगे बढ़ कर वह समाज की सार्थकता है। वह पिण्ड में ब्रह्माण्ड है। उसको जन्म देकर, सार्थक, सुन्दर, संपन्न और क्षमतावान बना कर समाज धन्य होगा। परन्तु उसकी धन्यता यदि व्यक्ति के मन में कृतज्ञता और उत्सर्गता को जन्म नहीं देती तो व्यक्ति की शिक्षा-दीक्षा और संस्कारनिष्ठा व्यर्थ है। व्यक्ति और समाज का यह दुतरफ़ा संबंध और आदान-प्रदान ही जीवन की सार्थकता है। पशु इकेला जीता है, मनुष्य समाज में जीता है। समाज को उसने इसीलिये गढ़ा है कि उसी के भीतर से वह अपने जीवन को पूर्ण और सार्थक बना सकता है। फलस्वरूप, सहयोग और सहकार ही मानव-जीवन के महामंत्र हो जाते हैं। अहिंसा, करुणा और मैत्री समाज में ही चरितार्थ हो सकते हैं। अपने कूर्म-कवच से बाहर निकल कर ही हम ब्रह्मचर्यी बनते हैं अर्थात् ब्रह्म में जीते हैं। जनता ही जनार्दन है, ऐसा राष्ट्रपिता का संदेश भ्रामक नहीं है। जन में ही ईश्वर का वास है, क्योंकि ईश्वर मनुष्य की सबसे बड़ी सार्थकता नहीं तो और क्या है? सब मिल कर ही तो ईश्वर है। अतः ईश्वर समष्टि है। व्यक्ति अपने को निःशेष करने पर ही पूर्ण बनता है। "पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवा-वशिष्यते।" पूर्णता की साधना ही लोकमंगल की साधना है। बुद्ध और गाँधी के जीवन इसी सत्य के प्रयोग हैं। समाज के जीवन में ढल कर वे व्यक्ति नहीं रहे, आदर्श की दीपशिखा बन गये। लोक के आदर्शों, उसकी आकांक्षाओं और भविष्यती स्वप्नों में जीना ही व्यक्ति की अमरता है। जो शिक्षा हमें लोक-जीवन के लिये तैयार नहीं करती वह अनुर्वरा और असार्थक ही कही जायेगी।

आज हमारी शिक्षा तथ्यात्मक हो गई, वह सत्यात्मक नहीं रही है। हम तथ्य साधते हैं, सत्य नहीं। विज्ञान के क्षेत्र में ही नहीं, साहित्य और कला

और विराट् भारतीय जन-समाज के बीच की एक मात्र कड़ी ही तोड़ दी, और हमारी शिक्षा के विदेशीपन और अनिर्दिष्ट स्वरूप को भी दैत्य के रूप में सामने खड़ा कर दिया।

शिक्षा और समाज का अनन्य संबंध है। शिक्षा से ही उच्चतर समाज का निर्माण होता है और समाज ही शिक्षा के लिए व्यवस्था करता है। शिक्षा समाज की आकांक्षाओं का प्रतिबिंब है तो समाज शिक्षा का दर्पण है। देखना यह है कि यह निगूढ़ संबंध हमारे राष्ट्र में कहाँ तक लागू होता है। क्या हमारी शिक्षा उच्चतर और प्रबुद्ध समाज के लिये है ? क्या उसमें भारतीय समाज की संस्कृति, जीवन-निष्ठा तथा आकांक्षा मूर्त्त है ? क्या हमें यह स्मरण है कि व्यक्तिगत और सामाजिक स्वार्थों तथा आर्थिक और सांस्कृतिक समस्याओं में अंतरंगी संबंध है और समाज को पीछे डाल कर इकेले भोगने में कोई सार्थकता भी नहीं है ? क्या हम सब एक ही राष्ट्र-शरीर के विभिन्न अंग नहीं हैं ? हमारी उपयोगिता भिन्न हो सकती है, परन्तु कोई छोटा-बड़ा क्यों होगा ? धार्मिक और आध्यात्मिक जीवनदृष्टि हमें एक ही पिता की संतान बना कर बंधुत्व, साम्य और सहयोगिता का महामंत्र देती है तो आज के जीवन के आर्थिक और प्राविधिक तथ्य अनिवार्य रूप से इस धारणा की पुष्टि करते हैं। आज सारा मानव-समाज एक विराट् इकाई बन गया है और एक राष्ट्र की दुर्घटना सब राष्ट्रों के लिये संकट की वस्तु बन जाती है। सारे राष्ट्रों के सांपत्तिक, आर्थिक, व्यावसायिक और व्यापारिक स्वार्थ एक सूत्र में बंध गये हैं। साहित्य और कला की दृष्टि भी आज सार्वभौमिक होती जा रही है। अर्थ और काम के भीतर से विश्वैक्य की यह योजना मानव-समाज की अंतरंगी और मूलबद्ध एकता की सूचक है। शिक्षा के द्वारा हम इन एकता के सूत्रों को और भी दृढ़ कर सकते हैं। जो अकस्मात् ही घटित हो गया है उसे बुद्धि तथा व्यवस्था के सूत्र दे कर हम मानव-प्रगति की दिशा को ही निर्धारित नहीं करते, उसे चेतन मन की ऊर्जा देकर आत्मनिष्ठ और मानव-भविष्य के प्रति आस्थावान भी बनते हैं।

प्रश्न यह है कि हम कैसा समाज चाहते हैं। यह स्पष्ट हैं कि हमारी समाज की कल्पना समता, स्वतंत्रता और बन्धुत्व पर ही अवलंबित होगी। हम रूस और

चीन का परिबद्ध समाज नहीं चाहते। हम ऐसा समाज भी नहीं चाहते जो प्रतिद्वन्द्विता-ग्रस्त और स्पर्द्धान्ध हो, जिसके पल्ले भागदौड़ ही पड़े; जिसे हम न प्यार दे सकें, न भौतिक जीवन की सुविधा-असुविधा से ऊपर उठ कर क्षण भर के लिये चिरंतन दैवी शक्तियों से अपना संबंध जोड़ सकें। हम व्यक्ति-स्वातंत्र्य के दावेदार हैं, परन्तु व्यक्ति समष्टि के प्रति बलिदानी होकर ही पूर्ण हो सकता है, यह हमारी मान्यता होगी। अहंता नहीं, पूर्णाहंता। अल्प नहीं, भूमा। सब के लिये हम जियें, हम सब में जियें, सब के साथ जियें। व्यक्ति समाज की इकाई ही नहीं है, वह समाज का प्रतिबिंब है। नहीं, आगे बढ़ कर वह समाज की सार्थकता है। वह पिण्ड में ब्रह्माण्ड है। उसको जन्म देकर, सार्थक, सुन्दर, संपन्न और क्षमतावान बना कर समाज धन्य होगा। परन्तु उसकी धन्यता यदि व्यक्ति के मन में कृतज्ञता और उत्सर्गता को जन्म नहीं देती तो व्यक्ति की शिक्षा-दीक्षा और संस्कारनिष्ठा व्यर्थ है। व्यक्ति और समाज का यह दुतरफ़ा संबंध और आदान-प्रदान ही जीवन की सार्थकता है। पशु इकेला जीता है, मनुष्य समाज में जीता है। समाज को उसने इसीलिये गढ़ा है कि उसी के भीतर से वह अपने जीवन को पूर्ण और सार्थक बना सकता है। फलस्वरूप, सहयोग और सहकार ही मानव-जीवन के महामंत्र हो जाते हैं। अहिंसा, करुणा और मैत्री समाज में ही चरितार्थ हो सकते हैं। अपने कूर्म-कवच से बाहर निकल कर ही हम ब्रह्मचर्यी बनते हैं अर्थात् ब्रह्म में जीते हैं। जनता ही जनार्दन है, ऐसा राष्ट्रपिता का संदेश भ्रामक नहीं है। जन में ही ईश्वर का वास है, क्योंकि ईश्वर मनुष्य की सबसे बड़ी सार्थकता नहीं तो और क्या है? सब मिल कर ही तो ईश्वर है। अतः ईश्वर समष्टि है। व्यक्ति अपने को निःशेष करने पर ही पूर्ण बनता है। "पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवा-वशिष्यते।" पूर्णता की साधना ही लोकमंगल की साधना है। बुद्ध और गाँधी के जीवन इसी सत्य के प्रयोग हैं। समाज के जीवन में ढल कर वे व्यक्ति नहीं रहे, आदर्श की दीपशिखा बन गये। लोक के आदर्शों, उसकी आकांक्षाओं और भविष्यती स्वप्नों में जीना ही व्यक्ति की अमरता है। जो शिक्षा हमें लोक-जीवन के लिये तैयार नहीं करती वह अनुर्वरा और असार्थक ही कही जायेगी।

आज हमारी शिक्षा तथ्यात्मक हो गई, वह सत्यात्मक नहीं रही है। हम तथ्य साधते हैं, सत्य नहीं। विज्ञान के क्षेत्र में ही नहीं, साहित्य और कला

के क्षेत्र में भी यह बात सत्य है। जीवन का श्रेष्ठतम महान परन्तु सरल सत्यों पर ही टिका है। माता-पिता का प्यार, दम्पति का आत्मोत्सर्ग, प्रेमी-प्रेमिका का निस्सीम आत्मदान, प्रकृति का नैसर्गिक आकर्षण, सौन्दर्य का सहज उदात्तीकरण,—ये कुछ सीधे-सादे सत्य हैं जो हमारे जीवन को आनन्द से भर सकते हैं। इन्हें भूल कर हम तथ्यों के अंबार लगा देते हैं और उनमें खो जाते हैं। यह परिस्थिति अवांछनीय है। उससे विकृतियों का ही जन्म हो सकता है। समाज के लिये सार्थक और उपयोगी शिक्षा वह होगी जो हमें क्षुद्र तथ्यों से ऊपर उठा कर महान सत्यों में दीक्षित करे। क्या हमारी शिक्षा में जीवन के सीधे साक्षात्कार की योजना है? क्या वह हमें अपने चारों ओर के जीवन और प्रकृति के अपार वैभव से जोड़ती है? क्या वह समाज के लिये है, अंतर्जीवन की संपन्नता के लिये है, लोकमंगल और लोकसेवा के लिए है? ये कुछ प्रश्न हमारे सामने अग्नि के अक्षरों में उभरते दिखलाई देते हैं। शिक्षा को सामाजिक, सांस्कृतिक और मानवीय बना कर हम व्यक्ति को आत्मदान, एकान्वित जीवन तथा करुणा और प्रेम की चरितार्थता के लिये तैयार कर सकते हैं। ऐसी शिक्षा हमें चाहिये जिसमें व्यक्ति का उन्नयन समाज का परिष्कार एवं उदात्तीकरण बन जाए।

सर्जनात्मक शिक्षा

पिछले सवा-सौ वर्षों से हमारी शिक्षा एकदम सूचनात्मक रही है और उसका उद्देश्य हमें जीवनयापन के लिये अथवा नौकरी के लिये तैयार करना रहा है। १८३५ में मेकाले ने अंग्रेज़ी के माध्यम से शिक्षा की जो योजना चलाई, जिसके फलस्वरूप १८५६ में हमारे प्राथमिक बिश्वविद्यालयों की स्थापना हुई। पराधीन भारत में ही नहीं, स्वातंत्र्योत्तर भारत में भी हमारी शिक्षा का स्वरूप वही रहा है जो मेकाले ने हमें दिया था। फलस्वरूप राष्ट्रीय पुर्ननिर्माण की दिशा में तीव्र गति से बढ़ना हमारे लिये असंभव हो रहा है।

आवश्यकता इस बात की है कि हम शिक्षा की समस्या पर फिर से विचार करें और उसे भारतवर्ष के सनातन आदर्शों का दर्पण बनाएँ। हमारी आर्थिक आवश्यकताओं और पश्चिमी विचारधाराओं ने हमारे दृष्टिकोण को भौतिक बना दिया है। हम भूल गये हैं कि यदि जीवन का लक्ष्य आंतरिक संतुलन और आत्मिक सुख की प्राप्ति है तो हमें मनुष्य को केन्द्रीयता देनी होगी और आध्यात्मिक मूल्यों को जीवन के श्रेष्ठतम मूल्य मान कर चलना होगा। ऐसी स्थिति में हमारी शिक्षा का स्वरूप भिन्न होना चाहिये। वह सर्जनात्मक हो, अर्थात् उसमें हमारे भीतर की सर्जनात्मक प्रेरणाओं को उन्मुक्ति और चरितार्थता मिले। देखना यह है कि शिक्षा किस प्रकार सर्जनात्मक बनाई जा सकती है। व्यक्तिगत और राष्ट्रीय धरातलों पर करोड़ों भारतीयों की सर्जनात्मक चेतना निर्माण में लगे तो हमारे लिये आनन्द संपन्नता और शक्ति के स्रोत खुल जाएँ।

क्यों शिक्षा सर्जनात्मक हो और सर्जनात्मक होने का अर्थ क्या होता है, यह भी जानना आवश्यक होगा। अठारहवीं शताब्दी में जर्मन आदर्शवाद ने जीवन की आध्यात्मिक और आदर्शात्मिक प्रकृति के संबंध में विशेष जागरूकता मनुष्य को दी। मानव की अपरिसीम क्षमता और मूलभूत केन्द्रीयता को चरम सत्य

मान कर साहित्य, दर्शन और काव्य में उसके सर्जनात्मक स्वरूप को विकसित किया गया और मनुष्य-जीवन के रंगमंच के केन्द्र में आ गया। यह मान लिया गया कि जीवन-नाटक की कुंजी उसी के हाथ में आ गयी हैं। आदर्शवादियों के विचार में सृष्टि स्रष्टा के प्रेम की अभिव्यक्ति है। मूलभूत पारमार्थिक सत्य (जिसे धार्मिक भाषा में परम सत्य, ब्रह्म या ईश्वर कहेंगे) अपने को खोलने की प्रक्रिया में रूपात्मक सृष्टि को जन्म देता है। आत्मविवृत्ति को ही जीवन का परम सत्य माना गया। इसे आध्यात्मिक विकासवाद कहा जा सकता है। यह अरूप से रूप और नास्ति से सत् के जन्म होने की ही प्रक्रिया है और नितांतत: तथा अनिवार्यत: आनंदनीय है। इसी से उपनिषदों के ऋषियों ने आनन्द से ही सृष्टि की उत्पत्ति मानी है। गेटे ने जर्मन आदर्शवाद को कला-क्षेत्र में भी उतारा और कहा कि सृष्टि अपने भीतर से ही निरंतर विकासमान है और निरन्तर अधिक पूर्ण आत्माभिव्यक्ति को प्राप्त होना ही उसका उद्देश्य है। इन विचारधाराओं ने आत्माभिव्यक्तिमूलक सर्जना को प्राथमिकता दे कर रूढ़िवाद, परंपरा और नियंत्रण के प्रति मनुष्य को विद्रोही बनाया। फलस्वरूप स्वच्छंदतावाद का आरंभ हुआ जिसमें कल्पना को सर्जनात्मक संवेदन की मुक्ति का प्रमुख उपकरण मान कर निर्बन्ध आत्माभिव्यक्ति को प्रधानता दी गई।

परन्तु उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में डार्विन की खोजों और भौतिक शास्त्र की नयी उपलब्धियों के द्वारा इस आध्यात्मिक और कलावादी विकासवाद के स्थान पर एक स्वचालित, यांत्रिक और नियतिवादी विकासवाद आया। पिछले दो सौ वर्षों से पश्चिम की चेतना पर यही नया चिन्तन हावी है। इसने मनुष्य के आत्मसम्मान तथा आत्मतोष को चुनौती दी है और उसे विराट् विश्वप्रपंच का महत्वहीन और अपदार्थ अणु सिद्ध कर उसके आत्मबोध को खण्डित किया है। देश-काल के अकल्पित विस्तार को दूरवीक्षणीय यंत्रों के द्वारा उद्घाटित कर और सृष्टि के इतिहास में मनुष्य को स्फुलिंग मात्र बता कर हमारे दर्प को ही तोड़ डाला गया। कुछ-न-होने की पीड़ा ही नहीं, अयाचित और व्यर्थ होने की पीड़ा भी मनुष्य ने भोगनी शुरू की। भौतिक शास्त्र ने हमारी यांत्रिक शक्तियों को बढ़ा कर भी हमें भीतर से छोटा ही किया है। परन्तु प्राणी-शास्त्र और जीवन-विज्ञान ने मनुष्य की प्रकृति को अंतत: पाशविक सिद्ध कर विश्व के भाग्यनिर्णायक और केन्द्रीय व्यक्तित्व के रूप में

उसके अहंभाव को भी नष्ट कर दिया। विकास के सूत्र प्रकृति के हाथ में देकर मनुष्य को नियति का क्रीड़ा-कन्दुक बना दिया गया। इस क्षुद्रता और दयनीयता की परंपरा को आगे बढ़ाते हुए मार्क्स समाज-रचना के मूल में आर्थिक और फ्रायड काममूलक चेतनाओं को रख कर खण्डित होने की इस परंपरा को और भी आगे बढ़ाते हैं। ईश्वर के प्रतिरूप से नीचे उतर कर मनुष्य पशुभूमिका पर खड़ा हो गया है और आज उसके मुख पर विद्रूपता, लाचारी, इकेलेपन और किंकर्त्तव्यता की छाया है। वह विमूढ़चेता है। उसे करने की सार्थकता मिली है, होने की नहीं।

यह अवश्य है कि पिछले वर्षों में बर्गसां, विवेकानन्द, बनार्ड-शा, रवीन्द्रनाथ, इक़बाल और निराला जसे चिन्तकों और कवियों की रचनाओं में फिर एक बार मनुष्य की दैवीयता तथा स्वतंत्रता उद्‌घोषित हुई है, परन्तु जो टूट गया है वह एकदम जुड़ नहीं सका है। बर्गसां ने विकास को सर्जनात्मक माना है, जो न नियति से शासित है, न अनियंत्रित अथवा स्वचालित है। वह विवृत्ति नहीं है, उपलब्धि है। वह "होना" है। शैव-दर्शन में सर्ग की कल्पना स्पन्द के रूप में की गई है। बर्गसां के मत में सृष्टि की अंतर्निष्ठ ऊर्जा विभिन्न विकास-प्रक्रियाओं में स्पन्दमान है और यद्यपि वह स्वचालित है, परन्तु बंद गली में पहुँच कर वह सर्जन के नये अध्यायों की सृष्टि कर सकती है और बाधाओं को पार कर निरंतर अधिक उत्कृष्ट आयामों की ओर बढ़ती है। मनुष्य प्रकृति की इस स्पन्दमान चेतना का जय-गीत है। सर्जनात्मकता उसकी प्रकृति बन गई है। उसकी श्रेष्ठता आभ्यंतरिक है और वह उसकी चिन्तना, कल्पना-शक्ति, समाज-रचना की क्षमता और भाषा में मूर्त्तिमान है। सब प्रकार के अवरोधों को पार कर मनुष्य जीवन के उन्मुक्त प्रांगण में आ गया है और स्रष्टा का साथी तथा सहकर्मी बन गया है।

मनुष्य केवल वर्द्धमान ही नहीं है, न वह प्रवृत्तियों एवं संवेदनाओं का पुंज मात्र है जिस पर कोई नियंत्रण नहीं हो। वह मूर्त्तिमान जीवनस्फूर्त्ति है, स्वतंत्र चेतना है, भविष्यधर्मी गतिशीलता है। अपने विकास में उसने चिन्तन, अंतर्ज्ञान, कल्पना और भावना के तत्वों को उद्‌घाटित किया है। विचार और कल्पना के क्षेत्रों में उसका प्रसार अपरिसीम है। अपनी यांत्रिक, भाषात्मक

और सामाजिक जीवन के निर्माण संबंधी शक्तियों को आविष्कृत कर उसने अपने सर्जनात्मक क्षेत्र और स्वातंत्र्य को अप्रत्याशित विस्तार दे दिया है। अपने व्यवहार के सूत्र अपनी बुद्धि के हाथ में देकर उसने अपनी प्रकृति पर विजय प्राप्त कर ली है। आदम को ज्ञान का फल चाहे कड़वा लगा हो, आज मनुष्य को उसके किये पर पछताना नहीं है। ज्ञान की विभिन्न दिशाओं में बुद्धि के द्वार खोल कर उसने अपने अंतर्ज्ञान को नयी दिशाएँ दी हैं और प्रवृत्ति के अंधकार से निकल कर वह संस्कृति के प्रकाश में आ गया है।

तात्पर्य यह है कि मनुष्य की सर्जना-शक्ति के यंत्र उसके भीतर हैं और उनके उपयोग से मनुष्य देश-काल की सीमाओं को पार कर आत्मविजेता (जिन) और प्रकृतिजेता सिद्ध हुआ है। वह प्रकृति की अंध शक्तियों का दास नहीं, स्वामी बना है। अपने जीवन को ही नहीं, संपूर्ण विश्व-जीवन को शक्ति और सौन्दर्य में बदलने के सूत्र उसके हाथ में आ गये हैं। उसकी इस सर्जनात्मक में ही उसके व्यक्तित्व के विकास की नयी संभावनाएँ प्रगट हो रही हैं। वह परंपरा, यांत्रिकता और जड़ रूढ़िवाद की परिबद्धता और पुनर्वारिता से बाहर निकल कर अप्रत्याशित, नवीन और आत्मचेतस् का आनन्द पा सका है। आवश्यकता यह है कि हमारी शिक्षा-दीक्षा मनुष्य की इस मूलबद्ध, संजीवी तथा शक्तिप्राण सर्जनात्मक प्रेरणा को उपयुक्त मार्ग दें और साहित्य, कला, दर्शन, विज्ञान और धर्म उसकी दीप्ति से प्रकाशमान हो उठें। सत्यं, शिवं, सुन्दरं की ओर बढ़ती हुई मानवता के ये ही कीर्त्तिस्तम्भ हैं। सर्जन जीवन है, परिबद्धता और अनुकरण मृत्यु हैं। इस सत्य को गाँठ में बाँध कर हम अपनी शिक्षा-संस्थाओं को विकासोन्मुख बनाये। सर्जनशील व्यक्ति और समाज को तैयार करने में ही शिक्षालयों और विश्वविद्यालयों की सार्थकता है। यही स्पर्द्धा का वास्तविक क्षेत्र है।

इस संबंध में दो प्रश्न उठ सकते हैं। पहला, क्या सर्जनात्मक प्रेरणा कुछ विशिष्ट प्रतिभावान व्यक्तियों की संपत्ति है या उसके अंकुर सब में मिल सकते हैं। दूसरा, उसका शिक्षा के क्षेत्र में किस प्रकार उपयोग हो सकता है। क्या उसका पालन-पोषण संभव है और हम किस प्रकार सर्जन के स्रोतों को उन्मुक्त कर मनुष्य को उसकी संभावना के उच्चतम शिखरों तक पहुँचा सकते

हैं ? इसमें संदेह नहीं कि सर्जनात्मक शक्ति मनुष्य की मौलिक शक्ति है। यदि हम उसे विपरीत परिस्थितियों और अनुर्वर वातावरण से दबा न दें तो प्रत्येक व्यक्ति किसी-न-किसी क्षेत्र में सर्जनशील हो सकता है। सुन्दर स्वास्थ्य, सुन्दर संस्कार, सर्जनात्मक आत्माभिव्यक्ति के लिये अवकाश और साहित्य-कला-संगीत का वातावरण : ये मिलें तो कौन अपने भीतर के आनन्द, सौन्दर्य और प्रेम के शतदल नहीं खोल सकेगा ? दोष व्यक्ति का नहीं, समाज और राष्ट्र का है, शिक्षा-संस्थानों और उन संस्थाओं का है जहाँ स्पर्द्धा, क्षुद्रता और नीरसता के वातावरण में हम काम करते हैं। बर्गसां जैसे विचारक यह मानते हैं कि मानव-जीवन की मूलगत उपयोगिता तथा सार्थकता आत्मसर्जन के द्वारा व्यक्तित्व के विकास में है। उसे बाहर से गढ़ना नहीं है, भीतर से संपन्न करना है। सैकड़ों क्षेत्र हैं जिनमें सर्जनात्मक प्रतिभा क्रियमाण हो सकती है और मनुष्य की मौलिक संभावनाओं का भी कोई अंत नहीं है। यह ठीक है कि सब अपने युग के श्रेष्ठतम कवि और कलाकार नहीं बन सकते, परन्तु काव्यचेतना तथा कल्पना-भावना की उन्मुक्ति से जीवन में जिस आनन्द, आत्मविश्वास तथा संपन्नता का समावेश होता है उसका लाभ क्या कम मूल्यवान है ? स्रष्टा ने आनन्द में ही आनन्द के द्वारा सृष्टि की रचना की है। जो काम हम हाथ में लें वह अंतःसफूर्त्ति और आत्मचेतना का विषय बन कर हमारे लिये पूजा बन जाए ।

शिक्षा की चरितार्थता इसी में है कि वह व्यक्तियों, समूहों और संस्थाओं की निर्माण की आकांक्षाओं की पूर्त्ति करे। आधुनिक युग की औद्योगिक और मशीनी अर्थवत्ता ने हमारे जीवन को यंत्रवत् बना दिया है और हम कल-पुरज़े मात्र बन कर रह गये हैं। मनुष्यकृत पदार्थों का ढेर लगा जा रहा है और हम उसमें ही बंदी हो गये हैं। हमारे जीवन-कक्ष में हवा और ज्योति का ईश्वर का वरदान भी प्रवेश नहीं कर पाता और वह हमारा नीड़ नहीं रह गया, जिसमें हम स्वतंत्रतापूर्वक चल-फिर सकें और आनन्द के गीत उठा सकें। आज उन चीज़ों से बच कर चलना ही असंभव हो गया है जो अपने छुरे की धार जैसे तीव्र कोणों से हमार कोमलतम धर्मस्थलों को भेद देती हैं। हम संग्रहवृत्ति के शिकार हो गये हैं। "ईशावास्यमिदं सर्वं" (यह सब ईश्वर में है) : यह महामंत्र हम भूल गये हैं और हमारे भीतर मरुभूमियाँ उभर रही

हैं। श्रुति का वचन है: "मा गृधः" (लोभ मत करो)। लोभ ने हमारे जीवन को ज्वर बना कर भीतर से खण्डित कर दिया है। भारतवर्ष में इस औद्योगीकरण का पहला चरण ही आया है, परन्तु पिछले दो सौ वर्षों की दासता और मेकाले की अंग्रेज़ी माध्यम की शिक्षा ने हमें निःसत्व बना दिया है। प्राचीन और मध्ययुगीन भारत के साहित्य और कला के कीर्त्तिस्तम्भ आज हमारे लिये आठवां आश्चर्य हैं। संस्कृति के नाम पर हम उनका व्यवसाय कर सकते हैं। भारतीय संगीत और नृत्य को हम पश्चिम के सामने रख कर गौरवान्वित होते हैं, परन्तु हमारे अपने व्यक्तिगत और राष्ट्रीय जीवन में ये तत्व कहाँ और कितने गहरे हैं। दक्षिण के विशाल मंदिरों, ताज और इस्लामी संस्कृति के अन्य मध्ययुगीन स्मारकों, ढाका के मलमल और बनारस के जरी के काम में, मीने और सोने की बारीकी और पच्चीकारी में जिस देश के सामान्य जन की शक्ति आज भी जागती है वह महानगरों, व्यावसायिक केन्द्रों और पश्चिम के सुविधा और विलास के उपकरणों में घिर कर आज निर्जीव हो रहा है। स्वतंत्रता और उत्तरदायित्व का वह वातावरण कहां है जो हमें बौद्धिक, नैतिक और सौन्दर्यचेतस् सर्जन की सार्थकता में ढाल सके और हम अपनी क्षमता का सुन्दरतम उपयोग कर सकें? आधुनिक पीढ़ी के कुंठा और अवसाद के पीछे वह मनोवैज्ञानिक अशांति है जो सर्जन-मार्गों के अवरोध से स्वतः उत्पन्न हो जाती है। हम अपना सर्वश्रेष्ठ नहीं दे पा रहे हैं, इस धुँए ने हमारी चेतना का गला घोंट दिया है। आधिपत्यी आनन्द ने सर्जनात्मक आनन्द का स्थान ले लिया है। सब अध्यक्ष हैं, यक्ष कोई नहीं है। खोज का आनन्द और दुस्साहस का तेज हमें सप्राण नहीं बनाता। हमने टिप्पणी बने रहने में ही संतोष किया है।

हम आनन्द में जियें, सौन्दर्य में जियें, प्रेम में जियें, सर्जन में जियें। जीते हैं हम स्पर्द्धा, अवसाद, क्षोभ और निष्क्रियता में। शिक्षा को परीक्षकीय बना कर हमने उसकी जड़ में मट्ठा डाल दिया है। परीक्षा विद्यार्थी के लिये उच्चवर्गीय नौकरियों में प्रवेश करने का प्रमाण-पत्र है और परीक्षकों के लिये धन, प्रतिष्ठा और शक्ति की साधना। वह थोक का व्यवसाय बन गई है। उसकी आढ़तें चलती हैं। हमारे अध्यापक पश्चिम के उधार पर जीते हैं और बुद्धिवादी बनने का स्वांग भरते हैं। विद्यार्थी आँख से नहीं देखते, कान से

सुनते हैं। कितने सुन्दर दो हाथ ईश्वर ने मनुष्य को दिये हैं, परन्तु हम उनका उपयोग कहाँ और कितना करते हैं! सरस्वती-भवनों की अपनी देशी परंपरा को हमने परीक्षा-भवनों में बदल दिया है। हमारे विश्वविद्यालयों की अधिष्ठात्री देवी के हाथ में न कला का कमल है, न संगीत की वीणा। अपने घर के विद्वानों के हाथ की लिखी पुस्तक भी कदाचित् उसके हाथ में नहीं है, क्योंकि मौलिक चिन्तन का ठेका पश्चिम ने ले लिया है। हमारा ब्रह्म-रंध्र बंद है। हमारी वाग्मिता नारों तक सीमित है और लेखन प्रेम-पत्र तक (या परीक्षा-पत्र तक ?)। निबंध से भय खा कर विद्यार्थी प्रबन्ध लिखने लगे हैं, क्योंकि भवानीप्रसाद मिश्र गीत बेचते हैं तो फुटनोटों की दुकानें भी कम नहीं हैं। शिक्षा-क्षेत्र के इस गतिरोध को हम कैसे दूर करें? आत्महीनता से ऊपर हम कैसे उठें? इस विषम स्थिति से हम कैसे उबरें? एक ही उपाय है, कि हम शिक्षा को आमूल बदलें और उसे राष्ट्रीय जीवन और व्यक्तित्व के अंत:-स्रोतों से संपर्कित करें। हम विद्यार्थी को भीतर से खुलने दें। वह प्रयोगशील बने, चिंतनशील बने, सौन्दर्यचेतस् बने। स्वतन्त्र, सर्जनात्मक और आनन्दप्राण चेतना हमारे बालकों को देश-काल के प्रति ही नहीं, चिरंतन जीवनमूल्यों और आचरण की सभ्यता के प्रति संवेदनाशील बनाए। हमारे विश्वविद्यालयों में वे हाथ गढ़े जाएँ जो नये ताजमहलों का निर्माण कर सकें और वे साहित्य-स्रष्टा जन्म लें जो कल कालिदास और रवीन्द्रनाथ को पीछे छोड़ जाएँ। आक्सफोर्ड-कैम्ब्रिज में ऑडेन, इलियट, ब्रिजेज प्रभृति कवि काव्य के प्रोफ़ेसर हो सकते हैं तो हम पंत और महादेवी के संजीवनशील व्यक्तित्वों की उपेक्षा क्यों करते हैं? क्या मृण्मय दीपों की पंक्ति दीपशिखा का स्थान ले सकती है?

हमारे विश्वविद्यालय

१८५६ में भारतवर्ष में पहली बार आधुनिक ढंग के विश्वविद्यालयों की स्थापना बंगाल, मद्रास और बंबई में हुई और आज एक शताब्दी के बाद उनकी संख्या पचास के लगभग पहुँच गई है। विश्वविद्यालयों और कालिजों में सात लाख से ऊपर विद्यार्थी प्रति वर्ष शिक्षा ग्रहण करते हैं। यद्यपि तैंतालिस करोड़ की जन-संख्या में उच्च शिक्षा सम्बन्धी ये आंकड़े महत्वपूर्ण नहीं लगते परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि भारतीय मध्यवर्ग को जो नेतृत्व प्राप्त है वह विश्वविद्यालयों और कालिजों की उच्च शिक्षा ही की देन है। उनके बिना न हम आधुनिक जीवन-चेतना की कल्पना कर सकते हैं, न राष्ट्रीयता की भावना की, न विश्वसंस्कृति में अपने योगदान की। वैसे मेकाले के द्वारा अंग्रेज़ी के माध्यम से शिक्षा के प्रसार को सवा-सौ वर्षों का समय हो गया है और ब्रिटिश संपर्क को दो सौ वर्ष हुए परन्तु उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में ही भारतवर्ष नए जीवन में प्रवेश करता है और अंग्रेज़ी भाषा, साहित्य और नए पश्चिमी ज्ञान के माध्यम से हमारे विश्वविद्यालय नई चेतना के केन्द्र बन जाते हैं। समय के साथ उनकी संख्या ही नहीं बढ़ी है, उनके प्रभाव में भी अप्रत्याशित रूप से विस्तार हुआ है। आज वे राष्ट्रीय जीवन और संस्कृति के निर्माण की सब से सशक्त इकाई और आधुनिकाकरण का सबसे बड़ा स्रोत हैं। वे हमारे स्नायु-केन्द्र बनते जा रहे हैं।

परन्तु एक बात विचारणीय है। जिन उद्देश्यों को लेकर अंग्रेज़ी शिक्षा की योजना हुई थी और आधुनिक ढंग के स्कूल, कालिज और विश्वविद्यालय खुले थे वे व्यतीत हो चुके हैं और नये उद्देश्यों को हम शिक्षा की नई योजनाओं में उपयुक्त स्थान नहीं दिला सके हैं। अंग्रेज़ी शिक्षा सरकारी नौकरियों का सोपान बनी रही है और विश्वविद्यालयों के प्रतिभाशाली छात्र राजकर्मी (राष्ट्रसेवी नहीं) बन कर शक्ति और धन की साधना में अग्रसर रहे हैं। विशिष्ट व्यवसायों, कार्यक्षेत्रों एवं संस्थानों में अंग्रेज़ी शिक्षा प्राप्त लोगों का

ही प्रवेश रहा है और हमारी नये ढंग की विशेषज्ञता धीरे-धीरे सर्वमान्य होती जा रही है। परन्तु विदेशी भाषा और साहित्य के द्वारा पश्चिमी ढाँचे के मन के निर्माण का जो प्रयत्न चलता रहा है वह विदेशी सत्ता और पश्चिमी संस्कृति के समर्थक एक अनुकरणमूलक राजकर्मी समाज को ही प्रश्रय देता गया है। अंग्रेज सरकार को इसी अंग्रेज़ी शिक्षित वर्ग का बल था और उसी को साथ लेकर उसने भारतवर्ष पर राज्य किया तथा प्रगतिशील विचारधाराओं और राष्ट्रीय आन्दोलनों का सामना किया। मौलिक, स्वतंत्र और सर्जनात्मक शिक्षा अंग्रेज़ी आधिपत्य को संकट में डाल सकती थी। अतः उधार से ही काम चलाया गया और अंत में हमारे शिक्षा-केन्द्र थोक आढ़तें बन गये जहाँ से पश्चिम ज्ञान-विज्ञान और टेकनोलॉजी देश भर में बँटते थे। शिक्षित भारतीयों की अपनी बंदर-बाँट के कारण ये सब को समान रूप से प्राप्त नहीं थे। फलतः शिक्षा उच्च वर्णों, सुविधाप्राप्त जनों और राजकर्मी तथा व्यवसायी वर्गों का क्रीड़ा-क्षेत्र बन गई।

राष्ट्रीय आन्दोलनों के दिनों में हमारे विश्वविद्यालयों को पहली बार जीवन की चुनौती मिली। हमें उनकी अभारतीयता का पता लगा, उनकी निष्क्रियता तथा समाजविरोधी एवं तटस्थ मनोवृत्ति को हमने पहचाना। जहाँ विरोध में उच्च शिक्षा के लिए नये-नये प्रयोग हुए और राष्ट्रीय विश्वविद्यालयों का जन्म हुआ वहाँ विद्यार्थियों को कालिजों और विश्वविद्यालयों के बाहर निकाल कर स्वतंत्रता के आन्दोलन की अग्रपंक्ति में भी खड़ा कर दिया गया। आज के देश के सूत्रधारों में से बहुत बड़ी संख्या उन नवयुवकों की है जो १९२१ और १९३०-३२ के आन्दोलनों में विश्वविद्यालयों और कालिजों को छोड़ कर राष्ट्रीय संग्राम में सम्मिलित हो गये थे। जन-जीवन ही उनका सरस्वती-मंदिर बन गया। परन्तु पिछले चालिस वर्षों से हमारी उच्च शिक्षा स्वीकार-अस्वीकार, प्रशंसा-निंदा और नये जीवन की प्रसव-पीड़ा का अनुभव करती रही है। आवश्यकता इस बात की है कि हम स्वतंत्र राष्ट्र की नयी आवश्यकताओं के अनुरूप राष्ट्रीय शिक्षा की योजना बनाएं और पश्चिम के ज्ञान-विज्ञान और प्राविधिक क्रियाशीलता को पूर्णतः अपनाते हुए भी नये सांस्कृतिक समन्वय के लिए प्रयत्नशील हों। भारतीय विश्वविद्यालय हमारे नये जीवन के दर्पण हों और उनमें चिन्तन, मनन तथा कला-साधना का विकास हो। वे हमें नयी जीवन-कला दे सकें।

कठिनाई कहाँ है ? क्यों हम शिक्षा को राष्ट्रीय और सांस्कृतिक नहीं बना पाते ? क्यों वह अभी भी किताबी बनी हुई है ? कारण यह है कि हमारे नेता इस दिशा में कोई गंभीर विन्तन नहीं कर सके हैं और हमारे शिक्षा-विशारद पश्चिम के प्रयोगों को टटोलने में ही लगे हैं। हमारे राष्ट्रीय जीवन की नयी आवश्यकताओं ने उनके हाथ बाँध रखे हैं और राष्ट्रीय सुरक्षा तथा बढ़ती हुई जन-संख्या की मांग ने उन्हें निरस्त्र कर दिया है। इनसे छुट्टी मिले तो वे इस दिशा में कुछ सोचें। इधर वे पाकिस्तान और चीन से उलझे हैं, उधर उन्हें योजनाओं को चलाना है, परन्तु वे यह नहीं समझते कि प्राथमिक आवश्यकता राष्ट्रीय व्यक्तित्व के निर्माण की है जो इन प्रश्नों का भीतरी समाधान हमें देगी और यहीं पर शिक्षा की प्राथमिकता और अनिवार्यता आ जाती है। मुख्य बात यह है कि वह मनुष्य कैसा है जिसको हम नये जीवन के लिए गढ़ना चाहते हैं। क्या वह नये राजनीतिक और सांस्कृतिक जीवन की चुनौती को स्वीकार कर सकेगा ? क्या उसमें जीवन को नया मोड़ देने की क्षमता है ? क्या उसने इतिहास-चेतना को रक्त की तरह अपना लिया है। क्या वह राष्ट्र के उदात्त चिन्तन, सौन्दर्य-बोध तथा कर्मण्यता का प्रतीक है ? उपनिषद, गीता, कालिदास, भागवत, तुलसी, कवीर, रवीन्द्रनाथ उसे भीतर से गढ़ सके हैं या नहीं ? क्या उसे प्रकृति और परिवेश से प्रेम है ? क्या उसमें नूतन के प्रति अदम्य आकांक्षा है ? विज्ञान ही नहीं, ज्ञान और कला भी साहस (नहीं, दुःसाहस) की अपेक्षा रखते हैं। हमने उनके लिए क्या तैयारी की है ? यह आवश्यक है कि विश्वविद्यालयों से हम आशा नहीं करें कि वे हमारे लिए नौकरी या प्राविधिक ज्ञान के माध्यम बन जाएं। लगभग एक शताब्दी तक हमारी उच्च शिक्षा हमें सरकारी नौकरियों के लिए तैयार करती रही है। आरंभ में नौकरियां बहुत थीं और शिक्षित जन थोड़े थे। फलस्वरूप विश्वविद्यालयों से राजकर्मियों और उच्च अधिकारियों की भरती होती थी और उन्हें शासक-समाज में विशेष मान्यता प्राप्त थी। परीक्षा की उच्च श्रेणियों पर ही विद्यार्थी का भविष्य निर्भर था। क्या विश्वविद्यालय इस संबंध में स्पर्द्धाशील बनें कि उनके कितने छात्र उच्च सरकारी परीक्षाओं में उत्तीर्ण हो कर शासन के अंग बनते हैं ? स्वतंत्र भारत में क्या विश्वविद्यालयों के लिए इससे बड़े किसी लक्ष्य की हम कल्पना नहीं कर सकते ? यह आवश्यक है कि विश्वविद्यालयों के शिक्षित जन बड़ी संख्या में सरकारी

नौकरियों में पहुंचते रहें परन्तु यह मांग ठीक नहीं है कि हमारी ये उच्चतम शिक्षा-संस्थाएं शासन की आवश्यकता के अनुरूप अपने पाठ्यक्रम में परिवर्त्तन करें या सरकारी परीक्षाओं के लिए विशेष व्यवस्था करें। इसी प्रकार प्राविधिक शिक्षा इंजीनियरिंग और टेक्नोलॉजी के कालिजों का विषय है। इधर रुड़की और नैनीताल में इंजीनियरिंग और कृषि के विश्वविद्यालय भी खुले हैं और संभवतः इस ढंग के अन्य विश्वविद्यालय भी शीघ्र ही खुलेंगे। परन्तु इन विशिष्ट शिक्षा-केन्द्रों को छोड़कर अन्य विश्वविद्यालयों की शिक्षा को हमें उदार और सर्वग्राही बना कर ही चलना होगा। आज के व्यापारिक-व्यावसायिक और संघर्षशील युग में विश्वविद्यालय ही ऐसे केन्द्र हैं जहां ज्ञान की निरपेक्ष और अंतरंगी रूप से एकांत साधना संभव है। तात्कालिक उपयोगिता से ऊपर उठ कर हम मानव-जीवन के शाश्वत प्रश्नों और समस्याओं पर कहां विचार करेंगे ? क्या उच्च शिक्षा को नौकरियों और उद्योग-धंधों तक सीमित कर हम मनुष्य की चरितार्थता पर ही आघात नहीं कर रहे हैं ? यह ठीक है कि स्वतंत्र भारत के लिए हमें विशेषज्ञ चाहिएँ और हमें बड़े पैमाने पर उद्योग-धंधे खड़े करना हैं, परन्तु इनके लिए हम स्वतंत्र संस्थाओं का निर्माण क्यों न करें ? सरकारी नौकरियों के लिए प्रशिक्षण-संस्थाएं हों और विशेष व्यवसायों, उद्योगों और व्यावहारिक क्षेत्रों के लिए शिक्षा की व्यवस्था हो, परन्तु क्या यह आवश्यक है कि हम सरस्वती-मंदिरों के शांत और गंभीर वातावरण को जीवन की हलचलों और उपयोगितावादी दृष्टि से कलुषित कर लें ?

यही बात राजनीतिक भूमिका के संबंध में भी कही जा सकती है। स्वाधीनता-संग्राम में हमने विद्यार्थियों से अपेक्षा की थी कि वे राजनीति में सक्रिय भाग लें। आज भी हमारे विभिन्न दलों के नेता विश्वविद्यालयों पर अपना अंकुश रखते हैं। परतंत्र देश के लिए राजनीति जीवन-मरण का प्रश्न हो जाती है और उसे आवश्यकता से अधिक मूल्य मिलने लगते हैं। यह स्थिति स्वतंत्र राष्ट्र के लिए भयावह है, क्योंकि अपरिपक्व ज्ञान कम संकटपूर्ण वस्तु नहीं है हमारे विद्यार्थी गंभीरतापूर्ण राजनीतिक समस्याओं का अध्ययन करें, विशेषज्ञता प्राप्त करें और भविष्य के सक्रिय जीवन के लिए तैयार हों। राजनीति-शास्त्र विशेषज्ञता का विषय है। आज हमारे देश में राजनीति-क्षेत्र में कार्य करने वालों का एक निश्चित वर्ग बना जा रहा है। यह नया "राजपूत-वर्ग"

यदि अधकचरे विद्यार्थियों को अपनी नासीर-सेना बना कर चलेगा तो हमारी राष्ट्रीय नीतियाँ क्या रह जायेंगी ? हमें स्वस्थ, संतुलित और ज्ञान-गंभीर नागरिक की सृष्टि करना है जो जनता पर शासन कर सके, सामूहिक उत्तेजनाओं के बीच में शांत बना रहे और जिसमें नेतृत्व की क्षमता हो। राष्ट्र के प्रत्येक संवेदन से परिचित एवं अनुप्राणित होने का यह अर्थ नहीं है कि विद्यार्थी राष्ट्र के भावी जीवन के लिए अपनी सुदृढ़ तैयारी की भूमिका ही बदल दे। हमारी उच्च शिक्षा में ज्ञान के प्रति अनाविल दृष्टि खुले, कर्म के प्रति दृढ़ता प्राप्त हो और जीवन के प्रति कर्मण्यता एवं कर्तव्यशीलता का भाव जागे। विश्वविद्यालयीय शिक्षा को तात्कालिकता, उपयोगिता और सस्ती राजनीतिक चेतना से ऊपर उठा कर ही हम राष्ट्र की नीवों को दृढ़ कर सकेंगे।

इसमें संदेह नहीं कि क्षेत्रीय समाज के प्रति भी विश्वविद्यालय के कर्तव्य हैं और उनका पालन आवश्यक है। विशेषज्ञता द्वारा प्राप्त ज्ञान व्यर्थ है यदि उसे जीवन के विकास में लागू नहीं किया जाये। अपने चारों ओर के जीवन को उन्नत, परिष्कृत, आनन्दमय तथा सुविधाजनक बनाने का उत्तरदायित्व सरकार का ही नहीं है, विश्वविद्यालयों का भी है जहाँ जनता करों के रूप में अपने जीवन की गाढ़ी कमाई समर्पित करती है। विश्वविद्यालयीय नगरों में जन-संपर्क के केन्द्र हों और हमारी शोधें मानव-समाज के अनुशीलन तथा प्रकृति के रहस्यों के उद्घाटन के द्वारा सामयिक जीवन के प्रति अपने ऋण को चुकाएँ। परन्तु यह ऋण उसी समय ठीक तरह से चुकाया जा सकता है जब हम अपने प्रति उत्तरदायी हों और उस ज्ञान के प्रति भी अपने उत्तरदायित्व को समझें जो हमें सहस्रों वर्षों के दाय के रूप में प्राप्त हुआ है। तात्कालिकता और उपयोगिता के अंचल से बँधे रह कर हम जीवन को कोई नयी दिशा नहीं दे सकेंगे, न हमारी दृष्टि सुदूर क्षितिजों तक जा सकेगी जो निरंतर मनुष्य के साहस को चुनौती दे रहे हैं। हमें ज्ञान-विज्ञान को जड़ता से मुक्त करना है और अपनी शोधों को नैतिक तथा मानवीय संदर्भ देना है। यदि राजनीतिज्ञ विज्ञान का दुरुपयोग करता है और उसे संहार में लगाता है तो क्या वैज्ञानिक इसके लिए उत्तरदायी नहीं है ? विशुद्धता का आग्रही होने से काम नहीं चलेगा, न हम परिबद्ध होकर चल सकेंगे। धर्म और नीति

से निःशेष हमारी सत्य-साधना दंभ मात्र बन कर रह जायेगी। हमारे ज्ञान-विज्ञान जीवन-सापेक्ष हों परन्तु उनमें तटस्थता का गुण भी हो जिससे हम सामयिक परिस्थितियों और आज की आवश्यकताओं से ऊपर उठ कर मनुष्य के चिरंतन उद्देश्यों से अपना संबंध जोड़ें।

कहा जाता है कि हमारे विश्वविद्यालय न तपोवन हो सकते हैं, न तक्षशिला-नालंदा, न मध्ययुगीन यूरोपीय विश्वविद्यालय जो धार्मिक चेतना से अपना जीवन आरंभ करते हैं। प्लेटो की "एकेडेमी" से आज काम नहीं चलेगा, ऐसा मानकर हम चलते हैं, क्योंकि जीवन का ज्वार हमारे एकांत अध्ययन-कक्ष में भी घुस आया है और हम उसकी उपेक्षा नहीं कर सकते। इसमें संदेह नहीं कि आज हम किसी वर्ग-विशेष या जीवन के पक्ष-विशेष के लिए अध्ययन-अध्यापन की व्यवस्था नहीं कर सकते, क्योंकि हमने सारे समाज के लिये अपने विश्व-विद्यालयों के द्वार उन्मुक्त कर दिये हैं। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि हम अनधिकारी जनों के हाथ की कठपुतली बन जायें। व्यावहारिक, नौकरी-सम्मत और टेकनीकी शिक्षा कालिजों में हो और वह सबके लिये खुली हो, परन्तु दर्शन, साहित्य और विशुद्ध ज्ञान-विज्ञान की साधना को लेकर चलना सब के लिये न संभव है, न उपादेय। उसके लिये आवश्यक संस्कार ही नहीं चाहिये, आर्थिक संपन्नता और सुविधाजनक जीवन के माप-दण्ड पर हम इन क्षेत्रों में शिखरों तक नहीं पहुँच सकते। यह कहा जाता है कि हम सार्वभौमिक संस्कृति चाहते हैं, भले ही हम सर्वहारा-संस्कृति नहीं चाहें, और किसी भी शिष्ट वर्ग की सृष्टि समानता, बन्धुत्व और स्वतंत्रता की भावनाओं का अपमान करना है। परन्तु सहस्रों वर्षों की अपार ज्ञान-राशि को लेकर विशेषज्ञों, शुद्धताग्रहियों तथा आत्मदानी शोधियों का एक वर्ग बराबर रहेगा। यह "ब्राह्मण" वर्ग जीवन की अनिवार्यता है। डाक्टरों, व्यवसायियों, इंजीनियरों, राजकर्मियों, प्रोफ़ेसरों का एक शिष्ट वर्ग हमारे बीच में है जो राष्ट्र का हृदय कहा जा सकता है। परन्तु यह वर्ग सामाजिक अनिवार्यता को लेकर आता है और उसकी सीमाएँ समाजशास्त्रीय सीमाएँ होती हैं। क्या ज्ञानपिपासुओं, सौन्दर्यद्रष्टाओं, कवियों, कलाकारों, दार्शनिकों और वैज्ञानिकों का एक और भी उच्च समाज कल्पित नहीं हो सकता, जिसके निर्माण में विश्वविद्यालय सहायक हों और जो उनको नये सरस्वती-भवनों

की गरिमा दे ? विश्वविद्यालयों को मानव-संस्कृति का साधना-मंदिर बना कर हम उन्हें गुरुकुलों का गौरव दे सकेंगे। अभी वे दिशाभ्रांत, निर्जीव और सूचना का व्यवसाय करने वाली संस्थाएँ हैं जो ज्ञान के प्रकाश से घबड़ाती हैं और अल्पतोष के आनन्द में मग्न हैं। पूर्व-पश्चिम का समन्वय यदि कहीं संभव है तो हमारे विश्वविद्यालयों में ही। इस संदर्भ में उनकी उपयोगिता राष्ट्रीय ही नहीं, अंतर्राष्ट्रीय और ऐतिहासिक बन जाती है।

राष्ट्रीय संस्कृति और विश्वविद्यालय

प्रश्न यह है कि वह चीज़ क्या है जिसे हम राष्ट्रीय संस्कृति कहते हैं। फिर यह भी जानना होगा कि उनका विश्वविद्यालय की उच्च शिक्षा से क्या संबंध है और किस प्रकार विश्वविद्यालय उसके विकास में योग दे सकते हैं।

वैसे व्यापक दृष्टि से विचार करने पर संस्कृति मानवीय ही ठहरती है, क्योंकि सब राष्ट्रों की संस्कृतियाँ मिलजुल कर अंततः मानव-संस्कृति का निर्माण करती हैं। स्वामी विवेकानन्द ने राष्ट्रीय संस्कृतियों को विभिन्न भाषाएँ माना है। जैसे सभी भाषाओं की सार्थकता उसके साहित्य में ही है जिसमें मनुष्य के अन्यतम संवेदनों और आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति होती है, वैसे ही सभी राष्ट्रीय संस्कृतियाँ हमें प्रेम, सद्भाव, करुणा, मैत्री, अहिंसा, उदारता और संयम का पाठ पढ़ाती हैं। उदाहरणतः जिन तीन तत्वों अहिंसा, समन्वय और सत्य-जिज्ञासा को भारतीय संस्कृति की विशेषता कहा गया है वे ग्रीक और इस्लामी संस्कृतियों में भी हैं और मध्ययुगीन यूरोप की ईसाई संस्कृति में भी। आज की वैज्ञानिक-टेकनीकी संस्कृति में सत्य-जिज्ञासा पर अधिक बल है और उसका एक नया रूप प्रयोग-निष्कर्ष पद्धति से आविष्कृत हो गया है, परन्तु यह स्पष्ट है कि अहिंसा (लोकहित) और समन्वय (सहिष्णुता) की भावना से आधुनिक पश्चिमी संस्कृति एकदम रिक्त नहीं है। इन तत्वों का बलाबल ही स्वतंत्र राष्ट्रीय इकाइयों की सृष्टि करता है। वैसे "ब्रह्मचर्य" (या ब्रह्मचेतना अथवा ईशावास्यी चेतना) को भारतीय संस्कृति का चरम तत्व माना जा सकता है जो जड़ में चेतन का ही प्रसार देखती है, परन्तु यह दृष्टि दूसरी जगह भी न्यूनाधिक मात्रा में मिलेगी। फलतः यह कहना कठिन है कि राष्ट्रीय संस्कृति कहाँ से आरंभ होती है और किस सीमा तक सार्वभौमिक मानवीय संस्कृति बन जाती है।

परन्तु एक दूसरे अर्थ में भी राष्ट्रीय संस्कृति की कल्पना हो सकती है। जिस प्रकार परिवार की संस्था के पीछे वंशानुक्रम और सदस्यों की समान स्मृतियों

का विशाल पुंज रहता है उसी प्रकार राष्ट्रीय इतिहास के महापुरुषों, महान ग्रंथों, कलाकृतियों, उत्सवों-पर्वों तथा प्रयत्नों-उपलब्धियों को लेकर राष्ट्रीय संस्कृति बनती है। राष्ट्र के वे सुख-दुःख जिनमें हमारे पूर्वज साथ-साथ जिये-मरे हैं हमें एकसूत्रता में बाँधते हैं और चेतन मन में ही नहीं, उपचेतन में भी सहस्रों घटनाओं का इन्द्रजाल बुन कर हमें एकधर्मी बनाते हैं। यह आवश्यक है कि हमारे विश्वविद्यालय राष्ट्रीय इतिहास के संबंध में हमें चेतना दें, हमारे सांस्कृतिक प्रयत्नों की स्मृतियों को जगायें और गौरव का विषय ही न होकर हमारा रक्त-मांस बन जायें। राष्ट्रीय इतिहास और जीवन को मज्जागत बना कर ही हम अपनी शिक्षा और बौद्धिक चेतना को वर्त्तमान के लिए उपयोगी बना सकते हैं। वर्त्तमान हमारे अतीत और भविष्य का मिलन-बिंदु है। वह परिमिति और आरम्भ दोनों है। आज की समस्याओं के समाधानों के लिए ही हम पूर्ववर्त्ती युगों में प्रवेश करते हैं और भविष्यकल्पी बनते हैं। आज का जीना आज में जीना ही नहीं है, वह भविष्य के लिए जीना भी है और उसमें वह जीना भी आत्मसात हो जाता है जो हमारे पूर्वजों ने हमारे लिए जिया। राष्ट्र यदि व्यक्तित्व है तो उसे भूत-वर्त्तमान-भविष्यत् को लेकर एक इकाई में जीना है।

आवश्यकता इस बात की है कि हम परंपरा से पूर्ण रूप से रस खींचते हुए आज के लिए नयी राष्ट्रीय संस्कृति का निर्माण करें। यह संस्कृति नयी होते हुए भी एकदम नयी नहीं हो सकती, क्योंकि वह आधुनिक संस्कृति के भीतर से ही आयेगी जिसके लिए राजा राममोहनराय से लेकर महात्मा गाँधी तक हमारी क्रियाशीलता चलती रही है। उसमें पूर्वी (भारतीय) और पश्चिमी (यूरोपीय-अमरीकी-रूसी) उपलब्धियों का संश्लेष रहेगा। पूर्व के धर्म और दर्शन तथा पश्चिम के विज्ञान और प्राविधिक ज्ञान को लेकर हम एक नये समन्वय की सृष्टि करेंगे। यह समन्वय जोड़ नहीं होगा, नयी सृष्टि होगा।

कैसे हम जानें कि हमारे वे राष्ट्रीय मूल्य क्या हैं जिनके लिए हमें अपनी शिक्षा की व्यवस्था करनी है ? हमारे मूल्य निवृत्ति के मूल्य हैं या प्रवृत्ति के ? मध्ययुग तक चाहे जो रहा हो आज हम संसार को प्रपंच या माया नहीं मान सकते। मायात्मक या दृश्यात्मक संसार से भाग कर चरम सत्ता की प्राप्ति

हमारे लिए संभव नहीं है। आज धर्म, दर्शन, शिक्षा और समाज की दृष्टि में दैनिक कार्यकलापों और मानवीय संबंधों के भीतर से हमें जीवन की सार्थकता प्राप्त करना है। हमें प्रवृत्ति के भीतर से ही निवृत्ति पाना है। लोक में ही लोकोत्तर की साधना आज का धर्म, अध्यात्म और दर्शन है। भौतिक और मानवीय जगत में जो भी गहरा, सूक्ष्म और अर्थवान है, उसको अपनी आकांक्षा, प्रेम तथा साधना का बिषय बना कर ही हम राष्ट्रीय जीवन को सार्थकता देंगे। पश्चिम की कर्मण्य संस्कृति और जीवन के प्रति स्पृहावान नयी विश्वचेतना के संघात से हमने शांकरमत को मायावाद से मुक्त कर नव्य वेदांत का क्रियमाण रूप दिया है। निराला की "अधिवास" शीर्षक कविता इस नयी जीवन-चेतना का सशक्त उद्घोष है, जो व्यक्तिगत मुक्ति की सार्वभौमिक करुणा की वेदी पर बलि करने का संकल्प हमें देती है। हमारी शिक्षा हमें दैनंदिन समस्याओं के लिए तैयार करे और हम अपने प्रतिदिन के कार्यकलापों तथा मानवीय संदर्भों से बौद्धिक, सौन्दर्यात्मक एवं नैतिक महार्घता प्राप्त करें। अपने इस धरती के जीवन को ही करुणा, प्रेम और सेवा से भर कर हम उसे नयी आध्यात्मिकता दे सकेंगे। अतः यह स्पष्ट है कि हमारी नयी शिक्षा मानव-मानव और मानव-प्रकृति के सहयोग के लिए ही होगी और उसमें राग के परिष्कार तथा अनासक्तिमूलक तटस्थता को पर्याप्त अवसर प्राप्त होगा। अनासक्तिमूलक कर्मयोग का तात्पर्य विरागात्मक चेतना नहीं है, उसका अर्थ है अहिंसा, अभय और असंग की साधना जो भारतीय विद्या के मूलाधार तत्व हैं। अपने जीवन को मानवीय और निस्पृह बना कर ही हम सब के प्रति अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह कर सकेंगे।

हमारी राष्ट्रीय संस्कृति वही हो सकती है जो हमारे धर्म, साहित्य, कला, काव्य, वास्तुकला तथा कारीगरी में सन्निहित है। भौतिक और बौद्धिक निर्माण-क्षेत्रों में हमने जो भी उपलब्धियाँ की हैं वे हमारी राष्ट्रीय संस्कृति का ही प्रतिबिंब हैं। राष्ट्र के इतिहास, मनोविज्ञान तथा सर्जनात्मक प्रयत्नों में ही राष्ट्रीय संस्कृति का निवास हो सकता है। राष्ट्र की आत्मा का स्वतंत्र और मौलिक सर्जन ही उसकी संस्कृति होगा, इसमें क्या संदेह हो सकता है? अवश्य ही इसमें बाहरी प्रभावों और समन्वयात्मक प्रयत्नों का बाध नहीं है, क्योंकि राष्ट्र की स्वतंत्र चेतना और जीवन-शक्ति से ये बाहरी प्रभाव राष्ट्रीय

संस्कृति में इस प्रकार आत्मसात हो जाते हैं जिस प्रकार फूल में प्रकाश आत्मसात होकर रंगों-रूपों की सार्थकता बन जाता है। देखना यह है कि जिसे हम राष्ट्रीय संस्कृति मान रहे हैं वह सतही चीज़ है, ऊपरी पालिश है, विदेश का उधार है, या राष्ट्र के जीवन, चिन्तन, सौन्दर्य-साधना और कर्म से उसका अंतरंग संबंध है। यह मापदण्ड हमारे सामने रहेगा तो हम अपनी शिक्षा को नये अर्थ दे सकेंगे।

आवश्यकता इस बात की है कि हमारी शिक्षा का माध्यम भारतीय भाषा (मातृ-भाषा) हो जिसमें राष्ट्र के हृदय-मन-प्राण के सूक्ष्मतम और गंभीरतम संवेदन मुखरित हों और हमारा पाठ्यक्रम यूरोप तथा अमरीका के पाठ्यक्रम पर आधारित न होकर हमारी अपनी सांस्कृतिक परंपराओं एवं आवश्यकताओं का प्रतिनिधित्व करे। भारतीय भाषाओं, भारतीय इतिहास, भारतीय दर्शन, भारतीय धर्म और भारतीय समाज-शास्त्र को हम सर्वोपरि स्थान दें। उन्हें अपने शिक्षाक्रम में गौण स्थान देकर या शिक्षित जन को उनमें वंचित रख कर हमने राष्ट्रीय संस्कृति में एक महान रिक्त को जन्म दिया है, जो नयी पीढ़ी को भीतर से खोखला कर रहा है। हम राष्ट्रीय परंपरा से ही नहीं, सामयिक जीवन-प्रवाह से भी दूर जा पड़े हैं। विदेशी पश्चिमी चश्मों के भीतर से देखने पर अपने घर के प्राणी भी बे-पहचाने और अजीब-से लगे हैं। शिक्षित जन और सामान्य जनता के बीच की खाई बढ़ती गयी है और विश्व-संस्कृति के दावेदार होने का दंभ करते हुए भी हम घर में वामन ही बने रह गये हैं। इस स्थिति को हास्यास्पद ही कहा जा सकता है।

परंपरा से ही नहीं, हमें सामयिक जन-संस्कृति से भी अपना संबंध जोड़ना है, उसके श्रेष्ठतम को अपने अध्ययन-अध्यापन का विषय बनाना है। जन-संपर्क की स्फूर्ति से रहित हमारी शिक्षा निष्प्राण ही होगी। आज हम वर्ग-विशेष में बँध कर नहीं रह सकते। प्रतिक्षण यह अनुभूति हम में जागती रहे कि हम सब के अनिवार्य अंग हैं और समष्टि के प्रति उत्सर्ग का भाव हमारा नया जीवन-धर्म है। शिक्षित जन जनता से जो प्राप्त करते हैं उन्हें उसे सौ हाथों से लौटाना है। सामाजिक और आर्थिक न्याय ही नहीं, भौतिक और सांस्कृतिक उपलब्धियों को भी हमें जनता में बाँट कर खाना है। इसीलिए

आज के विश्वविद्यालय राष्ट्रीय जीवन से हट कर नहीं चल सकते। उन्हें राष्ट्र की आवश्यकताओं पर दृष्टि रखनी होगी और वैज्ञानिक, आर्थिक और सामाजिक जीवन की शोधों से उनकी पूर्ति करनी होगी। हमें एक अत्यंत मानवीय, न्यायशील और सत्य तथा प्रेम के प्रति प्रबुद्ध समाज-सूत्र का निर्माण करना है। इसके लिए आवश्यक है कि हमारा शिक्षित समाज भाव-संपन्न और सहानुभूतिपूर्ण हो। वह कल्पनाशील और क्रियाशील भी हो और उसमें अध्यवसाय तथा संकल्पनिष्ठा का गुण उत्कृष्ट मात्रा में हो। हमारी शिक्षा हमें इन गुणों से संपन्न करने पर ही सार्थक होगी। आज हमारे लिए शिष्ट (शिक्षित) और जन का भेद अनिवार्य नहीं है, क्योंकि विज्ञान के साधनों (रेडियो, समाचार पत्र, टेलिव्हिज़न और सिनेमा) ने दूर-दूर तक ग्रामों में फैले समाज तक पहुँचने के नये साधन हमें दिये हैं। समाज को बदलने का एक साधन राजशक्ति है, दूसरा साधन शिक्षा है। यदि हम सर्व-सत्तात्मक शासन से बचना चाहते हैं तो शिक्षा के द्वारा पिछड़े समाज का उन्नयन हमारा धर्म होता है। इसके लिए हमें मानव-व्यक्तित्व के सम्मान और उसके स्वतंत्र विकास के लिए उपयुक्त वातावरण के निर्माण की ओर बढ़ना होगा। मानव-देह को आत्मा का मंदिर और धरती के जीवन को ही उच्चतम आध्यात्मिक मूल्यों का वाहन बना कर हम समाज के उपेक्षितों, पीड़ितों एवं निराश्रितों के प्रति अपने कर्तव्य का निर्वाह कर सकेंगे।

हमारी राष्ट्रीय संस्कृति का आधार बौद्धिकता है, क्योंकि हमने अंतर्ज्ञान को सर्वोपरि मान कर भी बौद्धिकता को लांछित नहीं समझा है। निर्लेप बुद्धि की साधना ही आचरण की सभ्यता का मूल है, ऐसा बार-बार कहा गया है। बुद्धि को रूढ़िवाद, भय, आलस्य और स्वार्थ से मुक्त कर उसे मानव-कल्याण का साधन बना कर हम अपनी विशिष्टता को ही चरितार्थता देते हैं। पिछले दो महायुद्धों और तानाशाही ने यूरोप का विश्वास बुद्धि की सर्वोपरिता पर से हटा दिया है और जैनेन्द्र जैसे हमारे अपने विचारक भी बुद्धि के विरोध को अपना जीवनदर्शन बना रहे हैं। अर्थ का विरोध तो प्रेमचंदीय साहित्य, गाँधीवादी दर्शन या मार्क्सवाद की भूमिका पर हमारी स्पृहा का विषय हो सकता है, परन्तु बुद्धि के विरोध के क्या अर्थ होते हैं ? क्या हम अप्रत्याशित, विस्फोटक, सुररियलिस्टी या सार्त्रीय या जैनेन्द्रीय बन कर अबूझ, रहस्यमय

और तर्क-वितर्क के बंधन से परे हो जाना चाहते हैं। आज मनुष्य प्रकृति के हाथ की कठपुतली नहीं है। वह उस पर शासन कर रहा है। परन्तु भौतिक और प्राणिशास्त्रीय विज्ञान के क्षेत्र में बुद्धि का सर्वगत प्रयोग करने पर भी आज हम मानवीय तथा सामाजिक संबंधों में भावुकता से अनुप्राणित होते हैं। आदिम संवेदनाएँ, रागद्वेष और अवचेतनीय विस्फोट हमारे संयम और संतुलन पर हावी हो रहे हैं। दल, वर्ग, राजनीति और समाजनीति हमें उद्विग्न करते हैं। समूहों और जनता का आतंक हम पर छाया रहता है। ऐसी स्थिति में हम विश्वविद्यालय की शिक्षा से यह आशा कर सकते हैं कि वह हमें बौद्धिक जागरूकता, संयम तथा अंतर्निष्ठा दे और हम इन गुणों से अपने सामाजिक और पारिवारिक संबंधों तथा व्यक्तिगत जीवन को अनुशासित करें।

अंत में, हमें यह देख लेना है कि हमारी राष्ट्रीय संस्कृति परंपरा के प्रति विनम्र होती हुई भी भविष्य की ओर देखे और उसमें निर्भयतापूर्वक सत्य-शोध का आग्रह सुदृढ़ बना रहे। जो राष्ट्र अपनी शिक्षा की व्यवस्था स्वतंत्र विचारणा, एकनिष्ठता तथा सत्य-जिज्ञासा के लिए करता हैं वही धर्म और न्याय का ध्वजवाहक बन सकता है। हमारी राष्ट्रीय संस्कृति का भविष्य उज्ज्वल है यदि उसमें स्वतंत्र चिन्तन और निर्भय वचन तथा कर्म का आग्रह हो। हम अपनी शिक्षा को सर्जनात्मक चिन्तन, सौन्दर्यात्मक भावना और शीलप्रवण आचरण का वाहन बनाएँ। तभी हम अपनी राष्ट्रीय संस्कृति के प्रति प्रबुद्ध और कृतज्ञ सिद्ध होंगे।

अनुशासन की समस्या

शिक्षा-संस्थानों में अनुशासन की समस्या आज एक महत्वपूर्ण राष्ट्रीय समस्या बन गई है। वैसे इस समस्या का संबंध हमारे विराट् राष्ट्रीय और सामाजिक जीवन से है और आधुनिक शिक्षा की प्रकृति तथा उसके लक्ष्य से उसका गहरा लगाव है, परन्तु व्यापक क्षेत्र में इस समस्या को देखने के साथ यह भी आवश्यक है कि हम उसके संकीर्ण रूप पर भी विचार करें। मध्यवर्ग हमारे देश का सब से अधिक जागरूक और शिक्षित समाज है और राष्ट्रीय सरकार तथा शिक्षा के सूत्र उसी के द्वारा संचालित हैं। फलतः यह नितांत आवश्यक हो जाता है कि हम इस वर्ग की मनोवृत्तियों से भी परिचित हों और देखें कि उसका अनुशासन की समस्या से क्या संबंध है।

यह निश्चित है कि यह समस्या आज ही नहीं उठ खड़ी हुई है। उसके पीछे कई पिछली पीढ़ियाँ हैं। पहली बात तो यह है कि स्वाधीनता-संग्राम में हमने विश्वविद्यालयों और शिक्षा-संस्थाओं को अपना प्रमुख कार्यक्षेत्र बनाया था। १९२१ ई० में सरकारी शिक्षा-केन्द्रों के वहिष्कार और राष्ट्रीय शिक्षालयों के निर्माण चर्चा ज़ोरों से उठी थी। राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी ने विद्यार्थियों के नाम अपील जारी की थी कि वे अपना अध्ययन स्थगित कर दें और राष्ट्रीय सेवा के व्रती बनें। उनके व्यक्तित्व और सन्देश ने जादू का काम किया और हज़ारों की संख्या में उच्च कक्षाओं के विद्यार्थी पढ़ना छोड़ कर सत्याग्रह-आन्दोलन में लगे। चौरीचौरा-काण्ड के बाद जब आन्दोलन स्थगित कर दिया गया तो इन मेधावी क्षेत्रों के लिए अपनी पिछली संस्थाओं में भरती होना असंभव था। राष्ट्रीय कालेजों और विद्यापीठों का युग आया। राष्ट्रीय जीवन में बलिदान और उत्सर्ग के नये ताने-बाने बुने गये। हमारे नेताओं ने बार-बार कहा कि विद्यार्थियों के लिए अपने व्यक्तित्व की रक्षा करना आवश्यक है और देश की स्वतंत्रता-प्राप्ति तक विद्यार्थी-वर्ग नासीर सेना के रूप में हमारे आगे-आगे चलता रहा। राष्ट्रीयता के रूप में राजनीति ने

विश्वविद्यालयों के क्षेत्र में प्रवेश किया और अंत में उसको वहाँ से बहिष्कृत करना ही असंभव हो गया। गाँधीवादी विचारधारा का भी प्रवेश तीसरे दशक में ही विश्वविद्यालयों में हो गया था और जैसे-जैसे हम स्वाधीनता की ओर बढ़ते गये वैसे-वैसे नयी राजनीतिक विचारधाराएँ और दलबंदियाँ वहाँ प्रवेश करती गयीं। आज स्थिति यह है कि स्वाधीन देश की राजनीतिक चेतना का अच्छा-बुरा सब कुछ विश्वविद्यालयों की राजनीति में प्रतिबिंबित है और हमारे शिक्षा-संस्थान संस्कृति, साहित्य और कला के केन्द्र न होकर अधकचरी राजनीति के केन्द्र बन गये हैं। संसार के सभी शोषित देशों से हमें सहानुभूति है और राजनीति का प्रत्येक स्पन्दन हमें झकझोर देता है। यह स्थिति अराजकता की सीमा तक पहुँच गई है। राजनीतिक स्पर्धा से प्रेरित हो कर अनेक राजनीतिक और अर्द्धराजनीतिक दल विद्यार्थी वर्ग के नेता बन जाते हैं और अनभवी तरुण उनके हाथ में कठपुतली की तरह नाचते हैं। परन्तु इसे हम आज की अनुशासनहीनता का सबसे बड़ा कारण नहीं कह सकते।

अधिक महत्वपूर्ण बात है कि आज हम एक नयी संस्कृति में प्रवेश कर रहे हैं। उन्नीसवीं शताब्दी और बीसवीं शताब्दी के पहले चार दशक एक संपूर्ण सांस्कृतिक इकाई का निर्माण करते हैं। इन वर्षों को हम नवजागरण-युग कह सकते हैं। उन्नीसवीं शताब्दी में मूल प्रश्न सांस्कृतिक स्वतंत्रता बनाये रखने का था। पश्चिम की वैज्ञानिक और प्राविधिक संस्कृति हमारी आध्यात्मिक संस्कृति पर दबाव डाल रही थी और शासकों की भौतिकता तथा कर्मण्यता ने हमें चुनौती दी थी। हमने पश्चिम के महान विचारकों और उदार चिन्तकों के महावाक्यों को अपना लिया और स्वतंत्रता, समता तथा बंधुत्व के नये आदर्श को लेकर आगे बढ़े। पूर्व और पश्चिम के सर्व-श्रेष्ठ को लेकर उन्नीसवीं शताब्दी के अंत में एक नयी मध्यवर्गीय संस्कृति का निर्माण हुआ जो बुद्धिवाद पर आधारित थी और जिसमें भारतीय संस्कृति का मर्यादावाद पूर्णतः प्रतिबिंबित था। राजा राममोहन राय, केशवचन्द्र सेन, स्वामी दयानन्द, बंकिमचंद्र चटर्जी, रामकृष्ण परमहंस और स्वामी विवेकानन्द के द्वारा जिस नयी समन्वयात्मक संस्कृति का शिलान्यास हुआ वह बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में क्रियमाण रही परन्तु १६३६ के महायुद्ध ने उस पर बुरी

तरह आघात किया। भौतिक जीवन ही प्रमुख हो गया और आ
स्थाओं ने राष्ट्र के मेरुदण्ड को दुर्बल बना दिया। तात्कालिक
उलझ कर हम अपनी सांस्कृतिक निष्ठा ही खो बैठे। अकाल, मँहगी, बेकारी और महायुद्ध की असंस्कारी चेतनाओं ने हमारे मस्तिष्क को असंयम से भर दिया। हमारी आस्था का बहुत बड़ा भाग टूट कर गिर गया और हमारे मानव-मूल्य भूलुंठित हो गये। शिक्षा-संस्थाओं पर भी इस विचारदौबल्य का प्रभाव पड़ा। व्यक्तिवादी चेतनाएँ पनपने लगीं और लोककल्याण तथा राष्ट्रीय हित की बात पीछे पड़ गई। नयी कविता और नये साहित्य का नयापन यही मूल्यों का विघटन है, जो आज दु:स्वप्न की भाँति हमें भयभीत कर रहा है। परंपरा और परिबद्धता के प्रति विद्रोह नयी पीढ़ी का नारा है और उसने हमें अश्रद्धालु और असंयमी बना दिया है। समाज की आदर्शहीनता और बौद्धिक अराजकता हमारे राष्ट्रीय जीवन में ही नहीं, हमारी सभी सांस्कृतिक और सामाजिक संस्थाओं में प्रतिबिंबित है। शिक्षा-संस्थाओं में यह अराजक स्थिति अधिक खुल कर सामने आती है तो हम दर्पण में अपना मुख देखकर एकदम प्रताड़ित हो उठते हैं। परन्तु जो भीतर से टूट गया है वह क्या बाहर के उपचारों से जुड़ सकता है?

स्वाधीनता के बाद हमने मान लिया है कि सब कुछ सत्ता से ही प्राप्त हो सकता है। इसीलिए हमने व्यक्तित्व के निर्माण के प्रश्न को पीछे डाल दिया है और परिग्रह में लगे हैं। सब को छोटा करके ही हम अपने को बड़ा करना चाहते हैं। उच्च संस्कृति के युगों में बाह्यांतर का विरोध समाप्त हो जाता है। आज की समस्या यह है कि हम अपने बाहर निकल गये हैं और बाहर ही रह गये हैं। संघर्ष ही जीवन है, यह महामंत्र पश्चिम से आया है और असंख्य कहानियों, कविताओं, उपन्यासों और नाटकों में बार-बार इसकी प्रतिध्वनियाँ उठाई गयी हैं। इसीलिए आज सहयोग की बात हमारे गले के नीचे नहीं उतरती। व्यक्तिवाद के इस युग में सहयोग यदि हो सकता है तो वह सत्ता के बल पर ही। इसीलिए राज्यगत योजनाओं की भरमार है। परन्तु योजनाएँ मनुष्य नहीं बनातीं। संस्कृति ही मनुष्य का निर्माण करती है। जहाँ च्युतसंस्कृति होना ही मानवधर्म बन गया है, वहाँ वह तपस्या हमें कहाँ मिलेगी जो आचरण के स्वर्ण-कणों के ढेर पर ढेर लगा कर संस्कृति के

सुमेरु का निर्माण करती है। आज की अनुशासनहीनता हमारी लक्ष्यभ्रष्टता की ही कहानी है।

अनुशासन भीतरी नियंत्रण है। वह भीतर से बाँधना है। यह भीतर से बाँधना धर्म और दर्शन से ही संभव है। धर्म हमें नैतिकता की ओर ले जाता है और व्यक्तिगत और सामाजिक व्यवहार के कुछ ऐसे मापदण्ड प्रस्तुत करता है जो हमें उच्च संस्कार दे सकें। आत्मा को पर से पीछे रखने पर ही ये उच्च संस्कार सध सकते हैं। इसके लिए आत्मतोषी और अपरिग्रही होना आवश्यक है। आधुनिक शिक्षा हमें आत्मबल नहीं देती। वह सूचना देकर ही कृतकार्य हो जाती है। साहित्य और कला को हमने शिल्प तक सीमित कर दिया है। हमारा अध्ययन वैज्ञानिक हो गया है और सभी क्षेत्रों में वैज्ञानिकता की माँग है। वैज्ञानिकता का अर्थ है विश्लेषणात्मक और विकासात्मक अध्ययन। इस चीरा-फाड़ी में न साहित्य हाथ में पड़ता है, न कला, न धर्म। हम परिधि पर ही चक्कर लगाते रहते हैं। इसका फल यह है कि आज का शिक्षित मनुष्य भीतर से अशिक्षित है। उसके भीतर एक बड़ा शून्य है जो उसे बराबर कुरेदता रहता है और उसके अहम् को निरंतर उकसाता रहता है। सूचना से आगे बढ़ कर एक वर्ग विशेषज्ञता तक पहुँचता है, परन्तु यह विशेषज्ञता क्या है? कम-से-कम का अधिक-से-अधिक ज्ञान! इस दरिद्रता पर हम किस संस्कृति का महल खड़ा कर रहे हैं? शिष्ट समाज का लोककला और लोकसाहित्य की ओर आकर्षण स्पष्ट रूप से यह सूचित करता है कि जिसे संस्कृति कहते हैं उसका कुछ भी शिष्ट समाज के पास नहीं रह गया है। परन्तु संस्कृतियाँ उधार नहीं ली जा सकतीं। इस प्रकार अनुशासन की समस्या संस्कृतिच्युत समाज के जीवन-मूल्यों के अभाव की समस्या है। प्रश्न यह है कि आज हमारे शिक्षणालय हमें किसी प्रकार के जीवनमूल्य दे रहे हैं या नहीं।

हमारे विश्वविद्यालयों में जिस शिक्षा-पद्धति की योजना है उसका आधार विदेशी सरकार की आवश्यकताएँ थीं। मैकाले ने राज्यकर्मचारियों के निर्माण के लिए अंग्रेज़ी के माध्यम से शिक्षा की योजना का स्वप्न देखा था। इस

शिक्षा ने हमें यदि कला, साहित्य, राजनीति और व्यवसाय के क्षेत्र में सुयोग्य नेता दिये तो इसका श्रेय भारतीय मनीषा को मिलेगा, जिसने अपनी मौलिकता और तेजस्विता को अक्षुण्ण बनाये रखा। इसके लिए हम न विदेशी शिक्षा-पद्धति के आभारी होंगे, न अंग्रेज़ी भाषा के। आज हमारे स्वाधीन राष्ट्र की आवश्यकताएँ वही नहीं हैं जो मेकाले ने कल्पित की थीं। फिर भी आज हमारे शिक्षा-संस्थान मेकाले के शव को ढोये जा रहे हैं और हमारी राष्ट्रीय सरकार कुछ थोड़े उलट-फेर के साथ उसी शिक्षा को आगे बढ़ा रही है। फल है व्यर्थता। राष्ट्र की आवश्यकता और व्यक्ति की अभिरुचि के अनुसार जहाँ शिक्षा की योजना होती है वहीं असफलता पल्ले नहीं पड़ती। हमारी शिक्षा राष्ट्रीय और सांस्कृतिक हो, वह केवल विज्ञान और प्राविधिक ज्ञान ही नहीं दे। उसके माध्यम से हम अपने गौरववान अतीत से परिचित हों और भारतीयता में अंतर्भुक्त हो सकें। तभी हम सुसंस्कृत नागरिक और चरित्रवान मनुष्य बन सकेंगे। शिक्षा में सस्तेपन का समावेश संस्कृति के लिए मृत्यु का संदेश है।

सच तो यह है कि अनुशासनहीनता व्यक्ति-स्वातंत्र्य की ही देन है। जहाँ व्यक्ति की स्वतंत्रता पहली शर्त है वहाँ समाज-बुद्धि का जन्म हो ही नहीं सकता। स्वतंत्रता अधिकार पर बल देती है, समाजशीलता कर्तव्य पर। आज हम अधिकारशील हो उठे हैं। इसीलिए शिक्षा-संस्थानों में विद्यार्थियों के अधिकार की बात चलती है और अध्यापक वर्ग तथा विद्यार्थी एक ही पलड़े में रखे जाते हैं। शील हाथ से चला जाता है और शक्ति-साधन के लिए खींचतान होने लगती है। अध्ययन-अध्यापन और आत्मसंस्कार गौण हो जाता है और दलबंदी प्रधान। स्वयं अध्यापकों के भीतर भी अधिकार और धन की लिप्सा कम नहीं होती, फलतः विद्यार्थियों के वर्ग बन जाते हैं और उन्हें अध्यापक अपने हित-साधन में लगाते हैं। कारण एक नहीं, अनेक हैं। असली बात तो यह है कि शिक्षा के नाम पर हम अशिक्षा का क्रय-विक्रय कर रहे हैं और हमारे सस्ते पाठ्यक्रम, अध्यापकों की दलबंदी और मानसिक दरिद्रता आदि अनेक अवगुण मिल कर हमारी राष्ट्रीयता और सांस्कारिकता को खण्डित कर रहे हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि यह स्थिति अत्यंत विषम है और हमें शीघ्र ही इससे उबरना होगा।

प्रश्न यह है कि अनुशासन की भावना लौटाने के लिए हम क्या करें ? कहाँ से आरंभ करें और कैसे करें ? कौन करे ? पिछली पीढ़ी के अनुत्तरदायित्व और नयी पीढ़ी की संस्कारहीनता की दुहाई हम कब तक देंगे ? राजनीतिक और सामाजिक जीवन को मर्यादावान बनाना दो-चार वर्षों का काम नहीं है और इन क्षेत्रों में करने के लिए काम की कमी नहीं है। हमें शिक्षा-केन्द्रों से ही आरंभ करना होगा, क्योंकि नयी पीढ़ी वहीं बनती है। प्राइमरी स्कूलों से लेकर विश्वविद्यालयों तक विद्यार्थी-जीवन का प्रसार है और लगभग पंद्रह वर्ष इसमें अनिवार्यता लगते हैं। यदि इस दीर्घ काल में हम व्यक्ति को भीतर-बाहर के अनुशासन की मर्यादा नहीं सिखाते तो फिर यह सुविधा कब मिलेगी ? व्यक्ति-स्वातंत्र्य के नारे ने हमें दिग्भ्रमित कर दिया है और विद्यार्थियों में अधिकार की भावना बढ़ रही है। परन्तु कर्तव्य अधिकार से पहले आते हैं। शिक्षालयों में गुरुजनों और शिक्षकों के प्रति सम्मान की भावना हो और स्वयं शिक्षक-वर्ग दलबंदियों से ऊपर उठ कर त्याग और तपस्या का संकल्प लेकर चले तो अनुशासन की समस्या ही नहीं रहे। दुर्बलता भीतर से आती है और आज की संक्रांति के पीछे सभी वर्गों की कर्तव्यहीनता है। इसीलिए हमें विद्यार्थी के मन को भीतर से दृढ़ करना होगा। कक्षा में ही नहीं, खेल के मैदान और पुस्तकालय में भी उसे अनुशासन सिखाना होगा। राष्ट्रीय इतिहास और संस्कृति, महान पुरुषों के चरित्र, धर्म और सदाचार का पाठ पढ़े बिना विद्यार्थी के मन में न आस्था का जन्म हो सकता है, न आत्मगौरव ही जाग सकता है। अपने प्रति जागरूक और निष्ठावान बन कर ही हम औरों के प्रति औचित्य का पालन कर सकते हैं। इस आत्मनिष्ठा को हम बचपन में ही सीख सकें तो वह हमारे व्यक्तित्व का अभिन्न अंग बन कर राष्ट्र की संपत्ति बन जाए। संकल्प, संयम, कर्तव्यनिष्ठा और मर्यादा अनुशासन के मूलाधार हैं। हमारे प्रतिदिन के जीवन-व्यवहार में उन्हें उपयुक्त स्थान मिलना चाहिये। इसके लिए हमें अपने से आरंभ करना होगा, क्योंकि इन चारित्रिक गुणों के अभाव में शिक्षा सूचना मात्र बन जायेगी।

इसके लिए शिक्षकों को साधनसंपन्न और सम्मान्य बनाना होगा। आज राजनीतिक दलों में काम करने वाला व्यक्तिविशेष सम्मान का पात्र है,

क्योंकि वह शासकवर्ग का आदमी है। यह नया क्षत्रियवर्ग शिक्षा और संस्कृति पर नहीं, जनता के अज्ञान पर ही पनपता है। शिक्षकवर्ग ही राष्ट्र का मस्तिष्क है। उसे ब्रह्म-तेज से संपन्न करके ही हम राष्ट्र को शक्तिशाली बना सकेंगे। उसका ब्राह्मणत्व आज खण्डित है, क्योंकि न जीवन के श्रेष्ठ साधन ही उसे सुलभ हैं, न वह समाज के वर्चस्व का अधिकारी है। पश्चिमी देशों में शिक्षकों, कलाकारों, कवियों और शोधियों को ही महत्व प्राप्त है। सुसंस्कृत पश्चिमी राष्ट्र विश्वविद्यालयों के अध्यापकों को राजदूतों और विशेषज्ञों के रूप में भेज रहे हैं। अपने देश में यह परंपरा अभी आरंभ ही नहीं हुई है। इस स्वस्थ परंपरा का निर्माण हमें करना है। अध्यापकों के हित को राष्ट्र का हित मान कर ही हम शिक्षा को स्वस्थ और सांस्कृतिक चेतना बना सकेंगे। सुसंस्कृत और अनुशासित मन राष्ट्र की सबसे बड़ी निधि है। शिक्षक ही ऐसे मन को गढ़ सकता है। कुत्सा और स्पर्द्धा के वातावरण से ऊपर उठ कर जब हमारा शिक्षकवर्ग उदात्त चारित्रिक भूमिका पर स्थिर हो जायेगा तब हमारे देश में अनुशासन की समस्या आप ही समाप्त हो जायेगी। विद्यार्थी-जीवन को सुखी, स्वस्थ और निष्ठावान बनाना ही आज राष्ट्रधर्म कहा जा सकता है, क्योंकि मूल्यों के विघटन के इस युग में पश्चिमी हवाओं के सामने टिकने के लिए हमें जिस शक्ति की आवश्यकता है वह हमारे जीवन के इस प्रारंभिक काल में ही उपलब्ध होना चाहिये। आत्मानुशासन अनुशासन का पहला सोपान है। उसके लिए सूचना दरकार नहीं, संस्कृति की आवश्यकता है। नयी पीढ़ी को संस्कृतिनिष्ठ और आस्था-प्राण बना कर ही हम अनुशासन की समस्या को हल कर सकेंगे। यह काम शिक्षा-संस्थाओं में सुयोग्य अध्यापकों के द्वारा ही संपन्न हो सकेगा।

संस्कृति और साहित्य

साहित्य में "संस्कृति" की अभिव्यक्ति का क्या स्वरूप है, यह जानना आवश्यक है। यहाँ कठिनाई यह है कि "साहित्य" और "संस्कृति" दोनों अबूझ इकाइयाँ हैं, जिनके संबंध में अनेक मत हैं। "साहित्य" में संपूर्ण लिपिबद्ध ज्ञान लें या सर्जनात्मक साहित्य को ही साहित्य मानें ? इसी प्रकार "संस्कृति" में "सभ्यता" का विरोध प्रतिफलित है या समाहार ? संस्कृति के उपकरणों और योगायोगों के संबंध में भी मतभेद हो सकता है। सच्चाई यह है कि संस्कृति की परिभाषा ही नहीं, उसके तत्वार्थ के संबंध में भी विद्वान एकमत नहीं हैं। फलतः संस्कृति और साहित्य के पारस्परिक संबंधों की विवेचना के लिए किसी बँधे-सधे सूत्र का उपयोग संभव नहीं है। यहाँ हम प्रचलित अर्थों से ही काम चलायेंगे।

संस्कृति और सभ्यता दोनों शब्दों का उपयोग मानव की जीवनचर्या के लिए हुआ है, परन्तु जहाँ संस्कृति मानसिक या आध्यात्मिक जीवनचर्या है, वहाँ सभ्यता भौतिक या दैनंदिन। संस्कृति के उपकरण नित्य हैं, सभ्यता के नैमित्तिक। निष्कर्षतः, संस्कृति सूक्ष्म जीवनबोध है और सभ्यता उसका क्रियान्वित लोकाचारी स्वरूप। मानव-जाति का प्रारम्भिक विकास सभ्यता के निर्माण को प्रमुखता देता है, यद्यपि इस निर्माण के साथ-साथ जीवन-दर्शन के रूप में संस्कृति का प्रारंभिक स्वरूप भी उदित होता है। आदिम जातियों में भी सृष्टि, प्रलय, ईश्वर, प्रकृति, भूत-प्रेत संबंधी अनेक विचार हमें मिलते हैं, जिनकी गहरी छाप उनके दैनंदिन जीवन पर पड़ती है। परन्तु उच्च सांस्कृतिक निकाय में जब हम "संस्कृति" की बात करते हैं तो उसके अर्थ विशुद्ध मानसिक या आध्यात्मिक भूमियों से होते हैं। यह कहा जा सकता है कि संस्कृति में मनुष्य के उच्च जीवन (या भौतिक जीवन से परे मानस-जीवन अथवा आध्यात्मिक जीवन) की योजना रहती है और सभ्यता में इन्द्रियात्मक जीवन या रहन-सहन, आचार-व्यवहार अथवा भौतिक उपकरणों की। यदि

इस विभाजन को सत्य मान लें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि क्रिया, इच्छा और ज्ञान में से "क्रिया" का पक्ष सभ्यता से अधिक संबंधित रहता है और इच्छा तथा ज्ञान का संस्कृति से। अतः संस्कृति भावमय और ज्ञानमय है, सभ्यता कर्ममय। वैसे मनुष्य अखण्ड है और खण्ड सुविधा के लिए ही है, परन्तु इसमें संदेह नहीं कि संस्कृति मनुष्य के धारणा-जगत और भाव-जगत की चीज़ है, सभ्यता कर्म-जगत की। मनुष्य की कला-चेतना में इच्छा, ज्ञान और क्रिया के तीनों आयाम आते हैं, परन्तु कलाओं के आधार की स्थूलता-सूक्ष्मता के अनुसार ही उनकी क्षमता प्रगट होती है। इसीलिए वास्तुकला, मूर्त्तिकला और चित्रकला में सभ्यतात्मक प्रेरणाएँ ही अधिक मिलती हैं, साहित्य और संगीत में संस्कृति मूलक। हमारी सौन्दर्य-चेतना का बड़ा व्यापक प्रकाशन वास्तुकला, मूर्त्तिकला और चित्रकला में होता है, परन्तु ये कलाएँ रूपात्मक होने के कारण सभ्यता के उपकरणों को भी साथ में लेकर चलती हैं। युग की सभ्यता का चित्र इनके सहारे सरलता से उभारा जा सकता है। परन्तु संस्कृति मूलतः मनुष्य के दृष्टिकोण, धारणा और व्यक्तित्व पर निर्भर है और ये सूक्ष्म वस्तुएँ हैं। साहित्य में इन्हें वाणी प्राप्त होती है। वास्तव में संस्कृति "जीने की कला" है। प्राचीन युग में धर्म तथा "यान" इसके पर्याय-वाची शब्द थे। परन्तु इस जीने की कला के सूत्र अंतर्मन तक पहुँचते हैं और उनसे व्यक्ति का परोक्ष, प्रकृति, समष्टि और स्वयं अपने प्रति दृष्टिकोण संचालित होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि साहित्य संस्कृतिमूलक है, सभ्यतामूलक नहीं। नाटक, कथा-साहित्य और महाकाव्य में चरित्रात्मक और वर्णनात्मक कथाभूमियों के कारण हमें सभ्यता के विवेचन के योग्य सामग्री भी यथेष्ट मात्रा में मिल जाती है। महाकाव्य में राष्ट्रीय व्यक्तित्व को उद्घाटित करने का प्रयत्न अनिवार्यतः रहता है। इसीलिए वह साँस्कृतिक चेतना की प्रतीक साहित्य-कोटि माना जाता है। ग्रीक और भारतीय महा-काव्यों के अध्ययन से दोनों संस्कृतियों पर जैसा प्रकाश पड़ता है, वैसा धर्म और दर्शन के अध्ययन से नहीं। मुक्तक काव्य में हमें संस्कृति-विशेष के धारणा-पक्ष सूत्रबद्ध मिलते हैं, परन्तु उसकी भाव-चेतना और आत्मिक समृद्धि का पता प्रगीत-काव्य से ही लगता है। महाकाव्य में जहाँ संस्कृति का चेतन-पक्ष मूर्त्तिमान रहता है, वहाँ प्रगीत-काव्य में उसका अवचेतन-पक्ष अधिक उजागर होता है। संगीत में हमें अर्द्धस्फुट आध्यात्मिक चेतना अथवा जातीय

अवचेतना की अभिव्यक्ति मिलती है । स्थूल उपकरणों से नितांत मुक्त रहने के कारण संगीत निर्वैयक्तिक बन कर व्यापकता प्राप्त कर लेता है परन्तु जातीय मानस अथवा जातीय रुचि-निकायों से गंभीर तल पर जुड़े रहने के कारण वह व्यक्तिनिष्ठ इकाई है, यद्यपि यह व्यक्तित्व व्यष्टि का न होकर समष्टि का है ।

ऊपर के विवेचन से संस्कृति के अध्ययन में साहित्य की महत्ता का पता चल जाता है । दर्शन, धर्म, कला, राजनीति, समाजनीति और अर्थनीति भी सांस्कृतिक मानचित्र का निर्माण करते हैं, परन्तु व्यापक अर्थों में ये "साहित्य" के अंतर्गत आ जाते हैं । अंतर यह है कि अलग-अलग इनमें हमें खण्डित और एकांगी जीवन-चेतना के दर्शन होते हैं, साहित्य में अखण्ड और सर्वांगी (परिपूर्ण) जीवन-चेतना आती है । मनुष्य "औद्योगिक मनुष्य", "आर्थिक मनुष्य" या "राजनीतिक" मनुष्य "नहीं है, वह केवल "मनुष्य" है, जिसमें ये सब इकाइयाँ समाई हैं और "क्वचिदन्यतोऽपि" भी है । इस समाहारात्मक मनुष्य और उसकी दुर्ग्राह्य सूक्ष्म जीवन-दृष्टि को पकड़ना ही सांस्कृतिक विवेचक का कार्य है । सर्जनात्मक साहित्य में हम मनुष्य को संहृति में ही लेते हैं, फलतः उसमें उसकी जीवन-चेतना का अबाध, अखण्डित और नैरंतरिक प्रसार मिलता है ।

परन्तु यह भी जाना होगा कि संस्कृति का बहुत कुछ "साहित्य" से बाहर रह जाता है, विशेषतः सर्जनात्मक साहित्य से,—उसे लेकर ही हम अपने सांस्कृतिक मानचित्र को पूरा कर सकते हैं । संस्कृति मानसी या आध्यात्मिक सृष्टि है । रूपों के पार अरूप तक पहुँच कर ही हम उसे पकड़ सकते हैं । संपूर्ण रूप से पकड़ भी सकते हैं, यह भी निश्चयात्मक ढंग से नहीं कह सकते । मनुष्य के चारों पुरुषार्थों (अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष) से मिलकर संस्कृति बनती है । मध्ययुग में पंचम पुरुषार्थ के रूप में "भक्ति" की भी कल्पना हुई है । इन पाँचों में प्रत्येक स्वयं मानव-जीवन-चेतना का एक बड़ा अंग घेरता है । भौतिक जीवन का ढ़ाँचा अर्थ और काम को लेकर ही गढ़ा जाता है और उसी में सभ्यता को आकार प्राप्त है, परन्तु धर्म, मोक्ष और भक्ति सूक्ष्मतम जीवनमूल्यों और अंतरंगी जीवनचेतनाओं पर आधारित होने के कारण संस्कृति के प्रेरक तत्व बनते हैं, यद्यपि साहित्य में उनकी अभिव्यंजना "काम"

(सौन्दर्य-चेतना) की भूमि पर ही होती है। कहा गया है कि "सौन्दर्य चेतना है और चेतना जीवन है" परन्तु केवल सौन्दर्य ही नहीं, धर्म, मोक्ष और भक्ति भी चेतना के वे स्वरूप हैं जिनसे जीवन का निर्माण होता है। आत्मिक जीवन की कैलाशी ऊँचाइयाँ इन सब से मिल कर बनी हैं, अलबत्ता साहित्य में ये इतर भूमियाँ सौन्दर्य की भूमिका ग्रहण करने पर ही सार्थक होती हैं। स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह संस्कृति का सभ्यता के प्रति विद्रोह है। धीरे-धीरे मनुष्य अपनी चेतना को जड़ से मुक्त कर अनाविल बनाता गया है।

निष्कर्ष यह है कि साहित्य मनुष्य के सांस्कृतिक जीवन की अत्यंत महत्वपूर्ण अभिव्यक्ति है, यद्यपि साहित्य के बाहर मनुष्य की दैनंदिन चर्या में भी "धर्म" या संस्कृति की अभिव्यक्ति होती रही है। मनुष्य की देह सभ्यता में जीती है परन्तु उसके मन-प्राण संस्कृति से पोषित होते हैं। भारतीय संस्कृति में देह के लिए भी षोड़श संस्कारों की योजना है और भौतिक जीवन को वर्णाश्रम-व्यवस्था में बाँध कर उसे ऋतंभर बनाया गया है। कर्मवाद और पुनर्जन्मवाद के सिद्धांतों के द्वारा भौतिक जीवन को आध्यात्मिक ऊर्जा से भरने की चेष्टा भी स्पष्ट है। भक्ति और तंत्र ने कर्मवाद और पुनर्जन्मवाद से ऊपर उठ कर स्वतः अपने भीतर से जीवन को अध्यात्म का प्रकाश दिया और इस प्रक्रिया में नई क्रांतिकारिता को जन्म दिया। उन्होंने जीवन की सच्चिादनंदी चेतना को सर्वोपरि मान कर जातिवर्णलिंगमुक्त निर्बन्ध मानव-चेतना की कल्पना की। धर्म और संस्कृति ने जिन बंधनों से युद्ध किया है वे देह के बंधन नहीं, मन के बंधन हैं और जो संस्कृति मानव-मन को जितना विमुक्त कर सकती है वह उतनी ही उत्कृष्ट संस्कृति कही जायेगी। साहित्य मानव-मन (या मानवात्मा) की इसी उन्मुक्ति को रसदशा तक पहुँचा कर हमें ब्रह्मानंद-सहोदरता देता है। उसकी लोकोत्तरता एकांत मानसिक (या आत्मिक) चेतना की उपलब्धि में है, जहाँ जड़ता का लेश-मात्र भी नहीं रहता और हमारी चेतना अक्षय चैतन्य और अनंत आनन्द से ओत-प्रोत हो जाती है। मानव-मन सत्तात्मक है, नकारात्मक नहीं, परन्तु केवल सत्ता उसका धर्म नहीं है। उसका धर्म है चैतन्य और आनन्द। इसी तिरोभूत आनन्द और चैतन्य को जगा कर साहित्य हमें संस्कृति के सूक्ष्म भावलोक में पहुँचा देता है।

इस विवेचना को ध्यान में रख कर हिन्दी साहित्य का विश्लेषण करें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि उसमें सभ्यतामूलक उपकरण अपभ्रंश काव्य, चारण काव्य, डिंगल काव्य, रीतिकाव्य तथा उन्नीसवीं शताब्दी के साहित्य में मिलते हैं। अपभ्रंश काव्य में आभीरों-गुर्जरों की ग्रामीण और प्रजातीय चेतना के दर्शन होते हैं। राजपूत-सभ्यता का प्रजातीय स्वरूप हमें रासो-ग्रंथों और 'आल्हा' जैसी रचनाओं में मिलता है। इस सभ्यता की सांस्कृतिक अभिव्यक्ति हमें चित्रकला और मूर्त्तिकला में मिलती है। वास्तव में सोलहवीं शताब्दी में ही राजपूत अपनी संस्कृति को स्वरूप देने में सफल हो सके। साहित्य में उनकी इस उन्नत संस्कृति का प्रकाशन नहीं हो सका है, क्योंकि चारण और भाट पुरानी साहित्यिक लीक ही पीटते गये, उन्होंने नयी सांस्कृतिक चेतना को वाणी नहीं दी। सच तो यह है कि राजपूत संस्कृति मध्ययुगीन वैष्णव संस्कृति को अपना कर ही उच्च सांस्कृतिक भूमिका को प्राप्त कर सकी, परन्तु इससे उसकी विशिष्टता भी बहुत कुछ नष्ट हो गयी और वह वैष्णव चेतना का अंग बन कर रह गयी। रीतिकाव्य में हमें १६–१८ वीं शताब्दियों के सामंत वर्ग और राजाश्रित पण्डित-कर्मचारी संभ्रांत वर्गों की शृंगार-चेतना और कला-दृष्टि ही अधिक मिलती है। इस काव्य में वर्गीय और संकीर्ण जीवन-चेतना का ही प्राधान्य है। इसी प्रकार संपूर्ण उन्नीसवीं शताब्दी और बीसवीं शताब्दी के प्रथम दो दशक हमें नये मध्यवर्गीय समाज की उस चेतना से परिचित कराते हैं जो पश्चिमी सभ्यता से अनुप्राणित है। १९२० के बाद ही हम नयी संस्कृति का स्वप्न देख सके हैं और हमारा साहित्य नयी सांस्कृतिक चेतनाओं से प्राणवान बना है। संस्कृतिमूलक उपकरण हमें सिद्ध-साहित्य, नाथ-साहित्य, संत-साहित्य, भक्ति-साहित्य और सामयिक हिन्दी साहित्य (१९२०–६०) में मिलते हैं। इनमें भक्ति-साहित्य और सामयिक साहित्य को ही सार्वभौमिक भूमिका प्राप्त है। मध्ययुग का वैष्णव भक्ति-आन्दोलन और आधुनिक युग का मध्यवर्गीय सांस्कृतिक समारंभ जितनी व्यापकता और विशालता से भारतीय जीवन को छू सका है उतनी व्यापकता और विशालता हमें पूर्वान्दोलनों में नहीं मिलती। सिद्ध, नाथ और संत वर्णाश्रमधर्मी हिन्दू चेतना से बाहर उन वर्गों की चेतना को साहित्य में बाँधते हैं जो वर्ण-व्यवस्था, पौरोहित्य और ब्राह्मणवाद की विरोधिनी है। सहज, योग और भक्ति की भूमिका पर प्रतिष्ठित अद्वैतवादी (अद्वयवादी) अंतस्साधना इनके साहित्य

में प्राणबद्ध हो सकी है। स्मार्त्तधर्मी हिन्दू चेतना के विरोध में वैष्णव भक्ति-वाद कर्मकाण्ड-विनिर्मुक्त द्राविड़ी भक्ति (तन्मयासक्तिपूर्ण भक्ति) को लेकर चलता है। जहाँ निर्गुण मतवाद में सहजयोगधर्मी भक्तिवाद की प्रतिष्ठा है और उसे भक्त-भगवान के द्वैत से ऊपर उठा कर अद्वैतवादी दर्शनभूमि दी गई है, वहाँ रामभक्ति में मर्यादावादी नैतिकतावादी वैधी भक्ति-चेतना को आत्म-समर्पणमूलक दास्य भक्ति का रूप दे दिया गया है, यद्यपि वहाँ राम को विष्णु से ऊपर ब्रह्म की भूमिका मिली है। निर्गुण काव्य में अद्वैत भक्ति की निरा-कारी साधना पल्लवित है तो सगुण राम-काव्य में यही अद्वैत भक्ति साकार-साधना बन गयी है। इस अद्वैत भक्ति का सर्वोपरि रूप हमें पुष्टिमार्गीय भक्ति की सच्चिदानंदी चेतना और चैतन्य-भक्ति की महाभावी साधना में मिलता है। नंद-यशोदा, सखाओं अथवा गोपियों का विरह-भाव अथवा राधा का महाभाव ब्रह्म-जीव-संबंध की आत्यंतिक निकटता और अनन्वयी एकता के सूचक हैं। इस ऊँचाई तक पहुँच कर भक्त के लिए विधि-निषेध समाप्त हो जाते हैं और उसके समस्त कर्म चिन्मय आनन्द की चेतना से संचालित एवं उद्भासित रहते हैं। सूफ़ी साधना में इस्लामी भावभूमि पर हमें इसी कोटि की माधुर्यसाधना मिलती है। हिन्दी के भक्तियुगीन साहित्य में हमें भारत की आध्यात्मिक संस्कृति का जैसा सर्वग्राही, विशद और गंभीर प्रकाशन मिलता है वैसा अन्यत्र नहीं। वह एक प्रकार से समस्त भारतीय अध्यात्म-परंपरा का निचोड़ है। यह संतोष की बात है कि पश्चिमी संस्कृति की दाग़-बेल हमारी इस अध्यात्मोन्मुख वैष्णव संस्कृति पर ही पड़ी है, क्योंकि उसकी चेतना अब भी हमारे अवचेतन में पूर्णतः जाग्रत है और नव्य वेदान्त के आन्दोलन के द्वारा हम पश्चिमी मानवतावाद को उसी के सहारे आध्यात्मिक मानवतावाद का रूप देने में समर्थ होंगे। नयी मानवतावादी चेतना मध्यवर्गीय चेतना है, परन्तु वह स्वतंत्रता, समानता, बंधुत्व और न्याय के आदर्शों को लक्ष्य के रूप में स्वीकार करती हुई भी आध्यात्मिक भावभूमियों को अपनाने के लिए तैयार नहीं है। आधुनिक काव्य और साहित्य में अध्यात्म के रूप में जो कुछ है वह मध्ययुगीन आध्यात्मिकता का अवशिष्ट या पारंपरिक मानस का प्रसार माना जा सकता है। महादेवी का काव्य इसका प्रमाण है। यह स्पष्ट है कि नयी मध्यवर्गीय संस्कृति अभी अपनी चेतना को अध्यात्म-भाव से पुष्ट नहीं कर सकी है।

यहाँ एक प्रश्न यह भी उठता है कि हम साहित्य को साहित्य मात्र ही क्यों मानें ? क्यों हम साहित्य के मूल्यांकन के लिए साहित्येतर मानदण्ड सामने लायें ? धर्म की तरह संस्कृति भी साहित्येतर मानदण्ड है और आलोचकों का एक वर्ग इतनी दूर तक जाने के लिए तैयार नहीं है। अपने ग्रंथ "पोएटरी एण्ड मॉरेलिटी" में परिशिष्ट "ए" के अंतर्गत ग्रंथकार विन्सेन्ट बकले ने इलियट की उस मान्यता से विरोध प्रगट किया है जो उनके "रेलिजन एण्ड लिटरेचर" निबंध में प्राप्त होती है। इलियट के शब्द हैं : "Literery Criticism Should be Completed by Criticism from a definite ethical and theological stand-point.........In ages like our own, in which there is no such Common agreement, its is the more necessary for Christian readers to Scrutinise their reading, especially of works of imagination, with explicit ethical and theological Standards."

इस अवतरण में नैतिक और धार्मिक मूल्यों की बात उठाई गई है, परन्तु बात सांस्कृतिक मूल्यों के संबंध में भी लागू होती है क्योंकि नैतिकता और धर्म संस्कृति के बहुत बड़े अंश को आत्मसात कर लेते हैं। बकले का कहना है कि प्रश्न काव्य में धारणा (आस्था) के उपयोग का है। आइ-ए-रिचर्ड्स की तरह हम यह नहीं कह सकते कि काव्य "मृथा वाक्य" (स्यिोडो-स्टेटमेन्ट) है, अथवा एरिक हेलर की तरह उसे शत-प्रति-शत कवि का मंतव्य नहीं मान सकते, क्योंकि पाठक या श्रोता यह देखता है कि कविता क्या कहती है और यह आवश्यक नहीं कि वह वही कहे जो कवि कहना चाह रहा है। सुधी समीक्षक जानता है कि कविता में मान्य-अमान्य का प्रश्न ही नहीं है, उसकी सिद्धि "होने" में ही है। परन्तु एक वर्ग-विशेष का यह भी कहना है कि प्रश्न सैद्धांतिक नहीं, व्यावहारिक है, क्योंकि इलियट के अनुसार समीक्षा का ध्येय "कलाकृति का उद्घाटन और रुचि-परिष्कार" है। स्पष्ट ही यह ध्येय सामाजिक है, क्योंकि देखना यह है कि कविता या उपन्यास में जिस जीवन को मूर्त्तिमान किया गया है उसका स्वरूप और विशेषत्व क्या है ? जीवन के इस स्वरूप या विशेषत्व को हम कैसे जानेंगे और किस पैमाने पर नापेंगे ? यह

कहा गया है कि ईसाई मत या कोई भी प्रथित धर्म समीक्षा का मानदण्ड नहीं वन सकता। परन्तु विशुद्ध साहित्यिक रचना या समीक्षा की कल्पना भी असंभव है, क्योंकि कृतिकार और पाठक (श्रोता) दोनों का व्यक्तित्व अपनी-अपनी जगह अखण्ड इकाई है। साहित्यिक, धार्मिक, नैतिक और सांस्कृतिक चेतना सब मिल कर किसी व्यक्तित्त्व का निर्माण करते हैं और समीक्षक साहित्य की परख करते हुए भी अपने व्यक्तित्व के नीति, धर्म और संस्कृति वाले अंशों को बिदा नहीं दे सकता। वास्तव में संस्कृति और साहित्य के मूल्यांकन में कोई विरोध नहीं है। परन्तु इलियट की तरह साहित्यिक समीक्षा को नैतिक और धार्मिक समीक्षा से पूर्ण बनाने की बात ठीक नहीं हैं, क्योंकि उसमें समीक्षात्मक मेधा की दो भिन्न और क्रमिक प्रक्रियाएँ कल्पित हैं जब कि साहित्य का बोध अखण्ड और तात्कालिक है। इस प्रकार साहित्यिक समीक्षा से कुछ आगे बढ़ कर और स्वतंत्र रूप से धार्मिक-सांस्कृतिक समीक्षा की बात उठाई जाती है।

प्रश्न धारणा का था और धारणा को हम किसी पूर्व-निर्णीत बंधी-सधी इकाई के रूप में क्यों लें? क्या यह आवश्यक है कि हमारी धारणात्मक चेतना व्याख्या, मानवीकरण, कोटिनिर्णय आदि के रूप में क्रियाशील हो अथवा हम धर्म या संस्कृति के अपने मानदण्डों को पहले तैयार कर लें और वाद में उन्हें आरोपित करें? श्रेष्ठ रचनाएँ अपनी परिपूर्णता से हमारे संपूर्ण और अखण्ड व्यक्तित्व को छूती हैं। इस परिपूर्णता और अखण्डता में साहित्य के साथ संस्कृति भी आती है। कृति के सम्मुख अपनी समीक्षात्मक संवेदना को समर्पित कर हम उसे समग्रता में जाग्रत रखें तो साहित्य और संस्कृति का द्वन्द्व ही समाप्त हो जाये। सच तो यह है कि साहित्य मानव-क्रियाशीलता का संधिस्थल है जहाँ धार्मिक, सामाजिक, संगीत-संबंधी और मनोवैज्ञानिक वास्तविकताएँ एक बिन्दु पर मिलती हैं। वह "विशुद्ध" नहीं है। साहित्य की "विशुद्धता" नया भ्रम है, क्योंकि साहित्यकार साहित्यकार होकर भी और बहुत कुछ है और वह अपनी कृति (या समीक्षा) में प्रतिबिंबित हुए बिना नहीं रहेगा। प्रथित धर्म या संस्कृति नहीं, देखना होगा कि वह किस आधार पर जीता है, किसके लिए और कितना जीता है। यही व्यापक जीवनबोध संस्कृति है। यह संस्कृति साहित्य में उसी तरह ओत-प्रोत होगी जिस प्रकार सौन्दर्य-चेतना, क्योंकि वह व्यापक जीवन-चेतना का ही दूसरा नाम है।

यह अकाट्य सत्य है कि संस्कृतिबद्ध जीवन-चेतना सौन्दर्यबद्ध जीवन-चेतना की (जो कला और साहित्य का रूप धारण करती है) किसी भी प्रकार से विरोधिनी नहीं है। वह सौन्दर्य को जीवन में उभारती है और इस प्रक्रिया में उसे महार्घ बनाती है। इसीलिए प्रगीत-काव्य से महाकाव्य श्रेष्ठतर काव्य-भूमि प्रस्तुत करता है। उसमें कला का सौन्दर्य ही नहीं, जीवन का सौन्दर्य (या जीने का सौन्दर्य) भी मूर्त्तिमान हो जाता है। धर्म, नीति और संस्कृति इसी जीने की कला के उपकरण हैं, अतः साहित्य में संस्कृति का सूक्ष्मतम और श्रेष्ठतम कल्पना, भावना और हार्दिकता के साथ अनुभूतिपरक बन कर आता है। न संस्कृति वर्जनशील है, न साहित्य। संस्कृति जीवन है तो साहित्य इस जीवन को दर्पण दिखलाता है अथवा प्रतिविंबित करता हैं, परन्तु यह प्रतिविंब विधाता के जीवन से अधिक सुघड़, सुन्दर और प्राणवान है, क्योंकि वह कृतिकार के व्यक्तित्व से छन कर आया है और उसमें उसकी आत्मा की वर्णच्छटा एकरंग हो गई है। आत्मिक बन कर ही संस्कृति साहित्य का अभिन्न अंग बन सकती है, परन्तु साहित्य निश्चय ही उससे धनी होता है। सभ्यता को उसी समय स्थायित्व प्राप्त होता है जब वह संस्कृति को जन्म दे और भौतिक एवं तात्कालिक उपलब्धियों से ऊपर उठ कर शाश्वत जीवन-चेतना का उद्घाटन करे। साहित्य की सर्वोच्च भूमि व्यक्ति-चेतना है, परन्तु वह सामान्य व्यक्ति की चेतना नहीं, विशिष्ट संस्कारी व्यक्ति की चेतना है,—कवि अथवा साहित्यकार में राष्ट्रीय (या जातीय) संस्कृति जातीय अवचेतन के रूप में मूलबद्ध रही है यद्यपि अपने युगधर्म को विवेक से बाँध कर भी वह सामने रख सकता है। उसका माध्यम भाषा है जो सामाजिक या सामूहिक अर्जन है और मूलतः सांस्कृतिक पिटक है। उसी के द्वारा हम मन, बुद्धि, अहंकार और इनसे परे आत्मा का स्पर्श करते हैं। साहित्य में इन समस्त स्तरों पर हमारी जीवन्त प्रतिक्रियाएँ वाणीबद्ध रहती हैं। अमूर्त्त होने के कारण भाषा का माध्यम भावना, कल्पना और धारणा के अपरिसीम विस्तार को अपने भीतर सिमेट सकता है। लक्षणा और व्यंजना के द्वारा भाषा अतर्क्य और अकह को भी मूर्त्तिमान करने में समर्थ है। फलतः उसमें अव-चेतन ही नहीं, अकल्पित-असंभाव्य भी प्रतिध्वनित होता है। भौतिक और अभौतिक दोनों को एक साथ स्पर्श करने की क्षमता भाषा में है, अतः उसमें संस्कृति और सभ्यता दोनों प्रतिविंबित होते हैं, परन्तु उतनी दूर तक कोई भी

कलाकोटि नहीं जा सकती। भाषा साहित्य बन कर ही सार्थक है, क्योंकि साहित्य में ही वह संपूर्ण मनुष्य को ढालती है। अन्य माध्यमों में मनुष्य निःशेष नहीं होता, साहित्य में अपने को निःशेष कर वह अपनी मूर्त्ति गढ़ता है और उससे निरंतर अनुप्राणित होता रहता है। भाषा और साहित्य में अनन्त देश-काल तक विस्तीर्ण अपनी छाप छोड़ कर वह काल-पुरुष को मृत्युं-जयी चुनौती देने में समर्थ है। साहित्य और संस्कृति को एक सूत्र में जोड़ने वाला "मनुष्य" काल-प्रवाह में बहता हुआ निर्गन्ध पुष्प नहीं, अलक्षित ध्रुव की ओर बढ़ता हुआ विशाल जलपोत है। उसने अपनी अनथक यात्रा में अनेक प्रकाशस्तम्भ छोड़े हैं। इन प्रकाशस्तम्भों पर साहित्य की निष्कंप दीपशिखा जलती है।

इतिहास और संस्कृति

इतिहास और संस्कृति पर विचार करते हुए कई मूल प्रश्न सामने आते हैं। संस्कृति क्या इतिहासगत है ? मानव-जीवन के पिछले सात हज़ार वर्षों के सांस्कृतिक इतिहास को क्या हम प्रगतिशील और विकासात्मक मान सकते हैं ? क्या हमारा इतिहास संस्कृति की अपेक्षा सभ्यता के विकास का अधिक प्रतिनिधित्व नहीं करता ? हम इतिहास को काल-प्रवाह की ऋजु-रेखा के रूप ग्रहण करते हैं और हमारी चेष्टा घटनाओं के खण्डहरों को कल्पना के सूत्रों में जोड़ कर विकास की एक शृंखला बनाने की होती है। परन्तु घटनाओं का एक दूसरा स्वरूप भी है जो सूक्ष्म और अंतरंगी है और जिसे कालबोध के भीतर सीमित नहीं रखा जा सकता। ऐतिहासिक काल और सांस्कृतिक काल में अंतर भी हो सकता है और निश्चित रूप से अंतर है क्योंकि सांस्कृतिक काल में मानव-चेतना शाश्वतत्व में ढलती जाती है और विविध ऐतिहासिक कालों का सांस्कृतिक बोध विरोध छोड़ कर समानान्तर, समकालीन और सहअस्तित्वी रहता है। इसीलिए राजनीतिक और सामाजिक इतिहास की रूपरेखा सांस्कृतिक इतिहास की रूपरेखा से भिन्न हो जाती है।

एक तरह से यह कहा जा सकता है कि इतिहास सभ्यतामूलक और कालबद्ध है और संस्कृति कालेतर है। इतिहास का संबंध मानव-मन की भौतिक चेतना से ही अधिक है। सूक्ष्म सांस्कृतिक चेतना मानसिक और आत्मिक भूमियों पर संचरण करती है। भौतिक चेतना के पीछे सुस्पष्ट जीवनदर्शन भी हो सकता है और आत्मा को शरीर से एकदम अलग भी नहीं रखा जा सकता परन्तु भौतिक चेतना मूलक सभ्यता और आत्मिक चेतना मूलक संस्कृति में भेद तो रहेगा ही। इसीलिए हम जहाँ सभ्यता को निरंतर ऊपर उठती अनेक मंज़िलों की इमारत के रूप में देखते हैं वहाँ संस्कृति को इस प्रकार नहीं देख सकते। वह समानांतर उपलब्धियों के रूप में ही कल्पित्त की जा सकती है और उसका इतिहास विकासात्मक न होकर तात्विक ही हो सकता

है। वह दीपक से दीपक का जलना है, ज्योति में ज्योति का रमण है। वह सामासिक या सांहृतिक नहीं, अन्वितिक है।

सभ्यता और संस्कृति के इस मूल भेद को न समझ कर हम सांस्कृतिक घटनाओं को भी पूर्वापरीय दृष्टि देने लगते हैं और देश-काल में उनके प्रभाव को सीधी खिंची रेखाओं में अंकित करना चाहते हैं। ईसा का बलिदान या रामचरितमानस का प्रणयन उस प्रकार की घटना नहीं है, जिसे तात्कालिकता और पूर्वपरता मात्र में बाँधा जा सके। ये घटनाएँ भाव-जगत की संपन्नता से पुष्ट होकर कालांतरिक हो जाती हैं। वे हमारे मन में बराबर घटती रहती हैं। निरंतर श्रेष्ठतर मूल्यों में संवृद्धि पाना ही उनका धर्म है। वे हमारे समस्त पिछले सांस्कृतिक मूल्यों को बदल देती हैं और हमारे नवीनतम मूल्यों में भी उनका आत्मिक प्रसाद निःशेष बना रहता है। रामचरितमानस ने राम-कथा के पात्रों के संबंध में हमारी धारणाओं और मानव-जीवन की संवेदनाभूमियों को ही नहीं बदला, हमारी ब्रह्म-निष्ठा, आचार-भूमि और आत्मनिष्ठा को भी बदल दिया। यही नहीं, यह ग्रंथ हमारी पश्चिम द्वारा अर्जित नयी मानववादी धारणा को भी नया संस्कार दे रहा है, जिससे हमारा मानववाद पश्चिमी मानववाद से भिन्न और वैष्णव सांस्कारिकता से ओत-प्रोत नवीन जीवन-चेतना बन रहा है। सांस्कृतिक मूल्य चिरन्तन और गतिमान कहे जा सकते हैं जब कि ऐतिहासिक मूल्य तात्कालिक और परिबद्ध हैं। यह ठीक है कि कुछ ऐतिहासिक घटनाएँ (जैसे बाख्त्री यवनों या अंग्रेज़ों का भारत से संपर्क) हमारे भौतिक जीवन के साथ आंतरिक जीवन-व्यवस्था पर भी अपना प्रभाव डालती हैं और जातीय जीवन में नये मोड़ की सूचना देती हैं। परन्तु यह प्रभाव सांस्कृतिक जीवन की मूलबद्ध स्थिति में कोई बड़ा अंतर नहीं डालता। वस्तुतः कालान्तर में जाति की मूलबद्ध और शाश्वत सांस्कृतिक चेतना विदेशी या विजातीय प्रभावों को नये सांचे में ढाल कर उन्हें राष्ट्रीय सांस्कृतिक ध्रुवों के पास ले आती हैं। संस्कृति का इतिहास प्रवहमान, नैरंतरिक जीवन-चेतना और शाश्वत मूल्यों के पुनः पुनः नव्य संस्करण का ही इतिहास कहा जा सकता है।

इतिहास अतीतधर्मी है। वह व्यतीत की गाथा है। ऐतिहासिक घटनाएँ पुरानी पड़ जाती हैं और नयी घटनाएँ उनका स्थान ग्रहण कर लेती हैं। परन्तु ईसा

का बलिदान अथवा कालिदास या तुलसीदास का काव्य पुरानी पड़ जाने वाली घटनाएँ नहीं हैं। इन घटनाओं के साथ नयी जीवनदृष्टि का विकास होता है। वे हमारी चेतना को प्रदीप्त कर देती हैं। हम वह नहीं रहते जो थे। एक प्रकार से ये घटनाएँ आत्मिक (अथवा सांस्कृतिक कही जा सकती हैं)। ये घटनाएँ कालगर्भी न होकर आत्मगर्भी हैं। काल के भीतर घटनाओं का महत्व भले ही नष्ट हो जाए, आत्मा के भीतर कली का खिलना भी ऐसी घटना है जिसका महत्व कभी कम नहीं होगा। पुष्प की पंखुड़ियों को भी फिर कली में नहीं बाँधा जा सकता। इसी प्रकार ये घटनाएँ हमारे भाव-जगत में जो परिवर्तन कर देती हैं वह चिरंतन और मूलभूत होता है। उसे विस्मृत नहीं किया जा सकता। प्रत्येक सांस्कृतिक घटना नयी पीढ़ियों में नव्य चेतना अथवा जागरूकता लाती है। कालांतर में वर्द्धमान मानव-चेतना का इतिहास ऋजु-रेखा नहीं है जो इतिहास-चेतना की तरह भूत से भविष्य की ओर दौड़ती है। काल को शाश्वत ही की आंशिक अभिव्यक्ति मान कर हम साँस्कृतिक घटना के मूल्य को अक्षुण्ण रख सकते हैं। वह मानवोपलब्धि का मानदण्ड नहीं हो सकता।

संक्षेप में हम कहें कि इतिहास सभ्यता का होता है, संस्कृति का नहीं क्योंकि संस्कृति ओत-प्रोती, चिरंतन और शाश्वत उपलब्धि है। सांस्कृतिक आयामों के बदलने पर भी समाज का कोई-न-कोई वर्ग अपने आचार-विचार अथवा अवचेतन में पूर्वसंस्कृति का सर्वश्रेष्ठ लेकर चलता है। अतः संस्कृति के नये आयाम पूर्वतन सांस्कृतिक चेतना से पुष्ट होते चलते हैं। पूर्ववर्त्ती संस्कृतिया का सर्वश्रेष्ठ निरंतर जीवित रह कर नये मूल्यों से मंडित होता रहता है। कदाचित् इसीलिए इलियट ने कहा है कि श्रेष्ठतम कृतियाँ समकालीन समझी जा सकती हैं और नयी कृतियों में जिस प्रकार पुरानी कृतियों का मधु घुला रहता है उसी प्रकार प्रत्येक नयी कृति प्राचीन श्रेष्ठ कृति की संवेदना को अनिवार्यता बदल देती है।

संस्कृति का केन्द्रीय पुरुष कवि-दार्शनिक है जिसकी अंतर्दृष्टि कालबाधित और अंतरंगी होती है। वही हमारे सांस्कृतिक मूल्यों को प्रदीप्त करता है और

उन्हें युग की नयी चेतना देता है। वैदिक ऋषि, बालमीकि, व्यास, कालिदास, शंकराचार्य, कबीर, तुलसी और रवीन्द्रनाथ ही भारतीय संस्कृति के विकासमान चरण रहे हैं। उनकी रचनाएँ ही हमारा सांस्कृतिक मेरु-दण्ड हैं। उन्होंने युगधर्म के भीतर से भारतवर्ष की शाश्वत संस्कृति का प्रकाशन किया है अथवा हमारी संस्कृति के शाश्वततत्व को युगधर्म में बाँधा है। ईसा, चैतन्य और गांधी भी व्यापक अर्थों में कवि-दार्शनिक कहे जा सकते हैं, परन्तु उनका व्यक्तित्व और जीवन ही उनका काव्य है। उनका भावबोध कर्मबोध बन कर सामने आया है, परन्तु उसके मूल्य काव्यमय और दार्शनिक ही कहे जा सकते हैं, क्योंकि वे हमारी जीवन चेतना को नयी ऊँचाइयाँ देते हैं। ईसा के बलिदान, चैतन्य के महाभाव और गांधी की प्रजातंत्रीय वैष्णववादिता और सर्वोदयी अहिंसा-दृष्टि व्यास और तुलसी की जीवन-चेतना से कम प्रभावशाली उपलब्धियाँ नहीं हैं। कला, धर्म, चिन्तन और जीवन-चर्या के द्वारा इन कवि-दार्शनिकों के सांस्कृतिक दृष्टि आत्मा के ऐश्वर्य से मण्डित होकर हमें चमत्कृत कर देती है। हमारा सांस्कृतिक इतिहास इन्हीं युग-पुरुषों की सामासिक और अंतरंगी अभिव्यक्ति है। यह स्पष्ट है कि इनकी उपलब्धियाँ हमारी होकर भी समस्त मानव-जाति की उपलब्धियाँ हैं, जिस प्रकार ग्रीक कवियों, नाटककारों, दार्शनिकों, ईसा, शेक्सपिअर, गेटे और टाल्सटाय की जीवन-चेतना यूरोपीय न होकर विश्वमानवीय है। पश्चिमी सभ्यता के विकास ने आज विज्ञानी संस्कृति को सार्वभौमिक चेतना बना दिया है और वैज्ञानिक शोधी हमारी भौतिक संस्कृति का प्रतीक बन गया है, परन्तु उसकी संस्कृति ईसाई मानववाद के अखिल मानवीय मूल्यों पर टिकी है और उसके भीतर से ही वह रेनेसां के नये आयामों को विकसित कर सका ह। वैज्ञानिक शोधी और कवि-दार्शनिक की उपलब्धियों को परस्पर विरोधी और द्वन्द्वात्मक न मान कर हम उन्हें सभ्यता और संस्कृति के रूप में मानव-चेतना के सिक्के के दो पहलू ही कह सकेंगे। सभ्यता की चमक-दमक ने आज संस्कृति के चेहरे को फीका कर दिया है और हम इतिहास गढ़ने को अधिक महत्व देने लगे हैं, परन्तु मानव-बोध की आत्मा संस्कृति ही है और आदान-प्रदान के द्वारा उसके विश्वमानवीय रूप की स्थापना में ही मानव-जाति का कल्याण है। इस प्रयत्न में इतिहास की चरितार्थता न होकर मानवात्मा की चरितार्थता है।

प्राचीन संस्कृतियों में कवि-दार्शनिक को जो केन्द्रीयता प्राप्त थी वह आज की संस्कृति में दिखलाई नहीं देती। फलतः हम आधुनिक सभ्यता को आत्मिक, मानवीय और नैतिक मूल्य नहीं दे पा रहे हैं और हमारा युग मूल्यों के संकट से ग्रस्त है। वर्द्धमान और तथागतीय मानव चेतना को प्रबुद्ध और आत्मिक आरोहण के मूल्य देना इतिहास को सभ्यता के धरातल से ऊँचा उठा कर आत्मा के मूल्यों में प्रतिष्ठित करना है। हमारा सांस्कृतिक अध्ययन-अध्यापन इसी दिशा की ओर प्रवृत्त होकर मानव-चेतना का ऊर्ध्वगामी चरण बन सकता है।

(२)

इतिहास और संस्कृति के मूलतम संबंध को समझने के लिए यह भी आवश्यक है कि हम व्यक्ति और समाज की चेतना का अंतर जान लें। समाज-चेतना अथवा समाजशास्त्रीय चेतना के नियम व्यक्ति-चेतना के नियम से भिन्न हैं और समाज-चेतना को व्यक्ति-चेतना की संहृति मात्र नहीं कहा जा सकता। साथ ही समाज के भीतर रहते हुए और उसके दवाब को सहते हुए भी व्यक्ति अपनी चेतना में स्वतंत्र इकाई है। वह देश-काल का अतिक्रमण कर सकता है या उसके भीतर ही देशकालेतर भावजगत का निर्माण कर सकता है। बार-बार हम प्रतिभावान मनुष्यों को सामाजिक और ऐतिहासिक के प्रति विजृंभणा का भाव प्रगट करते पाते हैं। वे सामयिक इतिहास की दीवारों को तोड़ कर अपने विशुद्ध व्यक्तिगत जीवन में केन्द्रित हो जाते हैं। जहाँ यह संभव नहीं है वहाँ भी शाश्वत और चिरंतन क्षण को भरसक पकड़ने का प्रयास चलता ही रहता है। इसी प्रयत्न में मनुष्य संस्कृति का निर्माण करता है।

कहना यह है कि संस्कृति देशकालेतर ही नहीं, व्यक्तिगत भी है और उसमें परंपरा का जागरूक और स्फूर्तिप्राण बोध नितांत आवश्यक वस्तु है। यह बोध अर्जित वस्तु है। वह दाय के रूप में प्राप्त नहीं होता यद्यपि रूढ़ि के रूप में हम परंपरा का पालन करने को बाध्य हैं। व्यक्ति के जीवन को हम दो स्तरों पर देखते हैं। प्रत्येक मनुष्य की कुछ कालगत स्थिति होती है और

विशिष्ट राजनीतिक घटनाओं तथा सामाजिक और सांस्कृतिक आन्दोलनों से उसे सामयिकता प्राप्त होती है। एक प्रकार से मनुष्य इतिहास से घिरा जीता है, या इतिहास में जीता है। परन्तु वह किस सीमा तक इतिहास में जीता है ? क्या इतिहास की कालांतरिकता से स्वतंत्र उसकी कोई शाश्वत अथवा निरपेक्ष स्थिति नहीं है ?

एक मूल प्रश्न इतिहास की स्थिति को लेकर भी है। क्या इतिहास इतिहास-कार के मन का अनुभव मात्र है अथवा किसी युग के मनुष्य अपने जीवन में उसका व्यक्तिगत रूप से अनुभव करते हैं ? हम काल में जीते हैं या काल के बाहर या परे ? यदि इतिहास का तात्पर्य कालविस्तार में व्याप्त विशेष मान-वीय चेतना से हो तो सामान्य मनुष्य के लिए दैनंदिन अनुभव के स्तर पर उससे परिचित होना असंभव बात है। समाचारपत्रों के शीर्षक बनने को क्षमता जिन घटनाओं में है वे कुछ मनुष्यों के जीवन में घटती हैं और पढ़ कर उनकी प्रतिक्रिया हम में भी उभरती है। परन्तु व्यापक ऐतिहासिक स्थापनाएँ इस प्रकार के शीर्षकों के अंतर्गत नहीं आतीं। वे इतिहास के दार्शनिक पक्ष या ऐतिहासिक दर्शन का विषय हैं। टॉएनबी आधुनिक इतिहास की सब से बड़ी विशेषता अन्य राष्ट्रों पर पश्चिमी सभ्यता का प्रभाव मानते हैं, परन्तु इस प्रभाव की अंतरंगी जागरूकता किन्हीं वर्षों में कितने जनों में मिलेगी ? जिसे वस्तुतः इतिहास में वास्तविक महत्व की वस्तु कहा जा सकता है वह बड़े काल-विस्तार और बहुजनहिताय से ही संबंधित हो सकता है। व्यक्ति इन अर्थमान व्यापक ऐतिहासिक प्रक्रियाओं की वास्तविक अनुभूति प्राप्त नहीं कर सकता। अधिक-से-अधिक वह अपने अवचेतन में सांस्कृतिक द्वाभा का अनुभव कर सकता है,—यह कि उसके अपने युग की संस्कृति पिछले युग की संस्कृति से भिन्न है। भारतेन्दु ने अपने समय की "दुइरंगी" का बड़ा आकर्षक चित्र हमें दे दिया है परन्तु वह मूलतः उनकी युगधर्मीय अनुभूति ही है, क्योंकि संस्कृति के दो आयामों के बीच में अनुभूति की एकसूत्रता असंभव बात है। अनुभूतिप्रवण मन अपनी स्थिति की तात्कालिकता और तद्देशीयता जानता है : "यहाँ" और "अब"। अपने जीवन-विकास में वह जितना सांस्कृतिक वृत्त छूता है उतने से ही उसका परिचय हो सकता है। अध्ययन और कल्पना से इतिहासकार इससे बड़े वृतांश से भी परिचित हो जाता है परन्तु उसे

सामान्य अनुभूति का विषय नहीं बनाया जा सकता। वास्तव में हमारे व्यक्तित्व का बहुत थोड़ा अंश इतिहास में रहता है। निद्रा, रोग, शोक, मृत्यु और यौन-सुख एकांततः हमारी व्यक्तिगत भूमिकाएँ हैं जब हम निजी और अंतरतम कंचुक में सिमट आते हैं और सामाजिक तथा ऐतिहासिक भूमियाँ बहुत पीछे छूट जाती हैं।

व्यक्ति के बौद्धिक, कलाविषयक तथा धार्मिक क्रियाकलाप में इतिहास एकांततः व्यक्तिगत दैहिक और भावात्मक प्रक्रियाओं की अपेक्षा अधिक महत्व रखता हैं। परन्तु इन क्षेत्रों में भी विशुद्ध अनैतिहासिकता के खुले आयाम हमें मिल जाते हैं। सामान्य विचारक, कलाकार और धार्मिक पुरुष चाहे इतिहास से अनुप्राणित हों, प्रतिभाशाली व्यक्तियों की अंतःप्रेरणाएँ और अंतर्दृष्टियाँ ईश्वरीय प्रसाद या चमत्कार ही कही जायेंगे, क्योंकि वे सामाजिक और ऐतिहासिक संदर्भों से एकदम मुक्त रहती है। यही क्षेत्र संस्कृति का क्षेत्र है। यह कहा जा सकता है कि संस्कृति के क्षेत्र की श्रेष्ठतम उपलब्धियाँ देशकालेतर, शाश्वत और मूलगत हैं। यह ठीक है कि प्रतिभा विशिष्ट सांस्कृतिक और सामाजिक ढ़ांचे में कार्य करता है, परन्तु वह इनकी सीमाओं से बाहर या परे की चीज़ है। इसीलिए सहस्त्रों वर्षों पहले के वैदिक ऋषि की अंतर्दृष्टि और कालिदास की कविप्रतिभा आज की ताज़ी और समकालिक वस्तुएँ हैं।

धार्मिक चेतना या आध्यात्मिक अनुभूति के दो स्वरूप हमें दिखलाई देते हैं जिनमें एक देशकालबद्ध, व्यक्तिगत और ऐतिहासिक है और दूसरा सार्वभौमिक तथा शाश्वत। देवताधर्मी आध्यात्मिक अनुभूति और सृष्टि संबंधी मानवीय धारणाएँ, भावनाएँ तथा परिकल्पनाएँ पहली कोटि के अंतर्गत आती हैं। इन्हीं से पुराण-साहित्य का निर्माण होता है। इस कोटि की धार्मिक या आध्यात्मिक अनुभूति समाज और इतिहास के संदर्भ में व्याख्यापित की जा सकती है। उसमें हमारी अवचेतनामूलक और समष्टिगत चेतना का मानवीकरण हो जाता है। विभिन्न समाजों और जातियों के संस्कारों के अनुसार यह देवानुभूति विभिन्न और बहुविधिक होगी। परन्तु चरम सत्ता और लोकोत्तर के प्रति मानव का हार्दिक बोध अंतर्दृष्टिमूलक होने के कारण सब कहीं समान हैं। वह अनैतिहासिक और तात्कालिक है। इस प्रकार के अनुभव समान

रहते हैं और उनसे दिव्यता के संबंध में हमें जो जानकारी प्राप्त होती है वह अखण्ड और अव्याहृत कही जा सकती है। वह इतिहास के ढाँचे और देश-काल का अतिक्रमण कर सब देशों और सब कालों के मनुष्य को छूती है। चरम सत्ता की अंतर्यामिनी अनुभूति का इतिहास सहस्रों वर्षों पीछे आदिम संस्कृतियों तक जाता है और यह कहना कठिन है कि मनुष्य ने अपने विकास की सरणि में पहली बार इस अनुभूति को प्राप्त किया। व्यावहारिक दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि कुछ संवेदनाशील मनीषियों के लिए सर्वव्यापिन् और अंतर्यामिन् की यह अनुभूति उतनी ही वास्तविक और तात्कालिक रही है जितनी किसी भी दैनंदिन उपयोग की वस्तु की। और यह अनुभूति देशकाल के बंधन से परे सर्वकालिक और सर्वदेशीय है। अलबत्ता, रहस्यानुभूति का वाणीबद्ध स्वरूप इतिहासबद्ध रहेगा। परन्तु इस अनुभूति के तथागतीय स्वरूप के शाश्वतत्व के संबंध में किंचित् मात्र भी संदेह नहीं किया जा सकता।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि इतिहास और संस्कृति के अनुभवीय धरातल और स्वरूप में भेद हैं परन्तु दोनों के बीच में एक द्वाभा की भूमि भी है जो चिरंतन को देशकाल, मूर्त्ति या मानवीय संवेदना में बाँधना चाहती हैं। काल के भीतर कालेत्तर की अनुभूति ही सगुण को निर्गुण का प्रतीक बनाती है। सूरदास और तुलसीदास दोनों के काव्य में हम सगुण देवतावादी चेतना को निर्गुण निराकारी ब्रह्मवादी चेतना के धरातल पर उठाने का उपक्रम देखते हैं। इस प्रयत्न को इतिहास की भूमिका देना हास्यास्पद होगा। प्रत्येक मनुष्य का जीवन परिबद्ध संस्कृति और इतिहास के कालविशेष के भीतर व्यतीत होता है, परन्तु उस जीवन की प्रत्येक भंगिमा इतिहासबद्ध नहीं होती। कारण यह है कि हम काल और कालेतर, सीमा और असीम के दो धरातलों पर एक साथ चलते हैं और इतिहासबद्ध आयामों की अपेक्षा शाश्वत आयाम हमारे लिए अधिक महत्वपूर्ण रहते हैं। प्रकृति और मानव में ईश्वरानुभूति का बोध संस्कृति की सर्वोच्च उपलब्धि ही कहा जा सकता है। यह अनुभूति परमात्मा के रूप में ईश्वर की अनुभूति से किसी भी प्रकार कम रहस्यमय नहीं है।

इस संबंध में प्रगति या प्रगतिशीलता के संदर्भ पर भी विचार कर लेना होगा। क्या इतिहास प्रगति का ही दूसरा नाम है, या संस्कृति प्रगतिशीलता ही कही जा सकती है? सच तो यह है कि प्रगति का बोध इतिहास-बोध की तरह

अवास्तव और प्रयाससिद्ध ही है और मनुष्य की खण्डित कालबद्ध चेतना अपनी सीमा से ऊपर उठ कर अखण्ड जीवनप्रवाह को देख ही नहीं सकती। इतिहास के भौतिक आयाम जिस सभ्यता-पक्ष का उद्घाटन करते हैं वह उत्तरोत्तर विकासशील कल्पित भी किया जा सके, संस्कृति आत्मा का धर्म होने के कारण चैतन्यमय और निरंतर ही मानी जा सकती है। यह दूसरी बात है कि नये युगधर्म में उसकी अभिव्यक्ति का स्वरूप बदल जाये, परन्तु उसका अभ्यंतर वही रहेगा। किसी भी युग में पूर्ववर्त्ती संस्कृतियों के बड़े-बड़े अवशेष-खण्ड अक्षुण्ण बने रहते हैं और नयी सांस्कृतिक उपलब्धियाँ प्राचीन संस्कृतियों के सर्वश्रेष्ठ से निरंतर संपन्न होती रहती हैं। इस दृष्टि से समस्त सांस्कृतिक उपलब्धि को सामसामयिक और नैरंतरिक माना जा सकता है। संस्कृति आत्मा की अनावृत्ति है तो इतिहास देश की नव सज्जा का प्रयत्न क्योंकि इतिहास भौतिकताबद्ध और सुविधामूलक है, संस्कृति सूक्ष्मगत और मूल्यबद्ध। सभ्यता और संस्कृति का मौलिक भेद ही इतिहास के भीतर अनेक आवर्त्तों का निर्माण करता है। विचार और दर्शन की उदात्त भूमि तथा मानवीय संवेदना का भावजगत कालप्रवाह की कठोरता से बचने के दो उपाय हैं। फलतः प्रत्येक युग के भावप्रवण व्यक्ति चिन्तन और कला के रूप में संस्कृति का स्वप्न-जगत निर्मित करते हैं। एक ही युग में इन दो प्रतिक्रियाओं का विभिन्न रूप हमें तुलसी के "मानस" और सूर के "सागर" में मिलेगा। तुलसी का भावजगत् जीवन-चेतना तथा नैतिकता के नये योगायोग प्रस्तुत करता है तो सूर का भावजगत ईश्वरीय प्रेम को मानवीय संवेदनाओं में बाँध कर चिरंतन और शाश्वत को क्षण की उपलब्धि बना लेता है। शाश्वत क्षण की अनुभूति ही मानव-जीवन को सार्थकता देती है, क्योंकि तब वह कालजयी अखण्ड जीवन-चेतना का अविच्छिन्न अंग बन जाता है। ऐसे क्षण इतिहास में नहीं जिये जाते, वे इतिहास के बाहर आत्मा में जिये जाते हैं। ये ही हमारे सांस्कृतिक क्षण हैं। ये क्षण ही हमारे आत्मस्वातंत्र्य की घोषणा करते हैं। जिस ऐतिहासिक युग में व्यक्ति को ये आत्मस्वातंत्र्य के क्षण जितने अधिक और जितनी सरलता से प्राप्त होंगे उतना ही वह युग अधिक सांस्कृतिक कहा जायेगा। इतिहास और संस्कृति के इस द्वन्द्वात्मक संबंध पर हमारी दृष्टि रहे तो हम सभ्यता की चकाचौंध से आतंकित न हों, आत्मा के अनाविल उत्कर्ष को महानता दें।

तुलसीदास और भारतीय संस्कृति

सोलहवीं शताब्दी के मध्य में उत्तर भारत को एक नयी सांस्कृतिक चुनौती मिली थी। यह चुनौती ईरान की भोगवादी संस्कृति की थी जिसका संबंध सहाफ़ी वंश के सम्राटों से है। तेरहवीं शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश में ईरान की प्राचीन संस्कृति पर मंगोलों के द्वारा कुठाराघात हुआ था, परन्तु पंद्रहवीं शताब्दी के आरंभ में उसने एक बार फिर देशीय (राष्ट्रीय) संस्कृति को जन्म दिया। यह भौतिक संस्कृति ऐश्वर्य और विलास के नये उपकरणों से सज्जित थी और उसका दृष्टिकोण इहलौकिक था। यद्यपि उसका ऊपरी ढांचा इस्लामी था और सूफ़ियों का अध्यात्मवाद उसे परोक्ष के प्रति अनुप्राणित भी करता था, परन्तु सामंती और उच्च वर्गों में वह काव्यात्मक दृष्टिकोण ही बना रहा। वह भोगपरक इहलौकिकतावादी दृष्टिकोण को मर्यादित नहीं कर सका। हुमायूं अपने निर्वासन में इस संस्कृति के संपर्क में आया और दिल्ली-केन्द्र में मुग़ल साम्राज्य की पुनःस्थापना के बाद राज्यवंश और सामन्त वर्ग पर ईरानी संस्कृति और आचार-विचार का प्रभाव बढ़ा। अकबर ने भारतीय संस्कृति के अनेक तत्वों को आत्मसात करना चाहा, परन्तु उच्चवर्गीय संस्कृति भोगवादी ही बनी रही। उसका समकालीन श्रेष्ठतम व्यक्तित्व हमें रहीम के जीवन और काव्य में मिलता है और तत्कालीन फ़ारसी काव्य तथा परवर्त्ती रीतिकालीन हिन्दी-काव्य पर उसका गहरा प्रभाव है। इस नयी संस्कृति के केन्द्र में ईश्वर नहीं है, नारी का यौवन और विलास उसका केन्द्रबिन्दु है। उसका समस्त शौर्य और शिष्ट संस्कार इसी लक्ष्य की ओर धावमान है।

तुलसी ने इस इहलौकिक और भौतिक दृष्टिकोण को भारतीय संस्कृति के लिए अराजक माना। उन्होंने अपने समय की सांस्कृतिक अराजकता का एक बड़ा भयावह चित्र अपने कलियुग-वर्णनों में दिया है। दशवीं शताब्दी में श्रीमद्भागवत में इस अराजक स्थिति का विशद चित्र मिलता है और पुराणों में कलियुग-वर्णन की एक लंबी परंपरा रही है, जिसका आरंभ यवन-शक-

कुषाण अभियान से लेकर हूणों-गुर्जरों-आभीरों के आतंकवादी युग तक चलता है। एक प्रकार से दूसरी शती पूर्व से छठी शती तक की सांस्कृतिक स्थिति की सूचना इन पुराण-वर्णनों में मिल जाती है, परन्तु श्रीमद्भागवत में उसका चित्रण अधिक पूर्ण और भावपरक है। वेदांत और भक्तिवाद के आधार पर नये सांस्कृतिक निर्माण का प्रयत्न श्रीमद्भागवत में मिलता है। उसे मध्ययुग की सबसे अधिक प्रभावशाली और सशक्त रचना कहा जा सकता है। सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में तुलसी को भी इसी क्षेत्र में कार्य करना पड़ा और उन्होंने समकालीन सांस्कृतिक ह्रास के विरोध में ही अपने "रामचरितमानस" (१५७५) की रचना की। कलियुग-वर्णन की अराजक स्थिति में उन्होंने रावण-राज्य की कल्पना की और उसके विरोध में राम-राज्य, राम के पारिवारिक जीवन और रामकथा के पात्रों के व्यक्तिगत नैतिक और चारित्रिक आदर्शों के द्वारा नये सांस्कृतिक पुर्निर्माण की दिशा निर्धारित की।

यह दिशा क्या थी ? "रामचरित मानस" के अंत में तुलसी ने आत्मसंकल्प के रूप में इसका इंगित दिया है :

कामिहि नारि पिआरि जिमि लोभहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरंतर प्रिय लागहु मोहि राम॥ (उत्तर०१३०ख)

यहाँ संस्कृति के दो प्रधान उपकरणों का स्पष्ट निर्देश है काम और लोभ। इन दोनों की अतिवादी प्रियता ही सांस्कृतिक संक्रांति की सूचक है। व्यष्टि और समष्टि दोनों क्षेत्रों में काम और लोभ का आधिक्य संकट को प्रगट करता है। चतुर्वर्ग में धर्म और मोक्ष की नितांत उपेक्षा संस्कृति को ह्रास-मूलक बना देती है। इसका समाधान है धर्ममूलक दृष्टि। इसी दृष्टि को तुलसी ने राम में पल्लवित किया है। राम का रामत्व उनका यही धर्मबोध है। विजय-रथ रूपक में तुलसी ने इसी धर्मदृष्टि को व्यावहारिक जीवन-दर्शन के रूप में प्रस्तुत किया है :

सुनहु सखा कह कृपानिधाना। जेहि जय होइ सो स्यंदन आना॥
सौरज धीर तेहि रथ चाका। सत्य शील दढ़ ध्वजा पताका॥

बल बिबेक दम परहित घोरे। छमा कृपा समता रजु जोरे॥
ईस-भजनु सारथी सुजाना। बिरति चर्म संतोष कृपाना॥
दान परसु बुधि सक्ति प्रचंडा। बर बिग्यान कठिन कोदंडा॥
अमल अचल मन त्रोन समाना। सम जम नियम सिलीमुख नाना॥
कवच अभेद बिप्र गुरु पूजा। एहि सम बिजय उपाय न दूजा॥
सखा धर्ममय अस रथ जाकें। जीतन कहँ न कतहु रिपु ताके॥

(८० क)

परन्तु यही उपकरण अंतर्जीवन के लिए भी उपयुक्त हैं। इसीलिए तुलसी दोहे में यह स्पष्ट कर देते हैं कि इन पर रथारूढ़ होकर "महा अजय संसार-रिपु" को भी जीता जा सकता है। वास्तव में एक ही सांस्कृतिक उपकरण अंतर्वहिर्जीवन के लिए समान रूप से लागू होते हैं। ग्रंथ के अंतिम दोहे में "रघुनाथ" और "राम" कह कर कवि ने राम के सामाजिक और व्यक्तिगत जीवन के दो रूपों की ओर स्पष्ट रूप से इंगित किया है। दोनों रूपों में राम आदर्श और धर्म के प्रतीक हैं।

रामकथा में लोभ और काम के दोनों प्रसंग स्पष्ट रूप से खुलते हैं। राज्य-त्याग का प्रसंग लोभ पर राम की विजय का प्रतीक है और उसमें पूर्व राम का समस्त भावैश्वर्य आ जाता है। उत्तर राम में रावण के चरित्र के माध्यम से काम के दो स्वरूप वासना और ऐश्वर्यमद की असारता (असार्थकता ?) और राम के वीतरागी (गतकाम) रूप का प्रकाशन है। इस प्रकार तुलसी ने अपनी कथा को युग के सांस्कृतिक ह्रास के सम्मुख चुनौती के रूप में रखा है। यह चुनौती धर्म के रूप में तीसरे पुरुषार्थ को रेखांकित करती है। तुलसी के राम मूर्त्तिमान धर्म हैं।

परन्तु अंतिम पुरुषार्थ तो मोक्ष ही है, क्योंकि उसी से बंधनों का क्षय होता है और मनुष्य को कर्म-स्वातंत्र्य की प्राप्ति होती है। राम मोक्षप्रद हैं, कह कर तुलसी मोक्ष को हरिकृपा पर अवलंबित कर देते हैं। तुलसी के साहित्य में

वह भक्ति का अनिवार्य निष्कर्ष है। मनुष्य का कर्तव्य भक्ति है, परन्तु मोक्ष पर उसका अधिकार नहीं है, अधिकार भक्ति पर ही है। अतः तुलसी भक्ति को मोक्ष से श्रेष्ठतर मानते हैं, क्योंकि वह आत्मपरिष्कारी चेतना है जिसकी कोई सीमा नहीं है। इस आत्मपरिष्कार के लिए साधक को सूक्ष्मभावापन्न और संकल्पी होना पड़ता है। "विनयपत्रिका" में अनेक पदों में हमें भक्त तुलसी के मनोराज्य के बड़े सुन्दर चित्र मिलते हैं।

इस प्रकार तुलसी का भक्ति-तंत्र मोक्षधर्मी न होकर आत्मधर्मी बन जाता है। वह "स्व"-तंत्र है। उसमें व्यक्तिगत जीवन के परिष्कार पर आधारित सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन-परिष्कार की अकल्पित गुंजाइश है। उसी से "कलियुग" का बोध हो सकेगा, ऐसी तुलसी की कल्पना है। युग के सांस्कृतिक विघटन को भक्ति और धर्म के मर्यादा में बाँध कर तुलसी अर्थ (लोभ) और काम को आत्मिक मर्यादा देते हैं। अर्थ और काम का अति-वाद राक्षसी वृत्ति है। धर्म द्वारा उनकी मर्यादा मानवीय वृत्ति। उमा को भ्रम हो जाता है कि राम मानव हैं या परात्पर या अवतारी विष्णु, परन्तु तुलसी को इस विषय में कोई संदेह नहीं है, क्योंकि उनके लिए पूर्णमानवत्व ही परमदेवत्व है, परात्परत्व है। उन्होंने राम के परात्परत्व पर दृष्टि केन्द्रित रखी है, परन्तु उनके महामानवत्व को ही अपनी श्रद्धा-भक्ति दी है। सौन्दर्य, शील और शौर्य की पराकाष्ठा को उन्होंने राम में मूर्त्त किया है। कायिक ही नहीं, मानसिक और आत्मिक सौन्दर्य की भी सर्वोच्च भूमिकाएँ उन्हें प्राप्त हैं। इस प्रकार उनके राम कलियुग के लिए चुनौती बन गये हैं। वह मूर्त्तिमान धर्म हैं और धर्मदृष्टि मूलतः आत्मिक दृष्टि है। वह जड़ पर चेतन की विजय है। उसमें जीवन की स्थूल भोगपरता नहीं, उसकी सूक्ष्म त्याग-मयता और चिन्मयता ही व्यंजित होती है। भोग के स्थान पर त्याग को रेखांकित कर तुलसी ने अपने युग के सांस्कृतिक मूल्यों को नया मोड़ दिया, इसमें किंचित् मात्र भी संदेह नहीं है।

तुलसी को विराग का कवि कहा गया है, परन्तु उनके साहित्य में उनका विराग राम के प्रति उत्कट रागोन्मुखता के कारण ही है। वह जीवन की अस्वीकृति

के कवि नहीं हैं, उसके परिष्कार, मर्यादा और चिन्मयता के कवि हैं। उनके राम मर्यादा-पुरुषोत्तम हैं। "तेन त्यक्तेन भुंजीथा" में त्यागपूर्वक भोग की जो मर्यादा है उसे नये सांस्कृतिक मूल्य के रूप में तुलसी ने पूर्णतः अपनाया है। इसीलिए वह मानवीय संबंधों का सूक्ष्म-से-सूक्ष्म निरूपण करते हैं और विरागात्मक जीवन से कम रागात्मक जीवन में उनका प्रवेश नहीं है। मानस-रोगों से पूर्णत: परिचित हो कर ही वह उसके निराकरण में लगे हैं। राग-विराग से परे सच्चिदानंदी चेतना से ओत-प्रोत उनका काव्य-व्यक्तित्व युगबोध के भीतर से युगेतर की ओर इंगित करता है। उसे हम तात्कालिक ईरानी संस्कृति के आयात के विरुद्ध सनातन भारतीय संस्कृति की प्रतिक्रिया भी कह सकते हैं। आधुनिक युग की पश्चिमी भौतिकवादी-विज्ञानवादी संस्कृति के मार्क्सीय-फ्रायडीय दृष्टिकोण के प्रति भी उसकी तेजस्विता अकुंठित भाव से विद्रोही बनी हुई है। सनातन भारतीय संस्कृति के सर्वश्रेष्ठ उपकरणों में बद्धमूल तुलसी का साहित्य हमारी अंतश्चेतना का अनिवार्य अंग बन गया है और नये सांस्कृतिक बोध को उससे समझौता करना आवश्यक ही नहीं, दुर्निवार भी है।

भोगवादी संस्कृति मोहग्रस्त होती है। इसीलिए तुलसी ने अपने महाकाव्य "रामचरितमानस" में जिस संस्कृति की रूपरेखा प्रस्तुत की है वह विवेक-मूलक और विरागात्मक संस्कृति है, जिसके संरक्षक यम-नियम हैं और जो शांति तथा सुमति के द्वारा संतुलन और श्रेय को प्राप्त होती है। (अयो० २३५)। तुलसी-संस्कृति का यह स्वरूप आज भी पुराना नहीं पड़ा है। उत्तर काण्ड में रामराज्य में ईश्वर, मनुष्य (समाज) और प्रकृति के प्रति साहचर्य और सहयोग की भावना के रूप में तुलसी ने वही तत्व उभारे हैं (उत्तर० २१-२३), जिन्हें आज इलियट अपनी ईसाई समाज की भविष्यती कल्पना का मूलाधार मानते हैं। इलियट की भाँति तुलसी भी "परम गति" (परमानंद, Beatrice) को मानव-जीवन का परम पुरुषार्थ कल्पित करते हैं। यह स्पष्ट है कि नये युगधर्म के भीतर से देखने पर हमें तुलसी के पास ऐसा बहुत कुछ मिलेगा जो मानव-संस्कृति का अविच्छिन्न और सार्वभौम अंग है। संयम, त्याग, तप और विवेक मानव के श्रेष्ठतम संस्कार हैं। तुलसी ने उन्हें मूर्धाभिषिक्त किया है, परन्तु उन्होंने इसके साथ ही करुणा को भी

अपरिहार्य माना है। राम मर्यादा-पुरुषोत्तम हैं तो परम कारुणिक भी हैं। विवेक और करुणा पर आधारित संस्कृति में ही श्रेष्ठतम मानव-संस्कृति बनने की क्षमता है। पश्चिमी संस्कृति ने विवेक की साधना की है, परन्तु करुणा को वह अपने व्यक्तित्व का अनिवार्य अंग नहीं बना सकी है। यहीं तुलसी का वर्चस्व हमें प्राप्त होता है।

श्रीविवेकानन्द जन्म-शताब्दी-महोत्सव

स्वामी विवेकानन्द (१८६१–१९०२) आधुनिक भारतीय संस्कृत के आधार-शिला कहे जा सकते हैं, क्योंकि उन्होंने ही पहले-पहल नये भारतवर्ष का स्वप्न देखा था और उसके भविष्य की सम्यक् रूप से कल्पना की थी। मध्ययुगीन भारतवर्ष को आधुनिकता की ओर मोड़ने वाले वे महापुरुष आज हमारे लिए बंदनीय हैं। क्योंकि उन्होंने जहाँ भारतीय अध्यात्म के सच्चे स्वरूप का उद्घाटन किया और पश्चिम को उससे अवगत कराकर हमारी सांस्कृतिक श्रेष्ठता की प्रतिष्ठा की, वहाँ उन्होंने हमें आत्महीनता से उबार कर नये सांस्कृतिक और राष्ट्रीय गौरव में प्रतिष्ठित किया। आज हम उनका जन्मशताब्दी-महोत्सव मना कर उनके कृतज्ञता-ज्ञापन ही नहीं करते, उनके संकल्प को चरम सीमा तक ले जाने का दृढ़ ब्रत भी धारण करते हैं। बीसवीं शताब्दी के पिछले ६०–६२ वर्ष स्वामी जी की ही आत्मचेतना और उनके कर्मठ व्यक्तित्व का प्रसार हैं।

परन्तु स्वामी विवेकानन्द का ध्यान आते ही हमारा मन श्री रामकृष्ण परमहंस की ओर जाता है जिनके अवतरण से स्वयं स्वामी विवेकानन्द नये भारत का जन्म मानते हैं। श्री रामकृष्ण परमहंस का जन्म १८३६ में हुआ और पचास वर्षों के अल्प काल में उन्होंने साधना और तपस्या के द्वारा सनातन भारत के पाँच हजार वर्षों की आध्यात्मिकता को अपने भीतर आत्मसात किया। प्राचीन भारत की कोई भी अध्यात्म-साधना उनसे बची नहीं। उन्होंने सभी धर्मों का रस लिया और अंत में स्वानुभूत सत्य के रूप में समस्त धर्मों की एकता की घोषणा की। वार्त्ताओं, आख्यानों और सूक्तियों के द्वारा उन्होंने अपने आध्यात्मिक संदेश को असंख्य जनों तक पहुँचाया, परन्तु स्वामी विवेका-नन्द के रूप में एक महान व्यक्तित्व को गढ़ कर उन्होंने अपने चैतन्य को कर्म-क्षेत्र में उतारा और अगली शताब्दी के लिए अपने आध्यात्मिक चैतन्य का महान स्रोत उन्मुक्त किया। परमहंस तो चैतन्य के समुद्र ही थे और उनका

अवतरण चमत्कार ही कहा जायेगा। परन्तु हमारी समन्वयता और राष्ट्रीयता के मूल में यदि कोई एकता की नींव है तो वह उनकी आध्यात्मिक चेतना ही है जो धर्म और अध्यात्म की भूमिका पर मानव की अखण्डता और दैवीयता की घोषणा करती है।

निश्चय ही यह तिथि महत्वपूर्ण है, क्योंकि इन्हीं वर्षों के लगभग इंग्लैण्ड में औद्योगीकरण की नींव पड़ती है और नया समाज उभर कर सामने आता है। यह मध्यवर्ग का समाज है। इस नये समाज में ही पूंजीवाद का पहली बार जन्म हुआ था। उसकी प्रतिक्रिया के दो रूप हमें परिलक्षित होते हैं। जहाँ एक ओर उन्नीसवीं शताब्दी के दार्शनिकों और सामाजिक विचारकों, जैसे बेन्थम, मिल, स्पेन्सर, कांट, हीगेल आदि ने व्यक्ति-स्वातंत्र्य और मानव-मात्र के समानाधिकार की बात उठाई और प्रजातंत्र के लिए मार्ग प्रशस्त किया वहाँ राजसत्तात्मक अर्थयोजना के संबंध में कार्ल मार्क्स की विचारधारा भी सामने आई। इंग्लैण्ड में ही ये दोनों तंत्र आरंभ में कल्पित हुए और इस प्रकार दो जीवन-पद्धतियों का यूरोप में प्रसार हुआ। प्रजातंत्री, व्यक्तिवादी और पूंजीवादी समाज-चेतना अतलांतिक सागर को पार कर अमरीका पहुँची और कार्ल मार्क्स के विचारों ने बीसवीं शताब्दी के दूसरे दशक में रूसी क्रांति की सृष्टि की। सच तो यह है कि नये उद्योग-धंधों के विकास ने ईसाई धर्म की मानवतावादी चेतना को झकझोर डाला था और यूरोप के दार्शनिकों तथा सामाजिक विचारकों ने सामाजिक न्याय के क्षेत्र में अपने चिन्तन को प्रबुद्ध किया। इस चिन्तन ने दो विरोधी दिशाएँ धारण कीं। फलस्वरूप पूंजीवादी और साम्यवादी समाजों की पश्चिम में स्थापना हुई और आज भारत तथा चीन के रूप में इनके दो अखाड़े एशिया में खड़े हो गये हैं। यह स्पष्ट है कि उन्नीसवीं शताब्दी का हमारा उपनिवेशीय संबंध पश्चिम की वैचारिक और औद्योगिक क्रांति से एकदम अछूता नहीं रह सकता था। इसी संबंध में श्री रामकृष्ण परमहंस का अवतरण हमारे लिए महत्वपूर्ण बन जाता है। १८३५ में मेकाले के द्वारा अंग्रेज़ी भाषा के माध्यम से भारतवर्ष में नयी शिक्षा की योजना हुई और इसके एक ही वर्ष बाद श्री रामकृष्ण परमहंस का जन्म विधाता का विधान जैसा लगता है। पश्चिमी शिक्षा की दो पीढ़ियाँ श्री रामकृष्ण परमहंस के निधन तक तैयार हो गई थीं और नये अंग्रेज़ी शिक्षित तरुण वर्ग में भार-

तीय जीवनमूल्यों के प्रति अनास्था तथा विरोध का भाव स्पष्ट था। नयी पीढ़ी धर्म को अस्वीकार करती थी और रहन-सहन तथा खान-पान में अंग्रेज़पन को ही अतिवादी मान्यता देती थी। एक प्रकार से पश्चिमी संस्कृति की नशीली धारा में देश बहा जा रहा था। ब्रह्मसमाज इस नवीनता का प्रतीक था और उसकी धर्मदृष्टि ईसाई धर्मदृष्टि से बहुत भिन्न नहीं थी। वास्तव में श्री केशवचंद्र सेन के समय में तो ब्रह्मसमाज खुले रूप से ईसाई समाज बन गया था और नवविधान ने उसे भारतीय धर्म-परंपरा से एकदम विच्छिन्न कर दिया था। युवा नरेन्द्र इसी साधारण ब्रह्मसमाज में दीक्षित था। वह अंग्रेज़ी शिक्षा की दूसरी पीढ़ी का नवयुवक था। नरेन्द्र का विवेकानन्द बन जाना पश्चिमी संस्कृति पर भारतवर्ष की सनातन हिन्दू संस्कृति की विजय ही कही जायेगी, परन्तु यह चमत्कार श्री रामकृष्ण परमहंस के व्यक्तित्व के द्वारा ही संपन्न हुआ। पश्चिमी शिक्षा की एकांगिता जान कर परन्तु उसी के भीतर से पूर्वीय जीवनमूल्यों की खोज के लिए बढ़ना आवश्यक था। परमहंस के चैतन्य-जल ने नास्तिक नरेन्द्र को अध्यात्म-चेतस् बना दिया और वह पूर्व-पश्चिम के बीच का सेतुबंध बन गया। इस भूमिका पर श्री रामकृष्ण परमहंस का महत्व और भी बढ़ जाता है और स्वामी विवेकानन्द की नव्य वेदांत की संस्कृति को हम आधुनिक जीवन के एक नये समाधान के रूप में देख सकते हैं।

प्रश्न यह है कि पूर्व-पश्चिम के वे जीवन-मूल्य क्या हैं जो स्वामी विवेकानन्द के जीवन, व्यक्तित्व और संदेश में समीकृत हुए। ये हैं विवेक और आनन्द। पश्चिम विवेक का साधक है, पूर्व आनन्द का। यह नहीं कि पश्चिम में आनन्द हो ही नहीं और पूर्व में विवेक का नितांत अभाव हो। परन्तु हमारे यहाँ विवेक का अर्थ भिन्न रहा है। जड़ और चेतन, नाशवान और अविनश्वर, पाप और पुण्य की पहचान को ही हमारे यहाँ विवेक कहा गया है। व्यक्तिगत जीवन में हमारी विवेक-साधना ने नैतिक और आचरणमूलक सूक्ष्म चेतना को भी जन्म दिया है। आचरण की सभ्यता में हम सबसे आगे रहे हैं, परन्तु सामाजिक क्षेत्र में हमारी विवेक-बुद्धि कुंठित रही है। जातिवाद और वर्ण-वाद में बँधी हुई हमारी सामाजिक चेतना मुक्ति के लिए छटपटाती रही है, परन्तु हम उसे निरंतर नये बंधनों से बाँधते रहे हैं। सामाजिक न्याय के प्रति

कोई प्रबुद्धता हममें लौकिक धरातल पर दिखलाई नहीं दी है, यद्यपि भक्ति और अध्यात्म की भूमिका पर हम मानव मात्रकी समानता की दुहाई देते रहे हैं। पश्चिम की औद्योगिक क्रांति ने अर्थसाम्य के रूप में सामाजिक न्याय का एक आन्दोलन खड़ा कर दिया। बुद्धिवाद के आधार पर उसने सामाजिक जीवन-क्षेत्र में नये-नये समाधान प्रस्तुत किये। परन्तु ये समाधान आत्मिक नहीं बन सके। उन्हें भौतिक जीवन तक ही सीमित रखा गया। पश्चिम की यह विवेक-साधना भारतवर्ष के लिए प्राथमिक आवश्यकता थी। भारतवर्ष की अपनी आनन्द की साधना की लंबी परंपरा है जो उपनिषदों के ऋषियों से कविगुरु रवीन्द्रनाथ और योगी अरविन्द तक चलती है। श्री रामकृष्ण परमहंस इस साधना की एक प्रमुख कड़ी थे। उनके माध्यम से भारत की सनातन संस्कृति की अध्यात्मवादिता, चिन्मयता और आनन्दमयता हमें अक्षुण्ण रूप से प्राप्त हुई है, परन्तु हमें नई कर्मचेतना की आवश्यकता थी। यह कर्म-चेतना विवेक पर ही आधारित हो सकती थी। अतः पश्चिम के विवेक और पूर्व के आनन्द का समन्वय ही हमारा जीवन-दर्शन हो सकता था। स्वामी विवेकानन्द ने हमें यही जीवन-दर्शन दिया। "प्राणो विराट्" कह कर उपनिषद् के ऋषि जीवन की जिस महान संभावना की ओर इंगित करते हैं उसके मूल में यही आनन्द की साधना है। आनन्द बन कर जीवन हमारे लिए आत्मिक बनता है। कुंठा, अवसाद, व्यक्तिगत स्वार्थ तथा आत्म-संकोच हमारे आनन्द भाव को खण्डित करते हैं। फलतः हम छोटे हो जाते हैं। आत्मिक आनन्द पर टिक कर हम विवेकपूर्ण भौतिक जीवन को अशेष वरदान बना सकते हैं।

सौ वर्षों तक हमारी आधुनिक मध्यवर्गीय संस्कृति पूर्व-पश्चिम के समन्वय का नैरंतरिक प्रयास रही है। संभवतः १९३६ के बाद यह समन्वय टूट जाता है और हम पश्चिम के भौतिकवाद की बाढ़ में बहने लगते हैं। सब कुछ छोटा हो जाता है। साहित्य में "लाघव" की पुकार उठती है। "लघु उपन्यास", "लघु कहानी", "लघु निबंध" और "हाइको" तथा "किंचित् काव्य"। लघुता के प्रति यह आग्रह हमारे भीतर के छोटेपन का प्रतीक है। क्यों हम बड़े नहीं बन सकते? क्यों हम एक बार फिर विराट् और महत् की साधना का पुनर्जीवित नहीं कर सकते? हमारी उधारजीवी मनोवृति ने

दो महायुद्धों के बीच के यूरोप के क्षयी साहित्य से प्रेरणा प्राप्त की है और मार्क्स, फ़्रॉयड तथा एडलर की मान्यताओं को लेकर अपने यहाँ क्षुद्रता, काम-कुण्ठा और आत्महीनता के अंबार लगा दिये हैं। इस लघुता से हम उबरें और विवेकानन्दी जीवन के लिए तत्पर बनें। तभी हम स्वामी विवेकानन्द के प्रति अपना ऋण चुका सकेंगे। तभी हमारा सांस्कृतिक दाय फलीभूत होगा और हम अपने आंतरिक जीवन के स्रोतों को मुक्त कर सकेंगे। मनुष्य आत्मवान है, वह देहमात्र नहीं है। वह आध्यात्मिक और नैतिक शक्ति का पुंज है। यह नव्य वेदान्ती मान्यता हमारे जीवनदर्शन को पश्चिम के मानववाद से भिन्न कर देती है।

अंतर कहाँ है, इसे स्पष्ट करके देखना होगा। पश्चिम में सार्थक है बनना, हमारे यहाँ होने में ही सार्थकता समझी गयी है। भीतर से खुल कर ही हम होते हैं। बाहर से जो हमें मिलता है वह हमें बनाता है, परन्तु वह हमें आत्मिकता नहीं दे सकता। इस सत्य को स्वामी विवेकानन्द ने ठीक तौर से समझा था और मनुष्य के निर्माण को अपना जीवन-व्रत माना था। उन्नीसवीं शताब्दी में पश्चिमी संस्कृति के संघात ने हमारे जीवन में हलचल उत्पन्न कर दी। हमने बंधनों का अनुभव किया और उन्हें तोड़ना चाहा। राजा राममोहनराय से केशवचंद सेन तक कितने ही बन्धन खुले, परन्तु हर बार नये बंधनों में हम जकड़ गये। इस तरह खुलने में हमारी मुक्ति नहीं थी। तभी स्वामी विवेकानन्द आये और उन्होंने भीतर से खुलने की सार्थकता हमें बतलाई। बंधन ऊपरी है, भ्रम मात्र है, मायिक है। आत्मा निर्बन्ध है। जो आत्मा की निर्बन्धता में प्रतिष्ठित हो जाता है उसके सब बन्धन क्षणमात्र में टूट जाते हैं। एक ही झटके से उन्होंने हमारे सारे बन्धन तोड़ डाले और हम आत्मिक, मुक्तिप्राण, तथा सार्वभौमिक मानव के नये चोले में बाहर आ गये। श्री रामकृष्ण परमहंस चैतन्य के महासागर थे। उनके चैतन्य-जल के चार चुल्लू जल से नरेन्द्र विवेकानन्द बन गये और इस जल के कुछ छींटे हमें अब तक बराबर मिलते रहे हैं। आवश्यकता इस बात की है कि हम इस भीतर से खुलने का महत्व समझें और हमारी योजनाएँ बलात् लादी हुई सरकारी चीज़ें न बन कर हमारे आत्मिक चैतन्य का प्रतीक बन जाएँ। जहाँ प्रयत्न बलपूर्वक है वहाँ

विकृति भी है। आनन्द, आत्मिकता तथा निजता में प्रतिष्ठित होकर ही हम सब के प्रति खुल सकते हैं और जीवन को विवेक तथा आनन्द की साधना-भूमि बना सकते हैं।

आज यह बात और भी महत्वपूर्ण हो गयी हैं, क्योंकि हमें चीन की सशक्त चुनौती मिली है। जाति-वर्णमुक्त तथा अर्थसाम्य पर आधारित राजसत्तात्मक समाज हिमालय के नीचे उतरना चाहता है। अपने समाज को सामाजिक तारतम्य और आर्थिक असंतुलन के बंधनों में जकड़ा रख कर हम इस चुनौती का उत्तर कैसे देंगे। इसीलिए आज हमें भीतर का मोर्चा दृढ़ करना है। "स्व" के निकल कर हम "पर" में प्रतिष्ठित हों और हमारे सभी प्रयत्न आत्मिक और आंतरिक बन कर हमें अल्प से भूमा की ओर ले आएँ। नव्य वेदान्ती जीवनदर्शन हमें इस नयी भूमिका के लिए तैयार करता है, क्योंकि वह जीवन को मायात्मक न मान कर ब्रह्मात्मक मानता है। जहाँ भी दुःख, दैन्य और असमानता है वहाँ हमारी मानवता को चरितार्थता मिले और लोकधर्मी बन कर हम सच्चे अर्थों में आध्यात्मिक बनें।

आज के नये परिवेश में हमारे लिए स्वामी विवेकानन्द का क्या संदेश है? यह संदेश है,— शक्ति की उपासना। मध्ययुग में हमारे संतों-भक्तों ने दैन्य की उपासना की थी, क्योंकि उन्होंने मनुष्य के अहंकार को उसका सब से बड़ा बन्धन माना था। अपने को धूलिकण से भी छोटा बना कर भक्त विनय की साधना करता है और अपने अहंभाव को इष्टदेव को निवेदित कर आत्मोपलब्धि करता है, परन्तु एक दूसरे प्रकार की साधना भी है जो स्वामी विवेकानन्द ने हमारे सामने रखी। यह है भूमा की साधना। जब हम अपने अहंकार को इतना व्यापक बना लेते हैं कि वह सारे प्राणियों को घेर लेता है तो हम विराट् के पर्याय बन जाते हैं। अपने भीतर विराट् का अनुभव करना प्राणीमात्र की आत्मिक अखण्डता का अनुभव करना है। हम शक्ति का अपार स्रोत हैं। हम अपने को ब्रह्म मानें और कदर्थता, क्षुद्रता तथा आत्महीनता से मुक्ति पाएँ। यह शक्ति की साधना ही हमें भीतर से जीवित कर सकेगी। इसमें अहिंसा-भाव का खण्डन नहीं, क्योंकि मनुष्य की अपरिबद्ध आत्मिकता

की रक्षा में उठा खड्ग इन्द्र का वृत्रघाती वज्र ही है जो जीवन के स्रोतों को उन्मुक्त कर उसे धर्म के पुण्य-जल से अभिषिक्त करता है। वह हिंसा के पाप से कलुषित नहीं होता। हम जिस शक्ति की साधना करेंगे वह देह की शक्ति नहीं, आत्मा की शक्ति होगी और देह को आत्मा का मंदिर मान कर ही हम उसकी प्राचीरों को दधीचि की हड्डियों से पुष्ट करेंगे। स्वतंत्र भारत विवेक, आनन्द और शक्ति के नये-नये अलात-चक्र खोले और पूर्व-पश्चिम के समन्वय से सामग्रिक तथा अंतर्योजित मनुष्य की एक नयी ज्योति-रेखा खींचे। तभी हम स्वामी विवेकानन्द के सच्चे उत्तराधिकारी बन सकेंगे।

महात्मा गांधी और भारतीय संस्कृति

आरंभ में यह कह देना होगा कि इमर्सन से इलियट तक संस्कृति की जो परि-भाषाएँ हमारे सामने आई हैं उनमें कोई भी हमें पूर्णतः संतुष्ट नहीं करतीं। इलियट ने धर्म को संस्कृति का पार्यायवाची या समतुल्य मान कर एक बड़े सत्य को उद्घाटित किया है कि प्राचीन युगों में हम धर्म के नाम पर जिस जीवन-चर्या और सूक्ष्म भावबोध को लेकर चल रहे थे वह "संस्कृति" से भिन्न वस्तु नहीं थी। पुरानी पीढ़ियाँ धर्म की बात उठाती थीं तो आज हम संस्कृति की बात उठाते हैं। परन्तु यह भी जान लेना होगा कि अठ्ठारहवीं शताब्दी के अंत तक राष्ट्रीय संस्कृति जैसी कोई चीज़ मनुष्य के पास नहीं थी, सुसंस्कृत मनुष्य थे जो सब कहीं पहचाने जा सकते थे। तात्पर्य यह है कि तब मानव-संस्कृति राष्ट्रीय संस्कृति की अनेकानेक इकाइयों में खण्डित नहीं हुई थी। आज १५० वर्षों बाद फिर संस्कृति की राष्ट्रबद्धता संकट में पड़ रही है और हम विश्व-संस्कृति की बात उठा रहे हैं।परन्तु यह विश्व-संस्कृति राष्ट्रीय संस्कृतियों का समाहार या समुच्चय न होकर मानव-संस्कृति ही होगी, क्योंकि संस्कृति मानव के उच्च संस्कारों को लेकर ही है और युग-संस्कार विभिन्न नामों से पुकारे जाने पर भी एक ही है।

जहाँ तक भारतीय संस्कृति का प्रश्न है गाँधी जी उसकी संत-धारा के प्रतीक हैं। भारतीय संस्कृति में दो धाराएँ स्पष्ट रूप से दिखलाई देती हैं, एक को हम संत-संस्कृति कह सकते हैं, दूसरे को शिष्ट संस्कृति। याज्ञवल्क्य से महात्मा गाँधी तक संत-संस्कृति की एक स्पष्ट विकास-रेखा हमारे सामने है। यह संत-संस्कृति तप की नींव पर खड़ी है और यम-नियम उसके प्रमुख उप-करण हैं। मौर्य युग से शिष्ट संस्कृति की रूपरेखा भी उभरती है। इसका प्रारंभिक रूप सामंती संस्कृति का है, परन्तु धीरे-धीरे यह नागर संस्कृति का रूप धारण कर लेती है। दूसरी शताब्दी पूर्व-ईसवी में वात्स्यायन के "काम-सूत्र" में नागर जन की दिनचर्या में इसी संस्कृति की छाप है। यह संस्कृति

भोगवादी है, योगवादी नहीं,—परन्तु उसका भोगवाद एकदम जड़वादी नहीं है। वह जीवन की परिपूर्णता का विश्वासी है और माधुर्य, सौन्दर्य तथा ऐश्वर्य का अधिकाधिक उपयोग करता है। भोग और योग के अतिवादी रूप भी हमारे यहाँ हैं, परन्तु दोनों के बीच में शिष्ट और संत-संस्कृति की दो धाराएँ भोग में योग और योग में भोग की चेतना लेकर चलती हैं। भोगपरक और योगपरक जीवन की ये दो समानान्तर धाराएं भारतीय जीवन-प्रवाह को पुष्ट करती हैं।

आधुनिक युग में संत-संस्कृति के प्रतीक थे महात्मा गाँधी और शिष्ट संस्कृति या जीवन के परिपूर्ण उपभोग के उद्‌गाता थे महाकवि रवीन्द्रनाथ। दोनों एक-दूसरे के पूरक थे। रवीन्द्रनाथ भी जीवन की चिन्मयता के पक्षपाती थे, परन्तु वह विरागात्मक नहीं थे। वह लीला को महत्व देते थे, माया को नहीं। उनके लिए सब उपभोग्य था क्योंकि सब ईश्वर से ओत-प्रोत होने के कारण उनकी प्रियता पा सका था। सौन्दर्य, माधुर्य और ऐश्वर्य के भीतर उन्होंने चिरंतन का साक्षात्कार किया था। उनके आदर्श कवि थे कालिदास और उन्होंने कालिदास के "कुमारसंभव" तथा "अभिज्ञानशाकुन्तलम्" में तप को भोग की भूमिका सिद्ध किया था। भारतीय परिवार की प्रेमपरता को उन्होंने मूर्धन्य माना है, परन्तु उनका प्रेम तप है। तपनिष्ठ जीवन को निवेदित जीवन की गरिमा देते हुए भी वह चतुर्वर्ग के प्रति आकांक्षी हैं। अर्थ और काम धर्म की भूमिका पाकर धन्य हो जाते हैं, वे मोक्षपरक बन जाते हैं, ऐसा उन्होंने माना है। इसी से उनका जीवनदर्शन नकारात्मक न होकर भावात्मक है। भाव की परिपूर्णता उनके काव्य में ही नहीं मिलेगी, वह उनके जीवन का भी मूल मंत्र थी। कैसा अद्‌भुत रूप प्रकृति ने उन्हें दिया था। चंपकवर्णी देह में कमल-पत्रों की अनन्त सुषमा को निचोड़ कर संसृति की सारी कोमलता ईश्वर ने उन्हें दी थी। विधाता ने उन्हें गढ़ते हुए किंचित् मात्र भी कृपणता नहीं की थी। वाणी का अपार ऐश्वर्य उन्हें मिला था। उनके कण्ठ में वीणा के बोल थे। शताब्दियों के मानव-जीवन के विकास को पार कर प्रकृति ने उनकी सृष्टि की थी। वह भारतवर्ष के समरसी वैभव के प्रतीक पुरुष थे। उन्होंने कुछ भी नहीं छोड़ा, प्रकृति को पूरा भोगा, परन्तु यह आनन्द की सहज स्वीकृति थी। उसमें जड़ता का रंच-मात्र भी लगाव नहीं था। गांधी जी को न वह देह मिली, न वह मन।

वह सामान्य थे, जनता-जनार्दन के प्रतिनिधि संयम और तप से बलिष्ठ लौह-पुरुष। कर्म उनकी शक्ति थी, भाव नहीं। उन्होंने कम-से-कम लिया। उनका अंतर्वैभव कम नहीं था, परन्तु वह आत्मदान का वैभव था। वह अछिद्र स्वर-वेणु थे, रेणुरहित ज्योति। उन्होंने योग को भोग बना डाला था। वह नामों-रूपों की जड़ता को व्यर्थता देते हुए जिये। वह जीवन के कलाकार थे। यों अपने ढंग से वह शब्द-शिल्पी भी थे। जीवन-शिल्पी शब्द-शिल्पी से बड़ा होगा, मुझे ऐसा लगता है, परन्तु रवीन्द्रनाथ भी क्या शब्द-शिल्पी मात्र थे। वे धन्य हैं जिन्होंने संत और शिष्ट धाराओं के प्रतीक इन दो महापुरुषों को साथ-साथ डग भरते देखा है।

आज जब हम भारतीय संस्कृति का पुनर्निर्माण कर रहे हैं तो यह प्रश्न महत्व-पूर्ण हो जाता है कि हम इन दो संस्कृतियों में से भविष्यती पीढ़ियों के लिए कौन-सी संस्कृति चुन रहे हैं। यह स्पष्ट है कि प्रधान मंत्री नेहरू गांधी जी के साथ कम हैं, महाकवि रवीन्द्रनाथ के साथ अधिक हैं। प्रसिद्ध इतिहासकार टॉइनबी ने इसे पश्चिमी संस्कृति की विजय माना है और नकारात्मक तपो-निष्ठ संत-संस्कृति की पराजय। परन्तु क्या यह सत्य होगा ? हमारी योजना-मुखी चेतना क्या हमारी देह को पुष्ट करने के बाद ही समाप्त हो जायेगी ? परिपूर्ण और समग्र बहिरंतर से संपन्न जीवन की आकांक्षा लांक्षा का विषय नहीं है, परन्तु क्या हम घर के बाहर ही रह जायेंगे, उसके भीतर अतिथि के रूप में ही आ सकेंगे। यह हमारे सांस्कृतिक रिक्थ के अनुकूल नहीं होगा। इसीलिए हमें आज शिष्ट संस्कृति का मनोहर स्वप्न पल्लवित करते हुए संत-संस्कृति को भी सुरक्षित रखना होगा और जड़ की चिन्मयता की बात को भी निरंतर स्मरण रखना होगा। आज तो ऐसा लगता है कि संत-संस्कृति आश्रय खोजती हुई विनोबा के साथ पदयात्रा कर रही है और शिष्ट संस्कृति सिंहा-सन पर बैठी राज कर रही है। जीवन की आंतरिक चेतना को उभार कर ही हम मूल्यों का जीवन जी सकेंगे, अन्यथा हम निर्मूल्य होकर असार्थक बन जायेंगे।

आधुनिक संस्कृति मध्यवर्गीय संस्कृति है। राजा राममोहनराय ने उसे नया मोड़ दिया। १८१५ ई० में वह कलकत्ता आ कर बस गये और बीस वर्ष बाद

१८३५ ई० में मेकाले के द्वारा शिक्षा की नयी योजना आरंभ हुई। गांधी जी के जन्म (१८६९ ई०) तक अंग्रेज़ी शिक्षितों की पहली पीढ़ी तैयार हो गयी थी और माइकेल मधुसूदनदत्त की रचनाओं के द्वारा परंपरा के प्रति विद्रोह का साहित्य भी पर्याप्त मात्रा में तैयार हो गया था। गांधी जी अंग्रेज़ी शिक्षा-प्राप्त दूसरी पीढ़ी में रखे जा सकते हैं। सन् १८८८ ई० में जब वह इंग्लैण्ड के लिए चल पड़े तो उनके पास धर्म और आस्था का कोई बड़ा संबल नहीं था, परन्तु ब्रिटेन-निवास के तीन वर्षों (१८८८–१८९१) ने उन्हें पूर्णत: बदल दिया। हमें आश्चर्य होता है कि यह चमत्कार कैसे संपन्न हुआ। सच तो यह है कि इन वर्षों में गांधी जी का पुनर्जन्म हुआ और वह भारत के लिए ही नहीं, समस्त मानव-संस्कृति के लिए महत्वपूर्ण घटना थी। लन्दन में रह कर गांधी जी रस्किन, विलियम मॉरिस, थोरो और टाल्स्टाय की रचनाओं से परिचित हुए और उनके गंभीर अध्ययन-मनन ने उनके मन में सत्य के प्रति जिज्ञासा को जन्म दिया। इसी समय ईसा के उपदेश "सरमन आव दि-माउन्ट" और एडविन आरनाल्ड कृत श्रीमद्भगवद्गीता का अनुवाद एक साथ उनके हाथ में पड़े। उन्होंने ईसा की दृष्टि से गीतातत्व को देखा। फलस्वरूप उन्होंने गीता के जो अर्थ किये वे प्राचीन आचार्यों की मान्यताओं से भिन्न थे। गीता ने कुरुक्षेत्र को धर्मक्षेत्र माना है और किंकर्त्तव्यविमूढ़ अर्जुन को कर्त्तव्याकर्त्तव्य से ऊपर उठा कर धर्मभूमि में प्रतिष्ठित किया है। गांधी जी जीवन के प्रत्येक क्षण को कुरुक्षेत्र मानते हैं और धर्माधर्म की धार को निरंतर पैनी बनाये रखना चाहते हैं। यह दृष्टि ईसाई नैतिकता की देन है। ईसाई नैतिकता में पाप और प्रायश्चित्त की भावना का सूक्ष्मतम विश्लेषण मिलता है और इसे ही गांधी जी ने हिन्दू धर्म-चेतना का रूप दे दिया है। फलत: उनका हिन्दू धर्म ईसाई धर्म से अभिन्न बन गया है। वह परंपरा नहीं, सत्य का प्रयोग है; व्यक्तिगत, निजी जीवन-धर्म है। उस पर चलना छुरे की धार पर चलना है। गांधी जी द्वारा प्रयुक्त "सत्य" शब्द इसी सूक्ष्म अंतर्बोध या विवेक को सूचित करता है जो "कान्शेन्स" कहा जाता है। अंत:करण की विशुद्धता के लिए यम-नियम और अंतस्तप आवश्यक हैं। इनसे ऊपर उठ कर मनुष्य धर्मदृष्टि की प्राप्ति करता है। इसी प्रकार गांधी जी की अहिंसा बुद्ध और महावीर की अहिंसा नहीं है, वह ईसाई मानववाद का दूसरा नाम है। उसमें पीड़ितों, दु:खियों और शोषितों के प्रति अपरिसीम

करुणा का बोध है। वह मनसा-वाचा-कर्मणा आत्म-दान है। वह मनुष्य को ही ईश्वर के रूप में देखती है और मनुष्य की सेवा को ही ईश्वर की पूजा मानती है। गांधी जी दिव्यता के आंकांक्षी नहीं, मानवत्व के प्यासे हैं और उनके जीवन का प्रत्येक क्षण इसी श्रेष्ठ मानवत्व की साधना रहा है।

इस प्रकार "सत्य" और "अहिंसा" जैसे दो शब्दों में गाँधी जी ने ईसाई धर्म का सहस्रों वर्षों का तप समेट लिया। मध्ययुग में महागुरु रामानन्द और नानक ने इस्लाम धर्म के एकेश्वरवाद और बन्धुत्व को जैसे हिन्दू चेतना में संतत्व के रूप में ढाला था, उसी प्रकार आधुनिक युग में विवेकानन्द और गाँधी ईसाई धर्म की नैतिकता और मानववादी चेतना को हिन्दू चेतना का अनिवार्य अंग बना देते हैं। इस प्रकार विरोधी धर्मों की तलवार की धार ही कुण्ठित हो जाती है और एक सार्वभौमिक जीवन-चेतना का निर्माण होता है। गाँधी जी ईसा के बाद सब से बड़े ईसाई हैं, परन्तु वह मुहम्मद के बाद सबसे बड़े मुसलमान भी हैं। यही नहीं, जैन और बौद्ध धर्मों को हम १० वीं शताब्दी में वैष्णव धर्म के भीतर आत्मसात कर चुके थे और आधुनिक युग के सबसे बड़े वैष्णव होने के नाते गाँधी जी के दृष्टिकोण में जैनों की अहिंसा और बौद्धों की करुणा का सब कुछ आ गया है। वस्तुत: वैष्णव साधना को सक्रिय जीवनधर्म बना कर राजनीति-क्षेत्र में निष्क्रिय प्रतिरोध, सत्याग्रह, सहयोग जैसे अस्त्र गढ़ना गाँधी जी का ही काम था और उनके इस कार्य में गॉडविन से लेकर टालसटाय तक के पश्चिमी विचारकों के तत्ववाद ने सहारा दिया है। पश्चिमी विचारकों ने जिसे तत्ववाद के रूप में विकसित किया, गाँधी जी ने उसे जीवनधर्म का रूप दिया। लगभग बीस वर्षों तक (१८९४ से १९१४ तक) उन्होंने दक्षिणी अफ़्रीका को अपने सत्य के प्रयोगों की धर्मभूमि बनाया और १९१५ में भारत आ कर चम्पारन और खेड़े के छोटे क्षेत्रों से आरंभ कर अंत में समस्त भारतवर्ष को ही एक प्रयोगशाला बना डाला। संसार के इतिहास में करोड़ों मनुष्यों को लेकर सत्य और अहिंसा के प्रयोग करने की क्षमता गाँधी जी को छोड़ कर और कहाँ मिलेगी ?

गाँधी जी हमारे पहले विश्व-मानव हैं। १९३९ में विल्की ने "वन वर्ल्ड" लिख कर जिस स्वप्न को जाग्रत किया था वह गाँधी जी में पहले से ही मूर्त्त

हो चुका था। आज गाँधी जी के बाद राष्ट्रीय संस्कृतियों की कल्पना भी असंभव है, क्योंकि उन्होंने राष्ट्रों के बीच की दीवारें ढहा दी हैं। आज अखिल विश्व एक बड़ी इकाई है। एकता की साधना का एक रूप विश्वप्रेम हो सकता है और दूसरा आणविक ध्वंस। महामारक अस्त्रों के लिए चुनौती बन कर गाँधी जी की सत्य और अहिंसा की उदात्त जीवन-चेतना एक नये और उदात्ततर समन्वय के लिए भूमि तैयार करती है। दो सौ वर्षों तक पनप कर आज गाँधी की सूक्ष्म धर्मचेतना में राष्ट्रवाद मानववाद में बदल गया है। गाँधी दर्शन की नींव लन्दन में पड़ी जहाँ कुछ वर्षों पहले कार्ल मार्क्स "दास केपिटल" लिख कर द्वन्द्वात्मक भौतिकतावाद का जीवनदर्शन खड़ा कर चुके थे। गांधी जी उसे अध्यात्मवाद और सर्वोदय की चुनौती देकर सामने आते हैं। लन्दन उस समय ऐसे साम्राज्य की राजधानी था जिसके विस्तार में सूर्यास्त नहीं होता था। औद्योगिक क्रांति और नये विज्ञानवाद ने मानव को पहली बार सार्वभौमिकता दी थी, परन्तु वह भौतिक और आर्थिक थी, आत्मिक और जीवनधर्मी नहीं। गाँधी जी को जन्म देकर यह उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद अपनी ऐतिहासिक चरितार्थता की चरम सिद्धि प्राप्त करता है, क्योंकि वह राष्ट्र की दीवारों को ढहा कर विश्वमानव की भू-चेतना को जन्म देता है।

जहाँ तक भारतीय संस्कृति का संबंध है गाँधी जी में पाँच हजार वर्षों की क्रियमाण भारतीय जीवनचेतना का सूक्ष्मतम और गंभीरतम तत्व आत्मसात हो गया है। उनमें भारतीय संस्कृति मानव-संस्कृति बनती है। वैसे भारतीय संस्कृति आरंभ से ही मानववादी रही है और उसे मानव-धर्म तथा सनातन धर्म कहा गया हैं। मानव की सार्वभौमिक अखण्डता और निरंतन वर्द्धमानता के प्रति विश्वासी भारतीय संस्कृति अंतःसंस्कार पर टिक कर तथा आत्मकेन्द्रित बन कर ही परोन्मुखी बनती है। उसमें अपरा चेतना परा-चेतना बन कर ही सार्थक हुई है। वह निःसन्देह अपराजिता है। सत्य-जिज्ञासा, अहिंसा और समन्वय को मूलाधार बना कर भारतवर्ष शताब्दियों से एकता की साधना करता आया है। वेदांत-धर्म के रूप में उसने मानव-मात्र के लिए आत्मधर्म की खोज की है। आज हम उसे गाँधी संस्कृति या गाँधी-धर्म के रूप में पल्लवित देखते हैं। परन्तु गाँधी-धर्म कोई संप्रदाय नहीं है। वह व्यक्तित्व का धर्म है यद्यपि उसमें

समष्टि-धर्म बनने की भी क्षमता है, उसकी सत्य-शोध आत्मिक है परन्तु सत्य का क्रियमाण रूप अहिंसा अथवा सार्वभौमिक करुणा बन कर मानवीय धर्म-साधना में रूपांतरित हो जाता है। गांधी-धर्म के इन आत्मिक और मानवीय पक्षों को मनसा-वाचा-कर्मणा अपने भीतर जाग्रत करने पर ही हम गांधी जी की सूक्ष्म जीवन-चेतना तक पहुँच सकते हैं। इस चेतना का अत्यन्त सुन्दर प्रकाशन हमें गाँधी जी के प्रिय गीत—"वैष्णव जन तो तेने कहिये" में मिलता है, परन्तु कार्डिनल न्यूमेन की प्रार्थना "लीड काइन्डली लाइट" में उसका पश्चिमी रूपांतर भी कम आकर्षक नहीं है। "पूर्व-पश्चिम को एक ही धर्म-दृष्टि के मिलन-बिन्दु पर ला कर गाँधी जी ने पूर्व-पश्चिम के भेद को ही समाप्त कर देते हैं और उनमें पहली बार देशकालविनिर्मुक्त मानवता अपना दिव्य जीवन जीती है। उन्होंने गीता की स्थितप्रज्ञता को ईसाई नैतिकता की तीक्ष्ण धार दी है और वैष्णव धर्म की दिव्यता को ईसाई मानववाद की मानवता से संपृक्त किया है। धर्मयुद्ध का जो नया नैतिक पर्याय उन्होंने सत्याग्रह के रूप में हमें दिया है वह मनुष्य को छोटा नहीं करता और आज के आणविक युग में उसे नया दिव्यास्त्र देता है। वह मारक नहीं, तारक है। मनुष्य की चरितार्थता को अक्षुण्ण बनाये रख कर भी वह प्रतिरोध और बलिदान के मार्ग बंद नहीं करता। वह जीवनधर्मी है, मरणधर्मी नहीं।

आधुनिक भारतीय संस्कृति

भारतीय संस्कृति से हम क्या समझते हैं और हमारी आधुनिक संस्कृति कहाँ तक भारतीय संस्कृति कही जा सकती है ? "आधुनिकता" का तात्पर्य क्या है और भारतीय जीवन और संस्कृति की आधुनिकता के क्या अर्थ हैं ? क्या भारतीय संस्कृति कोई शाश्वत और सनातन वस्तु है या उसका नैरंतर्य ही उसका प्रमुख धर्म है ? अन्य राष्ट्रों की संस्कृतियों और आधुनिक संदर्भ में पश्चिमी संस्कृति से उसका क्या अंतर है ? ये कुछ प्रश्न हैं जिनका उत्तर आधुनिक संस्कृति के व्याख्याता को देना होगा ।

भारतीय संस्कृति को मानव-संस्कृति माना गया है और मनु के धर्मशास्त्र में धर्म के जो दस लक्षण गिनाये गये हैं वे व्यक्ति-मानव के लिए सार्वभौमिक रूप से सत्य हैं । यह भी कहा गया है कि भारतीय संस्कृति की विशेषता सत्य-जिज्ञासा, अहिंसा और समन्वय के तत्व हैं, अथवा भारतीय विद्या का मूल अहिंसा, अभय और असंग नाम के तीन तत्व हैं । निश्चय ही ये मनुष्य मात्र के लिए उपयोगी उपकरण हैं और न्यूनाधिक सभी राष्ट्रीय संस्कृतियों में मिलते हैं । अधिक-से-अधिक यह कहा जा सकता है कि हमने इन तत्वों पर विशेष बल दिया है अथवा हमारी चर्या में इनका निर्वाह सब से अधिक हुआ है । संस्कृति चर्या है, "रहनि" है, जीना है । उसे परिभाषा में नहीं बाँधा जा सकता । भारतीय जन का अधिकांश भाग हिन्दू है और उसकी जीवन-चर्या में ही भारतीय संस्कृति उद्‌घाटित हो सकती है । परन्तु हम वह ही नहीं हैं जो हैं, हम वह भी हैं जो होना चाहते हैं, क्योंकि मनुष्य अपनी सारी संभावनाओं और आकांक्षाओं को लेकर ही सार्थक है ।

प्रश्न यह है कि भारतीय संस्कृति में मनुष्य की संभावनाओं और आकांक्षाओं का क्या स्वरूप है ? भारतीय मनुष्य की चरितार्थता आध्यात्मिक और नैतिक मानी गई है और ऋग्वेद की ऋचाओं तथा उपनिषद्, गीता, भागवत से

लेकर साहित्य और कला तक इस मान्यता का प्रसार है। यह प्रमाणित नहीं किया जा सकता कि यह मान्यता ठीक है, परन्तु इसके मूल में ऋषि-दृष्टि है। कम-से-कम अब तो हम उसके सिवा और कुछ हो भी नहीं सकते जो हैं, क्योंकि पिछले पाँच हज़ार वर्षों की सांस्कृतिक चेतना ने हमें जो दिशा दे दी है उसे अस्वीकार करना हमारे लिए असंभव बात है। वह हमारा अवचेतन बन गई है। संत भारतीय संस्कृति का प्रतिनिधि पुरुष है और उसमें भौतिक जीवन की परिबद्धता और संकीर्णता से ऊपर उठने की क्षमता अनिवार्य है। याज्ञ-वल्क्य से महात्मा गाँधी तक संत ही हमारी जीवन-चेतना का प्रतीक रहा है और हमारे इतिहास, पुराण, काव्य और उपन्यास जीवन की सदाशयता, प्रेमपरता और आत्मदान की भावना को चरितार्थ करते रहे हैं। भारतीय संस्कृति चेतन को ही प्रमुखता देती है, जड़ को नहीं। यह चेतन अपरिसीम प्रेम और अक्षय त्याग में स्पन्दित है। उसमें अहिंसा, करुणा और मैत्री की चरम सीमा है। अभय और असंग उसकी जीवन-पद्धति के प्रमुख अंग हैं। वह संचय से नहीं, इन्द्रियनिग्रह और अपरिग्रह के प्रति आस्थावान है। यह जीवनदृष्टि भारतीय संस्कृति को मूलबद्ध करती है और हमारे सभी जीवन-मूल्यों को आध्यात्मिकता देती है। जीवन के नैसर्गिक, सहकारी, सहज और अपरिग्रही रूप को हमने संभावना के अंतिम छोर तक खींचा है। वह हमारी आकांक्षा में ही सत्य नहीं, वर्द्धमान महावीर, गौतम बुद्ध और महात्मा गाँधी के द्वारा व्यवहार की वस्तु भी बना है। उनके उदाहरण हमारे लिए खुले पृष्ठ हैं। उनके सत्य के प्रयोग हमारी आस्था में नये अंकुर उगाते हैं। भारतीय विद्या महान ग्रंथों और महावाक्यों में ही सीमित नहीं रही है। वह उदाहृत होकर संतों, भक्तों, ज्ञानियों की दैनंदिन जीवन-चर्या बन कर शाश्वत जीवन-धर्म बन गई है।

भारतीय संस्कृति के इस आध्यात्मिक मूलाधार का पश्चिम की वैज्ञानिक और टेकनीकी संस्कृति से कोई विरोध नहीं है, क्योंकि पश्चिम का ज्ञान-विज्ञान जीवनदृष्टि नहीं है, जीवन को शाण देने का उपकरण मात्र है। यदि हम भारतीय संस्कृति का मूल तत्व धर्म मानें (जो वस्तुतः अध्यात्म की व्यावहा-रिक चरितार्थता का दूसरा नाम है) और पश्चिमी संस्कृति को विज्ञान, तो इन दोनों का समन्वय ही आधुनिक भारतीय संस्कृति का मूलाधार हो सकता

है। उन्नीसवीं शताब्दी में हमने पूर्व-पश्चिम के समन्वय को जिस दिशा में परिचालित किया है वह इसी मिलन-बिन्दु पर ग्रा कर रुकता है।

प्रश्न ग्राधुनिक संस्कृति के स्वरूप ग्रौर उसके विकास की संभावनाग्रों का है। इसमें संदेह नहीं कि ग्राधुनिक संस्कृति का जन्म उन्नीसवीं शताब्दी से ही होता है ग्रौर राजा राममोहनराय पहले ग्राधुनिक भारतीय कहे जा सकते हैं। राजा राममोहनराय से स्वामी विवेकानन्द तक उन्नीसवीं शताब्दी की समन्वय-साधना चलती है ग्रौर इसी ने बीसवीं शताब्दी को पीठिका प्रदान की है। उन्नीसवीं शताब्दी की भारतीय संस्कृति के पीछे ग्रट्ठारहवीं शताब्दी के इंगलैण्ड की बुद्धिवादी ग्रौर मानववादी परंपराएँ हैं, जिनमें उन्नीसवीं शताब्दी की तात्कालिक उपलब्धियाँ भी जुड़ती गयी हैं। परन्तु इंग्लैण्ड की सांस्कृतिक चेतना चालिस-पचास वर्षों के ग्रंतर से ही भारतवर्ष में पहुँची है ग्रौर उसका रूप मूल वस्तु से थोड़ा भिन्न रहा है। इसी से डाक्टर ग्राबिद हुसेन उसे "उपनिवेशीय ग्रांग्ल संस्कृति" कहते हैं जो घर के उपयोग की चीज़ नहीं, निर्यात की वस्तु थी। पश्चिमी सभ्यता को उपनिवेशों ने साग्रह ग्रपनाया, क्योंकि उसमें नवीनता ग्रौर ग्राधुनिकता का आकर्षण था ग्रौर उसे विज्ञान की प्रतिष्ठा प्राप्त थी। रेल, तार, यंत्रों, करघों, वाष्प तथा विद्युत्-शक्ति के ग्राविष्कार ने मनुष्य के परिवेश को ही बदल दिया ग्रौर मनुष्य धीरे-धीरे प्रकृति पर हावी होने लगा। यह स्थिति पूर्व के लिए बड़ी उत्साहजनक थी, इसी उत्साह के कारण ग्रारंभ में उपनिवेशों में पश्चिमी सभ्यता ग्रौर संस्कृति का स्वागत हुग्रा, परन्तु पिछले दो महायुद्धों में उसकी एकांगिता, भौतिकता, बर्बरता तथा ग्रसहनशीलता भी सामने ग्राई। फलस्वरूप, उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया का जन्म हुग्रा। भारतीय मध्यवर्ग की चेतना में पश्चिमी सभ्यता ग्रौर संस्कृति का ग्राकर्षण १८१५ के बाद ही उत्पन्न हो गया था ग्रौर १८५७ के विद्रोहात्मक विस्फोट के बाद वह ग्रौर भी उग्र हो गया। परन्तु धीरे-धीरे उसके शोषण वाले पक्ष से भी हम अवगत हुए और १८८५ में कांग्रेस की स्थापना के साथ विरोध के स्वर उठे। राष्ट्रीयता की भावना का जन्म हुग्रा। परन्तु पश्चिमी संस्कृति के प्रति मूलबद्ध विरोध गाँधी जी के प्रवेश (१९१६) से ग्रारंभ होता है ग्रौर राष्ट्रीय गौरव तथा सम्मान की वृद्धि के साथ भारतीय संस्कृति के प्रति हमारा समादर का भाव दृढ़ होता है। गाँधी युग

के तास वर्ष भारतीय संस्कृति की आस्था के पुर्ननिर्माण के वर्ष हैं, जिन वर्षों में हम अपने पैरों पर खड़े होकर पश्चिम की संस्कृति के श्रेष्ठ उपकरणों को चुनने का साहस करने लगे हैं। स्वतंत्र भारत नये समन्वय के प्रति पूर्णतः जागरूक हैं। वह पीछे की ओर नहीं देखता परन्तु उसने भविष्य को यूरोप और अमरीका के साथ बाँधना भी स्वीकार नहीं किया है।

यह स्पष्ट है कि आधुनिक भारतीय संस्कृति कोई निश्चित और अगतिशील वस्तु नहीं है। वह एकांगी और आत्मसंकोची भी नहीं है। वह अपने जन्म-काल से आज तक निरंतर विकसित, पुष्ट और बर्द्धमान रही है। जहाँ उसने विकासमान इंग्लैण्ड, यूरोप और अमरीका की नवीन उपलब्धियों से अपने पूर्वगत संस्कारों को दृढ़ किया है, वहाँ स्वीकार-अस्वीकार का निर्णय उसी का रहा है और अपने सनातन जीवनमूल्यों को कड़ी अग्नि-परीक्षा में डाल कर ही वह नये समन्वय की ओर आगे बढ़ी है। धर्म और संस्कृति के भारतीय मूल्यों पर टिक कर उसने पश्चिम को विज्ञानवाद-टेकनीकी चेतना को स्वीकार किया है। नेहरू-युग में गाँधी जी की पश्चिमी मशीनी संस्कृति के प्रति विरोधी चेतना का प्रतिनिधित्व संत विनोबा और उनके सर्वोदयी साधकों को ही प्राप्त है, परन्तु जिस चेतना का प्रतीक यह युग है वह भौतिक संपन्नता और उन्नत जीवन-मान का आदर्श सामने रखती है और विज्ञान को इसका सशक्त साधन मानती है। आध्यात्मिकता का स्थान जनहित ने ले लिया है, परन्तु जनहित की यह कल्पना कुटीर-उद्योगों तथा ग्रामीण स्वर्ग की रचना पर नहीं रुकती, वह भारतवर्ष को विश्व का प्रमुख औद्योगिक तथा वैज्ञानिक देश बनाना चाहती है। विराग नहीं, जीवन के प्रति उत्कट राग नयी संस्कृति की विशेषता है। यह राग आसक्ति नहीं बन जाए और हम जड़ वस्तुओं के ढेर लगाने और देश को सजाने को ही संस्कृति नहीं समझ लें, इस दिशा में जागरूक रहने की आवश्यकता है। अभावग्रस्त देश में भौतिक साधनों और सुखों का आग्रह तथा जनता के अधिकार का संकल्प पहली बार जागा है। इसे हम असंतोष, कलह, दौड़-धूप और अवसाद से कलुषित नहीं करें और नैतिक तथा मानवीय बने रहें। यह कहना संभव नहीं है कि आधुनिक युग का पूर्व-पश्चिम का भारतीय समन्वय कितनी दूर जायेगा, परन्तु भारतवर्ष के इतिहास का अध्येता उसकी जीवन-शक्ति और मौलिकता के प्रति विश्वासी

रहा है। अपने पिछले पाँच हज़ार वर्षों के इतिहास में हम द्रविड़, आर्य, ईरानी-तूरानी और इस्लामी संस्कृतियों को पचाते आये हैं और अपने भीतर के विद्रोहों को हमने बड़े आत्मविश्वास से अपने विकास का आगे बढ़ने वाला चरण बना लिया है। भारतवर्ष की समन्वयशीलता कभी भी नष्ट नहीं हुई है। इसका कारण यह है कि हमने केन्द्र में जा कर अध्यात्म और धर्म की भूमिका पर समन्वय किया है। जो जोड़ा है वह आत्मिक बन कर अभिन्न रूप से हमारा हो गया है और उस पर हमारी प्रतिभा और मुद्रा की स्पष्ट छाप है। अगले चालीस वर्ष हमारे सांस्कृतिक इतिहास में महत्वपूर्ण रहेंगे, क्योंकि इन वर्षों में हमें पश्चिम को अपने भीतर समेट कर अपनी स्वतंत्र और शाश्वत अध्यात्मनिष्ठा तथा नीतिमूलक जीवनचेतना का उद्घोष करना है। लोक में लोकोत्तर की साधना करने वाली हमारी संस्कृति विज्ञान और बुद्धिवाद के चौंधियाने बाले प्रकाश को पूर्णतः सहन कर सकेगी, इसमें संदेह करने के कोई बात नहीं है। वह मानव-समाज के सब से व्यापक और समर्थ समन्वय की प्रतीक होगी जिसे हम विश्व-संस्कृति के मनःकल्प तक आगे बढ़ा सकेंगे। ग्रीक और आर्य संस्कृतियाँ अपनी सहस्रों वर्षों की संस्कृति-साधना के बाद अपने भीतर अनेक समन्वयों तथा विकासों को लेकर आज इतिहास के आणविक आलोक में एक मिलन-बिन्दु पर आ गई हैं। आज के मनुष्य को पूर्व और पश्चिम का उत्तराधिकार एक साथ प्राप्त हुआ है और उसे अपनी शिक्षा-दीक्षा तथा इतिहास-चेतना का अभिन्न अंग बना कर ही हम राष्ट्रीयता के भीतर से अंतर्राष्ट्रीयता या विश्वमानवता की ओर बढ़ सकेंगे। आधुनिक भारतीय संस्कृति विश्व की एकता का पाठ हमें पढ़ाए और "जय भारत" के साथ हम "जय जगत" भी बोल सकें।

आधुनिक युग की सांस्कृतिक संक्रांति

बीसवीं शताब्दी सांस्कृतिक संक्रांति की शताब्दी है और यह संस्कृति का संकट सब कहीं प्रगट है। पतन के चिन्ह चारों ओर दिखलाई देते हैं और मानव-संस्कृति ही नहीं, मानव-जीवन के संबंध में भी निराशाजनक कल्पनाएँ हमारे मस्तिष्क पर अधिकार जमाने लगी हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के आत्यंतिक आशावाद ने आज गंभीर अवसाद का स्थान ले लिया है और आज मनुष्य अपने ही प्रति शंकित हो उठा है। वर्त्तमान जगत निश्चय ही रोगग्रस्त है। वह मानस-रोगों से पीड़ित है। नैतिक दौर्बल्य, मानसिक अराजकता और आत्मिक अवसाद एवं किंकर्त्तव्यविमूढ़ता ने हमारी आंतरिक शक्तियों को नष्ट कर दिया है। रोगमुक्ति के लिए हम राजनीतिक और आर्थिक रामबाण-औषधियों की प्रतीक्षा कर रहे हैं, परन्तु यह नहीं जानते कि हम सन्निपात की स्थिति तक पहुँच गये हैं और रोग का निदान हमारे भीतर ही है। हम अपने से ही अपरिचित हैं और रोग के मूल कारणों का हमें पता ही नहीं है। राजनीतिक और आर्थिक संकट हमारी आत्मिक संक्रांति के कारण नहीं हैं, वे फल ही कहे जा सकते हैं। इसीलिये हमें अपने भीतर उतर कर रोग के कारण तथा उसके निदान की बात सोचनी होगी।

हम ईश्वर से वहिष्कृत हैं, हमने ईश्वरप्रदत्त बुद्धि को सिंहासनच्युत कर दिया है और पाप-पुण्य को मान कर पाप को पहचानने की शक्ति ही खो दी है। अमर्यादित आशावाद और घोर निराशावाद के बीच में हम झूलते हैं। एक ओर हम अंतरिक्ष-यात्री बन कर ग्रहों-उपग्रहों के स्वामी बनने का स्वप्न देखते हैं तो दूसरी ओर प्रतिक्षण आणविक विस्फोट के बादलों के नीचे मृत्यु की विभीषिका के आतंक से थरथर काँपते हैं। कुंठा और आत्महानि से पीड़ित होकर हम कुछ भी कर बैठना चाहते हैं और फलस्वरूप हमारे कर्म विस्फोटक बन जाते हैं। जीवन की निरर्थकता और अनिश्चितता से बचने के लिए हम अपनी पुरातन संस्कृति को भी उतार फेंक रहे हैं और आत्मा को

हर ऐसे व्यक्ति के हाथों में बेचने को तैयार हैं जो हमारे जीवन को थोड़ी-सी विश्वसनीयता और सार्थकता दे सके।

मूल संकट आस्था का अभाव ही है। आधुनिक युग आस्थाहीन है,—उसे विश्वास ही नहीं रहा है कि पाप-पुण्य वास्तविक हैं और वह तटस्थता को ही सहिष्णुता मानने लगा है। उसे भय है कि आस्था कहीं उसे असहिष्णु नहीं बना दे और इसीलिए वह कोई भी विश्वास अपने पल्ले में बाँधना नहीं चाहता। पुरातन युगों में मनुष्य सत्य के प्रति पूर्ण आस्थावान था, यद्यपि वह अपने संबंध में विनयशील भी था। आज अहम् का राज्य है। मनुष्य अपनी अपराजेयता के प्रति गर्वीला है, परन्तु सत्य के प्रति शंकालु। वह किसी से कुछ भी सीखना नहीं चाहता,—प्रकृति से भी नहीं। लक्ष्य के प्रति शंकाग्रस्त होने के कारण हमारी कर्म-चेतना भी नष्ट हो रही है। महान प्रयत्नों के बाद मनुष्य ने जो सत्य प्राप्त किये हैं वे भी आज कल्पना माने जा रहे हैं। हमारी आस्थाहीनता और आत्मिक दुर्बलता इतनी बढ़ गई है कि हम अपने उत्तराधिकार का भी दावा नहीं कर पाते। विनयशीलता को मध्ययुगीन संतों ने बड़ा गुण माना है परन्तु विनयशीलता के मूल में यह जो-हो-सो भाव जो हमें मिला है वह गरल का घूँट ही है। हमारी निराशा ने ही विनय और निःसंगता का छद्म वेश धारण कर लिया है और सहिष्णुता के नाम पर हम अनाचार और पाप का बोझ ढो रहे हैं। आज हमारे लिए पाप-पुण्य और सत्य-असत्य का कोई अस्तित्व ही नहीं रह गया है। मनुष्य और उसके कर्मों के बीच में किसी भी मापदण्ड के न रह जाने से आज हम उत्तरदायित्व का भी अनुभव नहीं करते। यह नैतिक अराजकतावाद हमारे अस्तित्व की जड़ें खोखली कर रहा है।

उन्नीसवीं शताब्दी ने आधुनिक मानव को प्रगति का नारा दिया और प्रगति की देवी की पूजा होने लगी। मोक्ष के लिए ईश्वर की ओर न देख कर हम विज्ञान और प्राविधिक ज्ञान (टेकनोलॉजी) की शरण चले गये और धरती को ही स्वर्ग बनाने का प्रण हमारे जीवन का संकल्प बन गया। मोक्ष-सुख का स्थान भौतिक सुख ने ले लिया। हमें विश्वास दिलाया गया कि पृथ्वी पर स्वर्ग का अवतरण योजनाओं द्वारा संभव है और ये योजनाएँ प्राकृतिक विज्ञान

के सत्य और उसकी प्रक्रियाओं पर आधारित होंगी। इस स्वर्ग-साधना में व्यक्ति का कोई योग नहीं है, सब कुछ राष्ट्र कर देगा। व्यक्ति को न बदलना है, न त्याग-तपस्या का जीवन जीना है, न अपनी तृष्णाओं की आहुति देना है। केवल विज्ञाननिष्ठ बुद्धि के द्वारा सामाजिक समस्याओं का हल कर लेने पर हम धरती पर स्वर्ग के दावेदार बन जायेंगे। प्रगति को स्वचालित, अनिवार्य और निरंतर अग्रशील मान कर हमने आत्मा की बात ही भुला दी। आज मानव-प्रगति की इस अनिवार्यता पर से हमारा विश्वास डिग गया है और हम नहीं समझते कि प्रकृति पर अधिकाधिक विजय प्राप्त कर शिक्षा और टेकलनोलॉजी के द्वारा वैज्ञानिक संसार को पापमुक्त कर शांति और संतुलन की क्रोड़ दे सकेंगे। जिस "रामराज्य" की कल्पना तुलसी ने की है उसके पीछे "रामत्व" का मानदण्ड है, क्योंकि उसी से मनुष्य लक्ष्य से जुड़ता है, परन्तु आधुनिक राज्यतंत्र भौतिक सुख-संपन्नता के भ्रामक स्वप्नों से आगे बढ़ ही नहीं पाते।

बीसवीं शताब्दी पिछली शताब्दी की आशावादिता को बहुत पीछे छोड़ आई है क्योंकि विज्ञान की सर्वशक्तिमानता के प्रति हमारी आस्था समाप्त हो गई है। हम शून्यता और निरर्थकता के महासमुद्र के किनारे खड़े कर दिये गये गये हैं। मनुष्य किसी योजना का फल नहीं है, वह अयोजित, अपदार्थ और अनावश्यक है और उसकी आकांक्षाएँ तथा आदर्श निस्सार हैं। बरट्रान्ड रसेल जैसे आधुनिक दार्शनिक का कथन है कि हमें विज्ञान द्वारा प्रस्तुत इसी अर्थहीनता और लक्ष्यहीनता को लेकर अपने जीवन-दर्शन का निर्माण करना है। सौर-चक्र की नश्वरता के साथ जीवन का चक्र अनिवार्यतः समाप्त हो जाता है और मानव की समस्त उपलब्धियां इस विराट ध्वंस के नीचे दब जाती हैं। विज्ञान ने जीवन के भविष्य के आगे जो प्रश्नचिह्न लगा दिया है उसे ध्यान में रखे बिना हम किसी दर्शन की कल्पना भी नहीं कर सकते। संक्षेप में, विज्ञान ने सर्वशक्तिमान जड़ के अप्रतिहत और ध्वंसोन्मुख प्रवाह को मूर्तिमान कर दिया है जो पाप पुण्य के प्रति समान रूप से अनासक्त है। वस्तुतः जीवन की इस निरपेक्षता के मूल में विज्ञान का सापेक्षवाद ही है। अणुबम के आविष्कार के बाद यह निश्चित हो गया है कि विज्ञान नीति-अनीति से परे हैं, उसका प्रयोग मनुष्य की नैतिक चेतना पर निर्भर है और हमारी नैतिक प्रगति वैज्ञानिक प्रगति से बहुत पीछे है। आज चाहे हम अनीति को अनीति कह कर उसे पाप के रूप में स्वी-

कार नहीं करें यह निश्चित है कि बीसवीं शताब्दी में अनीति और पाप वास्तविकता बन गये हैं। पिछली शताब्दी में मनुष्य के अज्ञान और त्रुटिपूर्ण राजनीतिक संस्थानों को पाप का स्रोत मान लिया गया है। इससे यह अर्थ लगाया गया है कि ज्ञानी और प्रौढ़ व्यक्ति पापी नहीं होंगे और बुद्धि में ही मानव की सुरक्षा है। परन्तु कठिनाई यह है कि पाप-पुण्य वास्तविक हैं, वे मानसिक आभास मात्र नहीं हैं और न वे अबौद्धिक चेतना अथवा दुर्बल बुद्धि का फल हैं। बौद्धिक और प्रौढ़ होने का दम्भ हमें पाप करने से नहीं रोकता। आज हम इस महान सत्य से पूर्णतः अवगत हो गये हैं। कम-से-कम दो महायुद्धों के बाद आज अपनी यह दुर्बलता हमसे छिपी नहीं है।

पश्चिमी जगत ने मानव के दुःखों का मूल स्रोत राजनीतिक संस्थाओं और अबौद्धिकता (लेक आव एन्लाइटमेन्ट) को माना तो मार्क्सवादियों ने व्यक्तिगत संपत्ति और वर्गसंघर्ष को महत्ता दी। उनके अनुसार उत्पादन के साधनों पर पूँजीपतियों का अधिकार होने से ही यह सारा झगड़ा है और क्रांति तथा सर्वहारा के एकतंत्र से वर्गरहित समाज की स्थापना हो जाने पर व्यक्तिगत कुंठा और अवसाद, शोषण और परिग्रह समाप्त हो जायेंगे। दोनों यह मानते हैं कि मानव प्रकृति मूलतः दैवी है और पाप (अनीति) का कारण त्रुटिपूर्ण संस्थाएँ हैं। परन्तु जब मनुष्य प्रकृत्यः सत् है तो उससे असत् संस्थाओं का जन्म ही कैसे होगा? यदि मनुष्य मूलतः दैवीय होने पर भी आज तक पूर्ण राजनीतिक-आर्थिक तंत्र का आविष्कार नहीं कर सका तो आगे भी क्या भरोसा? सच तो यह है कि संस्थाओं के चक्कर में हम व्यक्ति को भूल गये हैं। अनीति बुरी चीज है, वह पाप ही है। वह संस्थाओं में नहीं, मनुष्यों में है। वस्तुतः वह मानवीय प्रकृति का अभिन्न अंग है। संस्थाओं का स्रोत मानव मन ही है और उसकी दुर्बलताएँ भी वहाँ मिलेंगी। कठिनाई यह है कि अपने से भाग कर हम पाप के स्रोत को पकड़ना चाहते हैं। आज की विषमताओं के मूल में मानव की धारणा की विकृति ही है। अहंता, असहिष्णुता, परिग्रह, ईर्ष्या, घृणा और आलस्य,--यही वे राक्षस हैं जो हमारे भीतर घुसे हुए हैं। दुर्नीति इन्हीं से जन्म लेती है। हम ईश्वर के अनुरूप ढलना नहीं चाहते, अपने अनुरूप ही ईश्वर की कल्पना कर लेते हैं और इस ईश्वर को सब पर लादना चाहते हैं। आज के मनुष्य ने अपनी पापमयता से ही छुट्टी नहीं पा ली

है, वह मनुष्य के भीतर दीपित ईश्वर के प्रतिबिंब को ही भूल गया है,—वह अधिकाधिक अमानवीय होता गया है। बीसवीं शताब्दी में मनुष्य ने जिस भीषण अमानवता का परिचय दिया है और उसकी जैसी सिद्धांतबद्ध और योजनापूर्ण चरितार्थता प्रगट की है वह मानव-इतिहास में अभूतपूर्व है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में यह अमानवता है। औद्योगिक संस्थाओं में मनुष्य कल-पुरज़ा बन गया है। शासन-तंत्र, शिक्षा-संस्थान, वाणिज्य-व्यवसाय सभी मनुष्य की यांत्रिकता अव्यक्तिमत्ता के शिकार हैं। वस्तुतः भौतिक सुविधा और धन-संग्रह ही एक मात्र लक्ष्य रह गये हैं। मनुष्य की आत्मिक प्रकृति को विस्मृत कर दिया गया है और आर्थिक प्रक्रिया ही जीवन का आदि-अंत बन गई है।

कला और साहित्य के क्षेत्र में मानव की इस विकृति की सूचना स्पष्ट है क्योंकि आज का कलाकार हमें व्यक्तित्व नहीं देता,—उसका चित्र मनुष्य या प्रकृति से दूर तक मिलता-जुलता हो तो अनुकरण कह कर अग्राह्य माना जाता है। "एब्स्ट्रेक्ट आर्ट" में विषय ही नहीं, अभिव्यक्ति भी विद्रूपता से भरी है। मानवीय मूल्यों से जो जितना दूर है वह कला और साहित्य में उतना ही बड़ा है। परिचय को अपरिचय और मानवीय को अमानवीय में बदल कर ही आज हम नवीनता के दावेदार हो सके हैं। "नयी कला", "नयी कविता", "नया साहित्य",—नयेपन के पीछे जीवन की विद्रूपता ही उभरी है, चरितार्थता नहीं।

आधुनिक कला निर्वैयक्तिक है, वह चरित्र का आणविक विश्लेषण करती है और अवचेतन के गर्त्त में गहरे उतर कर पर्त्त-पर-पर्त्त अरूप को रूपायित करती चलती है। प्रॉउस्त और जेम्स ज्वॉइस की रचनाओं में मनुष्य कांच के टुकड़े की तरह टूट कर बिखर गया है, उसका पूरा बिंब पकड़ में ही नहीं आता, केवल संवेदना के कुछ अंश उभरते हैं या बौद्धिक या धारणात्मक स्थितियों की छाया-मात्र पल्ले पड़ती है। यह निश्चय ही हमारा परिचित मनुष्य नहीं है। यह टुकड़े-टुकड़े है, खण्ड-खण्ड है, एकदम टूटा-फूटा। आधुनिक मनोविश्लेषणात्मक उपन्यास में अवचेतनीय जगत का संभ्रमात्मक और अनिश्चित तारल्य ही सब कुछ हो गया है। इसी तरह लारेन्स की रचनाओं

में सामग्रिक मनुष्य यौन-भाव में खो गया है,—वह उसका अंश मात्र बन गया है। इसमें संदेह नहीं कि नई कला और नए साहित्य में पर्याप्त प्रतिभा है परन्तु उसमें मानव-चेतना के ह्रास की वह प्रक्रिया ठीक ही प्रतिबिंबित है जो चारों ओर दिखलाई पड़ती है।

यहाँ हम पश्चिमी संस्कृति की बात कह रहे हैं। आधुनिक पश्चिमी संस्कृति ने उन समस्त मूल्यों को तिलांजलि दे दी है जो पारंपरिक रूप से संस्कृति से संबंधित हैं और कुछ आगे बढ़ कर विपरीत और विद्रूपी मूल्यों को अपना लिया है। मानव-व्यक्तित्व के प्रति अवज्ञा का भाव और मानव-समाज की आध्यात्मिक समता और एकता के प्रति अनास्था आधुनिक पश्चिमी संस्कृति की विशेषताएँ हैं। मानव-व्यक्तित्व के प्रति सम्मान का भाव ही सब से बड़ा मानव-मूल्य हो सकता है परन्तु आज मनसा-वाचा-कर्मणा हम उसे खण्डित कर रहे हैं। इस प्रयत्न ने हमें छोटा बना दिया है और आत्महीनता से भर दिया है। योजनावत् और यांत्रिक बन कर ही हम सार्थक और सफल कहे जा सकते हैं। यह हमारे चैतन्य की सब से बड़ी अवमानना है जो हमारे भीतर शक्ति-स्रोत के रूप में प्रतिष्ठित है। मानव-व्यक्तित्व के प्रति सम्मान की भावना के प्रमुख अंग हैं करुणा, क्षमा, सौहार्द्र, परन्तु आज उन्हें दुर्बलता कहा जा रहा है। कठोर होना परुषता है, कोमलता स्त्रीत्व का आभूषण भी नहीं रह गई है। सच तो यह है कि दो महायुद्ध जीतने पर भी उसकी क्रूरता हमारे भीतर समा गई है और आज मनुष्य उत्पीड़न-प्रेमी बन गया है। हमारे रक्षा-कवच ही आज हमारा गला घोट रहे हैं। पर-पक्ष को देखने-सुनने के लिए आज हम किंचित् भी तैयार नहीं हैं। हमारी असहिष्णुता सीमातीत बन गई है। मध्ययुग के संतों ने "रहनि" को जीवन का सार माना है। प्रजातंत्री जीवन जी कर ही हम प्रजातंत्र का प्रसार कर सकते हैं। यह प्रजातंत्री जीवन पारंपरिक सांस्कृतिक जीवन ही है जिसे आज एकदम अस्वीकार कर रहे हैं। निस्सन्देह आज की संक्रांति राजनीतिक और अर्थनीतिक नहीं, नैतिक और आत्मिक है।

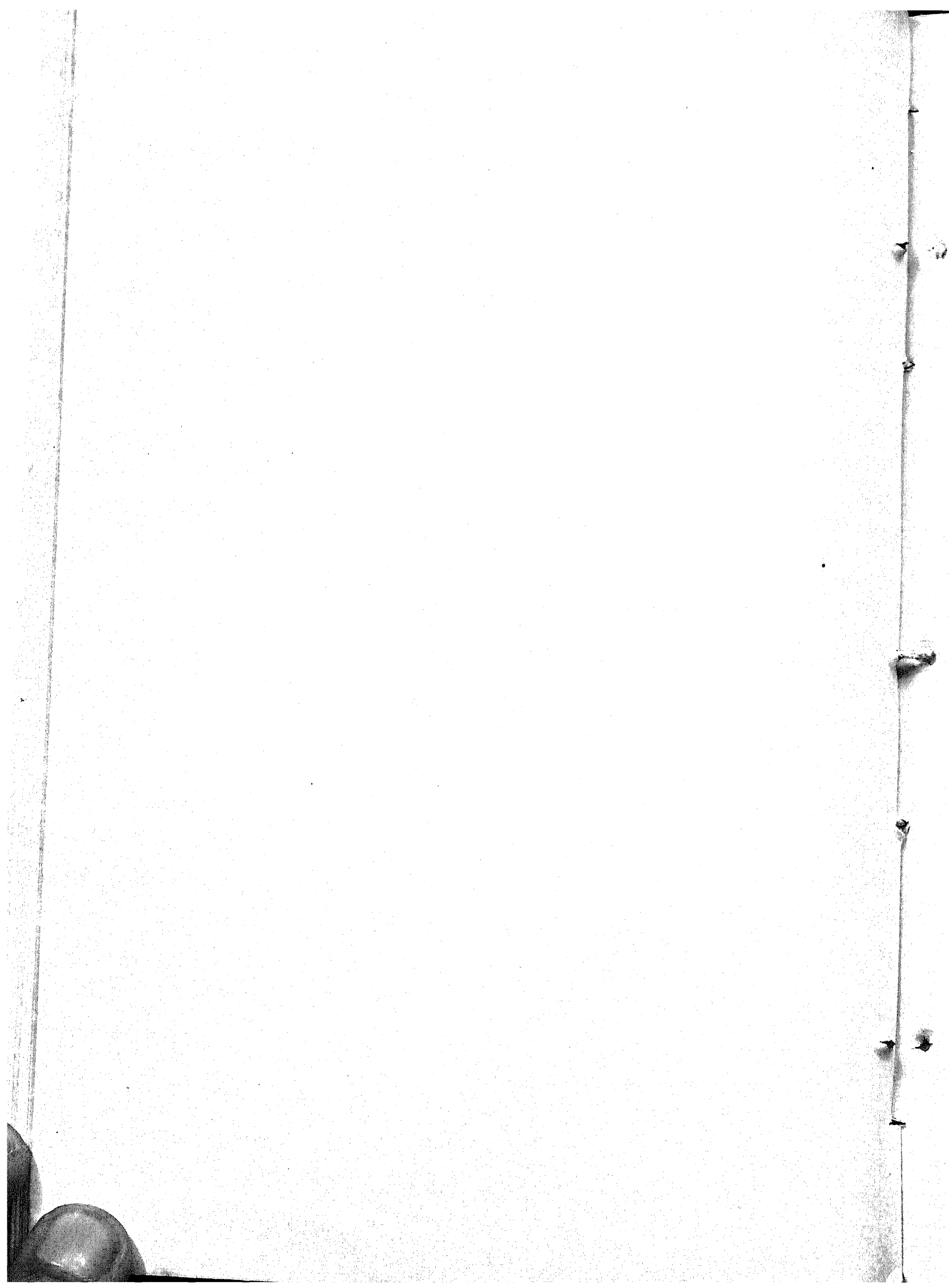
पिछले महायुद्ध के बाद फ्रांस से अस्तित्ववादी जीवनदर्शन आया है और प्रचुर मात्रा में उसका साहित्य,—या उससे प्रभावित साहित्य। वस्तुतः अस्तित्ववादी

विचारधारा की जड़ें उन्नीसवीं शताब्दी में गहरी गई हैं और महायुद्ध से पूर्व जर्मन दार्शनिक हेडगर और जेस्पर ने उसे संगठित दर्शन का रूप दिया था परन्तु महायुद्ध के बाद सार्त्रे, कामू, मार्सेल और आडेन जैसे प्रतिभाशाली साहित्यकारों ने उसे चलता सिक्का बना दिया। अस्तित्ववादी विचारधारा ईश्वर का स्थान "अनस्तित्व" (शून्य) को दे देती है और मनुष्य प्रतिक्षण असार्थकता (नथिंगनेस) से साक्षात्कार करता जीता है। अस्तित्ववादियों का दावा है कि वे हमें प्रबुद्धता देते हैं क्योंकि वे हमें चुनने के लिए ललकारते हैं परन्तु चुनने के लिए है ही क्या ? जहाँ सत्य को अनुमान मान कर शाश्वत इकाइयों को आपेक्षिक ठहरा दिया गया, वहाँ स्थिरता के लिए गुंजाइश ही कहां है ? जीने को जीने की पीड़ा में बदल कर हम चाहे क्षण की अनुभूति को चरम सत्य बना दें परन्तु इस जीने में सार्थकता कहां और कितनी है ? जिस परिबद्धता का अस्तित्ववाद दावेदार है वह ऋत्, सत्य अथवा प्रेम से प्रेरित नहीं है, वह घोर निराशा और अनास्था की उपज है और उसमें अंततः व्यक्तिगत जीवन का क्षण-सत्य ही चरितार्थ होता है। उसे एक प्रकार की अबौद्धिक अराजकता ही कहा जा सकता है क्योंकि व्यक्ति-स्वातंत्र्य के उत्साह में हम समाज, धर्म, परंपरा, कर्त्तव्य सब से पीछा छुड़ा कर अराजकतावादी और विस्फोटक बन जाते हैं।

अस्तित्ववादियों के विचार में जीवन में उतनी ही सार्थकता है जितनी हम उसे व्यक्तिगत रूप से अपने जीवन में देते हैं। इसी से व्यक्ति या उसके चुनाव से बाहर न कहीं सत्य है न असत्य, न पाप न पुण्य। मूल्य भी सनातन नहीं हैं क्योंकि व्यवहार में ही उनका जन्म होता है। स्वातंत्र्य को चरम मूल्य मान कर फिर उसे ही अभिशाप भी माना गया है क्योंकि मनुष्य के पास न कोई दिशानिर्देश-यंत्र है, न मांझी, न मानचित्र। फलतः मानव-जीवन "इकेलेपन" का जीवन बन गया है और इकेलेपन के बोध को तीव्र करना ही जीना है। सार्त्रे ने अपने दर्शन को मानववाद के रूप में व्याख्यापित करना चाहा है परन्तु यदि वह मानववाद है तो उसे ठीक उलटे ध्रुव से देखा गया है। "कस्मैः देवाय हविषा विधेम्" ऋचा का कोई भी उतर अस्तित्ववादियों के पास नहीं है क्योंकि जीवन के लक्ष्य, उसकी चरितार्थता तथा महत्ता के संबंध में कोई भी उदात्त धारणा लेकर वे नहीं चले।

संक्षेप में, यह कहा जा सकता है कि बीसवीं शताब्दी संक्रांति की शताब्दी है। और वैज्ञानिक तथा प्राविधिक ज्ञान ने हमें आत्मघाती इकेलेपन की मरुभूमि में पहुँचा दिया है। पश्चिम का साहित्य इस मरुभूमि के केक्टस, दूर-दूर बो रहा है और गुलाबों को उगाने वाली सुन्दर केसर-क्यारियां नागफणियों से ढकी जा रही हैं। स्पेन्गलर ने "दि डिक्लाइन आफ़ द वेस्ट" (१९१७-२२) लिख कर जिस भयावह स्थिति की सूचना दी थी और इलियट ने अपने प्रशंसित काव्य "दि वेस्ट लेन्ड" (१९२२) में जिसे मूर्त्तिमान किया था, वह इतिहास ही का सत्य नहीं, मानव-चेतना का भी सत्य है। इसीलिए मानव-चेतना को शाद्वल बना कर ही हम जीवन की उर्वरा-शक्ति को आहूत कर सकेंगे और इतिहास को नई सार्थकता की ओर मोड़ सकेंगे। व्यक्ति-चेतना को धर्मनिष्ठ किये बिना आधुनिक संस्कृति का उद्धार नहीं हो सकेगा। जड़-चेतन की युगनद्धी कल्पना से यह संभव होगा। जड़ नहीं, चेतन हमें अनुशासित करे, तभी यह संभव होगा कि हमारे भीतर करुणा के अमृतस्रोत झरें और मनुष्य हमारे लिये फिर एक बार पूजा की वस्तु बन जाये।

राजनीति ग्रौर समाजनीति



भारतवर्ष की राष्ट्रीय एकता : भावात्मक एकीकरण

राष्ट्रीय एकता को आधुनिक भारत की सब से बड़ी आवश्यकता माना गया है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि स्वतंत्रता-प्राप्ति से कहीं अधिक कठिन काम उसकी सुरक्षा है और जब तक राष्ट्र का हृदयस्पन्दन एक नहीं हो जाता तब तक बाहरी आघातों के लिए हम तैयार नहीं हो सकते। भीतर की एकता, दृढ़ता और संकल्पबद्धता ही हमें बाहर की चुनौतियों के लिए बल दे सकेगी। पाकिस्तान और चीन ने काश्मीर और सीमा-क्षेत्रों को लेकर हमसे जो लड़ाई ठान रखी है वह राष्ट्रीय एकता के प्रश्न को अनिवार्य रूप से प्राथमिकता दे देती है। प्रश्न यह है कि हम राष्ट्रीय एकता के लिए क्या करें। हमें राष्ट्रीय एकता के स्वरूपों एवं उपकरणों के सम्बन्ध में भी विचार करना होगा। हम क्यों और कैसे राष्ट्र हैं, यह जान कर ही हम राष्ट्र को एकसूत्रता की ओर बढ़ा सकेंगे।

फिर यह भी जानना होगा कि भावात्मकता से क्या तात्पर्य है और भावात्मक एकीकरण के क्या अर्थ हो सकते हैं। क्या किसी भी क्षेत्र में भावात्मकता उपयोगी और अंतिम समाधान है? मध्यवर्ग को अतिसंवेदनशील, भावुक वर्ग माना गया है। क्या इसीलिए हमारे मध्यवर्गीय शासक भावात्मकता को समाधान मानने लगे हैं या उस की ओट में अपने प्रांतीय, व्यक्तिगत तथा वर्गगत स्वार्थों पर परदा डालना चाहते हैं? ऐसा तो नहीं है कि राष्ट्रीय एकता का प्रश्न हमारे नए स्वातंत्र्य के संदर्भ में बौद्धिक तथा आत्मिक हो और हम उतनी दूर जाने के लिए तैयार नहीं हों जितना वांछनीय है? आज के युग को बौद्धिकता का युग कहा जाता है और हमारे सारे प्रजातंत्री समाधान बौद्धिक समझौतों पर निर्भर हैं। परस्पर आदान-प्रदान और सहिष्णुता से ही हम राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय समस्याओं को सुलझा सकेंगे।

पहले हमें राष्ट्रीय एकता के स्वरूपों को देखना है। राष्ट्रीय एकता का एक सांस्कृतिक स्वरूप है जो धर्म, जीवनदर्शन, आचार-विचार और जीवनचर्या

तथा इतिहासचेतना की भूमिका लेकर चलता है। इस दृष्टि से भारतवर्ष की एकता की साधना शताब्दियों तक चली है और उसके सुफल हमारे पास हैं। बौद्ध और जैन हिन्दुओं से भिन्न नहीं रह गये हैं। धर्मों और संप्रदायों के इन्द्रजाली तानेबाने के बीच में हमने भारतीय मनुष्य को जन्म दिया है। यह अवश्य है कि धर्म की दृष्टि से मुसलमान और ईसाई धर्म-संप्रदाय अलग हैं परन्तु आचार-विचार की विभिन्नता रहते हुए भी इनमें कोई बात तत्वत: ऐसी नहीं जो भारतीय संस्कृति और हिन्दू धर्म में किसी रूप में मिल नहीं सके। पिछले वर्षों में राजनीतिक और आर्थिक स्वार्थों की आड़ लेकर हमारे अंग्रेज़ी शासकों ने हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच में खाई खोद दी और वह बराबर बढ़ती गई। उसका अंत पाकिस्तान के स्वतंत्र राष्ट्र के निर्माण के रूप में हुआ। प्रश्न यह है कि क्या हिन्दू-मुसलमानों का वैमनस्य पाकिस्तान की स्थापना के साथ चला गया या हमें सक्रिय रूप से उसके सम्बन्ध में कुछ प्रयत्नशील होना है। वास्तव में स्वतंत्र भारत के लिए सब धर्मों के महान ग्रन्थों, व्यक्तित्वों तथा चेतनाओं से परिचित होना आवश्यक है। हम मूल मानव धर्म को लेकर चलें और सब धर्मों में समान रूप से एक ही प्रकार से उदारता, प्रेम और सद्भाव का पाठ पढ़ें। भारतवर्ष संस्कृतियों के निर्माण की प्रयोगशाला रहा है। प्रागैतिहासिक काल से आज तक यहां असंख्य जातियाँ संस्कृतियाँ और सभ्यताएँ आती रही हैं और परस्पर आदान-प्रदान के द्वारा उन्होंने विरोध-भाव को छोड़ कर आत्मिक ऐक्य का लाभ किया है। महाभारत और रामायण, गीता और भागवत भारतीय संस्कृति के महान ऐक्य सूत्र रहे हैं और उन्हें भारतीय आदर्शों तथा संकल्पों का महाकोश माना जा सकता है।

भौगोलिक एकता दो सौ वर्षों के अंग्रेज़ी राज्य की देन है। वह हमें मंहगी पड़ी है परन्तु इतिहास-देवता के इस वरदान को हमने सिर-आँखों पर स्वीकार कर लिया है। वैसे भारतवर्ष आसेतु-हिमांचल फैला हुआ है और कालिदास की रचनाओं में ही उसका यह व्यापक रूप स्पष्ट हो जाता है। परन्तु आधुनिक ढंग की भौगोलिक राष्ट्रीयता के लिए हम पश्चिम के ऋणी हैं। पश्चिम की राष्ट्रीयता भौगोलिक इकाई को प्रधानता देती है। एक विशिष्ट भौगोलिक अथवा ऐतिहासिक इकाई में बसने वाले समस्त जन राष्ट्र हैं। यह भावना हमें कहाँ तक एकता दे सकती है, यह संदिग्ध ही है, क्योंकि सच तो

यह है कि पश्चिम की राष्ट्रीयता आर्थिक और राजनीतिक स्वार्थों पर ही टिकी है। उसमें स्वतंत्र सत्ता का मोह ही अधिक है क्योंकि सत्ता की चरितार्थता का स्वरूप ही नए आणविक युग में बदल गया है।

यह सत्य है कि अंग्रेजी युग के केन्द्रीय शासन ने हमें राजसत्ता और अर्थ-सत्ता की एकसूत्रता दी और एक ही विदेशी जाति के द्वारा अधिकृत होने की पीड़ा ने हमें एक बनाया। केन्द्रीय शासन से मोर्चा लेने के लिए हमने कांग्रेस जैसी अखिल भारतीय संस्था को जन्म दिया और हमारे नेता सच्चे अर्थों में राष्ट्रीय व्यक्तित्व से संपन्न हुए। वे किसी एक प्रांत के न होकर पूरे राष्ट्र के हो गये। इस प्रकार राष्ट्रीय बनना हमारे लिए गौरव ही नहीं, जीवन-मरण का प्रश्न भी बन गया। गांधी जी के व्यक्तित्व, उनके राष्ट्रीय मुक्ति के महान प्रयत्नों, जेलयात्राओं और ताड़नाओं ने हमें आग में तपा कर सच्चे अर्थों में भारतीय बनाया। प्रांतों, धर्मों, जातियों, वर्णों, संप्रदायों से ऊपर उठ कर हमने "बंदे मातरम्" के महान मंत्र का उच्चारण किया। "के बोलि, मा, तुमि अबले ?" : इस आत्मविश्वास और साहस से हमने विदेशी राष्ट्र की सत्ता और उसके शोषण को चुनौती दी। हमने राष्ट्रदेवता का स्वप्न पहली बार देखा।

राष्ट्रीय एकता के वे सूत्र क्या हुए ? स्वतंत्र भारत के एकता की साधना का प्रश्न ही क्यों उठा ? क्यों हमें किसी टेक की आवश्यकता पड़ी ? मुक्तिपर्व को मरणोत्सव की तरह मना कर भी यदि हम अग्नि-स्नान नहीं कर सके तो क्या अब यह संभव है कि हम एक हों ? क्या हमें किसी नई अग्नि-परीक्षा की आवश्यकता थी ? ये कुछ प्रश्न हैं परन्तु प्रश्न सत्य पर परदा नहीं डाल सकते। पिछले पंदरह वर्षों में हमने सशक्त राष्ट्र के रूप में अपने को संगठित किया है तो विघटन की शक्तियों का आह्वान भी किया है। प्रांतों, आर्थिक वर्गों, राजनीतिक दलों, स्पर्द्धाशील नेताओं और शक्तिकामी लोगों के स्वार्थों ने हमें हड़कंपी ज्वर में गला डाला है। भाषा और प्रांत की बात को ले कर अनेक समस्याएँ खड़ी कर दी गई हैं। इन प्रश्नों की जड़ में वर्गगत या व्यक्ति-गत स्वार्थ हैं। भाषा-क्षेत्र की स्वतंत्रता का अर्थ है नई प्रांतीय इकाई का जन्म और उसका अर्थ है नया मंत्री-मण्डल और नई राजधर्मी संस्थाएँ। यही नहीं,

प्रत्येक क्षेत्र का व्यवसायी वर्ग अपने लिए सुविधा चाहता है। उसकी दृष्टि शोषण की ओर है, राष्ट्र की सुरक्षा और शक्ति से उसे कुछ लेना-देना नहीं है। लोकमंगल की मुद्रा पर हम अपने क्षुद्र स्वार्थों का व्यवसाय कर रहे हैं।

समाधान क्या निरा भावात्मक होगा ? क्यों हम स्पष्ट रूप से यह नहीं मानते हैं कि राष्ट्रीय एकता की समस्या के पीछे प्रांतों, दलों और व्यक्तियों के स्वार्थ हैं और परस्पर आदान-प्रदान तथा समझौते के द्वारा ही इन स्वार्थों को परास्त किया जा सकता है ? धर्म, अध्यात्म और संस्कृति का डंका पीट कर हम अपने हृदय की धीमी-सी आवाज़ को दबा देते हैं। आवश्यकता इस बात की है कि हम अपनी शिक्षा को बदलें और जीवन को भौतिकता और अंध स्पर्द्धा के गर्त्त से बाहर निकाल कर उसे महान आदर्शों का प्रकाश दें। जहाँ संचय ही धर्म है वहाँ आत्मदान के फूल कैसे खिलेंगे ? जहाँ चेतन और जागरूक तथा प्रबुद्ध मन से हमारे संबंधों को राष्ट्रीय हित की बप्तिस्मा नहीं मिलती वहाँ अव-चेतन के हाथ की कठपुतली बनने से क्या होगा ? एकता का एक ही मार्ग है : अपरिसीम उदारता, अपार सहिष्णुता और त्यागपूर्ण भोग का ईशावास्यी आदर्श। नरसी मेहता का वैष्णव जन का आदर्श क्या हमारा राष्ट्रीय आदर्श नहीं बन सकता ? क्या अंधस्पर्द्धा, अबाध भोग और निर्बन्ध संचय में राष्ट्र का कल्याण है ? भारतवर्ष को औद्योगीकरण के द्वारा संपन्न और आर्थिक दृष्टि से स्वतंत्र राष्ट्र बनना है। इसमें संदेह करना पाप है। परन्तु संपन्न और समृद्ध भारत के सामने क्या आदर्श होंगे ? क्या अमरीकी भोगवाद उसका आदर्श होगा या बुद्ध का करुणावाद ? हम अपनी संपन्नता की चादर को कहाँ तक खींचेंगे ? आखिर हम किस प्रकार के भारतीय मनुष्य को गढ़ना चाहते हैं ? उसके जीवन के आदर्श क्या होंगे, लक्ष्य क्या होंगे, रूप-रंग क्या होंगे ? सच तो यह है कि भावात्मक एकीकरण नारा मात्र है। हमें अपने नव-निर्माण के प्रयत्नों में गहरे उतरना होगा और उन्हें चिन्मय जीवनबोध, करुणा, मैत्री और असंग्रह की नींव देनी होगी। अहिंसा, अस्तेय और असंग्रह व्यक्तिगत जीवन के आदर्श तो हैं ही, वे सामाजिक आदर्श भी हैं। सर्वोदयी-असंग्रही-लोकनिष्ठ समाज की स्थापना करने से ही हम भीतर और बाहर के भय से मुक्त होंगे। भावात्मक एकता किस लिए ? उसके पीछे बाहर और भीतर के भय ही तो हैं ! हम भीतर की विघटन की शक्तियों से परास्त हो

रहे हैं और बाहर पड़ोसी राष्ट्रों की शक्ति-लिप्सा के शिकार हैं। ऐसी स्थिति में भीतर से मुक्त, स्वस्थ और कल्याणकामी होकर ही हम परिस्थितियों के आतंक से बच सकेंगे। भावात्मक एकता का तात्पर्य भारतीय आदर्शों के प्रति एकनिष्ठा और जीवन के प्रति मूल्यगत भावना का विकास ही है। हममें से प्रत्येक व्यक्ति राष्ट्र है और सब में हमारा भी एक अंश अनिवार्य रूप से है, यह मान कर ही हम स्वार्थों से ऊपर उठकर देश के असंख्य प्राणियों के प्रति संवेदित हो सकेंगे। राष्ट्रीयता हमारे लिए नया धर्म भले ही हो उसकी चरितार्थता बुद्ध की करुणा, वर्द्धमान महावीर की अहिंसा, स्वामी विवेकानन्द की लोकधर्मी वेदांत-साधना और गांधी जी की जनता-जनार्दन की सेवा में ही है। पश्चिम के ढंग की भौतिक संपन्नता और स्पर्द्धाशील गतिमानता हमारे लिये कल्याणकर नहीं हैं। प्रांतीय और वर्गीय स्वार्थों की बेड़ियां खोल कर हम जीवन के खुले आकाश के नीचे खड़े हों और सच्चे अर्थों में आत्मदानी बनें तो राष्ट्रीय एकता की समस्या सरलतापूर्वक समाधृत हो जाये। प्रश्न भावना का नहीं, नैतिक उदारता और सर्वोच्च चारित्रकता का है। कर्त्तव्य-हीनता, अर्थलौलुपता, चारित्रिक विकृति और अनुत्तरदायी अकुशलता ने ही हमारे राष्ट्रीय जीवन को संकट में डाला है और अपने प्रति उत्तरदायी होकर ही हम राष्ट्र के प्रति अपने कर्त्तव्यों का निर्वाह कर सकते हैं। गतिरोध हमारे भीतर है और विघटन हमारे चरित्र में है। उसे बाहर खोजना व्यर्थ है। संस्थाएँ निर्माताओं का ही प्रतिबिंब होती हैं। यदि हमारी संस्थाएँ राष्ट्रधर्म के निर्वाह में असमर्थ हैं तो सच्चे दोषी हम हैं। भारत वर्ष की समन्वय-साधना अनेकता में एकता को चरितार्थ करती रही है। ऊपर से लादी हुई एकता हमें नहीं चाहिये। भावात्मक नहीं, तात्विक होकर ही हम एक हो सकते हैं। हमें आंतरिक जीवन की पवित्रता और आचरण की सभ्यता पर लौटना होगा।

राष्ट्रभाषा हिन्दी

पिछले कतिपय वर्षों की खोजों से सांस्कृतिक भारत की एकता में हमारा विश्वास बढ़ता गया है, परन्तु उसी मात्रा में राष्ट्रीय भारत की एकता के प्रति हम संदिग्ध भी होते गये हैं। स्वाधीनोत्तर भारत भावात्मक एकीकरण के लिए किन तत्वों पर टिकना चाहता है, यह स्पष्ट नहीं है, परन्तु प्रश्न यह है कि क्या ये तत्व एक मात्र सांस्कृतिक तत्व होंगे या आर्थिक एवं राजनीतिक मूल्यों की हमारे राष्ट्र-चिन्तन में प्रधानता रहेगी। राष्ट्रभाषा की समस्या इसी संदर्भ में हमारे लिए महत्वपूर्ण है क्योंकि वह एकीकरण की साधना भी बन सकती है और विघटन की भी। वास्तव में राष्ट्रीयता के आन्दोलन के भीतर से ही राष्ट्रभाषा के हमारे आग्रह की पुष्टि हुई है और उसके साथ जन-संपर्क की नितांत आवश्यकता ने हमें प्रांतीय भाषाओं के प्रति भी जागरूक बनाया है। केन्द्रीकरण और विकेन्द्रीकरण की ये दोनों प्रक्रियाएँ पिछले चालीस वर्षों से बराबर चलती रही हैं और इनका संतुलन ही हमारे नवोदित राष्ट्र को राजनीतिक एवं विधानात्मक स्थायित्व दे सकता है।

उपनिवेशवादियों ने भारतवर्ष को भौगोलिक शब्द मात्र मान कर उसकी राष्ट्रीयता से एकदम इंकार किया था और प्रमाण-स्वरूप जातियों, वर्णों, इतिहास-चेतनाओं अर्थात् परम्पराओं और भाषाओं में बँटी स्वतंत्र या निरपेक्ष इकाइयों की ओर इंगित किया था। आज हमारा संविधान जाति और वर्ण को मौलिक भेद मान कर नहीं चलता और हमारे राष्ट्रीय नेता अखिल भारतीय इतिहास-चेतना को जगाने के लिए प्रयत्नशील हैं। विभिन्न प्रान्तों के अपने ऐतिहासिक स्वर्णयुग हैं परन्तु उनकी स्मृति यदि हमारी राष्ट्र-चेतना को धूमिल करती है तो वे किसी भी प्रकार उपादेय नहीं हैं।

आधुनिक भाषाओं का जन्म भारतवर्ष के इतिहास में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रखता है। लगभग सभी भारतीय भाषाएँ मध्ययुग के भक्ति-आन्दोलन

के साथ जन्म लेती हैं और उनके द्वारा निम्न वर्णों के असंख्य मनुष्यों को जीवन के प्रति आस्था प्राप्ति होती है। सहस्रों वर्षों से संस्कृत भाषा और ब्राह्मण प्राज्ञ वर्ग भारतवर्ष के हृदय-मन पर शासन करता रहा है। इस वर्ग के प्रति जनता का विरोध भी भक्तिवाद में मिल गया है। सामाजिक समानता और आध्यात्मिक बंधुत्व के साथ मनुष्य मात्र की आतमस्वतंत्रता का सन्देश लेकर नया भक्तिवाद दक्षिण से उत्तर में आया। तमिल, कन्नड़, मराठी और गुजराती भाषाओं में होता हुआ यह आन्दोलन तेरहवीं शताब्दी में हिन्दी में प्रतिफलित हुआ और इस्लाम की तलवार के विरुद्ध ढाल बन गया। पण्डित वर्ग ने अपनी सांस्कृतिक निष्ठा से उसे भरा और उसके द्वारा आर्य विचार-परम्परा को नीचे जनता तक पहुँचाया। इस प्रकार भाषा और भक्ति का अक्षुण्ण संबंध स्थापित हुआ जो सतरहवीं शताब्दी तक चला। अठ्ठारहवीं शताब्दी में भक्तिवाद रूढ़ियों से ग्रस्त हो चुका था और भाषा सामंती वर्गों की वासना और भोगलिप्सा को उद्दीप्त कर रही थी या पण्डित वर्ग के लिए पुराणवाचन अथवा पाण्डित्य-साधन का विषय बन रही थी।

अंग्रेज़ों के आधिपत्य ने अंग्रेज़ी के रूप में एक नई अखिल भारतीय भाषा हमें दी और पहली बार संस्कृतज्ञ प्राज्ञ जन से भी बड़ा और प्रभावशाली एक नया अंग्रज़ी-दां प्राज्ञ जन हमारे सामने आया। यह उस मध्य वर्ग का नेता था जिसका जन्म नई आवश्यकताओं से हुआ था और जो वर्णाश्रमी बंद समाज के लिए चुनौती था। इस वर्ग ने उपनिवेशीय आंग्ल संस्कृति को अपना लिया और उसका समर्थक एवं प्रचारक बन गया। १८८५ से १९२५ तक (गांधी जी के राजनीति में प्रवेश तक) अंग्रेज़ी ही हमारी राष्ट्र-चेतना तथा नई संस्कृति की भाषा थी। गांधी जी ने इस भारतव्यापी शिक्षित समाज की प्रतिष्ठा एवं दुर्बल मनोवृत्ति को पहचान कर उसे स्वराज्य-प्राप्ति का साधन बनाया परन्तु दूसरी ओर उन्होंने जनता के नेता खड़े किये जो प्रांतीय भाषाओं में सीधे जन-हृदय को छूते थे। इस प्रकार अंग्रेज़ी और भारतीय भाषाएँ एक ही प्रकार से राष्ट्रीयता की प्रसारक थीं। अंग्रेज़ी शासकों की भाषा थी, अतः विरोध में अखिल भारतीय भाषा के रूप में हिन्दी की खोज हुई और स्वाधीनता-आन्दोलन के दिनों में उसके इस रूप का पर्याप्त विकास हुआ। तब हिन्दी हमारे स्वाधीनता-संग्राम का एक अनिवार्य अंग थी। प्रांतीय अथवा

भाषगत स्वार्थों के लिए वह किसी भी प्रकार चुनौती नहीं कही जा सकती थी। इसीलिए राष्ट्रभाषा के रूप में उसका सब कहीं स्वागत ही हुआ।

राष्ट्रभाषा अर्थात् वह भाषा जिसमें हम संपूर्ण राष्ट्र अपना हृदयस्पन्दन पढ़ सकें। परन्तु क्या वह सांस्कृतिक भाषा होगी या कामकाजी राजभाषा जिसे आज कुछ लोग "जोड़ने वाली भाषा" (लिंकिंग लैंग्वेज) कह रहे हैं। वस्तुतः स्वाधीनता के दिनों में हमने हिन्दी की कल्पना राष्ट्रभाषा के रूप में की थी, राजभाषा जैसे व्यावहारिक प्रश्नों पर हम नहीं उतरे थे। बलिदान का भाव मनुष्य को सहिष्णु बनाता है। आज हम जयिष्णु हैं, एक-दूसरे को सहना भी भूल गये हैं। आज एक वर्ग राष्ट्रभाषा और राजभाषा में भेद करना चाहता है। वह राजभाषा या केन्द्रीय सरकार की काम चलाने भर की कामकाजी भाषा चाहता है। उसके विचार में राष्ट्रभाषा स्वयं उसकी मातृभाषा है क्योंकि वही उसके हृदयस्पन्दन के सब से निकट है। फिर संविधान में निर्दिष्ट सभी चौदह भाषाएँ राष्ट्रभाषाएँ क्यों नहीं मान ली जाएँ ? यह भी आग्रह है कि इस कामकाजी राजभाषा को वह अपनी सुविधा के अनुसार गढ़ेगा अर्थात् चौदह प्रांतों के जन उसे मिल कर गढ़ेंगे। मध्यदेश की हिन्दी यदि इस "राजभाषा" से भिन्न हो जाए तो इसमें शिकायत नहीं होनी चाहिये क्योंकि सुविधा सुविधा है। इस प्रकार एक नई "बाज़ार की बोली" (उर्दू) बनने जा रही है परन्तु इस बार वह राजकर्मियों की बोली नहीं रहेगी, राजकाज की भाषा होगी।

क्यों हम राष्ट्रभाषा नहीं चाहते ? कब तक हम अंग्रेज़ी भाषा और उसके साहित्य में राष्ट्र का स्पन्दन पढ़ते रहेंगे ? क्या स्वतंत्र राष्ट्र के लिए यह गौरव की बात है कि उसकी कोई राष्ट्रभाषा नहीं हो या हिन्दी के साथ सखी-भाषा के रूप में हम अंग्रेज़ी को भी चलाएं। भय यह भी है कि नायिका की पत्री के सहारे यह पत्रलेखा दूती हमारे अंतःपुर की शोभा न बन जाए और कालांतर में पट्टमहिषी को ही स्थानच्युत न कर दे। यह स्पष्ट है कि विरोधी राष्ट्रभाषा की आड़ में मध्यदेशीय जन के निरंतर वर्द्धमान प्रभाव का विरोध कर रहे हैं। समस्या प्रांतीय स्वार्थों की है जो शहीदों के खून से सींचे राष्ट्रवाद को खण्डित कर रहे हैं। इन स्वार्थों का सच्चा स्वरूप समझने पर

ही हम भीतर के भय से मुक्त हो सकेंगे। यह कहना ग़लत है कि प्रांतों के केन्द्र से भिन्न अपने कोई निजी स्वार्थ हैं ही नहीं और हिन्दी को उन्होंने केन्द्र के विरुद्ध मोर्चे का अस्त्र नहीं बनाया है।

प्रांतीय भाषाओं को हमने जब राष्ट्रीयता का संदेशवाहक बनाया तो हमने स्थानीय जन-शक्ति का आह्वान किया। यह जनशक्ति प्रांतीय प्राज्ञ जनों के नेतृत्व में पनपी है और उन्हीं के हाथों में खेल रही है। ये जन उसे "प्रांतीय स्वराज्य" के स्वप्न भी दिखा सकते हैं और उसे नवोदित राष्ट्र की शक्तिशाली इकाई भी बना सकते हैं। वे अपने इस महत्व से परिचित हैं और इसी से प्रांतीय भाषा के महत्व को ज़रा भी कम नहीं होने देंगे। इसीलिए यह आवश्यक है कि प्रत्येक प्रांत विश्वविद्यालय, हाईकोर्ट तथा विधान-सभा एवं लोकसभा में उच्चतम स्तरों पर प्रांतीय भाषा का ही उपयोग करे और इस संबंध में उसे केन्द्र से स्पष्ट छूट मिल जाए। केन्द्र प्रत्येक भाषा-क्षेत्र में एक विश्वविद्यालय ऐसा खोल सकता है जहाँ स्नातक और स्नातकोत्तर परीक्षाओं और अध्ययन-अध्यापन की व्यवस्था हिन्दी में हो और एक भाषा-क्षेत्र के अध्यापक दूसरे भाषा-क्षेत्र में पहुँचें। इस प्रकार प्रत्येक प्रांत में हिन्दी की गतिविधि पर दृष्टि भी रखी जा सकती है और अखिल भारतीय स्तर के कर्मचारी भी प्राप्त हो सकते हैं।

इसमें संदेह नहीं कि विशाल मध्यदेश की साहित्यिक भाषा होने के नाते हिन्दी की स्थिति अन्य प्रांतीय भाषाओं से कहीं अच्छी है और उसे कम-से-कम सात राज्यों का जन-बल प्राप्त है। उत्तरप्रदेश, बिहार, मध्यप्रदेश, दिल्ली, हिमाचल प्रदेश, राजस्थान और पूर्वी पंजाब में हिन्दी ही साहित्यिक भाषा है। बीस करोड़ जनों का यह विशाल भू-प्रदेश भारतवर्ष का "हृदय" कहा जा सकता है। इन सभी प्रदेशों की सम्मिलित शक्ति जब हिन्दी भाषा के विकास और उसके साहित्य के निर्माण में लगेगी तो उसे किसी प्रकार की सुरक्षा की आवश्यकता नहीं रहेगी। परन्तु अभी स्थिति ऐसी नहीं है क्योंकि हिन्दी प्रदेश अपनी भाषा और उसके साहित्य के प्रति उतना जागरूक (या संवेदनशील) नहीं है जितने अन्य प्रांत। उसकी शक्ति सब को लेकर चलने में रही है और वह आज भी इसी संदर्भ में सोच रहा है। यह आवश्यक है कि राष्ट्रभाषा की

समस्या केन्द्र पर छोड़ कर ये सात प्रांत हिन्दी भाषा और साहित्य के संवर्द्धन में प्राण-पन से लग जाएं और इन राज्यों में हिन्दी विश्वविद्यालयों, हाईकोर्टों और विधान-सभाओं में उच्चतम और अन्यतम स्थान प्राप्त करें। इन प्रांतों में राजकीय कामों में तथा केन्द्र के साथ इनके कार्यव्यापार में एक मात्र हिन्दी का उपयोग ही उसके सार्वभौमिक उपयोग के लिए मार्ग बना सकता है। भावात्मक एकता के नाम पर हिन्दी प्रदेश के निवासियों को अनिवार्यतः दक्षिण की किसी एक भाषा के सीखने की बात भी चल रही है और उत्तर प्रदेश की सरकार इस संबंध में कुछ आवश्यक क़दम भी उठा चुकी है। परन्तु यह समस्या का कोई हल नहीं है। करोड़ों की संख्या में लोगों को द्विभाषी या त्रिभाषी बनाना शक्ति का अपव्यय ही कहा जायेगा। आवश्यकता इस बात की है कि हम राष्ट्र-भाषा की सीमाओं को सम्यक् रूप से समझें और इस क्षेत्र में दुराग्रहवादी नहीं बनें।

प्रांतीय भाषाओं और राष्ट्रभाषा में स्पर्द्धा का कोई कारण नहीं है। प्रांतीय भाषा (या कई प्रांतों की साहित्यिक भाषा) के रूप में हिन्दी अन्य क्षेत्रीय भाषाओं की समकक्ष है। उसका साहित्यिक मूल्यांकन और महत्व उसकी भाषात्मक और साहित्यिक शक्ति पर ही निर्धारित होगा। कालांतर में अन्य प्रांतों के साहित्यकार भी उसमें स्वतंत्र रूप से रचना करेंगे और उसमें उसी प्रकार दक्षता प्राप्त करेंगे जिस प्रकार वे पिछली दो शताब्दियों में अंग्रेज़ी भाषा में करते रहे हैं। परन्तु उनकी सर्वश्रेष्ठ और मौलिक रचनाएँ उनकी अपनी मातृभाषाओं में ही होंगी। संविधान में स्वीकृत सभी भाषाओं में अनुवाद के माध्यम से परिचय और आदान-प्रदान चलेगा और प्रांतीय सरकारें तथा केन्द्र मिल-जुल कर प्रांतीय भाषा की प्रत्येक महत्वपूर्ण रचना को हिन्दी में अनूदित करेंगे। इस प्रकार राष्ट्रभाषा का साहित्य संपूर्ण भारत की साहित्यिक चेतना का भी प्रतिनिधित्व कर सकेगा। केन्द्र और राजधानियों में अंग्रेज़ी साहित्य के अध्ययन-अध्यापन और अनुवाद-शोध का कार्य चल सकता है और इसके लिए विशेष संस्थाओं की योजना की जा सकती है। यह स्पष्ट है कि भाषा के संबंध में उदार और सर्वग्राही होकर ही हम राष्ट्र की एकता को दृढ़ कर सकेंगे। अनुदारता और असहिष्णुता में राष्ट्र का मरण है। अगले चालीस वर्षों में ही हम राष्ट्रभाषा के संबंध में नई जागरूकता को जन्म दे सकेंगे। तब तक हमें विघटनशील शक्तियों से सतर्क रहना है।

साहित्य का मोर्चा

चीनी आक्रमण की अप्रत्याशितता और बर्बरता ने हमारे मनोमय जगत को बुरी तरह झकझोर दिया है। अब हम वह नहीं हो सकते जो इस आक्रमण से पहले थे। प्लासी के युद्ध के बाद भारतीय चेतना को किसी भी घटना ने सांस्कृतिक मूल्यों के क्षेत्र में इतनी बड़ी चुनौती नहीं दी है। यह चुनौती अब भी बनी है, क्योंकि हमने चीन की एकतरफ़ी विराम-संधि को स्वीकार नहीं किया, न चीन की नीति में परिवर्त्तन होने की कोई आशा है। चीनी अजगर के दांत हमने देखे हैं परन्तु ये विषदंत अभी ज्यों-के-त्यों बने हैं। उनके विष ने हमारे स्वातंत्र्य और नवनिर्माण के अमृत को कलुषित कर दिया है और हमारी नवजीवन की योजनाएं संकट में पड़ गई हैं। हमारी सरकार अपने कूटनीतिक तथा सैनिक ढंग से प्रतिरोध की तैयारी में संलग्न है। परन्तु प्रश्न यह है कि इस संकटकालीन स्थिति में साहित्यकार क्या करे। उत्तर की ओर से आने वाली इस विषभाण्डी चुनौती को वह किस रूप में ग्रहण करे और बर्बरता को चिन्मय शक्ति में कैसे बदले।

प्रश्न हिंसा-अहिंसा का नहीं है। इस प्रश्न को हम संत विनोबा तक ही रहने दें क्योंकि बर्बर चीनियों के विरुद्ध अहिंसात्मक प्रतिरोध की शक्ति हम में नहीं है,—वह विनोबा में है जिन्हें गांधी जी के मनोबल का उत्तराधिकार प्राप्त है। शांति-सेना के संगठन के द्वारा और भू-दान आन्दोलन के अधिकाधिक प्रसार के द्वारा वह अपने ढंग पर चीनी आक्रमण का अहिंसात्मक उत्तर दे रहे हैं। परन्तु देश का जन-बल सत्तात्मक होने के कारण प्रतिरोध को हिंसा-त्मक या युद्धात्मक रूप में चला सकता है क्योंकि प्रश्न सैद्धांतिक अथवा आध्या-त्मिक नहीं है, उसका राष्ट्र के जीवन-मरण से गहरा संबंध है। युद्ध की हिंसा हम पर लादी गई है, हमने उसे स्वयं नहीं ओढ़ा। यही अनिवार्यता हमें हिंसा के दोष से मुक्त कर देती है। अर्जुन-विषाद से ऊपर उठ कर आज देश गाण्डीव को टंकार दे रहा है और पार्थ-सारथी का पांचजन्य आसेतुहिमांचल

भारतवर्ष को कर्म-संकल्प से भर रहा है। हम उद्योग-पर्व में लगे हैं और संजय के मन की धिक्कार राजमाता विदुला के वज्र-घोष में बह गई है। राष्ट्र की महिला-शक्ति के हाथ की सोने की चूड़ियों का स्थान रण-कंकणों ने ले लिया है। आज देश का वीर-भाव फिर एक बार उद्दीप्त है।

क्या साहित्यकार इस चुनौती को यों ही जाने दे? क्यों वह राइफ़ल हाथ में नहीं ले क्योंकि देश के नागरिक के नाते रणक्षेत्र का आह्वान उसके पास भी पहुँचा है? क्या वह फिर एक बार चारणों की परंपरा नहीं स्थापित करे? शब्द को अनुभूति की ही नहीं, कर्म की भी सप्राणता चाहिये क्योंकि कोरी अनुभूति भावुकता में भी बदल सकती है। राष्ट्र के युद्ध-प्रयत्नों में जो साहित्यकार वाणी के साथ-साथ राइफ़ल का भी उपयोग कर सकते हैं वे प्रशंसनीय ही कहे जायेंगे क्योंकि वे ज्ञान और भक्ति को कर्म की सार्थकता देंगे। परन्तु साहित्यकार का दायित्व सामान्य नागरिक के दायित्व से बड़ा और विशिष्ट है और वह यहीं समाप्त नहीं हो जाता।

साहित्यकार के लिए भौगोलिक भारत से कहीं बड़े भारत की रक्षा करनी है। यह आध्यात्मिक और चिन्मय भारत है। यह सांस्कृतिक भारत है जो सौन्दर्य, माधुर्य और शक्ति के अपराजित मनोभाव में निवास करता है। वह हमारे सनातन जीवनादर्शों और आज के करोड़ों भारतवासियों की आकांक्षाओं का ही भारतवर्ष नहीं, वह भविष्यत् युगों का भारत भी है जो हमारी वर्त्तमान चेतना में प्रति क्षण मूर्त्त हो रहा है। इस निरंतर, चिन्मय और अपराजित सांस्कृतिक चैतन्य की हमें रक्षा करनी है। जहां भी बर्बरता, नृशंसता और हिंसा है वहां इस मानसी भारत को चुनौती मिलती है। हमें राष्ट्र के भीतर सात्विक क्रोध की दीपशिखा जलाना है और अपने युद्ध-प्रयत्नों को निरुद्देशीयता तथा घृणा से ऊपर उठा कर उन्हें मानव-कल्याण तथा सनातन मूल्यों का बल देना है। हमारे सैनिक भारतवर्ष की भौगोलिक सीमाओं की रक्षा करेंगे और हमारे कवियों और साहित्यकारों की मृत्युंजयी वाणी उन्हें हिमालय की दृढ़ता देगी। कोई बात नहीं यदि हिमालय आज के आणविक युग में हमारी रक्षा में असमर्थ है, हम उसे अपने रक्षा-कवच में समेट लेंगे और हमारी

हड्डियों का हिमालय इस हिमालय से सट कर खड़ा हो जायेगा। आखिर कितने राष्ट्रों की सीमाओं पर हिमालय खड़े हैं? जिस प्रकार प्रत्येक मनुष्य के भीतर उसका देव-मन्दिर है, उस प्रकार उसका वज्र-संकल्प भी हिमालय के रूप में उसके भीतर है। इस भीतर के हिमालय को तो कवि, साहित्यकार और कलाकार ही गढ़ सकता है। यह अंतस्थ हिमालय समाधिस्थ सौन्दर्य ही नहीं है, वह हमारे पुरुषार्थ की अग्निशिखा भी है।

साहित्यकार हमें भीतर से गढ़ें। वे हमें नए जीवन के लिए तैयार करें। आज की अग्निदीक्षा उनके शब्द-शब्द में घुल जाये और भारतवर्ष की सनातन चिन्मयी चेतना उनके साहित्य के माध्यम से हमारा मेरु-दण्ड बने। यदि ऐसा होता है तो तात्कालिक संक्रांति हमारे लिए चिरंतन वरदान सिद्ध होगी और पश्चिम की विज्ञानवादी-टेक्नीकी संस्कृति को राशि-राशि अपनाते हुए भी हम भारत की ईश्वरनिष्ठा और चिन्मयपरता की रक्षा कर सकेंगे। हमारे साहित्यकार हमें यही भीतर का वज्रदण्ड दें तो वे कल हमारे लिए दीपदण्ड भी बन सकें। तात्कालिक को शाश्वत में बदल कर ही वे हमारी आज की पराजय को कल की विजय बना सकेंगे।

हमारा दर्प खण्डित हुआ है। हमारे शौर्य की साख चली गई है। विराम-संधि को मान कर हमने आक्रामक देश की सेनाओं को प्रत्यावर्त्तन का मार्ग दिया है। वे हमें छोटा कर गई हैं, चीन चाहे उनसे बड़ा नहीं हुआ हो। यह मर्मान्तक पीड़ा हमें नई जागरूकता दे और हम अपने राष्ट्र के विचलित गौरव को रण-क्षेत्र में नहीं, शांति, समृद्धि और सांस्कृतिक तेजस्विता में भी पुनः प्राप्त कर सकें। हम समझें कि चीन का कम्यूनिज़्म एक नया समाज-दर्शन ही नहीं है, वह चीन के लिए नया राष्ट्र-धर्म बन गया है। कन्फ़्यूशस, बुद्ध और लाउत्से की दुहाई देने और सांस्कृतिक इतिहास के पन्ने उलटने से कुछ नहीं होगा। मानव इतिहास में पहली बार आज चीनी जाति से हमारा सीधा संबंध जुड़ा है और इस जाति के तीन सहस्र वर्षों के इतिहास को देखते हुए यह संबंध निर्मम, कठोर और अमर्यादित होने जा रहा है। ह्वांग्हो और यांगत्सीक्यांग का परि-बद्धताप्रिय जातीय दर्प गंगा-यमुना के चिन्मय जीवन-मूल्यों को ललकार रहा

है। शकों-हूणों-मंगोलों का हमारा ऐतिहासिक अनुभव आज नये पैमाने पर नए राजनीतिक संदर्भों में दुहराया जा रहा है। भारतवर्ष मानव की मिलन-भूमि रहा है। महामानवों के इस सागर-तीर पर कौन नहीं आया और हमने किसकी बर्बरता को सांस्कृतिक जीवन के संस्कार नहीं दिये ? परन्तु आज की स्थिति दूसरी है। इतिहास के चौंधियाते प्रकाश में चीन का यह बर्बरतापूर्ण आक्रमण हमारे आत्मसम्मान को ही नहीं ललकारता, वह हमें विश्वव्यापी कम्यूनिज्म के प्रतिरोध की प्रथम पंक्ति में खड़ा कर देता है। राजा राममोहनराय-विवेकानन्द-रवीन्द्रनाथ-महात्मा गांधी की १५० वर्षों की महान सांस्कृतिक साधना खड्ग की धार बन कर यदि नई चुनौती को स्वीकार कर लेती है तो हमारे साहित्य-कारों का दायित्व स्पष्ट हो जाता है। भारतवर्ष आज सांस्कृतिक रिक्त नहीं है कि इस शून्य में हर कोई अपनी फूंक भर सके। वह अग्नि-गर्भी चेतना का वाहक नया ज्वालपिण्ड है जो रक्त से नहीं बुझाया जा सकता।

हमारे साहित्यकार हमारे राष्ट्र-चैतन्य को आंतरिक तप दें। वे उसे सत्य की दीप्ति दें। हमारे भीतर नैतिक और बलिदानी मूल्यों का फिर उदय हो। हम दृढ़ता के सूत्रों को वट कर लौह-रज्जु गढ़ें और हिमालय को सुमेरु बनाकर नए समुद्र-मन्थन के लिए कटिबद्ध हों। इस अमृतमन्थन से चौदह रत्न नहीं निकलेंगे, यह कौन साहस से कह सकेगा ? भीतर की दृढ़ता का जन्म साहित्य-कार की तपस्या से होगा। यह तपस्या सामयिक संक्रांति के भीतर से चिरंतन स्थायित्व को जन्म देगी। पिछले पंदरह वर्षों से हमारा साहित्यकार पथभ्रष्ट है। हिंसा-अहिंसा, पूर्व-पश्चिम, प्रजातंत्र-साम्यवाद के बीच की सकड़ी पगदण्डी पर चलने की पीड़ा का उसने अनुभव किया है और अपने राष्ट्रीय दायित्व को भूल कर पश्चिम के साहित्यिक बाज़ीगरों और वादीय मनोवृत्तियों की काली कमरी से संतोष कर लिया है। यह कमरी आज मंहगी ही नहीं, भारी भी पड़ गई है। उसे उतार फेंकना है। प्रयोगवाद, प्रगतिवाद और "नयी कविता" में भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों की पराजय नहीं तो स्तम्भनता तो है ही क्योंकि उधार ली हुई मनोवृत्तियां हमें जन-संपर्क से दूर ले जा कर निर्जन अरण्य में छोड़ देती हैं। यही हुआ भी है। राष्ट्र-पिता गांधी की हत्या को हम पी गए। आज का धिक्कार भी यदि हमें अपने से चुनौती लेने को तैयार नहीं करता तो हमें स्वतंत्र रहने का कोई अधिकार नहीं है।

चीन की चुनौती बाहरी चुनौती मात्र नहीं है, वह हमारी भीतरी दुर्बलताओं को भी चुनौती है क्योंकि चीनी बर्बरता ने हमारी दुर्बलताओं से अभिसंधि की है और हमारी विस्रस्त चेतना हमें नये इस्पात में ढलने की प्रेरणा दे रही है। कथनी-करनी की दुरंगी को लेकर चलना आग से खेलना है। जातिवाद, भाषावाद, प्रांतवाद, धर्मवाद, व्यक्तिवाद—ये क्या हमें भीतर से खण्डित नहीं करते ? हमारे साहित्यकार ने पिछले पंदरह वर्षों में इनके उच्छेदन के लिए क्या किया है ? क्या वह अपने वर्गीय स्वार्थों से चिपटा नहीं रहा है ? क्यों भारतवर्ष का नव्य निर्माण उसके लिए भविष्यती स्वप्न नहीं बन सका ? ये प्रश्न आग की तरह दमकते हैं। साहित्यकार को इनका उत्तर देना होगा और राष्ट्र के नवजीवन के प्रति अपनी निर्वादीय-निर्दलीय परिबद्धता घोषित करनी होगी। यह भीतर का मोर्चा सँभाल कर ही हम वाहर के सीमांत के मोर्चे को मज़बूत कर सकेंगे। भीतरी दुर्बलता से खण्डित जवान और मध्यवर्गीय कमीशन-आफ़िसर अखण्ड भारत की रक्षा कैसे कर सकेगा ? फिर बाहर-भीतर के मोर्चे दो भी नहीं हैं। मोर्चा एक ही है। हमें नया इंसान गढ़ना है। कलाकार का इकेलापन आज राष्ट्र का अभिशाप बन गया है। हम अंतश्चेतना की कामकुण्ठा और आत्महीनता के अंध विवरों से बाहर निकल कर चेतन मन के जाज्वल्यमान प्रकाश में खड़े हों और जाति-धर्म-वर्ण-भाषामुक्त, भीतर से संपृक्त, महाप्राण महाभारती मानव की सृष्टि करें। नदी के द्वीप बने रहने में हमारी सार्थकता नहीं है। हम में से प्रत्येक व्यक्ति में हिमालय से कुमारिका और सिंधु से लोहित तक फैला भारतवर्ष मूर्त्त हो तो हम सच्चे अर्थों में राष्ट्रीय व्यक्तित्व से संपन्न हों। प्रतिक्षण अपने प्रति प्रबुद्ध रह कर ही हम बाहर के आक्रामकों को निरस्र कर सकेंगे। हमारे साहित्य में यह प्रबुद्ध भारत प्रतिबिंवित हो और हमारी सौन्दर्यचेतना व्यक्तिगत और अस्वस्थ मानसिक भूमिकाओं से ऊपर उठ कर समष्टिगत और नैतिक स्वास्थ्य से संपन्न अतिमानसी, आत्मिक और अविरोधी विद्युल्लेखा बन जाए। साहित्य का मोर्चा हमारे लिए नई अतिक्रांतियों का सृजन करे और हम राष्ट्र के हतचेतन व्यक्तित्व को मध्यवर्गीय दुश्चिन्ताओं से मुक्त कर उसे अपराजित सौन्दर्य-चेतना और अक्षय कर्म-चैतन्य से संपन्न करें।

युद्ध और भारतीय जन-मानस

चीनी आक्रमण ने भारतीय जन-मानस को क्षुब्ध कर दिया है और धीरे-धीरे उसमें इस्पात जैसी दृढ़ता उभरती आ रही है। अभी वह नई परिस्थितियों के प्रति पूर्णतः जागरूक नहीं हो सका है परन्तु शांति और अहिंसा की भूमिका को छोड़े बिना आक्रामक के प्रति युद्ध की अनिवार्यता उसकी समझ में आ गई है। भारतीय सैनिक पिछले दो महायुद्धों की आंच में तपा है परन्तु सामान्य जनता के लिए ये युद्ध यूरोपीय युद्ध थे और कलकत्ता पर जापान के बम बरसाने की घटना को छोड़ कर आधुनिक युद्ध का कोई सीधा अनुभव हमें नहीं है। ऐसी स्थिति में चीनी आक्रमण की प्रतिक्रिया में उभरते हुए भारतीय जन-मानस की नई परिबद्धता को हमें स्पष्ट रूप से पकड़ना होगा। प्रश्न सैद्धांतिक नहीं है, व्यावहारिक है क्योंकि हम सहसा युद्ध के बीच में समेट लिए गए हैं और युद्ध का देवता हमारी देहरी पर ठोकरें दे रहा है।

यह कहना ठीक नहीं है कि भारतीय जन-मानस में सात्विक क्रोध के लिए कोई स्थान नहीं है अथवा वह जीवन के प्रति पलायनशील या पराजयशील है। पलायन और पराजय उस जाति के शब्दकोश में स्थान नहीं पा सकते जो जीवन की चिन्मयता (ब्रह्ममयता) और नैतिक शक्तियों की अपराजित भूमिका पर विश्वास रखती है। उपनिषदों से आधुनिक युग के संतों तक हमारी चिन्मयी अपराजयी जीवनचेतना का प्रसार है।

आज युद्ध हमारे लिए जीवन की वास्तविकता बन गया है। परन्तु हमने जीवन को कब सपनों की सेज माना है? जीवन के प्रति अदम्य उत्साह और कर्मण्यता का भाव आर्यचेतना का अभिन्न अंग है। इसीलिए वह कर्मफल को नतशिर होकर नहीं स्वीकार करती, उसे उदात्त जीवन की भूमिका मान कर आत्मपरिस्कार के अवसर के रूप में स्वीकार करती है। जन्म-जन्मांतर की कल्पना, बोधिसत्वों की धारणा अथवा मोक्ष या निर्वाण के आदर्श मानव-जीवन

के प्रति हमारी आस्था और चिरंतन कर्मण्यता के ही प्रतीक हैं। उनमें दुःखवादी या त्रासकीय हतचेतना नहीं है। जीवन की ऋतम्बरा योजना के प्रति विश्वासी भारतीय मन "सत्यमेव जयते" कह कर विपरीत परिस्थितियों से डट कर मुक़ाबिला करता है और मर कर भी अमर हो जाता है। यही अपराजेय आत्मिक ऊर्जा भारतवर्ष की विशेषता है। हमने भक्तिवाद को पराजयवाद मान कर भारतवर्ष की दीर्घकालिक अध्यात्मदृष्टि और नैतिक साधना को छोटा कर दिया है क्योंकि जिस गरुड़ध्वज की छाया में भारतीय सैनिक साम्राज्य के अभियान के लिए दशों दिशाओं में चले हैं वह कायरों का आत्मसमर्पण नहीं चाहता, उसमें आदित्य-पराक्रमी विष्णु के तीन पदों की अपराजित आकांक्षा का उद्घोष है। भारतवर्ष की जनता की केन्द्रीय धर्म-भावना वैष्णव धर्म में ही प्रतिनिधित्व पा सकी है जिसने शकों, हूणों, आभीरों, गुर्जरों को सनातन भारतीय संस्कृति में दीक्षित ही नहीं किया है, वह प्रतिरोध की ढाल भी बन गया है। कालिदास से निराला तक वैष्णव धर्म का इस्पाती कवच और उसकी प्रतिरोध की ढाल हमारे कवियों के हाथ में रही है। भारतीय जन-मानस ने ही इन्हें गढ़ा है। आज क्या वह जन-मानस सत्य के लिए लड़े जाने वाले युद्ध से विरत हो सकेगा? "परित्राणाय साधूनाम् विनाशाय च दुष्कृतम्" भगवान का यही आश्वासन तो गीता-धर्म है। "सम्भवामि युगे-युगे"; । परन्तु युग तो जन-मानस में ही जन्म लेता है और युगचेतना ही तो नेता में खड्गबद्ध होती है। फलतः राम और कृष्ण जन-मानस में ही अवतरित होते हैं। अवतारों की यह परम्परा अभी समाप्त नहीं हुई है। अभी कल्कि का अवतरण शेष है। नए जीवनमूल्यों के लिए निरंतर युद्ध करती हुई हमारी कलयुगी जनशक्ति ही कल्कि बनेगी।

जन-मानस को हम अहिंसा से हिंसा की ओर लौटाएँ, ऐसा कोई तात्विक प्रश्न आज हमारे सामने नहीं है क्योंकि जीवन के प्रति जिस समादर और संरक्षण की भावना को लेकर अहिंसावाद की परम्परा चली है वह हमारे युद्ध-प्रयत्नों के मूल में ही टिका है। जिस चिन्मय भारत में अहिंसा की साधना सम्भव हुई है वही जब नाश की दहलीज़ पर खड़ा हो गया है तो हमारे लिए हिंसा-अहिंसा का प्रश्न तात्विक न होकर जीवन-मरण का प्रश्न बन जाता है। प्रश्न भारतवर्ष का भी नहीं है, वह मानव-संस्कृति का प्रश्न है। आगे बढ़ कर वह मनुष्य की आत्मिक स्वतंत्रता और अंततः आध्यात्मिक मूल्यों का भी प्रश्न है क्योंकि

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की परिबद्धता आत्मवाद की चिन्मयता को कम बड़ी चुनौती नहीं है।

अनास्था कहां से आती है ? युद्ध से हम कहां और कब भागते हैं ? जन-मानस की ओट लेकर हम मध्यवर्गीय मानस की दुर्बलता को ही तो नहीं छिपा रहे हैं ? राष्ट्रीयता क्या हमारे लिए सुविधा की चीज़ है जो समझौते की तराजू पर चढ़ाई जा सके ? क्या उसमें हमारे अपने सांस्कृतिक जीवन का नया संकल्प भी मूर्त्त नहीं है ? ये कुछ महत्वपूर्ण प्रश्न हैं जिन्हे हमें निरंतर अपने भीतर प्रबुद्ध रखना है। सती, संत और शूर भारत की चिन्मयता की ढाल रहे हैं। हमारी "रजपूती" गौ, ब्राह्मण, और शास्त्र की रक्षा-कवच रही है। यही हिन्दुत्व का त्रिक् है। नये संदर्भों में यही राष्ट्रीयता के नाम से वर्त्तमान-धर्म है। आज हम में से प्रत्येक क्षत्रियधर्मी है और जाति-धर्म-वर्णमुक्त नए भारतीय समाज के निर्माण के हमारे प्रयत्न प्रत्येक नागरिक को चतुवर्गी बना देते हैं। राष्ट्रीय संकट के समय हमें फिर एक बार जौहर की आग जलाना है और अपने क्षत्रिय-तेज को प्रदीप्त करना है। आज का नेता मध्य वर्ग यदि युद्ध का मोर्चा खड़ा करने का संकल्प कर लेता है तो जनता भी पीछे नहीं रहेगी। पराजय और प्रताड़ना जन-मानस में नहीं हैं क्योंकि जन जीता है, मध्यवर्ग की तरह जीने का ढोंग नहीं करता या उसका स्वप्न मात्र नहीं देखता। जनजीवन धनंजयी नहीं, परंतपी है। उसे गीता-धर्म में दीक्षित करना कठिन नहीं है क्योंकि वह उसका स्वभाव है। उसका वैष्णव धर्म रणछोड़ी नहीं, चक्रायुधी है। आज हमारी जन-शक्ति हिमालय से कुमारिका तक खिची हुई प्रत्यंचा पर टंकार दे रही है। शिखण्डियों की ओट छोड़ कर हमारे अर्जुन सामने आएँ।

चीन के आक्रमण ने आज हमारे देश में संकट की स्थिति पैदा कर दी है। भौगौलिक संकट तो है ही क्योंकि चीन ने हमारे देश की सीमाओं के भीतर एक बड़े भाग को अपना बतलाया है और बलपूर्वक उसे अपना सिद्ध करने को तैयार है। अंग्रेजों के समय में भारतवर्ष की एक निश्चित भौगोलिक सीमा थी और अपने दो शताब्दियों के शासन में विदेशी सत्ता ने इस सीमा को सुरक्षित रखा। हमारे सीमान्तों का निर्माण अंग्रेज़ी सेना के अभियानों का फल

है परन्तु उनके पीछे एक दीर्घकालीन शासनपरंपरा भी है और प्राचीन इतिहास को सामने रखने से यह पता चलता है कि इन सीमान्तों पर भारतीय शासकों का लंबे समय तक अधिकार रहा है। स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद अपने सीमान्तों की रक्षा का उत्तरदायित्व भी हमें मिला परन्तु लद्दाख़ और नेफ़ा के सीमान्त हमारे सांस्कृतिक और राजनीतिक केन्द्रों से इतने दूर थे कि पंदरह वर्षों के छोटे काल में उनकी रक्षा की कोई सुनिश्चित व्यवस्था नहीं हो सकी।

सह-अस्तित्व और पंचशील के सिद्धांतों पर चलने वाला भारत अपने पड़ोसियों से शांति की आशा करता था और सीमान्तों के संबंध में पूर्ण रूप से निश्चिन्त था। इन सीमाओं में थोड़ा बहुत परिवर्तन राजनीति और राष्ट्रीय सुविधा की बात थी परन्तु विशाल भू-भागों को आक्रमक अभियान के द्वारा हस्तगत कर लेना भारत के लिए राष्ट्रीय चुनौती है। आज के युग का संकट चीन के आक्रमण से उत्पन्न हुआ है यद्यपि चीनी सेना पीछे हट गई है और कुछ ऐशियाई देश मध्यस्थ के रूप में सीमान्तों के समझौते के लिए सामने आए हैं, परन्तु यह स्पष्ट है कि यह समस्या भौगोलिक ही नहीं है और इसका संबंध मात्र सीमान्तों से नहीं है।

भौगोलिक क्षेत्र के इस संकट के साथ भावना-क्षेत्र की एक संक्रांति भी हमारे सामने आई है। पिछले दो सौ वर्षों से हम भारतवर्ष की नवीन संस्कृति का निर्माण करने में लगे हैं। यह संस्कृति कुछ मूल आदर्शों और जीवन-मूल्यों को प्रधानता देती है। राजा राममोहनराय से महात्मा गांधी तक आधुनिक भारत की सांस्कृतिक साधना संपन्न हुई है और उसमें सत्य और अहिंसा को केन्द्रीय मूल्यों के रूप में स्वीकार किया गया है। उन्नीसवीं शताब्दी में हमने यूरोप से बहुत कुछ सीखा और लोकतंत्र तथा मानववाद के रूप में दो बड़े आदर्श हमारे सामने आये। हमने यूरोप की वैज्ञानिक-टेक्नीकी संस्कृति को संपूर्ण रूप से अपना लिया है परन्तु हमारा आग्रह है कि हमारे नैतिक और आध्यात्मिक मूल्य भी सुरक्षित रहें। विज्ञान और अध्यात्म के समन्वय से हम एक नई मानवसंस्कृति का निर्माण करना चाहते हैं जो भारत की राष्ट्रीय संस्कृति होने पर भी व्यापक जीवन-मूल्यों को लेकर चलेगी। पिछले दो सौ वर्षों का चीन का इतिहास इस प्रकार

के पूर्व और पश्चिम के समन्वय को सूचित नहीं करता। वहाँ एक सांस्कृतिक रिक्त पैदा हो गया था और रूस की मार्क्सवादी विचारधारा ने इस रिक्त को अपने ढंग से भरा। रूस का मार्क्सवाद चीन में नवीन चेतना के रूप में आया और उसने एक नए भौतिक आदर्श का निर्माण किया जो शक्ति की उपासना करता है और भौतिक संपन्नता को ही सब कुछ मानता है। इतिहास में पहली बार चीन और भारत की सीमाएँ मिली हैं। चीन अपने नवीन राजनीतिक-धर्म (मार्क्सिज़्म-लेनिनिज़्म) को हमारे ऊपर भी आरोपित करना चाहता है। अपनी सीमाओं को दृढ़ता देकर वह अपने को सशक्त ही नहीं बनाना चाहता, अपितु ऐशिया के छोटे राष्ट्रों को आतंकित भी करना चाहता है। हमारी संपूर्ण जीवन-व्यवस्था को चीन के इस अभियान से चुनौती मिली है और यह स्पष्ट है कि सीमान्त की उलझनें समाप्त हो जाने पर भी यह चुनौती बनी रहेगी। इस प्रकार चीन की चुनौती भौगोलिक और सैनिक ही नहीं, कूटनीतिक और सांस्कृतिक भी है। इन सभी भूमिकाओं पर हमें इस चुनौती का उत्तर देना होगा। यह निश्चित है कि इस चुनौती का उत्तर हमारे लिए सरल नहीं है। हमें अपने संस्कारों को पूर्णतः बदलना होगा।

पिछले तीन सौ वर्षों में यूरोपीय समाज ने हमारे सामने कुछ नए आदर्श रखे हैं। इन आदर्शों को हम आंशिक रूप में ही लेकर चलने में समर्थ हुए हैं। यूरोपीय समाज इस्लामी समाज की भांति वर्णहीन समाज है। यद्यपि भारत-वर्ष में बहुत प्राचीन समय से ही भगवान बुद्ध और वर्द्धमान श्री महावीर के द्वारा वर्णवाद का विरोध आरंभ हो गया था और मध्ययुग में हमारे अनेक संतों और भक्तों ने समाज को खोलने का प्रयत्न किया परन्तु इन महापुरुषों के अपने-अपने अलग संप्रदाय बन गए। हमारी जाति-वर्ण समस्या मूल रूप में ही बनी रही। पिछले एक हजार वर्षों में हमारा समाज अनेक वर्गों में इस प्रकार विभक्त हो गया है कि मानव-शास्त्रियों के अनुसार इस समय हिन्दू समाज में तीन हजार के लगभग वर्ण हैं। इस प्रकार का भेद-भाव हमारी राष्ट्रीय शक्ति को क्षीण करता है। यातायात के वैज्ञानिक साधनों तथा नई अर्थवादी जीवनपद्धति ने समाज के भीतर एकता पैदा करने का प्रयत्न किया है और आज का हमारा जीवन बहुत कुछ आर्थिक भूमिकाओं पर आधारित है। हमारी आर्थिक योजनाएं वर्णवाद का सशक्त विरोध उत्पन्न कर रही हैं।

परन्तु नए जीवन के विकास के लिए यह आवश्यक है कि हम सामाजिक साम्य और बंधुत्व की भावना से अनुप्राणित हों और सारा भारतीय समाज एक राष्ट्रीय समाज बन जाए। भारतवर्ष में हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, सिक्ख आदि वर्गों में अनेक धार्मिक मान्यताएं चल रही हैं। यह आवश्यक है कि हम इस क्षेत्र में उदार बनें तथा सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन के क्षेत्र में समानता का भाव लेकर चलें। इसके अतिरिक्त आर्थिक क्षेत्र में भी समानता की योजना लाना आवश्यक है। साम्यवाद उत्पादन के सारे साधनों को राजसत्ता में केन्द्रित कर देता है और साम्यवादी राष्ट्रों में राष्ट्र ही अर्थ-वितरण की योजना लागू करता है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यता के अनुसार समाज को लाभ पहुँचाए और उसकी आवश्यकताओं के अनुसार राष्ट्र उसे भौतिक सुख-सुविधा प्रदान करे। अर्थ-व्यवस्था के क्षेत्र में पूंजीवादी और प्रतियोगितावादी समाज भी आज बदल रहा है। पश्चिम के प्रजातंत्री राष्ट्रों में कल्याण-राज्य सम्बन्धी अनेक योजनाएं चल रही हैं। भारतवर्ष में भी योजनाओं का श्रीगणेश हुआ है और नए संदर्भ में उनकी अनिवार्यता स्पष्ट है परन्तु हम इस ओर इङ्गलैण्ड-अमरीका के बीच की एक नई आर्थिक व्यबस्था गढ़ना चाहते हैं जो सांस्कृतिक प्रकृति के अनुकूल हो। हमारी योजनाओं के ऊपर हमारा सामाजिक विकास ही पूर्ण रूप से आधारित नहीं है, उन पर हमारा सांस्कृतिक जीवन भी अवलंबित है। यदि हम शांतिपूर्ण ढंग से समाज की आर्थिक रचना को पूर्ण रूप से बदल देते हैं और अपने देश में एक वर्गहीन-वर्णहीन समाज की स्थापना करने में सफल हो जाते हैं तो साम्यवादी विचारधारा का विष हमारे लिए अमृत बन जाता है। इस समय ऐशिया के साम्यवादी और प्रजातंत्री राष्ट्रों में होड़ है कि कौन यूरोप के वैज्ञानिक साधनों को अधिक शीघ्रता से अपनाने में सफल होता है और समानता के आधार पर एक नया समाज बनाता है जो व्यक्ति की अपेक्षा समष्टि को अधिक महत्व दे। इस होड़ का ही एक रूप चीन का आक्रमण है। चीन यह जानता है कि भारतवर्ष की शक्तिपूर्ण योजनाएं सफलता पाने पर राजसत्तात्मक साम्यवादी योजनाओं को संकट में डाल देंगी और अन्य एशिया-अफ़्रीकी राष्ट्र भारतवर्ष के मार्ग पर ही चलने लगेंगे। आवश्यकता इस बात की है कि हमारे राष्ट्र की अग्रगामिता बनी रहे और हम अपने शांतिपूर्ण प्रयत्नों में चीन से पहले सफल हो जाएं। इस भूमिका पर ही चीन की चुनौती को हमें स्वीकार करना है। आज का

संकट सैनिक और राजनीतिक संकट मात्र नहीं है, वह मूलतः मानव-संस्कृति का संकट है। व्यक्ति स्वतंत्र होकर समाज के लिए उपयोगी सिद्ध हो सके और उसकी आत्मिकता बनी रहे या वह राजसत्ता से पूर्णतः अनुशासित हो जाए और अपना स्वतंत्र अस्तित्व खो दे ? बीसवीं शताब्दी के अंत तक इस प्रश्न का समाधान मिल जाना चाहिए। भारतवर्ष के नए जीवन-प्रयोग आत्मिक और व्यक्तिगत जीवन-मूल्यों पर आधारित हैं और उसका मार्ग सत्य और अहिंसा का मार्ग है। भारतवर्ष की सफलता उसकी मूलबद्ध आध्यात्मिकता की सफलता कही जाएगी और उसका अध्यात्म और विज्ञान का समन्वय आधुनिक विश्व को आणविक संकट से उबार लेगा। यह आशा व्यर्थ नहीं जान पड़ती। आज का राष्ट्रीय संकट हमें नई जीवन-दृष्टि दे सके और हमारे सामाजिक तथा राष्ट्रीय ढांचे को इस्पात की तरह दृढ़ बना सके तो चीनी अभियान का अभिशाप हमारे लिए वरदान में बदल जाए।

इसमें कोई संदेह नहीं कि भारतीय जन-मानस अपनी स्वतंत्रता की रक्षा के लिए तैयार है और उसके मन में हिंसा-अहिंसा वह प्रश्न नहीं है जो शिष्ट वर्ग को उद्वेलित कर रहा हैं। सच तो यह है कि सामान्य मनुष्य के लिए हिंसा-अहिंसा का प्रश्न सैद्धांतिक न हो कर व्यावहारिक ही रहेगा और वह उसे जीवन की सुख-सुविधाओं के संदर्भ में ही देखेगा। समस्त भारतीय जन ने कभी भी किसी एक मतवाद या जीवनदृष्टि का आग्रह नहीं दिखलाया है और राम-रावण की कहानी आज भी घर-घर प्रचलित है। धर्मसंस्थापन और दुष्कृतों के विनाश का प्रण लेकर जिस समाज में भगवान के अवतरण की कल्पना है वह अपने महान जीवन-मूल्यों को संकट में पड़ते देख मौन नहीं बैठ सकता। आवश्यकता इस बात की है कि हम इस समाज को सस्ती भावुकता से बचा कर सामाजिक एक्य और अर्थ संतुलन की नई भूमिकाओं के लिए तैयार करें। युद्ध जहां जीवन-संरक्षण की अनिवार्यता बन जाए वहां उससे भागना मानव-जाति के प्रति अवमानना है। मनुष्य अपने उदात्त मूल्यों में जी कर श्रेष्ठ प्राणी बना है, नहीं तो उसकी भूमिका पशु-भूमिका से भिन्न नहीं है। अहिंसक जीवन जीने के लिए जितनी हिंसा की आवश्यकता है उतनी हिंसा हमारे लिए अवांछित होने पर भी लादी जा सकती है। इस सत्य से अवगत होने पर जन-मानस कश्मलीय नहीं रहेगा और उसके भीतर का मोर्चा इन्द्र का वज्र बन जाएगा।

आज का परिवेश और साहित्यकार का दायित्व

आज का परिवेश क्या है और साहित्यकार की संवेदना तथा उसके कृतित्व से उसका क्या संबंध है, यह जानना आज अत्यंत आवश्यक हो गया है। इसका कारण यह है कि आज साहित्य हमारे लिए और दिनों से अधिक महत्वपूर्ण हो गया है और उसके प्रति हमारा उत्तरदायित्व जीवन के प्रति हमारे उत्तरदायित्व से भिन्न नहीं रहा है। जीवन और साहित्य आज दो भिन्न अथवा विरोधी जगत नहीं हैं क्योंकि वास्तविक जीवन भी आज भाव-जगत बन गया है और साहित्य का उपजीव्य भाव-जगत ही है। चीनी आक्रमण ने हमारे जीवन की वस्तु-स्थिति को एकदम बदल दिया है और आज हमारे लिए यह संभव नहीं कि हम साहित्य और जीवन की विभिन्न भूमिकाओं को स्पष्ट करते रहें या उन्हें लेकर अतिवादी सूक्ष्मताओं में पड़ें। साहित्य और जीवन में प्रकृत्य: कोई विरोध नहीं है क्योंकि क्रिया-प्रतिक्रिया से दोनों एक-दूसरे से संबंधित हैं। संभव है गांधी-युग में कोई ऐसा विरोध रहा हो और समीक्षकों को उनके बीच में पटरी बिठाने की आवश्यकता पड़ी हो। आज नए सिरे से इन दोनों के संबंध की बात उठाने की गुंजाइश कदाचित् नहीं है।

परन्तु जिस "आज" को लेकर हम चलेंगे उसकी सीमाएँ हमें बांधनी होंगी। आज का परिवेश चीनी आक्रमण तथा उससे उत्पन्न राष्ट्रीय संकट का परिवेश है। यह परिवेश क्या एकदम बदला हुआ है या इतना बदल गया है कि उससे साहित्यकार के किसी नए दायित्व की बात आगे आ गई है? इसे बदलने की प्रक्रिया क्या है और समाज के विभिन्न वर्गों में उसका क्या रूप है? सतही दृष्टि से देखें तो आज का परिवेश भावोत्तेजन का परिवेश है क्योंकि राष्ट्रीयता के नाम से बहुत-से भाव-संवेदन ऐसे चल रहे हैं जिन्हें सस्ती भावुकता ही कहा जा सकता है। चीनी आक्रमण के आरंभिक दिनों में हमने स्तब्धता का अनुभव किया। व्यक्तिवादी और निंदाजीवी मध्यवर्ग सशंकित होकर स्तब्ध हो गया। उसने गांधी-युग के अनुभवों से सहायता

चाही और प्रभातफेरी से लेकर रक्तदान और स्वर्णदान तक राष्ट्रयज्ञ के अनेक पहलू विकसित किये। यह हमारी दूसरी रक्षा-पंक्ति बनी। हमारी पहली रक्षा-पंक्ति नेफ़ा और लद्दाख के सैनिकों की थी जिन्होंने अपने रक्त से सैकड़ों वर्गमील की ज़मीन को सींचा और चप्पे-चप्पे पर अपने बलिदान की छाप छोड़ी। यह ठीक है कि अप्रत्याशित बर्बरता और अपर्याप्त सैनिक साधनों के कारण उन्हें शीघ्रता से बनाए हुए मोर्चों को छोड़ कर पीछे हटना पड़ा परन्तु विश्व के सैनिक इतिहास में ऐसी दुर्घटनाओं की कमी नहीं है जब सुसंगठित और अप्रत्याशित आक्रमण के कारण सबल राष्ट्रों को एक के बाद एक अपनी सभी रक्षा-पंक्तियां छोड़ देनी पड़ी हैं। द्वितीय महायुद्ध का रूस और इंग्लैण्ड के उदाहरण हमारे सामने हैं। परन्तु इस प्रत्यावर्त्तन की जो प्रतिक्रिया हमारे देश के मध्यम वर्ग पर हुई वह इन देशों की प्रतिक्रिया से भिन्न थी। युद्ध हमारे सैनिकों के लिए नया अनुभव नहीं था। परन्तु देश के जन-साधारण और नागरिक के लिए वह नितांत नई बात थी। सत्याग्रह-संग्राम से युद्ध की हलचलें भिन्न हैं, इसी प्रकार उसकी प्रतिक्रियाएं तथा आवश्यकताएं भी भिन्न हैं। आज दो महीनों के के अनुभव के बाद कदाचित् हम इस अंतर को समझ पाये हैं।

आक्रामक चीनी सेना ने प्रत्यावर्त्तन किया है और उसकी ओर से अभी विराम-संधि की स्थिति बनी हुई है परन्तु भारतवर्ष ने न उन्हें दावत दी थी, न उन्हें लौटने के लिए कहा है। चीनी अजगर की दर्पमुद्राएं हम देखते रहे और क्षुब्ध होते रहे कि बुद्ध और लाउत्से का क्या हुआ, पंचशील कहां गया और "चीनी-हिन्दी भाई-भाई" का क्या होगा। स्वाधीनतोत्तर भारत की १५ वर्षों की मैत्रीसाधना एक क्षण में ही जैसे खण्डित हो गई और हिमालय का हिमपिण्ड वाष्प बन कर उड़ गया। घृणा और हिंसा के इस परिवेश को क्या हम शक्ति-साधना और संकल्प में बदल सकते हैं? क्या हम अपनी क्षुद्रता से ऊपर उठ कर राष्ट्र की एक्य-साधना को अपने जीवन में प्रथम स्थान देंगे? बाहरी और भीतरी दो मोर्चे हमें खड़े करना हैं। यही नहीं, व्यक्ति के अंतर्मन को भी हमें इस्तपात में ढालना है। इसके लिए प्रेमचंद्र, गुप्त, निराला और "एक भारतीय आत्मा" से अधिक बड़ी और सशक्त क़लम की साधना चाहिये। हिंसा और अहिंसा के बीच के कच्चे

धागे पर झूलती हुई नए भारत की अंतश्चेतना अपने लिए स्वस्थ और समर्थ मार्ग निकाल सके और अपनी जागरूक राष्ट्र-चेतना का प्रतिबिंब देख सके, ऐसा काव्य और साहित्य हमें चाहिये।

प्रश्न यह है कि किस प्रकार हमारे साहित्य का परिवेश उभरे? हमारी राष्ट्रीयता को अहिंसा से युद्ध की ओर कैसे मोड़ा जाए? जन-मानस को हम नए राष्ट्र-संकल्प से कैसे भरें? क्या हम व्यक्ति की अंतश्चेतना में गहरे उतर कर अवसाद, कुंठा और आत्महीनता की ग्रंथियों को खोलें, या नई सूर्योदयी चेतना का साहित्य दें जो बलिदान, त्याग, तपस्या और सामाजिक कल्याण पर खड़ा हो? जहां तक साहित्यकार के उत्तरदायित्व का प्रश्न है उसके संबंध में दो मत नहीं हो सकते। आज के परिवेश को चित्रित करने में ही उसके कर्त्तव्य की समाप्ति नहीं हो जाती, उसे आज को संकल्प से भी गर्भित करना है। बलिदानी हड्डियों का हिमालय उठा देने की सामर्थ्य जिस साहित्य में नहीं है वह क्लीवता का साहित्य है। आज के राष्ट्रीय संकट में हमें उससे कोई सहायता नहीं मिल सकती। साहित्यकार का दायित्व उसके जीवन के प्रति दायित्व का ही भाग है क्योंकि वह राष्ट्र के जीवन के सर्वश्रेष्ठ का प्रतिनिधि है।

आज साहित्यकार को जाति, धर्म, वर्ण, संप्रदाय, भाषा और प्रांत की दीवारें तोड़कर मनुष्य को उसकी अपनी मर्यादा देना है। परन्तु इस मनुष्य को हम यों ही अनगढ़ नहीं छोड़ सकते। हमें उसे भीतर से भारतीय संस्कार देकर नए सिरे से गढ़ना है और उसे सच्चे अर्थों में राष्ट्रीय बनाना है। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि वह राष्ट्रीय-भारतीय-सांस्कृतिक और विश्वमानवीय भूमिका को छोड़ कर एकदम निर्वैयक्तिक प्राणी बन जायेगा। तात्कालिकता का आग्रह उचित ही है परन्तु हम किसी निरुद्देश्य यात्रा के लिए नहीं निकल पड़े हैं। हमें राष्ट्रीय संकट से देश को उबारना है और चीन की चुनौती को घर-घर पहुँचाना है।

यह चुनौती राजनीतिक, सामरिक और कूटनीतिक है। तीनों क्षेत्रों में हमें सशक्त मोर्चे खड़े करना हैं। हमारा लेखन खड्ग की ललकार बन जाए,

तभी वह आज सार्थक है। गद्य और पद्य दोनों हमारी भावाभिव्यक्ति के सचोट माध्यम बनें। हमारा साहित्य राष्ट्र की कर्मण्यता को उभारे और देशभक्ति की प्रज्ज्वलित दीपशिखा बन जाये। पिछले बीस वर्षों में प्रयोग-वाद और "नयी कविता" के रूप में हमने व्यक्ति की दमित इच्छाओं को उभारा है और मध्यवर्ग के अंतर्मन की क्षुद्रताओं और यौनाकांक्षाओं को काव्य का विषय बनाया है। हमारे राग-द्वेष उसमें इस प्रकार मुखरित हैं कि हम मनुष्य की चरितार्थता से दूर पड़ जाते हैं और देवता तो क्या मानव का भी लघुसंस्करण नहीं बन पाते। पश्चिम के वादों को उधार लेकर और उसके अहंग्रस्त, अंतःविस्फोटित तथा आत्महारा साहित्य को मानदण्ड बना कर हम चले हैं और कहीं नहीं पहुचे हैं। यह असार्थकता आज हमें काटती है। हम दिग्भ्रमित हो गये हैं। पॉउन्ड, इलियट, रिल्के, काफ़्का, सार्त्र आदि हमें अपने लगते हैं और रवीन्द्रनाथ, प्रेमचंद, निराला और पंत हमारी चेतना से दूर पड़ जाते हैं। अपनी राष्ट्रीय संस्कृति और भारतीय जीवन-मूल्यों में हट कर हम सार्वभौमिक और सार्वकालिक बनने का दंभ भरते हैं। यदि यह मुद्रा ही होती तो कुछ कहना नहीं था परन्तु दुःख तो यह है कि हम मरणकामी बन गये हैं और जीवन की चिन्मयता, आनन्दप्राणता तथा उदात्तता के प्रति हमारा कोई दृष्टिकोण ही नहीं रहा है। हम शवपूजक बन गये हैं और हमारे गीत समाधिगीत हैं। इस स्थिति से उबर कर हमें स्वस्थ और उदात्त साहित्य की नींव डालना है और प्रेमचंद तथा निराला की परंपरा से अपने को जोड़ना है। आत्मघाती पश्चिमी साहित्य की जोकें हमारा जीवनरस चूस रही हैं। उन्हें हटा कर हमें नई राष्ट्रीयता, वेदांती कर्मनिष्ठा और मानववादी जीवन-चेतना को जगाना है। भीतर-बाहर से संपृक्त, समष्टिगत, प्रकृति और परोक्ष के प्रति सहयोगी भावना से परिचालित, भविष्य के प्रति आस्थावान और श्रेष्ठ मानव-मूल्यों से अनुप्राणित मानव-व्यक्तित्व ही हमारे काव्य और साहित्य का केन्द्र बन सकता है। इस नए मानव को अपनी नई राष्ट्रचेतना का रंग देकर हम जीवन के प्रति कृतज्ञता ही नहीं प्रकट करेंगे, उसकी चरितार्थता की सिद्धि भी प्राप्त कर सकेंगे।

क्या हमारा नया साहित्य घृणा का साहित्य होगा? क्या उसमें हमारी मुष्टि-बद्धता ही नहीं, हमारी हिंसा भी प्रगट होगी? क्या हम तात्कालिकता का

ध्वज लेकर चलेंगे और शाश्वत जीवन-मूल्यों को भुला देंगे? ऐसा नहीं होगा। घृणा की आवश्यकता नहीं है। सात्विक क्रोध उससे भिन्न वस्तु है। हमारे परिकल्पित साहित्य में आत्मा के शौर्य तथा बलिदान, मन की प्रसन्न चेतना एवं जातीय ओजस्विता को स्थान मिलेगा। गांधी युग के मूल्य हमारे मूलाधार है, उन्हें छोड़ना अब भी असंभव बात है। अहिंसा की भूमिका ही हमें युद्ध की हिंसा के लिए तैयार करे क्योंकि युद्ध हमने नहीं छेड़ा है, वह हम पर लादा जा रहा है। उसके पीछे न साम्राज्य-निर्माण की भावना है, न सिद्धांत-प्रचार का आग्रह है। हम न सर्वोदय को अन्य देशों पर लादना चाहते हैं, न गांधीवाद को, न नव्य वेदांत को। अपनी प्रजातंत्रीय, धर्मनिरपेक्षी (सर्वधर्मी) और समाजवादी प्रवृत्तियों को हम अपनी भौगोलिक सीमाओं तक ही सीमित रखना चाहते हैं परन्तु हम यह अवश्य चाहते हैं कि पड़ोसी राष्ट्र ही नहीं, सुदूर भू-खण्डों के आणविक राष्ट्र भी हमारे चुने हुए जीवन-पथ में बाधक न बनें। सह-अस्तित्व और पंचशील यदि आज के सत्य नहीं हैं तो कल के सत्य हैं। ध्वंस और सर्वनाश में हमें एक नहीं होना है तो हमें सह-अस्तित्व में ही जीना है और घृणा के बदले प्रेम के मूल्य जगाना है। ये मूल्य भारतीय संस्कार और भारतवर्ष की साहित्यिक और सांस्कृतिक परंपरा के ही मूल्य हैं। इनके लिए हमें विदेशों में उधारखाता नहीं खोलना है। अपने प्रति ईमानदार और अपनी संस्कृति के प्रति श्रद्धावान होकर ही हम आज के परिवेश के प्रति उत्तरदायी बन सकेंगे। आवश्यकता है जागरूक और मनस्वी चेतना की जो हमें क्षुद्रताओं से ऊपर उठा कर जन-मानस की नई प्रबुद्धता से जोड़ सके। चीन की हिंसात्मक बर्बरता ने अनुल्लंघनीय मर्यादाओं को चुनौती दी है और हिमालय की पुकार हमारे सांस्कृतिक मूल्यों की सुरक्षा की पुकार बन गई है। जन-मानस का उत्साह हमारे नए वीर काव्य और नए राष्ट्रीय साहित्य का आलंबन बने।

श्रेष्ठ साहित्यकार न परिबद्ध होता है, न वादीय। उसका दायित्व संप्रदाय और व्यक्ति के प्रति नहीं, साहित्य के प्रति, जीवन के प्रति और अंततः अपने प्रति होता है। आज साहित्य, जीवन और हमारी प्रबुद्ध अंतश्चेतना की मांगें भिन्न नहीं हैं। यह भीतर की एकता हमारा सब से बड़ा संबल है। स्वनिष्ठ

श्रौर श्राज के परिवेश के प्रति ईमानदार होकर ही श्राज हम साहित्य और जीवन के प्रति अपने दायित्व का निर्वाह कर सकते हैं। भारतीय जनता के नए भावोत्तेजन को मर्यादित, परिष्कृत श्रौर कर्मबद्ध बना कर हम अपने सामयिक साहित्य को युगेतर बना सकते हैं क्योंकि श्रेष्ठ जीवन-मूल्यों के प्रति परिवद्धता ही साहित्य-धर्म है। श्राज के परिवेश को हम श्रपने ऊपर श्रोढ़ लें परन्तु उसके गरल को अमृत बना कर युग-सत्य के सच्चे रूप को प्रगट करें श्रौर चीनी श्राक्रमण के श्रभिशाप को उत्तर शती का सर्वश्रेष्ठ वरदान बना दें। "सत्यमेव जयते" हमारा राष्ट्र-मंत्र है। सनातन सत्य ही श्राज राष्ट्रीय जीवन का युग-सत्य बन कर हमें चक्री बनाये और गतिशीलता दे। पश्चिम के ज्ञान-विज्ञान और उसकी प्राविधिक कर्मण्यता को नए जीवन की भूमिका बना कर हम भविष्यती भारत के मंगल के प्रति संकल्पबद्ध हों श्रौर हमारा साहित्यिक दायित्व सांस्कृतिक श्रौर मानवीय दायित्व बन कर ही श्रपनी चरितार्थता प्राप्त करे।

हमारी योजनाएँ

आधुनिक युग योजनाओं का युग है। औद्योगिक और प्राविधिक उपलब्धियों ने मनुष्य को यह सामर्थ्य दे दी है कि वह प्रकृति की दया पर निर्भर न रह कर अपने जीवन को स्वयं अपने हाथ में ले ले। उन्नीसवीं शताब्दी तक मनुष्य का साहस समाज के कुछ वर्गों तक सीमित था। ये वर्ग अपने स्वार्थों से चिपटे थे और उनके लिए अपने बाहर के विस्तृत जन-समाज का अन्न, वस्त्र और आवास का आयोजन असंभव बात थी। विज्ञान की नई खोजों ने मनुष्य को नई सदाशयता ही नहीं दी, उसको चरितार्थ करने की सामर्थ्य भी दी। फलतः बीसवीं शताब्दी में हम समाजवादी और साम्यवादी भूमिका पर ही नहीं, प्रजातंत्र के नाम पर भी योजनाओं का नाम जपने लगे हैं। "कल्याण-राज्य" प्रजातंत्री राज्यों का नया नारा बन गया और उसके अनुकरण में अन्य देश सप्तवर्षीय अथवा पंचवर्षीय योजना का मानचित्र तैयार करने लगे। इसमें संदेह नहीं कि राष्ट्रों की बढ़ती हुई जन-संख्या को आकस्मिक घटनाओं और प्राकृतिक जीवन की हलचलों पर छोड़ देना अन्याय होगा। सभ्यता और संस्कृति का दावेदार बीसवीं शताब्दी का मनुष्य अमानवीय अथवा अनुदार बनने की पीड़ा सहन नहीं कर सकता। योजनाएं नए जीवन का दिशानिर्देशक यंत्र हैं। उनके बिना हम कभी भी पथ-भ्रष्ट हो सकते हैं।

बेकन से आज तक यूरोप ने अपने चिन्तन और कर्म में मनुष्य को ही केन्द्रीयता देनी चाही है। जब सब कुछ मनुष्य के लिए है तो योजनाएं भी मनुष्य के लिए होंगी, अर्थात् प्रश्न यह है कि हम किस मनुष्य लिए योजना बना रहे हैं। योजना की समाप्ति पर या दूसरे छोर पर हमें कैसा मनुष्य प्राप्त होगा? बौद्धिक, नैतिक, आध्यात्मिक, आर्थिक, व्यावहारिक,—कैसा मनुष्य हमें चाहिये? संक्षेप में, हमारा जीवन-दर्शन क्या है? हम जीवन का लक्ष्य क्या मानते हैं? क्या भौतिक सुख-सुविधाएं ही जीवन का लक्ष्य हैं? या हम अपनी योजनाओं में इनसे भी बड़ा कोई लक्ष्य लेकर चलना चाहते हैं? कैसा समाज और कैसा मनुष्य हमें चाहिये? उसका हमारी सांस्कृतिक परंपरा में

कहाँ और क्या स्थान होगा ? परन्तु कठिनाई यह है कि योजनाओं की प्रक्रिया के भीतर से हमें जिस समाज या मनुष्य की उपलब्धि होगी वह निरंतर बनता रहेगा और उसे किसी भी परिभाषा में बद्ध करना हमारे लिए संभव नहीं। समाज और मनुष्य स्वयं योजना के अंग बन जाते हैं क्योंकि योजना को कार्य-रूप में परिणत करने वाला मनुष्य ही है। वह स्वयं कर्त्ता और भोक्ता है। ऐसी स्थिति में कोई एकदम निश्चित और अकाट्य लक्ष्य लेकर हम नहीं चल सकते।

यह मान कर चलना होगा कि योजनाएं मनुष्य के लिए हैं, मनुष्य योजना के लिए नहीं हैं। यदि हमारी योजनाएं हमारे व्यक्ति-स्वातंत्र्य और प्रजातंत्रीय भावबोध पर आघात करती है और हमें राज्य की मशीन का पुर्जा-मात्र बना देती हैं तो वे स्पृहणीय भी नहीं हैं। यदि वे हमारी मुक्ति के लिए हैं,—राज्य से भी और जड़ता से भी, तो वे स्वागत का विषय है। तात्पर्य यह है कि योजनाओं में हमारी मानवता की चरितार्थता हो और व्यक्ति समष्टि में खो नहीं जाये। इसलिए हमें प्रतिक्षण संवेदित और सतर्क रहना है। परि-बद्धता में पीड़ा नहीं है, परन्तु अपरिबद्ध, समष्टि के प्रति जागरूक और कर्त्तव्यशील, भविष्य के प्रति निवेदित चेतना करुणा, मैत्री, बलिदान और सत्साहस की आकुलता का अनुभव करेगी। वह बोधिसत्वी जीवन की छुरी-धार होगी। जानना यह होगा कि योजनाएं समग्र मनुष्य के लिए हैं या केवल भौतिक और आर्थिक मनुष्य के लिए। उन्हें हमारी आंतरिक चेतना का अंग बनकर सार्थक होना है।

योजनाओं के आरंभ का श्रेय रूस को है जिसने १९२८ में अपनी सप्तवर्षीय योजनाओं का आरंभ किया। इन योजनाओं के द्वारा रूस पश्चिम की वैज्ञा-निक और टेक्नोलॉजी संबंधी प्रगति की समकक्षता प्राप्त करना चाहता था। १९४१ तक रूस ने इन क्षेत्रों में इतनी प्रगति कर ली थी कि जर्मन-आक्रमण की धार को उसी की ओर मोड़ सका। रूस की सफलता से अन्य देशों का ध्यान इस ओर गया। आज चीन, भारत और अन्य कितने ही पिछड़े देश योजनाओं को नया जीवन-धर्म बना रहे हैं क्योंकि कृषि और उद्योग के साधनों को अंतिम छोर तक विकसित करने में ही जीवन-मान की वृद्धि संभव है।

भारतीय योजनाओं का आरंभ १९५१ से होता है। हमारी पहली पंचवर्षीय योजना (१९५१-५६) ने हमें नये जीवन के लिए तैयार किया, दूसरी (१९५६-६२) ने उसे स्थायित्व दिया और अब तीसरी योजना हमें एशिया के औद्योगिक राष्ट्रों में स्पष्टतः अग्रगामिता दे सकेगी। १९६६ तक तीनों योजनाओं में हम व्यक्तिगत और लोक-क्षेत्रों में पंदरहसौ तेईस करोड़ पौंड लगा चुके होंगे। अमरीका प्रत्येक वर्ष इतना रुपया अपने उद्योग-धंधों में लगाता है। इससे स्पष्ट है कि पश्चिमी मानदण्ड के अनुसार हमारी योजना बहुत छोटी चीज़ है और कई शताब्दिओं तक हम पश्चिमी जीवन-मानों से बहुत पीछे रहेंगे। परन्तु राष्ट्रीय आवश्यकताओं की समष्टिगत पूर्ति के ये प्रयत्न निश्चय ही राष्ट्र की नई आस्था को जन्म देंगे।

पिछले छः हजार वर्षों से भारत कृषि-प्रधान देश रहा है और ग्रामीण जीवन तथा पंचायत-पद्धति का विकास कर उसने अपनी अर्थ-व्यवस्था को एक निश्चित स्वरूप दिया था। हमारे समाज-संगठन का आधार वर्ण-व्यवस्था थी जिसमें ऊपर के छोटे ब्राह्मण-क्षत्रिय वर्गों के नीचे व्यापारी-व्यवसायी वैश्य और खेतिहर तथा कर्मकर शूद्र वर्ण का विशाल विस्तार है। संसार के किसी समाज ने सामाजिक तारतम्य को ऐसा सुदृढ़ परन्तु जटिल और अगतिशील ढाँचा नहीं दिया जैसा हमारी वर्ण-व्यवस्था ने। वर्ण के साथ व्यक्ति के जीवन का विभाजन भी आश्रम-संस्था के द्वारा मान्य माना गया परन्तु यह कहना कठिन है कि उसकी व्यावहारिक तथा ऐतिहासिक स्थिति क्या रही है। वह संभवतः आदर्श में ही पल्लवित हुआ है क्योंकि वह सामजिक नियंत्रण का विषय नहीं रहा है। ऐतिहासिक भारत में अर्थ का मूलाधार भूमि रही है और सामंतों-ज़मींदारों-जागीरदारों से लेकर हलधरों तक सब उसी के शोषण पर जीते रहे हैं। जब तक जंगलों में नई भूमि की उपलब्धि संभव थी और जन-संख्या मर्यादित थी हम भूमि को अपने राष्ट्रीय जीवन की इकाई बना कर चले परन्तु अठ्ठारहवीं शताब्दी तक हमने उपलब्ध भूमि को जोत-बो लिया था और अंग्रज़ी अर्थमत्ता का अंग बनने पर हमें किसी दूसरे सहारे पर टिकने की आवश्यकता हुई। विदेशी सत्ता ने उद्योगधंधों के विकास की कोई सुविधा हमें नहीं दी और बढ़ती हुई जन-संख्या ने खेतों को टुकड़े-टुकड़े कर डाला। उन्नीसवीं शताब्दी में भारतीय कृषि की नई व्यवस्था हमारे अंग्रेजी शासकों ने

की और उसे अंग्रेज़ी पद्धति पर खड़ा किया। फलतः ज़मींदार, महाजन और अमला के द्वारा भारतीय किसान शोषण की चरम सीमा पर पहुँच गया।

श्री रमेशचंद्र दत्त के भारतवर्ष के आर्थिक इतिहास विषयक् वृहद् ग्रंथ और प्रेमचंद्र के साहित्य में महाजनी और ज़मींदारी सभ्यताओं का बड़ा विस्तृत और मार्मिक चित्र मिलता है। यह स्पष्ट है कि अंग्रेज़ व्यवसायियों ने अपने देश की औद्योगिक क्रांति को सफल बनाने के लिए भारतीय कुटीर उद्योगों को नष्ट कर डाला और उसे कच्चे माल का एक बड़ा बाज़ार बना दिया। यही नहीं, उन्होंने मशीन की प्रतिद्वन्दिता को खड़ा कर स्वयं भारतवर्ष के स्वदेशी वस्त्र-व्यवसाय को क्षेत्र से हटा दिया और लंकाशायर तथा मानचेस्टर की मिलों के लिए थोक व्यवसाय पैदा किए। भारतवर्ष के शोषण से ही इंग्लैण्ड की औद्यौगिक क्रांति संभव हुई और एक तरह से अन्य यूरोपीय राष्ट्रों के संबंध में भी यही कहा जा सकता है क्योंकि वे अपने उपनिवेशों के शोषण से ही आर्थिक संपन्नता प्राप्त कर सके। आज पश्चिम पूर्व की राष्ट्रीय योजनाओं के लिए यदि धन, यंत्र और टेक्नीकी ज्ञान सुलभ करता है तो वह अठ्ठारहवीं-उन्नीसवीं शताब्दियों के पूर्व के ऋण को ही चुकाता है। संक्षेप में, यह कहा जा सकता है कि हमारी योजनाएँ आधुनिक जीवन की उपज हैं परन्तु उनके पीछे हमारे उद्योग-धंधों के नाश और विदेशी शोषण का दो सौ वर्षों का इतिहास भी है।

भारतीय योजनाओं का लक्ष्य औद्योगिक क्षेत्र की सर्वदिक् क्रांति और कृषि का आधुनिकीकरण है जिनके बिना कोई भी राष्ट्र अपने विकास को गतिशीलता नहीं दे सकता। इन लक्ष्यों का अर्थ यह है कि बड़े उद्योग-धन्धों और भोजन के सम्बन्ध में हमारा राष्ट्र आत्मनिर्भर बन जाए। यदि भारत को इन दोनों क्षेत्रों के लिए विदेशी आयात का मुँह देखना पड़ता है तो हमारी अर्थमत्ता निम्न स्तर पर बनी रहेगी और हम निर्यात के क्षेत्र में कोई बड़ी उपलब्धि नहीं कर सकेंगे।

क्यों हम उद्योगीकरण पर बल दें? कारण स्पष्ट है। अपने राष्ट्र के भीतर ही हमारा बड़ा बाज़ार भी है क्योंकि ४३ करोड़ भारतीयों की क्रय-शक्ति बढ़ने पर उसे संतुष्ट करना हमारे उद्योग-धंधों का धर्म हो जाता है और उसकी पूर्त्ति के लिए हमारे पास प्रचुरता से औद्योगिक कच्चा माल है। लोहे और

इस्पात के निर्यात को अनेक दिशाएं देकर हम अपनी अर्थमत्ता को अपरिसीम विस्तार दे सकते हैं। वाष्प और विद्युत शक्ति, आवागमन के साधन और सुशिक्षित विशेषज्ञ तथा टेकनीशियन हमारी सब से बड़ी आवश्यकता हैं। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में आधुनिकीकरण और मशीनीकरण की संभावनाएं हैं। मशीन बनाने वाले और मशीनों का उपयोग करने वाले उद्योग-धंधों का विकास कर हम गांव और खेत तक बिजली पहुंचा सकते हैं और बाइसिकल तथा सीने की मशीनों के थोक निर्माण से भारत के ग्राम की काया पलट सकते हैं। रेल और युद्ध आधुनिकीकरण के प्रमुख अस्त्र हैं। हमें युद्ध नहीं चाहिये परन्तु भारतीय जीवन को यातायात और आयात-निर्यात की नई सुविधाएं देने की हमें नितांत आवश्यकता है। बड़े उद्योग-धंधे ही आधुनिक भारतवर्ष को दरिद्रता और आत्महीनता के अभिशाप से मुक्त कर सकते हैं। विपन्न कोटि की अर्थमत्ता को संपन्न और अपरिग्रही बनाना हमारा ध्येय है क्योंकि न हम पश्चिम के औद्योगिक राष्ट्रों पर अनादि काल तक निर्भर रहना चाहते हैं, न अपने उद्योग-धंधों को अविकसित ऐशियाई-अफ़्रीकी राष्ट्रों के शोषण का यंत्र बनाना चाहते हैं।

जहाँ कच्चा माल है, लोहे और इस्पात के निर्माण के लिए बाष्प और विद्युत्शक्ति है और साथ ही प्रच्छन्न बाज़ार है वहां मिलों और मशीनों पर आधारित औद्योगिक विकास-विकास का पहला चरण बन जाता है। हमारा औद्योगिक ढांचा ब्रिटेन और जापान की तरह नहीं, संयुक्त राष्ट्र अमरीका की तरह होगा जिसका मुख्य उद्देश्य जीवन-मान की उत्तरोत्तर अभिवृद्धि होगी। औद्योगीकरण के लिए भौतिक साधनों की हमारे देश में कमी नहीं है क्योंकि लोहे, मेगनीज, बॉक्साइट, कोयले, जलविद्युत और आणविक धातुओं का बड़ा भाण्डार हमारे पास है जिसका अल्पांश भी अभी उपयोग में नहीं आ सका है। भारतीय योजनाओं के केन्द्र में अन्न और बड़े उद्योग-धन्धे हैं जो नितांत उचित ही है। विपक्ष यही कह सकता है कि हमने इन लक्ष्यों को राष्ट्र की पूरी शक्ति के साथ नहीं साधा है। ग्रामीण पुनरुद्धार और कल्याण-राज्य की योजनाएं हमारे लिए कृषि-उत्पादन से कहीं अधिक महत्वपूर्ण हो गई हैं। इस्पात के कारखानों को हमने प्राथमिकता नहीं दी। फलतः हम १९५३ में ही रौरकेला, १९५५ में ही भिलाई और १९५६ में ही दुर्गापुर के इस्पात के कारखानों के सम्बन्ध में संधिपत्र पर हस्ताक्षर कर सके। दूसरी

योजना के लिए हमारे पास इस्पात की कमी इसीलिए रही कि इस दिशा में हमारा कार्यक्रम कुछ पीछे था। हम १९६६ तक प्रतिवर्ष ५० लाख टन इस्पात तैयार करना चाहते हैं परन्तु अभी यह लक्ष्य असंभव ही दिखलाई पड़ता है। इसके लिए अब हम अपने इस्पात के कारखानों को दुगना विस्तार दे रहे हैं, परन्तु उनके लिए प्राविधिक विशेषज्ञ और मैनेजर हमारे पास तैयार नहीं हैं। टेक्नीकल ज्ञान की विशेषज्ञता का अभाव आज हमारा सब से बड़ा अभिशाप है। अभी भारतवर्ष में हम विशेषज्ञ तैयार नहीं कर सके हैं। इसके लिये हमें छात्रवृत्ति पर बहुत बड़ी संख्या में विद्यार्थियों को विदेश भेजना पड़ता है परन्तु यह निश्चित है कि इस अभाव के रहते हुए हम आधुनिक ढंग के कारख़ानों से पूरा लाभ नहीं उठा सकते।

यह ठीक है कि हमारी योजनाएँ सामग्रिक हैं। अन्य राष्ट्रों की तरह हमने किसी एक दिशा को महत्व देते हुए एकांगी योजनाएँ नहीं बनाईं। विभिन्न जीवन-क्षेत्रों के संतुलित और संयोजित प्रसार पर हमने ध्यान रखा। यही नहीं, नगर और ग्राम, जन और शिष्ट, ज्ञान और विज्ञान, प्राइवेट और पब्लिक सेक्टर (क्षेत्र) जैसे विरोधी क्षेत्रों के लिए हमने एक साथ क्रांति का बीड़ा उठाया। यूरोप के राष्ट्रों को रिफार्मेशन, रेनैसां, फ्रांस-अमरीका-रूस की राज्यक्रांतियों और औद्योगीकरण के वाष्पीय-विद्युत-आणविक तीन चक्रों का लाभ आज प्राप्त है। हमें तीनसौ वर्षों की इन अनेक क्रांतियों को कुछ थोड़े से दशकों में पूरा करना है और कृषि-युग से हम एकदम आणविक युग में आ पड़े हैं। ऐसी स्थिति में हमारा उत्तरदायित्व ही नहीं बढ़ जाता, हमारी कठिनाइयां भी अधिक हो जाती हैं। हमारी योजनाओं में राष्ट्र के अन्न-वस्त्र और भौतिक जीवन के साधनों का विकास ही ध्येय नहीं रहा है, ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा के द्वारा उसके हृदय-मन के लिए भी हमें एक साथ व्यवस्था करनी पड़ी है। प्रतिदिन बढ़ती जन-संख्या के लिए एक चतुर्दिकी व्यवस्था की हमें आवश्यकता है परन्तु अपनी योजनाओं को निरन्तर चक्रव्यापी गति से वृहद् और उपयोगी बनाने के लिए जिस अपार धन-राशि को हमें लगाना था वह अभी प्राप्त नहीं है। राष्ट्र का अगाध धन अभी तिजोरी में छिपा पड़ा है या आभूषणों के रूप में व्यक्तिगत शोभा और गर्व की वस्तु बन रहा है। उसे राष्ट्र-निर्माण के क्षेत्र में लगा कर ही हम अपनी अर्थमत्ता को गतिशीलता दे सकेंगे।

भारतीय प्रजातंत्र का भविष्य

भारतीय प्रजातंत्र का भविष्य प्रजातंत्र की संस्था के भविष्य से जुड़ा हुआ है। वह अपने में स्वतंत्र और निरपेक्ष वस्तु नहीं है। अलबत्ता जो यह कहते थे कि प्रजातन्त्री शासन भारतीय जनता की प्रकृति के विरुद्ध है वह भारतीय गणतंत्र की सफलता पर मौन हैं। डॉ० काशीप्रसाद जायसवाल जैसे खोजियों ने बड़े परिश्रम से वैशाली, यौधेय, मालव आदि प्राचीन गणतन्त्रों के इतिहास का उद्घाटन कर कभी यह सिद्ध करना चाहा था कि हमारे यहां साम्राज्य या तानाशाही शासन ही नहीं रहा है, उदार राजतंत्र के साथ गणतन्त्र की प्रणालियां भी शताब्दियों तक चली हैं। परन्तु आज प्राचीन इतिहास में जाने की आवश्यकता नहीं। इतिहास के नए सत्य के रूप में हमारा गणतन्त्र प्रति वर्ष अधिक स्थायीत्व प्राप्त करता गया है। अठ्ठारहवीं शताब्दी के मध्य में हम कम्पनी के आधिपत्य में आये और १८५७ के बाद इंग्लैण्ड ग्रेट ब्रिटेन के प्रजातन्त्री वैधानिक (पार्लिमेंन्टरी) शासन को अधिनायकत्व प्राप्त हुआ। फलतः इंग्लैण्ड की गणतंत्री संस्थाएँ हमारे लिए स्पृहा की वस्तु बन गईं। १६८८ में इंग्लैण्ड का प्रजातंत्री शासन आरम्भ हुआ और उन्नीसवीं शताब्दी में वह संसार के गण्यमान्य प्रजातंत्री राष्ट्रों में से था। सच तो यह है कि इंग्लैण्ड की प्रजातन्त्रीय जड़ें बहुत गहरी गई हैं और अनेक बवण्डरों को झेल कर भी वह गणतंत्री चेतना के क्षितिज पर जाज्वल्यमान ध्रुव नक्षत्र की तरह दृढ़ रहा है। तात्पर्य यह है कि संसार के सब से प्रगतिशील प्रजातन्त्री राष्ट्र से इतिहास ने हमारा पल्ला बांध दिया था और हम वह हुए जो हमें होना था। वैष्णव भक्ति के आन्दोलन और ग्रामीण पंचायत की संस्थाओं ने हमें जिस राजनीतिक भूमिका के लिए तैयार कर दिया था, वह नए तन्त्र के रूप में चरितार्थ हुई।

१८८६ के लगभग नगरपालिका की संस्था की नींव पड़ी और १६३५ तक हम धीरे-धीरे स्वायत्त शासन के सब स्तरों को पारकर प्रांतीय स्वराज्य की भूमिका पर पहुँचे। सारांश यह कि नए ढंग के प्रजातन्त्री शासन का हमारा परीक्षा-

काल पचास वर्षों का रहा है। जहां विदेशी सरकार ने बड़ी सतर्कता से, अपने राष्ट्रीय स्वार्थों का निर्वाह करते हुए हमें प्रजातंत्र शासन के लिए शिक्षित किया वहां राष्ट्रीय संस्था के रूप में कांग्रेस ने भी इन पचास वर्षों में एक सशक्त प्रजातंत्री दल के रूप में सारे भारतवर्ष में अपना तानाबाना फैलाया। इस प्रकार हमारी स्वातंत्र्य-साधना एक प्रकार से प्रजातंत्री संस्थाओं के जन्म और विकास का इतिहास बन गई।

प्रजातंत्री जीवन-व्यवस्था व्यक्ति-स्वातंत्र्य पर आधारित है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी रुचि के अनुसार कार्य कर सकता है, विचार और कर्म के क्षेत्र में स्वयं अपना दीपक बन सकता है। इस व्यक्तिगत स्वतंत्रता की सीमाएँ भी हैं, जब वह समाज के अन्य सदस्यों की स्वतंत्रता में हस्तक्षेप करती है। वस्तुतः प्रजातंत्र शासन-पद्धति मात्र नहीं है, वह "रहंनि" है, जीवन-चर्या है। उससे आचरण की सभ्यता का जन्म होता है। अपरिबद्ध और अपरिसीम संभावनाओं का जीवन जी कर प्रत्येक व्यक्ति अपने जन्म को सार्थक बना सकता है। यह स्पष्ट है कि इस प्रजातंत्री जीवन का विरोध तानाशाही (फ़ेसिस्ट) और साम्यवादी शासनपद्धतियों और जीवन-परिपाटियों से है जो राजसत्ता को सर्वोपरि बना कर व्यक्ति के जीवन को पंगु बना देती हैं। उत्पादन और वितरण के केन्द्र राजसत्तात्मक होने पर सरकार साम्यवादी बनती है। यह दूसरी बात है कि वह सर्वहारा वर्ग की सरकार हो, या उसके नाम पर शासन करे। उद्देश्य महत्वपूर्ण है, साधन गौण हैं। हिटलर और मुसोलिनी के साथ तानाशाहियों का तो अंत हो जाता है परन्तु साम्यवाद का मोर्चा बना रहता है। वस्तुतः प्रजातंत्र और साम्यवाद ने मिल कर तानाशाही पर विजय प्राप्त की थी, परन्तु दो विरोधी दिशाओं में मुँह उठा कर चलने वाली जीवन-पद्धतियां सुविधा और आवश्यकता की भूमिका पर ही मिल सकती हैं, अन्यथा वे छत्तीसी ही रहेंगी। ऐसी स्थिति में मित्र-राष्ट्रों और रूसी अधिनायकवाद का समझौता कितने दिनों तक चलता? आज अमरीका और रूस के विरोधी मोर्चों को लेकर प्रजातंत्र और साम्यवाद आणविक कुकुरमुत्तों का दर्पोच्चार कर रहे हैं। उन्होंने संसार की शांति को ही संकट में नहीं डाला है मानव-जाति को निर्वंश करने का भी बीड़ा उठा लिया है। आणविक युद्ध के आतंक से ग्रस्त मानव-मन आज जीवन का विद्रूप बन गया है।

गांधी जी हमारी नई सांस्कृतिक और राजनीतिक चेतना के प्रतीक रहे हैं। उनमें व्यक्ति की स्वतंत्रता का गहरा आग्रह था। वस्तुतः उनके "सत्याग्रह" और "अहिंसा" के पीछे व्यक्ति के आत्मपरिष्कार तथा उसके द्वारा समाज के उन्नयन की योजना थी। यूरोप का व्यक्तिवाद जीवन-संघर्ष और योग्यतमावशेष के सिद्धांतों पर आधारित होने के कारण मनुष्य को पशुओं की पंक्ति में खड़ा कर देता है, इस सत्य को गांधी जी ने समझा था। अतः उन्होंने निवेदित कर्म को ही व्यक्ति के आत्मोत्सर्ग का प्रमाण माना। वह ईश्वर में जिये, व्यक्तित्व को उन्होंने निजत्व से बड़ी सार्थकता दी क्योंकि वह निःशेषतः सामाजिक बन कर जिये। इस प्रकार उन्होंने अपने व्यक्तित्व और कर्म में व्यष्टि और समष्टि के द्वन्द का समाधान कर लिया। अहं को सब के प्रति निवेदित कर या भूमा तक फैला कर ही हम उससे छुटकारा पा सकते हैं। गांधी जी ईश्वर के प्रति निवेदित थे, मानव-कल्याण के प्रति सार्वभौमिक। हमारी राष्ट्रीयता में उनके व्यक्तित्व और आदर्श का सर्वश्रेष्ठ आ गया है। फलतः भारतीय प्रजातंत्र अधिकारनिष्ठ नहीं, कर्त्तव्यनिष्ठ है। वह सर्वोदयी है, वर्ग-विशेष का पोषक नहीं, फिर चाहे वह वर्ग सर्वहारा वर्ग ही क्यों न हो।

पिछले वर्षों में हमने प्रजातंत्री संस्थाओं को केन्द्र और प्रांतीय राजधानियों से बाहर ला कर उसे गांवों में भी स्थापित किया है और इस प्रकार ग्रामीण स्वराज्य की नींव डाली है। अभी ये संस्थाएँ शक्ति संपन्न नहीं कर सकी हैं परन्तु इनके द्वारा एशिया में भारतवर्ष ही प्रजातंत्र का सब से सुदृढ़ गढ़ बन गया है। परन्तु आज के वैज्ञानिक युग में करोड़ों मनुष्यों के भरण-पोषण का प्रश्न केवल व्यक्तिगत प्रयत्नों या निर्दलीय संस्थाओं के द्वारा सफल नहीं हो सकता। अतः योजनाओं की आवश्यकता हुई। योजनाएँ साम्यवादी जीवनव्यवस्था की विशिष्टता हैं क्योंकि राष्ट्र ही जनता के जीवन के लिए उत्तरदायी है और उत्पादन वितरण के साधनों को अपने हाथ में लेकर उसने व्यक्ति के लिए कोई बड़ा अवकाश छोड़ा भी नहीं है। ऐसी स्थिति में योजनाएँ अनिवार्य हो जाती हैं। प्रधान मंत्री नेहरू ने हमें प्रजातन्त्री समाजवादी राष्ट्र का जो नया स्वप्न दिया है वह अमरीकी-अंग्रेज़ी तथा रूसी जीवन-पद्धतियों का समन्वय है और व्यावहारिक जीवनदर्शन के रूप में हम इसे मान्यता देकर चल रहे हैं। हमारी तीसरी योजना अभी आरम्भ हुई है और विशेषज्ञों के अनुसार पांचवीं योजना के बाद

हमारी अर्थसत्ता विदेशी उपसर्गों से मुक्त होकर स्वचालित बन जायेगी। यदि प्रजातन्त्र के प्रति हमारी आस्था अडिग है तो हम इस नए समन्वय में निश्चय ही सफल होंगे। हमारे इस प्रयोग की सफलता-असफलता पर ही ऐशिया के सद्यः स्वतन्त्र राष्ट्रों का भविष्य निर्भर है। वे साम्यवाद की ओर बढ़ें या प्रजातंत्र की ओर ? परिबद्धता या अपरिबद्धता ? राष्ट्र व्यक्ति के लिए हो या व्यक्ति राष्ट्र-मशीन का निरर्थक पुर्ज़ा मात्र बन कर रह जाये ? प्रश्न हमारी आस्था का ही नहीं है, पड़ोसी देशों के दवाव और विश्व-साम्यवाद के प्रयत्नों का भी है। हिमालय के पार चीन में साम्यवादी सरकार ने पिछले दस वर्षों में जो हलचलें की हैं वे हमारे राष्ट्रीय सुरक्षा के प्रयत्नों को ही संकट में नहीं डालतीं, हमारी अपरिबद्ध रहने की चेतना को भी झकझोरती हैं। चीनियों का आग्रह है कि हम उनके ख़ीमे के नीचे आ जायें। हमारे समाजवादी प्रयत्न उनके लिए हास्यास्पद हैं क्योंकि वे उनके तानाशाही ढाँचे और सामरिक प्रवृत्तियों से मेल नहीं खाते। अपने ही मन के सत्य के दावेदार बन कर वे हमारे प्रति आक्रोश, हिंसा और द्वेष की भावना से भर उठे हैं और इसका परिणाम नेफ़ा-लद्दाख क्षेत्र के चीनी आक्रमण के रूप में हमारे सामने आया है। साम्यवादी राष्ट्र तटस्थता का ढोंग कर सकते हैं क्योंकि आपसी भाई-चारे को छोड़ना उनके लिए अकल्पित बात है। चीन की इस चुनौती ने हमारे भारतीय प्रजातंत्र के भविष्य पर प्रश्नचिह्न लगा दिया है।

परन्तु क्या हमारी सांस्कृतिक परंपरा चीन से भिन्न नहीं है ? क्या हमारा धर्म, दर्शन, नीतिवाद, अध्यात्म और इतिहास मानव की चिन्मयता और अपरिबद्धता का उद्घोषक नहीं है ? क्या हमारी जीवन-चेतना में कहीं भी हिंसा के लिए स्थान है ? अहिंसक जीवन ही व्यक्ति-स्वातंत्र्य और लोककल्याण-साधना का जीवन हो सकता है। उसमें आत्मदान की परिबद्धता होगी, राजसत्ता की नहीं। यह स्पष्ट है कि हिमालय आज दो राष्ट्रों की नहीं, दो जीवन पद्धतियों की भी विभाजन-रेखा बना जा रहा है और अहिंसा को हिंसा की चुनौती स्वीकार करनी पड़ रही है। अमरीका और रूस के संघर्ष ने ऐशियाई संदर्भ में चीन-भारत के सीमा-विवाद का रूप धारण कर लिया है। एक प्रकार से, जाने-अनजाने हम सार्वभौमिक साम्यवाद के प्रचण्ड आवर्त्त में पड़ गये हैं। हम इस समस्या का समाधान राष्ट्रीय स्तर पर करना चाहते हैं परन्तु समस्या

का यह रूप ही भ्रामक है क्योंकि साम्यवाद रूस और चीन के लिए नई जीवन-पद्धति ही नहीं, नया धर्म भी है। उसकी कट्टरता की तुलना मध्ययुग के इस्लाम धर्म से ही की जा सकती है यद्यपि उसमें सिद्धांतवाद की नीरसता अपेक्षाकृत अधिक ही है। धर्म और नीति को वहिष्कृत कर वह भौतिक तथा अर्थशास्त्रीय भूमिकाओं पर टिक गया है। 'अहमन्नं अहमन्नादोऽहमन्नादोऽहमन्नादः। (में अन्न हूँ, मैं ही अन्नाद या भोक्ता हूँ......)। इस श्रुति की सार्थकता का नया स्वरूप राजसत्तात्मक जीवन की उस व्यवस्था में है जो ईसाई धर्म की असफलता से उत्पन्न होकर आधी धरती पर फल गई है। भारतीय प्रजातंत्र अन्न-वस्त्र की व्यवस्था को ही जीवन का अंतिम सत्य नहीं मानेगा, इसमें कोई भी संदेह नहीं है, परन्तु इसके लिए उसे कितनी बलि देनी होगी, इसे हम आज भी नहीं जानते।

प्रश्न यह है कि एशिया के नव स्वतंत्र राष्ट्रों में संप्रति जो औद्योगिक क्रांति जन्म ले रही है वह प्रजातंत्री चेतना से जुड़ती है या सैनिक शक्ति से। इधर कई राष्ट्रों में सैनिक अधिनायकत्व ने आधिपत्य स्थापित कर लिया है। पश्चिम के प्रजातंत्र के विकास को अनेक बाधाओं के पार करना पड़ा है। उसने नए आदर्शों को ही पल्लवित नहीं किया, उन्हें व्यावहारिक रूप भी दिया और प्राज्ञ (शिष्ट) जन के आचार-विचार और आकांक्षाओं के भीतर से ऐसे सांस्कृतिक मूल्यों का उद्घाटन किया जो मानव के व्यक्तित्व और उसके भविष्य को चरितार्थता देने में समर्थ थे। पश्चिमी समाज सुधारवाद, नव-जागरण और बुद्धिवाद की भूमिका से संपन्न होकर नई प्रजातंत्रीय प्रक्रियाओं के लिए तैयार हो चुका था। बौद्धिक मनुष्य और नैतिक मनुष्य का आदर्श अगतिशील अर्द्धविकसित समाज के लिए मरु-मरीचिका मात्र है। इसीलिए यह आवश्यक है कि हमारे प्रजातंत्रीय प्रयोग राष्ट्रीय और पारिवेशिक परिस्थितियों को ध्यान में रखें और हमारी सर्जनात्मकता सामाजिक वास्तविकता को विस्मृत नहीं कर दे। हमें बहुभाषी, बहुजातीय, बहुप्रांतीय समाज को उसके शिथिल ढीले-ढाले ढांचे के बावजूद एक ही सामासिक जीवन-धारा में संगठित करना है। स्थानिक जीवन के तानेबानों, संवेदनाओं और आकांक्षाओं को हमें नए भारतवर्ष की इन्द्रधनुषी कल्पना में एकीकृत करना है। प्रत्येक धागे का अपना रंग भी रहे और सारी बुनाई एक अंतर्ग्रथित चेतना को भी चरितार्थ

करे। यह स्पष्ट है कि भारतीय प्रजातंत्र का भविष्य समीकृत भारतीय संस्कृति से संबद्ध है। यदि हम अपने गणतंत्रीय-समाजवादी-औद्योगिक राष्ट्र के लिए एकान्वित संस्कृति का निर्माण कर सके तो हमारा यह नया प्रयोग जीवन-स्वर्ग में परिवर्त्तित हो जायेगा। अब तक भारतीय संस्कृति की एकता भौगोलिक ही रही है, अब उसे नए सिरे से विशिष्ट सामाजिक और आर्थिक हितों से संपन्न कर एक संगठित चेतना का रूप हमें देना होगा।

पहली बात तो यह है कि हम भारतीय प्रजातंत्र को कांग्रेस की एकता तक ही नहीं सीमित करें क्योंकि स्वातंत्र्योत्तर कांग्रेस विरोधी स्वार्थों का मुरब्बा बन गई है। हमें स्थानिक प्रवृत्तियों को अंकुश में रखना है जो भाषा-प्रांतों, राष्ट्रभाषा की समस्या, व्यापारिक और व्यावसायिक महत्वाकांक्षाओं से परिबद्ध हैं। आंध्र, महाराष्ट्र, गुजरात, विदर्भ, पंजाबी सूबा और नागालैण्ड के संबंध में स्थानिक आन्दोलनों को हम भूल नहीं जायें। जब तक हम विभिन्न प्रांतों और स्वार्थों के रहते हुए भी सर्वमान्य नेतृत्व को जन्म देते रहेंगे, चाहे वह कांग्रेस के भीतर हो या बाहर, तब तक भारतीय एकता और प्रजातंत्र का का भविष्य सुरक्षित है। परन्तु इसके लिए शुतुरमुर्ग की तरह आँखें मींच लेने से काम नहीं चलेगा। पिछले चुनावों के इतिहास से स्पष्ट है कि हमारी राजनीतिक संस्थाएं भी जातिवाद की शिकार हो गई हैं और उच्च, मध्य तथा निम्न वर्गों के पारस्परिक द्वन्द्वों ने हमारे सामाजिक और राजनीतिक जीवन को कटु बना दिया है। आज जातिवाद (या बिरादरीवाद ?) संस्था के रूप में सुदृढ़ बन गया है और व्यस्क वोट के अधिकार ने उसे राजनीतिक शक्ति बना दिया है।

दूसरी कठिनाई यह है कि हम राजनीति के क्षेत्र में अभी प्रयोगकर्त्ता ही बने हुए हैं, हमारी स्वतंत्र सर्जना विकसित ही नहीं हुई है। पश्चिम की राजनीतिक और शैक्षिक संस्थाओं को हम संपूर्ण रूप से ग्रहण कर रहे हैं परन्तु उनके प्रति भीतरी आस्था हम में नहीं है, न उन्हें हम अपनी संस्कृति और आकांक्षाओं के अनुरूप गढ़ सके हैं। हम अमरीका और रूस के बीच में झूल रहे हैं और गांधीवाद की दुहाई देते हुए भी धीरे-धीरे गांधी जी से दूर चले जा

रहे हैं । हमारी कल्याण-राज्य की कल्पना राम-राज्य की कल्पना से भिन्न है । आवश्यकता है स्वतंत्र उत्तरदायी और मौलिक सर्जन की । हमारी तटस्थता उस समय तक हमारा सब से बड़ा अभिशाप है जब तक हम उसे स्वतंत्र व्यक्तित्व नहीं दे पाते । अपने नव निर्माण के प्रति आस्थावान और अपने भविष्य के प्रति निश्चयी होकर ही हम अपने प्रजातंत्र को जीवनधर्मी बना सकेंगे । अपरिबद्धता और आत्मविश्वास के साथ सामाजिक न्याय, औदार्य तथा उत्सर्ग भावना में हमारे प्रजातंत्र का भविष्य सन्निहित है ।

सर्वोदय-आन्दोलन

सर्वोदय को क्या हम आन्दोलन कह सकते हैं ? क्या वह उस प्रकार भारतवर्ष की चेतना में प्रवेश कर सका है जिस प्रकार गांधी जी का सत्याग्रह आन्दोलन ? उसका स्वरूप क्या है और उसकी परिणति क्या होगी ? ऐसे अनेक प्रश्न आज हमारे सामने हैं। जिस प्रकार सत्याग्रह गांधी जी के व्यक्तित्व से जुड़ा हुआ है उसी प्रकार सर्वोदय भी उन्हीं की संत-मनीषा की उपज है। रस्किन के "अन-टु-दिस-लास्ट" ग्रंथ का गांधी जी द्वारा अनुवाद इसी नाम से प्रकाशित हुआ है। उस समय गांधी जी अफ़रीका में थे और अहिंसा और सत्य के प्रारंभिक प्रयोगों में लगे हुए थे। यह उन्नीसवीं शती के अंतिक दशक की बात है। १९१६ में वे भारत आए और उन्होंने स्वदेश की बंधन-मुक्ति को अपना जीवनोद्देश्य बना लिया। आत्मसंस्कार की भूमि पर देश की राष्ट्रीयता का पुनर्गठन उनकी साधना का प्रमुख अंग बन गया। यह सच है कि सत्याग्रह और अहिंसाधर्म में उनकी सर्वोदय-भावना ही पल्लवित हुई थी परन्तु उन्होंने तात्कालिक आवश्यकता को ध्यान में रख कर अपने जीवन-कार्य को राजनैतिक भूमिका प्रदान की। साबरमती और वर्द्धा में स्थापित आश्रमों में उनकी सर्वोदयी नए निर्माण की चेतना भी प्रयोगबद्ध हुई और नई सर्वोदयी संस्कृति की कल्पना का उदय भी इन्हीं प्रयोगों के भीतर से हुआ। परन्तु सर्वोदय को आन्दोलन के रूप में चलता सिक्का बनाने का श्रेय आचार्य विनोबा भावे को है। उन्हें हम गांधी जी की सर्वोदयी और आध्यात्मिक मनस्चेतना का उत्तराधिकारी मान सकते हैं। उन्होंने सर्वोदय को जीवन-व्यवहार के नए अर्थ दिये और अनेक प्रकार के दान-यज्ञों के कल्पना के द्वारा उसका क्रियान्वित रूप स्थापित किया। भूदान, श्रमदान, संपत्तिदान आदि के रूप में उन्होंने गांधी-युग की राष्ट्रनीति को धर्मनीति में परिवर्त्तित करने की चेष्टा की। इस प्रयत्न में उन्हें साधुवाद तो मिला परन्तु हमारे राष्ट्रीय नेताओं ने द्रष्टा के रूप में ही उन्हें सहयोग दिया। राष्ट्रीय सरकार की नीति सर्वोदयी नहीं बन सकी, वह दलबद्ध राजनीति और कल्याण-राज्य की वायवी भूमिका से ही लिपट रही। इस प्रकार सर्वोदय और कल्याण-राज्य अथवा

राष्ट्रीय समाजवाद के दो सूत्र समानान्तर चलते रहे और उनमें वह गठबंधन संभव नहीं हो सका जो गांधी जी की आध्यात्मिक और नैतिक चेतना को आर्थिक और भौतिक भूमियों पर चरितार्थ करता है। जो हो, यह स्पष्ट है कि आज सर्वोदय का आन्दोलन संत विनोबा के नाम से जुड़ा है और उसमें भारत की सहस्त्रों वर्षों की संत-साधना नये संदर्भ एवं अर्थ ग्रहण कर रही है।

मार्क्सवाद की तरह सर्वोदय भी एक संपूर्ण जीवनदशन है, संपूर्ण जीवन-चर्या। उसमें मानव-प्रवृत्तियों की चरितार्थता के लिए पर्याप्त स्थान है। सामाजिक-आर्थिक भूमियों के लिए भी दोनों समाज-दर्शनों में अपने-अपने ढंग की योजनाएं हैं। परन्तु जहां सर्वोदय अंतरात्मा की पुकार और हृदय-परिवर्त्तन को महत्व देकर आत्मिक परिबद्धता की एक "टेकनिक" आविष्कृत करता है, वहां मार्क्सवाद द्वन्दात्मक भौतिकवाद को ही देवता के सिंहासन पर बिठा देता है। मार्क्सवादी समाजदृष्टि द्वन्दात्मक और वर्गमूलक है। वह प्रत्येक युग के समाज में दो वर्गों की कल्पना करती है जिनमें से एक पुरोगामी होता है, दूसरा प्रगतिवादी। इन दोनों के संघर्ष में प्रगतिवादी वर्ग की विजय होती है परन्तु कालांतर में सामाजिक आयाम के उच्चतर धरातल पर पहुँच कर यह प्रगतिशील वर्ग ही अपने भीतर द्वन्द्वों के सृष्टि कर लेता है और उसके भीतर से नया प्रगतिशील वर्ग जन्म लेकर रूढ़िवादी चेतना को चुनौती देता है। इस प्रकार मार्क्सवाद के केन्द्र में एक स्वतंत्र, स्वचालित, द्वन्द्वात्मक निरंतरता की कल्पना है जिसने ईश्वर अथवा सृष्टि के नियंता का स्थान ग्रहण कर लिया है। इसके विपरीत सर्वोदय मनुष्य को अहिंसा, अभय और सत्य के मूलभूत आत्मिक मूल्यों से संचालित प्राणी के रूप में कल्पित करता है। उसके अनुसार ये मूल्य सहयोगी, सदाशयी और मानवीय होने के कारण अक्षय कोटि के हैं। सच तो यह है कि दोनों वादों का लक्ष्य "नया मानव" है जो अभावों और द्वन्द्वों से मुक्त महामना और महत् भी होगा परन्तु जहां सर्वोदय किसी एक वर्ग को महत्ता न देकर समस्त मानव-समाज की परिपूरकता में आस्था रखता है, वहां मार्क्सवाद सर्वहारा वर्ग को मानव-संस्कृति के सर्वोच्च शिखर पर स्थापित करता है।

यह कहा जाता है कि सर्वोदय का दर्शन अपरिग्रह, असंग्रह और अभाव का दर्शन है। इसके विपरीत मार्क्सवाद अबाध भौतिक संपन्नता और अशेष इन्द्रियतृप्ति को अपना जीवन-दर्शन बनाता है। वास्तव में दोनों विचारधाराएं परिस्थिति की उपज हैं और दोनों में थोड़ा-बहुत अतिवाद तो है ही। परन्तु यह अतिवाद जहां एक ओर कुछ थोड़े पूंजीपतियों की शक्ति और संपन्नता के विरोध में खड़ा हुआ है, वहां दूसरी ओर पश्चिम की जीवनमानी आकांक्षाओं को ही सब कुछ मानने वाले भारतीय शिष्ट वर्ग के प्रति चुनौती लेकर सर्वोदयी वर्ग सामने आया है। स्वयं पश्चिमी राष्ट्रों में भी ऐसा वर्ग है जो नागरिक जीवन, बुद्धिवाद और विज्ञान के भार से मुक्त होकर पूर्वीय संस्कृतियों की ग्राममयता और संतोषवृत्ति में खो जाना चाहता है। इन शिष्ट वर्गों की प्रतिक्रिया को ध्यान में रखें तो इन विरोधी विचारधाराओं और जीवन-दर्शनों की भूमिका स्पष्ट हो जाती है। पश्चिमी पूंजीवाद ने उपनिवेशों और औद्योगिक क्रांतियों के द्वारा वर्ग-विशेष के लिए जिस स्वर्ग का निर्माण किया उसने अपने भीतर से ही राष्ट्र-संचालित अर्थमत्ता और योजनाओं की परबद्धता में नए समाजवादी तंत्र का आविष्कार कर लिया। पृष्ठभूमि भौतिक होने के कारण और ईसाई धर्म की अपरिग्रहता के विरोध में पश्चिम में भौतिक सुखों का आदर्श ही पल्लवित हो सका। इसके विपरीत विश्व-धर्मों की भूमि भारतवर्ष में संत-संस्कृति की भूमिका पर अहिंसा, सत्य और अभय के आधार पर सर्वोदयी संस्कृति की ही कल्पना हो सकी। यह निश्चित है कि यदि हम पश्चिमी संस्कृति की अंतरंगी विडम्बनाओं और द्वन्द्वात्मक स्थितियों से अपने देश को बचाना चाहते हैं तो हमें अपने सांस्कृतिक दाय के अनुरूप ही अपने नये जीवन-बोध का निर्माण करना होगा।

प्रश्न है कि हमारे देश में जो नई औद्योगिक क्रांति आरंभ हो गई है उसमें क्या यह सर्वोदयी चेतना व्याघात नहीं उत्पन्न करती? क्या इसमें हमारी द्वैध मनःस्थिति नहीं उभर आई है? एक ओर हम भौतिक जीवन को संपन्न करना चाहते हैं और पश्चिम के औद्योगिक राष्ट्रों के समकक्ष रहना चाहते हैं। हमारे प्रधानमंत्री पंडित नेहरू इस विचार परंपरा के प्रतीक हैं। वे नए भारतवर्ष को प्रथम श्रेणी का वैज्ञानिक और औद्योगिक राष्ट्र बनाने की स्पर्द्धा रखते हैं। दूसरी ओर आचार्य विनोबा भावे और बाबू जयप्रकाश

नारायण विकेन्द्रीकरण को इस दूरी तक ले जाना चाहते हैं कि प्रत्येक गाँव एक इकाई बन जाये और ग्राम-स्वराज्य के रूप में ये असंख्य इकाइयां अपनी चौड़ी तलभूमि से उठ कर एक उत्तुंग स्तूप का रूप धारण कर लें जो भारतीय गणतंत्र के नाम से प्रख्यात हो। निश्चय ही ये दो विरोधी दिशाएं हैं और अभी हम यह कल्पना भी नहीं कर सकते कि इन दोनों के समझौते, समीकरण, समन्वय या योगायोग का क्या रूप होगा। परन्तु यह अच्छा है कि हम भावी पीढ़ियों के सामने कोई अंतिम व्यवस्था नहीं रख रहे हैं और दोनों दिशाओं को अपने-अपने प्राकृतिक विकास की ओर ही अग्रसर कर रहे हैं। वास्तविकता यह है कि पूर्व के देशों में नागर संस्कृतियां बराबर बनती-बिगड़ती रही हैं और ग्राम-संस्कृतियों की ही लंबी परंपराएं चली हैं। नव्यतम नागर-संस्कृति पश्चिमी नागर संस्कृति के नवीनतम रूप को ही लेकर चलना चाहती है जो वैज्ञानिक-भौतिकवादी चेतना से अनुप्राणित और जीवनमानी दृष्टिकोण से अभिभूत है। ग्राम-संस्कृति संत-संस्कृति है और गांधी-विनोबा का सर्वोदय विचार और जीवन-चर्या की दृष्टि से उसी का प्रतिनिधित्व करता है। यह आवश्यक है कि दोनों संस्कृतियों के बीच की खाई पटे परन्तु उस तरह नहीं जिस तरह पश्चिम में। पश्चिम में गांव समाप्त हो गये हैं या हो रहे हैं चाहे अमरीका हो या रूस, और ग्रामीण क्षेत्र सामूहिक कृषि-क्षेत्र में बदलता जा रहा है। नागर जन ही हेलिकॉप्टरों में आ कर लोहे के हलों और मशीनों से यहां खेती करेंगे और शाम को उन्हीं यानों पर अपने महानगरों में लौट जायेंगे। निश्चय ही यह स्थिति विस्मयकारक होने पर भी आह्लादजनक नहीं हो सकती क्योंकि इसमें मानवीय संवेदना, प्राकृतिक जीवन-चर्या और मानवीय गुणों की चरितार्थता के लिए किंचित् मात्र भी स्थान नहीं रहेगा। यांत्रिक सभ्यता की पराकाष्ठा पर पहुँच कर मनुष्य अपनी सार्थकता ही खो बैठे तो उस यांत्रिक सभ्यता को लेकर हम क्या करेंगे? यह ठीक है कि आज पूर्व के करोड़ों मनुष्यों के लिए हमें अन्न-वस्त्र, आवास और मनोरंजन की योजना करनी है और उसमें हमारी सारी शक्ति लगेगी। पश्चिम की समृद्धि तक हम अर्द्धशताब्दी या शताब्दी के बाद भी पहुँच सकेंगे, यह कहना कठिन है, परन्तु जब तक हम वहां पहुँचेंगे तब तक पश्चिम या तो अपनी भौतिक दौड़ से थक कर हार मान लेगा या आणविक युद्ध से संसार को ही नष्ट कर देगा। ऐसी स्थिति में सर्वोदय महत्वपूर्ण स्मरणचिह्न के रूप

में हमारी आध्यात्मिक, नैतिक और सांस्कृतिक आकांक्षाओं की ओर इंगित करता रहेगा। भविष्यत् पीढ़ियों के लिए यह प्रश्न टाल कर हम अपने उत्तरदायित्व से मुक्त नहीं हो जाते परन्तु इस समय किसी निश्चय पर पहुँचना न संभव है, न उपादेय। पश्चिम के अनेक विचारकों और मनीषियों की दृष्टि आज हमारे सर्वोदयी प्रयोगों पर लगी है। उनकी सफलता जहां हमें नई आस्था देगी, वहां पश्चिम के सामने भौतिकवादी गोरखधंधे से निकलने का एक अत्यंत सुगम मार्ग भी रखने में समर्थ होगी। राज्य की तानाशाही के स्थान पर आत्मा की स्वतंत्र क्रियाशीलता की स्थापना हमारी मानवता को चरितार्थ करेगी और तब हम सच्चे अर्थों में ईसा, बुद्ध और गांधी के सांस्कृतिक उत्तराधिकारी कहे जा सकेंगे। सर्वोदय हमें अपने इस मूलभूत उत्तराधिकार के प्रति सजग करता है। विज्ञान का जीवन ३०० वर्षों से अधिक नहीं है, कम-से-कम प्रायोगिक विज्ञान के संबंध में यह निश्चय के साथ कहा जा सकता है। परन्तु मनुष्य जाति का सांस्कृतिक जीवन सहस्रों वर्ष पुराना है और उसे छोड़ना संभव भी नहीं है। इसीलिए विज्ञान के चमत्कारों की चकाचौंध में हम नहीं पड़े। उससे ऊपर उठ कर हम प्रेम, सौहार्द और मैत्री के स्रोत मानवात्मा की ओर मुड़ें। मनुष्य की देह नहीं, उसकी आध्यात्मिक और नैतिक चेतना को धारण करने वाली उसकी आत्मा हमारा लक्ष्य हो। सर्वोदय का संदेश यही है। वह गांधीवाद की दार्शनिक पीठिका है। उसको हृदयंगम किये बिना हम बीसवीं शताब्दी की सबसे बड़ी पूर्वीय क्रांति के मर्म से बंचित रह जायेंगे।

गाँधीवाद

महापुरुषों के जीवन की एक बड़ी विडम्बना यह है कि उनके अनुयायी और प्रशंसक उन्हें अपने विचारों की सीमा में बाँध देते हैं और उनकी अत्यंत मौलिक और प्राणवान चेतनाएँ व्यक्ति और युग की सीमाओं में बँध कर क्षयी बन जाती हैं। जैसे-जैसे युग बीतता जाता है उसका प्रकृत रूप नष्ट होता जाता है और व्यक्तियों तथा युगों के आरोप उभरते जाते हैं। फलतः उनके नाम पर प्रचलित मतवादों में ये महापुरुष कम होते हैं, या विकृत रूप में ही मिलते हैं। वादीय भूमिकाओं की यदि कोई सार्थकता है तो यही है कि उनके द्वारा महापुरुषों के विचार संगठित होकर कालप्रवाह में अक्षुण्ण बने रहते हैं परन्तु वे सांप्रदायिक होकर तर्क-वितर्क, विरोध तथा अस्वीकार को भी जन्म देते हैं। बुद्ध, ईसा और गांधी सब के साथ ऐसा ही हुआ है। उनके नाम पर प्रचलित मतवाद उनकी जीवन्त प्रेरणा से कम ही हैं, या दूसरे शब्दों में, मानव की सामान्यता और हठधर्मिता उनपर हावी हो गई है। गांधी जी कहा करते थे कि उनका कोई निजी धर्म, मत या संप्रदाय नहीं है। वे "गाँधीवाद" के विरोधी थे क्योंकि वाद का अंत ही दुराग्रह और संकोच है। सत्य का प्रयोगी उसे दुराग्रही और संकोची क्यों बनाएगा ?

प्रत्येक महापुरुष अपना जीवन जीता है। यह सत्य या सत्य के प्रयोगों का जीवन होता है और जिये हुए रूप में ही उसकी सार्थकता रहती है। वह कठिनाइयों की आग में तपता है और पग-पग पर विरोध और अस्वीकार से लड़ता है। उसकी चेतना के सूक्ष्म और परिष्कारी रूप को ग्रहण करने के लिए हमें उसके जीवन-सत्य से परिचित होना होगा। व्यक्ति ही व्यक्ति का जीवन ग्रहण कर सकता है, संपूर्ण समाज और संप्रदाय नहीं। इसीलिए गाँधी का जीवन जीना व्यक्ति की साधना की वस्तु रहेगी, वह वाद में नहीं बंध सकेगी। गाँधीवाद में गाँधी जी के सिद्धान्तों की व्याख्या भले ही मिले, उसमें गाँधी-चर्चा का व्यावहारिक रूप चाहे उभरे परन्तु गांधी-धर्म उसमें कितना रहेगा। "वाद" गांधी नहीं हो सकता और गांधी "वादीय" क्या

"विवादीय" भी नहीं होंगे क्योंकि वाद के साथ विवाद है जो किसी भी महापुरुष की सार्थकता नहीं हो सकती।

इस स्थिति में हम "गाँधीवाद" से क्या समझें ? स्वयं गांधी जी का अपना जीवन तथा कर्म के प्रति दृष्टिकोण इस संदर्भ में महत्वपूर्ण होगा। मार्च २८,१९३६ के "हरिजन" में उन्होंने स्पष्ट रूप से लिखा है कि उन्होंने सत्य और अहिंसा के उतने बड़े पैमानों पर प्रयोग किये हैं जितना उनके लिए संभव था। परन्तु ये दोनों तत्व सृष्टि की तरह प्राचीन हैं। उनका दावा यही था कि उन्होंने कुछ शाश्वत सत्यों को अपने जीवन और युग की समस्याओं पर लागू किया है। ये सत्य उन्हें भगवद्गीता और बाइबिल (अंजील) में मिले। इन ग्रंथों में जो हैं उसके संबंध में गांधी जी किसी विशेष दृष्टि के दावेदार नहीं थे। उन्होंने अपने को प्रकाश का अन्वेषी तथा अंधकार में टटोल कर चलने वाला जिज्ञासु कहा है। यह स्पष्ट है कि उनके विचार धार्मिक और आध्यात्मिक मूलाधारों पर टिके हैं। उन्होंने लौकिक तथा भौतिक चिन्तन और व्यवहारवाद को महत्व नहीं दिया। इसीलिए उनके जीवन और विचार में रहस्यवाद का पुट आ गया है और तटस्थ तथा वस्तुगत भूमिका पर उनका विश्लेषण असंभव है। जो व्यक्ति कार्डिनल न्यूमेन की तरह अंधकार में घिरा होने पर भी एक ही क़दम भर प्रकाश पाने की प्रार्थना करे उसके अदम्य साहस को हम क्या कहेंगे परन्तु उसके साहस के स्रोत को हम समझेंगे भी कैसे ?

इस ईमानदारी को क्या कहा जाये कि गांधी जी ने कभी सत्य के साक्षात्कार का दावा नहीं किया, वे उसके लिए साधक ही बने रहे। क्या हम इस दृष्टिकोण को ही सत्य-साधक की सब से बड़ी देन नहीं मानेंगे ? सत्य क्या हैं, इसे कौन जानता है ? ऋषि और पैग़म्बर जिसे जाना हुआ सत्य कहते हैं उसका प्रमाण क्या आप्त वचन मात्र है ? क्या उनके समय में उनका अंतिम प्रमाण नहीं रहा होगा ? वस्तुतः गांधी जी की सीमाएं ही उनकी विशिष्टता और शक्ति बन गई हैं और उन्हें बँधे हुए मानदण्डों पर परखा नहीं जा सकता। महाकवि रवीन्द्रनाथ जैसी जीवन के प्रति व्यापक और रागात्मक अनुभूति गांधी जी की नहीं है। काव्य, कला और अंतरंगी जीवन-

चेतना का सूक्ष्मतम बोध उन्हें है। मनुष्य को उन्होंने ईश्वर-स्वरूप ही माना है। सामाजिक जीवन के परिष्कार और उन्नयन पर उनकी आँख बराबर लगी रही है और सामाजिक क्रांति के लिए सम्यक् साधन के प्रति उनकी शोध भारतीय परंपरा की संत-साधना से भिन्न नहीं है। उन्हें हम बुद्ध के करुणावाद का ही प्रायोगिक रूप कह सकते हैं। मानव-संबंधों को व्यक्तिगत स्वार्थ और समाजविरोधी चेतना से बाहर निकाल कर लोकसेवा, प्रेम और उदारता के खुले नीलाकाश के नीचे खड़ा करना गांधी जी का जीवन-प्रयत्न रहा है। उनका गांधीवाद साध्य में नहीं, साधनों में है। साध्य और साधन की अंतरंगी एकता को पहचान कर उन्होंने साधना की विशुद्धता और निःसंगता पर बल दिया। अहिंसा, अभय और असंग उनके लिए साधन हैं और सत्य साध्य है। परन्तु मूलतः इनमें कोई भेद नहीं है क्योंकि साधन प्रति क्षण साध्य में बदलता जाता है। फलतः गांधी जी साधन को ही लक्ष्य की तरह लेकर चलते हैं क्योंकि वह अपने पैरों के नीचे की धरती को ही देखना चाहते हैं। अल्प में ही भूमा की साधना ही पिण्ड में ब्रह्माण्ड की साधना है। इस भूमिका पर हमारा प्रत्येक क्षण पूजा बन जाता है और प्रत्येक कर्म मर्म। गांधी जी का जीवन श्रेष्ठतम काव्य है क्योंकि वह कवि की भांति कर्म में नहीं, मर्म में जीते हैं, परन्तु उनका मानव-हृदय का ज्ञान और उस पर अपार आस्था उन्हें व्यावहारिक क्षेत्र में भी अपराजित बना देते हैं।

गांधी जी के जीवनदर्शन की कुछ विशेषताओं को हम गांधीवाद का नाम दे सकते हैं जैसे साधन की श्रेष्ठता पर विश्वास, निरंतर आत्मपरिष्कार की आवश्यकता, अधिकार की अपेक्षा कर्त्तव्यनिष्ठा पर बल, अपरिग्रह तथा सर्वोदय का महत्व। ये तत्व ऐसे नहीं हैं कि इन्हें किसी व्यवस्थित दर्शन का रूप दिया जाये परन्तु उनके मूल में एक ऐसा सूत्र है जो उन्हें जोड़ता है। यह आस्तिकता का सूत्र है जो गांधी जी के व्यक्तित्व, जीवन और चिन्तन का प्राण है। उन्होंने ईश्वर को सत्य के रूप में ही अवतरित माना है और लोकमंगल प्रेम, करुणा और अहिंसा की साधना में उसकी चरितार्थता देखी है। यह स्पष्ट है कि गांधी-दर्शन हिन्दू दार्शनिक परंपरा से ही अनुप्राणित है। उसमें हम मध्ययुग के संतों और नरसी मेहता तथा तुलसीदास जैसे

भक्तों की साधना का व्यावहारिक रूप देख सकते हैं। "एकं सद विप्रः बहुधा बदन्ति" सूत्र में जिस मानसिक और आत्मिक उदारता एवं सहिष्णुता की ओर इंगित है उसकी चरितार्थता ही भारतीय संस्कृति की समन्वयात्मकता है। गांधी जी में भारतीय हिन्दू परंपरा इस्लामी और ईसाई धर्मों और संस्कृतियों का सर्वश्रेष्ठ अपना कर अपनी भावभूमि में विस्तार करती है। परंतु यूरोप की विचारधाराओं से भी उन्होंने कम नहीं लिया है। टालसटाय, रूसो, थोरो, उन्नीसवीं शताब्दी के अराजकतावादियों, रस्किन, टी० एच० ग्रीन और ब्रेडले की उदार सामाजिक विचारधारा का गाँधीदर्शन में पूर्णतः आत्मसात हो गया है। रस्किन के "अन टु दिस लास्ट" को गांधी जी ने "सर्वोदय" के नाम से अनूदित भी किया था। परन्तु उनकी सर्वोदय की भावना में रस्किन ही नहीं, अन्य विचारकों की धारणाएँ भी जुड़ गई हैं। पूर्व और पश्चिम के नए-पुराने सांस्कृतिक उपदानों का विराट और अनायासिक संगम गांधी जी के व्यक्तित्व और जीवन से उदाहृत होकर विश्व-संस्कृति को नए मोड़ पर खड़ा कर देता है। आग़ाखां-पैलेस के अपने अंतिम बंदी जीवन में उन्होंने मार्क्स के "केपिटल" का भी गंभीर अध्ययन आरंभ किया था। तात्पर्य यह है कि गांधी जी को हम स्वप्नद्रष्टा और अव्यावहारिक मान कर उनके सत्य के प्रयोगों को छोटा नहीं कर सकते। उनका संपूर्ण जीवन ही सत्य का प्रयोग रहा है परन्तु ये प्रयोग निरंतर बड़ी उपलब्धि की ओर बढ़ते गये हैं।

जहां तक व्यक्तिगत आत्मपरिष्कार का संबंध है उसे किसी राजनीतिक वाद की भूमिका पर नहीं अपनाया जा सकता। सामाजिक उन्नयन के वादीय प्रयत्न समूह को लेकर चलते हैं, व्यक्ति को लेकर नहीं, परन्तु यह निश्चित है कि व्यक्ति का सुधार समाज और राष्ट्र का सुधार है। समाज व्यक्तियों के समूह का ही नाम है और उसको केन्द्र में रखे बिना समाज-सुधार और राजनीतिक क्रान्ति की जो योजना कल्पित की जाती है वह बहुत कुछ अधूरी ही रहती है। गांधी जी के "आश्रम" उनकी व्यावहारिक जीवन दृष्टि और अदम्य कर्मण्यता के प्रमाण हैं। उन्होंने कथनी और करनी की एकता को अपने सब प्रयत्नों के मूल में रखा है। "आश्रम" का जीवन संयम, परिश्रम, आत्म-परिष्कार और आत्मशोध का जीवन था और उसमें दैहिक श्रम को

केन्द्रीय स्थान मिला था। बुनाई-कताई से मल-मूत्र साफ़ करने तक का कार्य आश्रम के सदस्य ही करते थे। इस प्रकार जीवन की एकता और श्रममूलकता का पाठ पढ़ कर वे नैतिक और आध्यात्मिक जीवन की ओर बढ़ सकते थे। इस तैयारी के बाद राजनीति उनके लिए आत्मोपलब्धि और लोकसेवा का साधन बन जाती थी, वह शक्तिपूजा नहीं रहती थी। परिपूर्ण जीवन का उपभोग देह-मन-आत्मा की समस्त शक्तियों के संतुलित संचालन में है, इस सत्य को यूरोप में राबर्ट ओवेन, सेंट-साइमन और फ़ौरियर जैसे समाजवादी विचारकों ने भी समझा था और समाजवादी आश्रमों (सेटिलमेन्ट्स) की स्थापना के द्वारा अपने विचार को व्यावहारिक रूप भी उन्होंने दिया था परन्तु गांधी के प्रयत्न उनके व्यक्तित्व और व्यापक जीवन-भूमिका के कारण अप्रत्याशित रूप से महत्वपूर्ण हो जाते हैं। यदि कहीं व्यावहारिक गांधीवाद है तो इन्हीं "आश्रमों" में है। परन्तु ये आश्रम संस्थाएँ नहीं, व्यक्ति गांधी के सत्य के प्रयोग हैं। उनका जीवन गांधी जी के साथ समाप्त हो जाता है और जो थोड़ा-बहुत जीता है तो विनोबा के संगी-साथियों में।

व्यक्ति "वाद" नहीं होता। मार्क्स ने ईश्वर को धन्यवाद दिया था कि वह मार्क्सवादी नहीं हैं। गांधी जी ने भी गांधीवाद को स्वीकार नहीं किया। तब हम किस गांधीवाद को लेकर चलना चाहते हैं ? क्या वह हमारी क्षुद्रताओं और स्वार्थों की पताका है या अग्नि की जलती मशाल है या तेज़ छुरे की धार ? हमें गांधी में जीना है, गांधीवाद में नहीं। गांधी में जी कर ही हम जीवन की नित्य नवीन चुनौतियों का सामना कर सकेंगे। यह जीना व्यक्तिगत और आत्मगत ही हो सकता है परन्तु सारा समाज उसे जी सके तो पृथ्वी पर स्वर्ग ही उतर आये। गांधी जी का रामराज्य का सपना मनुष्य के मूलभूत स्वातंत्र्य और ऋतंवरा जीवन का ही सपना है। वह स्वराज्य से कहीं बड़ी चीज है। स्वतंत्र भारत के सामने वह विद्युल्लेखा की भांति चमके और हम निरंतर उसकी ओर बढ़ें, इसी में गांधी-दर्शन की सार्थकता होगी।

गांधीवाद नहीं, गाँधी जी का जीवन ही उनका संदेश है और आने वाली पीढ़ियों के लिए वही दीपशिखा बनेगा। जनता से तादात्म्यता, लोकमंगल-

साधना, अप्रतिम साहस और अक्षय आत्मदान गांधी जी के प्रमुख तत्व हैं। उन्हें कोई भी अपना सकता है। उनकी विचार-धारा को हम मानववादी विचारधारा का ऐसा विस्तार मान सकते हैं जो मनुष्य को आध्यात्मिक स्फुलिंग मानती है और ईश्वरीय चेतना से मण्डित करती है। वह मनुष्य की भौतिक सुख-सुविधा की साधना करती हुई भी उसके आत्मिक तेज को प्रदीप्त रखती है। संत न पूर्व का होता है, न पश्चिम का। सच्चा और सीधा जीवन आनन्द, प्रेम और करुणा का अहिंसक जीवन है जो अथक साधना, संयम और समरसत्व से ही सध सकता है। बौद्धिक और भौतिक ही नहीं, आत्मिक साम्य, बन्धुत्व और स्वातंत्र्य की भी आवश्यकता है। यहीं गांधीदर्शन मार्क्सवाद से भिन्न और श्रेष्ठतर हो जाता है क्योंकि वह जीवन को बाहर से बाँधता नहीं, भीतर से खोलता है। अहिंसा उसका अस्त्र है, हिंसा नहीं। उसकी क्रांति रक्त-रंजित नहीं, निष्कंप दीपशिखा-सी श्वेत है। वह आत्मोपलब्धि है, शक्ति-साधना वह नहीं है। उसकी विराग-साधना लाक, प्रकृति और परमेश्वर के प्रति उत्कट राग की साधना है। तुलसी ने "रामचरित-मानस" में राम के चरित्र में जिस संततत्व की स्थापना की है, आधुनिक लोकैषणी जीवन की भूमिका पर उसकी चरितार्थता ही गांधीवाद की भूमिका हो सकती है।

पूर्व और पश्चिम

किप्लिंग ने कहा था कि पूर्व-पूर्व है, पश्चिम-पश्चिम है और दोनों कभी नहीं मिलेंगे। एक दिन ऐसा था कि हम इसे अकाट्य सत्य मान बैठे थे। परन्तु आज न कहीं पूर्व है, न पश्चिम। दोनों मिल ही नहीं रहे हैं, दोनों संसार के प्रत्येक मनुष्य में मिल रहे हैं, मिल कर एक हो रहे हैं। पूर्व और पश्चिम का यह आलिंगन आज की शताब्दी का सब से बड़ा सत्य है और इसे हम विश्व-मानव के जन्म की पीठिका कह सकते हैं। डॉ आर० सी० मजूमदार का विचार है कि पूर्व पश्चिम हो गया है क्योंकि पूर्व ने अपनी वेश-भूषा, रहन-सहन, विज्ञान-टेक्नोलॉजी के क्षेत्र में ही पश्चिम को नहीं अपनाया है, उसकी जीवन-दृष्टि पर भी पश्चिम छा गया है। आज पूर्व विकासवाद, मार्क्सवाद, फ्रायडवाद और सापेक्षवाद का नाम लेकर शपथ खाता है। हमारे प्रश्न ही नहीं, समाधान भी पश्चिमी हैं। अतः हम पश्चिमी संस्कृति द्वारा विजित होकर, अपनापन खो कर विश्वैक्य के माध्यम बन गये हैं।

परन्तु यह अर्द्धसत्य है, पूरा सत्य नहीं। पिछले वर्षों का आदान-प्रदान एकदम एकतरफ़ा नहीं रहा है। पश्चिम ने भी पूर्व से लिया है। रूसो, इमर्सन, थोरो, टाल्सटाय, वाल्ट ह्विटमेन, इलियट, आदि ने पश्चिम की भौतिक और यंत्रवादी संस्कृति के प्रति जो विद्रोह खड़ा किया और उसे नई सांस्कृतिक चेतना दी, वह पूर्व के आध्यात्मवाद तथा प्राच्य विद्या की ही देन है। इन्हीं विद्रोहियों से सूत्र लेकर महात्मा गांधी ने पूर्व में यंत्रवाद के विरुद्ध आन्दोलन खड़ा किया। यह आन्दोलन सफल नहीं हो सका क्योंकि इसमें पूर्व-पश्चिम के समन्वय की चरितार्थता नहीं थी। गाँधी जी के सत्य के प्रयोग हमारी राजनीतिक मुक्ति का साधन तो बन गये परन्तु वे पूर्व की आत्मा को बचा नहीं सके। नेहरू के रूप में आज हम एक नए पीटर महान को अपने देश में सक्रिय पाते हैं और देश का औद्योगीकरण पश्चिमीकरण का नया सोपान है। परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि पूर्व पश्चिम से हार

गया है। इतिहास-देवता ने अपनी रांगोली के लिए जो चूर्ण तैयार किया है उसमें पूर्व का रंग कम नहीं है।

चार बार पश्चिम पूर्व के संपर्क में आया है। पहली बार स्थल मार्ग से, दूसरी बार जल और स्थल दोनों मार्गों से, और तीसरी-चौथी बार जलमार्ग मात्र से। पहली बार उसने ग्रीक-रोमन सभ्यता को हमारे उत्तर-पश्चिम द्वार पर खड़ा कर दिया और मध्य एशिया में एक बड़ा शाद्वल बना कर भारत और चीन के हृदय में प्रवेश करना चाहा। सिकन्दर का आक्रमण इस पश्चिमी अभियान का ऐतिहासिक अध्याय है। कुषाणों और यवनों ने पश्चिमी भारत और काश्मीर में केन्द्र स्थापित कर महायान और गांधार कला के रूप में एक नए संगम को ही जन्म नहीं दिया, कालिदास के महाकाव्यों और नाटकों तथा बाद के काव्य-शास्त्र और दर्शन के विकास के लिए भी भूमिका तैयार की। ग्रीक सौन्दर्य-बोध, दर्शन, साहित्य-कला और शास्त्र-चिन्तन भारतीय नवजागरण के उपकरण बन कर नई जीवन-चेतना और गुप्त युग के स्वर्णिम आयाम बन गए। भारतीय राजनीति को चक्रवर्त्तित्व की ओर मोड़ने का श्रेय इस आक्रमण को ही है और कौटिल्य तथा वात्स्यायन पश्चिम की भौकि उपलब्धियों को अपने भीतर समेट कर उनसे भी बड़ी उपलब्धि हमें देते हैं। बारहवीं शताब्दी तक हमारे जीवन को उन्होंने अनुशासित किया है। रामायण और महाभारत के द्वारा अखण्ड भारत और सुव्यवस्थित तथा सौन्दर्यचेतस् जीवन की हमारी चेतना सुदूर पूर्व तक पहुँची।

पश्चिम का दूसरा अभियान इस्लाम की धर्मचेतना और सामाजिक न्याय (साम्य) को लेकर आया और उसने लगभग छः शताब्दियों तक हमारी चेतना को झकझोरा। इसका सम्बन्ध ग्रीक-रोम संस्कृति से न होकर अरब-ईरान की संस्कृति से था परन्तु यह इस्लामी संस्कृति एकांतिक नहीं थी। उसमें ग्रीक-रोम संस्कृतियों का ही नहीं, यहूदी संस्कृति का भी योग था। यह सेमांटिक योगायोग पूर्व और पश्चिम की आर्य संस्कृतियों के लिए बहुत बड़ी चुनौती था। हमारे इतिहास को उसके भीतर से गुज़रना पड़ा। मध्य-युग का वैष्णव भक्तिवाद का आन्दोलन और रीतिकाव्य इस चुनौती के ही उत्तर हैं। आघात का स्वरूप धार्मिक और सामाजिक था और हमें बहुत दूर

और गहरे जा कर उपनिषदों पर टिक कर आत्मरक्षात्मक बनना पड़ा तथा भक्तिवाद के द्वारा समाज की कट्टरता को दूर करने का प्रयत्न करना पड़ा। पश्चिम में दांते और पूर्व में कबीर और तुलसी इस्लाम के सांस्कृतिक प्रभाव और नए योगायोग को ही सूचित करते हैं।

सौलहवीं शताब्दी में पश्चिम ने इस्लाम के प्रभाव से मुक्त होकर उसके प्रभाव को खण्डित करने का प्रयत्न किया। उसने अपनी सामुद्रिक शक्ति को जगाया और अफ़्रीका की प्रदक्षिणा कर भारत महासागर में इस्लामी देशों के पीछे पहुंच कर अपना नया अभियान आरंभ किया। पुर्तगाली, डच, अंग्रेज़ और फ़्रांसीसी इस आक्रमण के अग्रनेता थे। मिश्र-भारतवर्ष से चीन-जापान तक पश्चिम का यह अभियान फैला था। अपने नवजाग्रत ईसाई धर्म को पश्चिम ने पूर्व पर लादना चाहा परन्तु इस दिशा में वह सफल नहीं हो सका क्योंकि पूर्व इस क्षेत्र में किसी के लिए तैयार नहीं था। परन्तु उन्नीसवीं शताब्दी में जब यूरोप फिर एक बार टेक्नॉलाजी को लेकर पूर्व में पहुंचा तो पूर्व के द्वार उसके लिए खुल गए। वह शोषण का अस्त्र बन कर आया था परन्तु पूर्व के पास यह नया ज्ञान नहीं था। जापान और चीन ने उसे अपना कर पश्चिम को द्वार पर ही खड़ा रखा। इस्लामी देशों में मिश्र और तुर्की ने पश्चिम की इस नई चुनौती के स्वीकार कर अपने सैनिक संगठन को नया रूप दिया और बलपूर्वक जीवन को बदल डाला। बलात् जीवन को बदलने में जो पीड़ा फूटी वह आज भी मध्यपूर्ब में विस्फोटात्मक बनी हुई है। इसी तरह सुदूर-पूर्व के स्वीकार में एकांतिकता का आग्रह पश्चिम के विद्रोह की ही सूचना है और जापान-चीन से पश्चिम का मोर्चा बराबर बना हुआ है।

भारतवर्ष में पश्चिम का प्रवेश प्लासी के युद्ध (१७५७ ई०) के फलस्वरूप अठारहवीं शताब्दी के मध्य में हुआ और धर्म तथा टेक्नोलॉजी की दोहरी मार उस पर एक साथ पड़ी। उसने धर्म को पचा कर निरस्त्र कर दिया और टेक्नोलाजी की ओर उसका आकर्षण नित्यप्रति बढ़ता गया। उन्नीसवीं शताब्दी के अंत तक राजा राममोहनराय से विवेकानन्द तक भारतीय धर्मों की व्याख्या के नवीन प्रयत्न चलते रहे और ईसाईधर्म के मानवतावादी स्वरूप को पूर्णतः अपना कर लोकधर्मी वेदांत के रूप में हमने नई आध्या-

त्मिकता को जन्म दिया। विवेक और आनन्द की साधना के रूप में पूर्व-पश्चिम का नया सांस्कृतिक समन्वय सामने आया। इसे ही गांधी जी ने सत्य और अहिंसा के नाम से सत्य के नए प्रयोगों का रूप दिया। हिन्दू चेतना को ईसाई करुणा तथा प्रेम-भावना से ओतप्रोत कर हमने अपने आंतरिक जीवन को नए अर्थ दिये। सच तो यह है कि पूर्व-पश्चिम का सच्चा समन्वय भारतवर्ष में ही हुआ। आध्यात्मिक पीड़ा के द्वारा इस समन्वय को जो सिद्धि मिली है वह उसे एकदम नई उपलब्धि बना देती है। स्वाधीनता के बाद आज हम पश्चिम की टेक्नोलॉजी को अपनाने में लगे हैं।

आर्नाल्ड टॉयनबी ने आश्चर्य प्रगट किया है कि भारत पश्चिम की टेक्नोलॉजी को अपना कर भी अंतःपीड़ित क्यों नहीं है। उनके विचार में कहीं गहरा दबाव है जो विस्फोटात्मक बन सकता है जैसा चीन और रूस के उदाहरण में इन राष्ट्रों के साम्यवाद (कम्यूनिज़्म) के आग्रह से स्पष्ट है। परन्तु भारतवर्ष ने ईसाई धर्म के इस विरोधी स्वर (क्रिस्चियन हेरेसी) को नहीं अपनाया है और वह अपनी नई धर्मचेतना पर अडिग खड़ा है। कदाचित् टॉयनबी उन्नीसवीं शताब्दी के सांस्कृतिक समन्वय को भूल गये हैं जो राजा राममोहनराय से विवेकानन्द तक भारतीय धर्म-चेतना में ईसाई धर्म-चेतना की खोज का ही इतिहास है। यह स्पष्ट है कि इस खोज ने हमें नई अंतदृष्टि दी और हम ईसाई धर्म के सर्वश्रेष्ठ को अपने निजी पर्यायों पर अपना सके। फलतः आज टेक्नोलॉजी का ग्रहण और स्वीकार हमारे लिए कोई बड़ी समस्या नहीं है। साम्यवाद का डंक हमने तोड़ दिया है। प्रजातन्त्री कल्याण राज्य और समाजवादी जीवन व्यवस्था, ग्रामीण पंचायतें तथा सहयोग-समितियां साम्यवाद के प्रति शांतिपूर्ण संक्रमण के हमारे प्रारंभिक चरण हैं। इस प्रकार पश्चिम की टेक्नोलॉजी अपनाते हुए भी हमने साम्यवाद को पश्चिम के विरोध का अस्त्र नहीं बनाया है। हमारी इतिहास-चेतना कटुताओं और आत्महीनतापूर्ण स्मृतियों को नहीं उभारती। वह इतिहास-देवता के वरदान ओढ़ती है, उसके अभिशापों को भूल जाती है। गांधी जी द्वारा संचालित सत्याग्रह-संग्राम इस प्रक्रिया का सबसे महत्वपूर्ण अंग रहा है। वही पूर्व-पश्चिम के बीच हमारे सेतुबंध रहे हैं, परन्तु वही क्यों, रवीन्द्र, अरविन्द, नेहरू और राधाकृष्णन् ने भी पूर्व-पश्चिम के इस योगा-

योग में कम भाग नहीं लिया है। आज भारतवर्ष दो सौ वर्षों की उत्पीड़क शासक-जाति अंग्रेजों के प्रति भी प्रेम और सदाशयता से ओतप्रोत है और परतंत्रता तथा शोषण की स्मृतियाँ उसने अवचेतन में से निकाल डाली हैं। इसे ईश्वर का वरदान ही कहा जा सकता है। पूर्व-पश्चिम के नए समन्वय को आगे बढ़ा कर भारतवर्ष यदि उसे मानव के सांस्कृतिक विकास का अनिवार्य चरण बना देता है तो यह कम महत्वपूर्ण बात नहीं होगी।

पश्चिम की टेक्नोलॉजी और पूर्व की धर्म-चेतना का सर्वश्रेष्ठ लेकर ही नई मानव-संस्कृति का निर्माण होगा। पश्चिम नया धर्म चाहता है, पूर्व नया ज्ञान। दोनों की अपनी अपनी आवश्यकता है। वहां यंत्र है, मंत्र नहीं। यहां मंत्र है, यंत्र नहीं। वहां भौतिक संपन्नता है, यहां आध्यात्मिक संपन्नता है। पश्चिम के आध्यात्मिक दैन्य को दूर करने में पूर्व के मैत्री, करुणा और अहिंसा के संदेश महत्वपूर्ण होंगे तो पूर्व के भौतिक दैन्य को पश्चिम की टेक्नोलॉजी दूर करेगी। पूर्व-पश्चिम के मिलन से ही मनुष्य की देह और आत्मा को एक साथ चरितार्थता मिलेगी। इससे टेक्नोलॉजी जड़ता के बंधनों से मुक्त होगी और पूर्व का अध्यात्मवाद परलोकवाद तथा निष्क्रियतावाद से छुटकारा पायेगा। भाग्यवाद को टेक्नोलॉजी को सौंप कर हम मनुष्य की कर्मण्यता को चरितार्थ करेंगे और इस धरती के जीवन को ही स्वर्गोपम बनायेंगे। जीवन से भाग कर नहीं, उसके भीतर से ही हमें लोक-मंगल की साधना करना होगी। विरागात्मक आध्यात्मिकता का स्थान रागात्मक (लोकमांगलिक) आध्यात्मिकता लेगी। यह आध्यात्मिकता लोकमंगल तथा लोकसेवा में ही चरितार्थता पायेगी। मनुष्य मात्र के दुःख, उत्पीड़न, अभाव और अश्रेयस्कर के प्रति संवेदित और क्रियाशील होकर ही हम अपनी आध्यात्मिकता को प्राणवान और सार्थक बना सकेंगे। ज्ञान को शक्ति नहीं, परमार्थ तथा बलिदान में ढाल कर ही हम अपनी मनुष्यता को उजागर करेंगे। प्रकृति से हमने जो पाया है उसे हम बलात् छीनी हुई चीज़ क्यों मानें? क्यों हम यह नहीं मानें कि प्रकृति ने मनुष्य के प्रति खुल कर उसके भीतर कृतज्ञता के तार जगाने का ही प्रयत्न किया है। खोलती है बुद्धि परन्तु क्या वह अंतर्ज्ञान का ही व्यावहारिक रूप नहीं है? प्रकृति के प्रति सहयोगी, कृतज्ञतावान तथा सदाशयी होकर ही मनुष्य अपनी भीतरी प्रकृति को राग-द्वेष से मुक्त करता है और स्पर्द्धा को प्रेम में बदलता

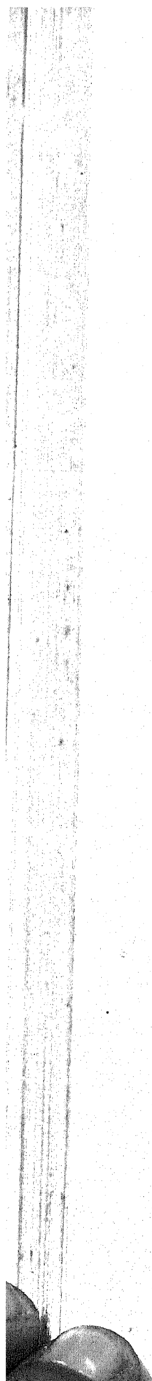
है। प्रज्ञोपायी बन कर ही हम आणविक टेक्नोलॉजी को मानव-कल्याण का साधन बना सकेंगे। हमने जो पाया है वह चिद्शक्ति का अवतरण ही कहा जा सकता है। उसे कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार कर तथा लोकमंगल का साधन बना कर हम आरोहणव्रती बनेंगे। अवतरण ही सत्य नहीं है, आरोहण भी सत्य है। दोनों के मैत्री-भाव से ही ऋत्-चक्र बनता है।

पूर्व-पश्चिम भारतवर्ष की पुण्य भूमि पर मिल रहे हैं। महामानवों की ऐतिहासिक मिलन-भूमि पर आज संस्कृतियों का यह नया संगम हमें गर्व, श्रद्धा और विनम्रता से भरे। खुले हृदय और दोनों हाथों से हम पश्चिम को समेटें और खुले हृदय तथा दोनों हाथों से पश्चिम को अपना शताब्दियों का अर्जित अध्यात्म-भाण्डर बाटें। मनुष्य न पूर्व का है, न पश्चिम का है। अतः वह निजी, अंतर्बोधी तथा आत्मिक है। उसे बाहर जगत में नहीं, बुद्धि, मन, अंतःकरण और आत्मा की भूमिका पर भी मिलना होगा। सच्चा मिलन आत्मिक ही होता है। किप्लिंग का कथन सत्य सिद्ध हुआ है क्योंकि साम्राज्यवादी कवि के लिए पूर्व-पश्चिम के मिलन की कल्पना आनंदनीय नहीं हो सकती थी परन्तु विधाता कृपण नहीं हैं और उन्होंने इतिहास-देवता के हाथों में विषभाण्ड ही नहीं दिया है, अमृत-पात्र भी उन्हीं हाथों में धर दिया है। ऐसे कितने अवसर आये हैं जब इतिहास का गरल ही अमृत बन गया है क्योंकि द्वार तोड़ कर बलात् घुस कर भी प्रकाश यदि अंधकारपूर्ण कक्ष को ज्योति से परिप्लुत करता है तो अस्वीकार की पीड़ा आनन्द में बदल जाती है। पूर्व पश्चिम का यह द्वन्द्व यदि मानव-समाज को एक्य, साम्य तथा बन्धुत्व की नई भूमिका देता है तो वह मानव-जीवन की सार्थकता ही होगी।

प्रश्न यह है कि क्या भारत के पास कुछ देने के लिए नहीं रहा है? क्या उसने अपनी भौगोलिक सीमाओं के बाहर जा कर किसी बड़े समन्वय की स्थापना नहीं की है? क्या वह निष्क्रिय बैठा रहा है कि बाहर के संघात आयें और वह इस्पात को सोने में बदले? उत्तर में यह जान लेना होगा कि भारतवर्ष यूरोप-जैसा महाद्वीप है। वह चारों ओर से रस खींचता और उसे अपने जीवन-प्रयोग का अंग बनाता रहा है। उसके संपुट में पश्चिम का आसुरी भाव आया है तो उसने उसे देवत्व में बदल कर उसे सुदूर पूर्व में फैलाया भी

है। यही नहीं, उसने पश्चिम को उससे अधिक लौटाया है जितना उसे मिला है। ग्रीक-रोमन चेतना को उसने महायानी चेतना देकर ईसाई धर्म की भूमिका का निर्माण किया और मध्ययुग में इस्लाम की घृणा की तलवार को सूफ़ी धर्म की प्रेम की पीर की साधना में बदल कर नृशंस मध्यएशियाई जातियों को मानव-संस्कृति में दीक्षित किया। कांची के राजकुमार बोधिधर्म चीन में शून्यवाद और सहजयान को ले गये और "ध्यान" (ज़ेन मत) के रूप में एक नई जीवन-चेतना पूर्व को मिली। समन्वय और आत्मदान भारतवर्ष की संस्कृति के मूलाधार रहे हैं। कमल का भीतर से खुलना ही उसकी सच्ची सार्थकता है और पूरा खुल कर वह गंध का एक कण भी अपने लिए बचा कर नहीं रखता। निःशेष आत्मदान ही भारतवर्ष की निःश्रेयस्-साधना है। आज भी पश्चिम की टेक्नोलॉजी को लोकमंगल की साधना का हेतु बना कर वह नए प्रज्ञोपायी जीवन को उन्मुक्त करने का उपक्रम लेकर प्रस्तुत है। पश्चिम के ज्ञान को मानव-सापेक्ष बना कर और उसकी सत्य की साधना को शिव और सुन्दर के लिए आहूत कर वह उसकी एकांगिता को दूर करेगा और प्रज्ञावाद के इस नए स्वरूप को उपाय अर्थात् करुणा का वाहक बनायेगा। सत्य न पूर्व का है, न पश्चिम का। इसी तरह टेक्नोलॉजी लोककल्याण के लिए उत्सर्गित होकर राष्ट्रीयता के संकीर्ण भाव से मुक्ति पाती है और मानवीय बनती है। इसी विराट् भूमिका पर आधुनिक जीवन के धर्म और विज्ञान के नए समन्वय की ओर हम बढ़ रहे हैं। पूर्व-पश्चिम सापेक्ष शब्द हैं क्योंकि जहां हम खड़े हैं वहीं सब दिशाओं का मिलन-बिन्दु है। मनुष्य को सृष्टि की नाभि में स्थापित कर हम विदिशा को भी अवन्तिका बना सकते हैं। "तद्दूरे तदवन्तिके।" जो दूर है, वह पास ही तो है। पूर्व-पश्चिम मानवीय चेतना में अपूर्व बन कर ही सार्थक होंगे।

: धर्म और दर्शन :



धर्म और संस्कृति

"संस्कृति" शब्द के पर्याय अंग्रेज़ी "कल्चर" शब्द का प्रयोग इमर्सन ने १८३९ में पहली बार आधुनिक संदर्भ में किया और संपूर्ण उन्नीसवीं शताब्दी में इस शब्द में नए-नए अर्थ भरे गए। इमर्सन से इलियट तक यह शब्द अर्थ-विस्तार पाता गया है और इलियट इस निष्कर्ष पर पहुँच गए हैं कि धर्म संस्कृति की भांति ही मानव की ऐसी उपलब्धि है जो अपने भीतर सब कुछ समेट लेती है। उन्होंने अन्त में इन दोनों को समानार्थी जैसा मान लिया है। सच तो यह है कि पश्चिम के बुद्धिवाद और विज्ञानवाद ने ईसाई धर्म से विद्रोह कर उससे छुटकारा पाने के लिए संस्कृति शब्द का आविष्कार किया और धर्म को मानव की अन्य मानसिक उपलब्धियों के साथ नीचे धरातल पर रखा गया। धर्म संस्कृति का एक अंग माना गया, दर्शन दूसरा अंग। इसी प्रकार संस्कृति के भीतर के अद्यतन जीवन के संपूर्ण उपसर्ग कल्पित कर लिए गए। संस्कृति और धर्म में अंगी-अंग का संबंध माना गया। परन्तु यहाँ धर्म अध्यात्म से भिन्न वाह्याचार मात्र है। धर्म का सर्वोच्च रूप अध्यात्म और दर्शन को भी आत्मसात करता है और वह अंततः ऐसी जीवनदृष्टि बन जाता है जो हमारे मानसिक और आत्मिक जीवन का निर्माण करती है।

भारतीय दृष्टि में धर्म संस्कृति की सब से बड़ी इकाई है। उसमें सब समा जाता है। धर्म वह है जो मानव-जीवन को समग्रता में धारण करे। वह कर्त्तव्य या "रहनि" मात्र नहीं है। वह उच्चतम और व्यापकतम जीवनदृष्टि है। धर्म के दस लक्षणों में मानव के व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन का सब कुछ आ गया है। यही लक्षण संस्कृति के श्रेष्ठतम उपकरण होंगे। तात्पर्य यह है कि धर्म से भाग कर पश्चिम संस्कृति की शरण में गया है परन्तु वहाँ उसे प्रच्छन्न रूप से धर्म ही मिला है। मनुष्य की चेतना में ही धर्म और संस्कृति का निर्माण होता है। हमारे सारे स्वीकार-अस्वीकार उसी में रहते हैं। आरनॉल्ड ने माधुर्य और प्रकाश (स्वीटनेस एण्ड लाइट) के दो तत्वों को संस्कृति का अनिवार्य अंग माना है। बौद्ध धर्म में इसे ही प्रज्ञोपायी चेतना कहा गया

है और गाँधी जी ने सत्य और अहिंसा के आग्रह में नए पर्याय में इसे ही सामने रखा है। यही विवेक और आनन्द की साधना भी है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि संस्कृति आत्मदानपूर्वक आत्मोपलब्धि है। "तेन त्यक्तेन भुंजीथा" का त्यागपूर्व भोग का आदर्श धर्म ही नहीं, संस्कृति का भी मूलाधार है।

धर्म के प्रति पश्चिम का विरोध मध्ययुगीन पोपवाद के कारण है जिसने नव-जागरण की चेतना का तीव्र विरोध किया और अंध श्रद्धा के बाँध बाँध कर सत्य के प्रवाह को रोकना चाहा। यह धर्म का असम्मान नहीं, रूढ़ियों के प्रति मानव की जागरूक आत्मा की प्रतिक्रिया है जो शैवाल-जाल को हटा कर चेतना की निर्मल जल-राशि तक पहुँचना चाहती है। श्रद्धा और बुद्धि का विरोध धर्म और शस्त्र के विरुद्ध तर्क और विज्ञान का विरोध माना गया है। परन्तु तर्क इन्द्रजालिक है, वह सत्य तक नहीं पहुँच सकता। निर्लेप अन्तःकरण में ही सत्य की ज्योति उतरती है। इक़बाल ने अक़्ल और इश्क के द्वन्द्व में बुद्धि और श्रद्धा के द्वन्द्व को चरितार्थ किया है परन्तु भारतीय जीवनादर्श श्रद्धामूलक ज्ञान को ही सत्य मानता है और उसे अनेकांती समझ कर स्याद-वादी चेतना पर केन्द्रित हो जाता है। सत्य सापेक्ष है। वह विषयीगत है। जहां वह वस्तुगत है वहां भी किसी के लिए उसके समस्त पहलुओं का उद्घाटन संभव नहीं है। सत्य ईश्वर है। उसका ईश्वरत्व उसकी सर्वगाहिता एवं सर्वभुकता में ही है। अंश के लिए अंशी को समझने में जो असार्थकता है वही क्षुद्र के लिए विराट के आत्मसात में है। परन्तु धर्म तार्किक या प्रायोगिक ज्ञान को प्रज्ञा नहीं कहता। धर्म का आधार प्रज्ञात्मक ज्ञान है जो न वस्तुगत है, न विषयीगत। वह श्रद्धात्मक एवं आत्मगत है। इसीलिए धर्म प्रज्ञावादी है और उसे अध्यात्म का चर्यागत और व्यावहारिक रूप ही कहा जा सकता है। वह संस्कृति की भाँति जीवन-व्यवहार है, तत्वदर्शन मात्र नहीं है।

धर्म का तत्व रहस्य है तो संस्कृति भी कम रहस्यमय नहीं है, परन्तु धर्म की तरह व्यवहार में आ कर और व्यक्तिनिष्ठ होकर वह प्रकाश की तरह सहज और पवन की तरह प्रसादपूर्ण बन जाती है। हम संस्कृति में ही जीते हैं क्योंकि संस्कृति ही युग-सत्य है। उसमें इतिहास-चेतना का सर्वश्रेष्ठ आत्मसात हो जाता है और अतीत तथा आगम वर्तमान के मिलन-बिन्दु पर आ टिकते हैं।

जीवन की सार्थकता शास्त्र और चिन्तन में नहीं, जीने में ही है। यही बात धर्म और संस्कृति के विषय में कही जा सकती है। जी कर हम जीने को सार्थक करते हैं। धर्म और संस्कृति की चरितार्थता परोक्ष, प्रकृति और मनुष्य के प्रति हमारे सहभाव में है। परोक्ष के प्रति विनत और प्रकृति के प्रति सहयोगी बन कर ही हम अपनी मनुष्यता को चरितार्थ कर सकते हैं। बलात् छीन कर हम जो पाते हैं वह खंडित और अपूर्ण ही रहता है। आधुनिक वैज्ञानिक और प्राविधिक संस्कृति प्रकृति के शोषण और परोक्ष के अस्वीकार पर आधारित है। इसी से उसमें दंभ का इकेलापन और खण्डित होने की पीड़ा है। हमने वाह्य प्रकृति को ही जीता है, अंतःप्रकृति से हम पराजित ही हुए हैं। सितारों से आगे की दुनिया को हम अपनी बाहुओं में बांधना चाहते हैं परन्तु प्रतिवेशी (पड़ौसी) के प्रति हमारीं करुणा, क्षमा और दया जाग्रत नहीं होतीं। यहीं मनुष्य की पराजय है।

यदि हम धर्म के सच्चे रूप को समझ कर उसे संस्कृति का अंग नहीं बनाते तो संस्कृति अधूरी ही बनी रहती है और हम उसे मनुष्यता की चरितार्थता का साधन नहीं बना सकते। पंच महाव्रतों (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह) के रूप में भारतवर्ष में प्रेम, सत्याचरण, सम्यक् जीवन, सर्वसमर्पण और त्याग को महत्व दिया गया है। व्यक्तिगत जीवन का परिष्कार ही इनके द्वारा कल्पित नहीं, समष्टिगत जीवन की चरितार्थता भी इन्हीं में है। अहिंसा, अस्तेय और अपरिग्रह (असंग्रह) के सामाजिक और अर्थ-शास्त्रीय क्षेत्रों में लागू करने का नाम ही समाजवाद और साम्यवाद है। स्वतंत्रता, समानता और बन्धुत्व का नारा अहिंसा, अस्तेय और अपरिग्रह का नारा है क्योंकि अहिंसात्मक जीवन सर्वोदयी और सर्वग्राही ही होगा। उसमें शोषण, उत्पीड़न और बलप्रयोग को स्थान ही नहीं मिलेगा। यह ठीक ही कहा गया है कि औद्योगिक क्रांति के निष्कर्षों को ईसाई धर्म चरितार्थक नहीं बना सका और फलस्वरूप आर्थिक वितरण की असमता ने "कम्यूनिज़्म" (साम्यवाद) को जन्म दिया। भोग को वर्ग-विशेष में केन्द्रित कर हम दूसरों को त्यागपूर्वक जीवन का उपदेश नहीं दे सकते। जहां भोग हमारे योग (अहिंसा, मैत्री) को खण्डित करता है और वर्गों की दरारे डाल कर जीवन को असम बना देता है वहाँ विस्फोट अनिवार्य है। धर्म की व्याव-

हारिकता ही उसे महार्घ बनाती है, सिद्धांतों और ग्रंथों में बन्दी सत्य उपहासास्पद है। आधुनिक जीवन की असंगति के मूल में अर्थ-विभाजन की असमता है परन्तु गहरे जा कर अहिंसा और मैत्री का अभाव ही हमें मिलता है। एक शब्द में यदि धर्म को बांधा जा सके तो वह 'अहिंसा' ही है। शोषण, उत्पीड़न और वर्गसंघर्ष पर आधारित समाज हिंसात्मक ही हो सकता है। बलात् साम्य भी हिंसात्मक ही है। फलतः प्रजातंत्री और साम्यवादी राष्ट्र अपने-अपने ढंग पर हिंसक राष्ट्र ही हैं। वे अराजक राष्ट्र नहीं सही, परन्तु हिंसा अराजकता की पहली सीढ़ी अवश्य है। अपनी समाज-रचना और राजनीति को अहिंसा पर खड़ा करने पर ही हम सच्चे अर्थों में मानवीय संस्कृति के उन्नायक बन सकेंगे। हिंसा प्रकृति है। उसे विकृति भी कहा जा सकता है। अहिंसा ही संस्कृति है। माधुर्य और प्रकाश उसी की देन हैं। अतः धर्म और संस्कृति दोनों अहिंसा की भूमिका पर सत्य के अन्वेषी हैं। यह सत्य सहज साधना का ही दूसरा नाम है। वह आत्मदर्शन है। अल्प को भूमा की भूमिका पर उठा कर ही हम अपने घेरे के बाहर निकल सकते हैं। घेरे बांधने में ही हिंसा है। धर्म और संस्कृति को हम विरोधी तत्व न मान कर एक ही चीज़ समझें और अहिंसा में उसकी चरितार्थता देखें।

वैष्णव धर्म और राष्ट्रीयता

वैष्णव धर्म हमारा राष्ट्रीय धर्म है क्योंकि वह भारतवर्ष की अपराजित जीवन चेतना का प्रतीक है। वसु परिचर से भगवान श्रीकृष्ण तक वैष्णव धर्म के विकास का एक युग चलता है। वह गीता-धर्म के रूप में पहली बार सार्थकता प्राप्त करता है। गीता से भागवत तक उसके विकास का दूसरा चरण हमारे सामने आता है। इन दोनों ग्रंथों के बीच का पंदरह शताब्दियों का विस्तार वैष्णव धर्म की दिग्विजय की कहानी है। उत्तर का वासुदेव धर्म दक्षिण में पांचरात्र संप्रदाय के माध्यम से पहुँच कर आलवारों की भाव-चेतना में व्यक्तिगत साधना का सर्वोच्च शिखर बन जाता है परन्तु उत्तर भारत में सामाजिक संगठन और राजनीतिक प्रतिकार के क्षेत्रों में भी उसका योगदान कम नहीं। पुष्यमित्र से भागदत्त तक वैष्णव धर्म बौद्ध धर्म को परास्त कर राष्ट्रीय धर्म बनता है। हेलियोदोरस के गरुड़स्तम्भ को इस विजय की कीर्त्ति-पताका कहा जा सकता है। बाद में गुप्त राजाओं के 'परम वैष्णव' विरुद में और पौराणिक चेतना में वह भारतीय पौरुष का वाहक बनता है। भागवत में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि भगवान विष्णु ने हूण, गुर्जर, आभीर, किरात पह्लव आदि हीन जातियों का उद्धार किया और उनकी शरण प्राप्त कर ये जन कृतार्थ हुए। तात्पर्य यही है कि ये समाज वहिर्भूत विदेशी जातियां हिन्दू धर्म में दीक्षित हो गईं और उन्हें संस्कारी बनाने का श्रेय वैष्णव धर्म को ही है। ५०० ई० से १००० ई० तक गुप्तों की यह परंपरा वर्द्धनों, प्रतिहारों और राजपूतों द्वारा विकसित होती हैं और ईसा के दूसरे सहस्राब्द में भक्तिवाद के द्वारा उसका प्रसार होता है। रामानन्द से महात्मा गांधी तक वैष्णव धर्म की ही जय-ध्वनि गूंजी है। विष्णु की पताका हाथ में लेकर हीन जातियां भी राजपूत बन गईं और उन्होंने आर्य धर्म के पालन में अपने जीवन को भी उत्सर्ग कर दिया। 'परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुश्कृताम्। धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे-युगे।' यह गीता का भगवद्-संकल्प है। विष्णु संरक्षक हैं। वे दुष्ट दलनकारी हैं। धर्मसंस्थापन उनका व्रत है। इस आश्वासन ने हिन्दू जाति की जीवन-चेतना को

दृढ़ ही नहीं किया, उसे शौर्य और शक्ति भी दी। इसीलिए वैष्णव धर्म आत्मसंस्कार को ही लेकर नहीं चला, वह अपराजयी जीवन-चेतना का भी प्रतीक बना। अन्य धर्म इतनी दूर तक नहीं जाते। परन्तु विष्णु तेजस् के प्रतीक हैं। वह आदित्यधर्मी हैं। वह अनृत पर ऋत् की विजय के उद्घोषक हैं। इसीलिए भारतवर्ष की राष्ट्रीय शौर्य की परंपरा विष्णु-भक्तों को मान्य रही है और संत, सती तथा शूर समान रूप से राष्ट्र के लिए बलि देने को तैयार रहे हैं। तीनों में एक ही तेज प्रस्फुटित है। जब तक धर्म में धारण करने की शक्ति है, तेज है, तब तक भारतवर्ष वैष्णवधर्मी है। वह अत्याचार, उत्पीड़न और शोषण के प्रति खड्गहस्त है। राष्ट्रीय युद्धों में वैष्णव भक्त ही अग्रगामी रहा है। शिवाजी और क्षत्रसाल में जो राष्ट्रधर्म क्षत्रधर्म के रूप में जिया है वह वैष्णव धर्म ही है। अपराजित आत्मनिष्ठा और अक्षुण्ण जीवन-चेतना का प्रतीक वैष्णव धर्म गीता को खड्ग बना कर चलता है। उसमें उपनिषद् के अद्वैत धर्म की सामाजिक और राष्ट्रीय व्यावहारिकता मिलती है। वह भारतीय आत्मा का जयघोष है।

विष्णु अंतर्यामिन् और सर्वव्यापिन् है परन्तु वैष्णव भक्तों ने उनके लिए एक विशेष लोक की भी कल्पना की है जहां वह सगुण रूप में शक्ति (लक्ष्मी) के साथ विराजमान हैं। उन्हें क्षीरसागरवासी और शेषशायी भी बताया गया है। रामानुज के अनुसार जड़ जगत शेष है जिसको शय्या बना कर विष्णु प्रकृति के साथ विहार करते हैं। इस विचारधारा के अनुसार सृष्टि पुरुष की देह बन जाती है और उसकी मायात्मकता का परिहार हो जाता है। विष्णु के हाथ में शंख, चक्र, गदा-पद्म दे कर उनकी सार्वभौमिक शक्तियों और जीवन की विकास-दिशाओं को ही सूचित किया जाता है। विष्णु का चक्र जीवन की गतिशीलता तथा संहार और संरक्षण शक्तियों का प्रतीक है। काल के गरुत्मान पंखों वाला गरुड़ विष्णु का वाहन है। गरुड़ध्वज के रूप में विष्णु की जय-पताका की भी कल्पना है। उनके दशावतारों की कल्पना में जीवन-विकास का रूपक प्रतीकबद्ध होकर सामने आता है। वामन, परशुराम, दाशरथि राम, श्रीकृष्ण, गौतम बुद्ध और कल्कि के रूप में मानव के विकास के छः सोपान निरूपित हैं। जो हो, यह स्पष्ट है कि वैष्णव धर्म ने ईरान के ज़ोरास्टर (जरतुश्त) और मानी मतों के रूप में आत्मनिवेदन और कष्ट-कृच्छ साधनाओं

(तप) के दो साधना-मार्गों की तरह सगुण और निर्गुण भक्तिवाद के रूप में दो आध्यात्मिक ध्रुवों की कल्पना की है और इन दोनों की क्रिया-प्रतिक्रिया का इतिहास ही भारतीय अध्यात्म के विकास का इतिहास है। वैष्णव धर्म स्वचालित और अंतर्गतिक धर्म है। उसने निर्गुण भक्ति के रूप में बौद्ध साधना और विचारधारा को अपने भीतर समेट लिया है। फलतः वह सच्चे अर्थों में भारतवर्ष का प्रतिनिधि धर्म बन गया है। उसकी समन्वयशीलता निरंतर जागरूक रही है। मध्य युग में रामानंद से तुलसी तक और आधुनिक युग में राजा राममोहनराय से महात्मा गांधी तक उसने इस्लाम और ईसाई धर्मों के सर्वश्रेष्ठ तत्वों को आत्मसात कर अपनी मर्यादा का पालन किया है। वही हमारा सनातन धर्म है क्योंकि वैदिक इन्द्र की कल्पना पूषन (आदित्य) के ही आधार पर हुई थी और वह मूलतः वीर-पूजा थी।

यह आश्चर्य का विषय नहीं है कि वैष्णव धर्म वीर-पूजक है क्योंकि अंधकार पर प्रकाश की विजय को जिस सच्चाई से सूर्योपासना चरितार्थ कर सकती है उस प्रकार अन्य कोई पूजा-पद्धति नहीं। वैदिक युग में इन्द्र और बाद में विष्णु और तदुपरांत उनके अवतार राम-कृष्ण राक्षसों के प्रतिद्वन्दी और महान विजेताओं के रूप में कल्पित किये गये हैं। इन्द्र का वज्र, विष्णु का सुदर्शन चक्र, राम का कोदण्ड और कृष्ण का पांचजन्य भारतवर्ष की अदम्य आस्था और धर्मविजय के जयघोष हैं। इन्द्र-वृत्र, राम-रावण और कृष्ण-कंस के रूप में देव-दानव संसार की कल्पना रूपकायित की गई है और वैष्णव स्तोत्रों में विष्णु के शोभा-शील-शौर्य के समन्वित चित्र हमें मिलते हैं। अपने राष्ट्रीय महावीरों को विक्रमादित्य की उपाधि देकर भारतीय राष्ट्रीय चेतना अपनी वैष्णवधर्मिता को निरंतर चरितार्थ करती है।

वैष्णव धर्म का मूल स्वर है देवता के प्रति प्रणति परन्तु वह पलायन या पराजय की भावना नहीं, जीवन की सार्थकता है। उसमें पूर्णता के प्रति मनुष्य के मूलबद्ध आकर्षण और उसकी तत्संबंधी अदम्य आकांक्षा का उद्-घोष है। भारतीय इतिहास में जिन महान राष्ट्रीय युद्धों का उल्लेख है उनमें वैष्णव महावीरों ने अपने बलिदान की लीक ही नहीं छोड़ी है, विदेशी और राष्ट्रविरोधी शक्तियों को दमन कर राष्ट्र के शौर्य को भी सार्थक

किया है। वैष्णव भक्त "सूरमा" है। वह अपनी दुर्बलताओं से लड़ कर पिपीलिका-मार्ग से ब्रह्म तक पहुँचता है। उसकी एकनिष्ठा को सतीत्व-साधना माना गया है। परन्तु वह बाहर की आसुरी शक्तियों के प्रति भी खुली चुनौती है। राम और कृष्ण उसके वीरता के आदर्श हैं। इसीलिए धर्म-संस्थापन और दुष्टदलन वैष्णव जन के वीरत्व साधन के प्रमुख अंग है। देवता के प्रति प्रणति ही वैष्णव भक्त को धर्म के प्रति जागरूकता प्रदान करती है और इसी से आसुरी शक्तियों के प्रति कटिबद्धता का भाव भी अंतर्निहित है। प्रणति और बलिदान के दो छोरों को वैष्णव व्यक्तित्व एक विन्दु पर आत्मसात करता है। इसी से सामान्य दृष्टि कुसुम जैसी कोमल और कुलिश जैसी कठोर वैष्णव साधना के रहस्य को नहीं समझ पाती। वैष्णव की माधुर्य-भावना में ही उसकी प्रचण्ड शक्ति-पूजा का रहस्य छिपा है।

हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों ने वैष्णव धर्म की इस राष्ट्रीय प्रकृति को न पहचान कर उसके आत्मसमर्पण को दुर्बलता समझा है और उसे मध्य-एशियाई आक्रांताओं को लौटाने की असफलता और पराजय-भावना से उद्भूत पलायन-भाव माना है। परन्तु रामानन्द के "राम-रक्षा-स्तोत्र" से तुलसी के "रामचरितमानस" तक वैष्णव-भक्ति-भावना के भीतर से शक्ति के जो स्रोत फूटे हैं उन्हें दृष्टि की ओट नहीं किया जा सकता। रासोकार ने अपने ग्रंथ के आरंभ में दशावतार की वन्दना की है परन्तु चंद की पत्नी के पूछने पर कि उसने नर-लीला को क्यों चुना है उसने पृथ्वीराज को ही विष्णु का अवतार सिद्ध किया है जो गौ, ब्राह्मण और शास्त्र की रक्षा के लिए म्लेच्छों से मोर्चा ले रहा है। क्षत्रसाल बड़े गर्व से भगवान श्रीकृष्ण से अपनी समकक्षता का दावा करते हुए कहते हैं कि यदि उन्होंने असुर संहारे हैं तो हमने यवनों को मारा है। भूषण ने महाराज शिवाजी को धर्म-संरक्षक के रूप में ही देखा है। परम वैष्णव महाभट्टारक गुप्त-सम्राटों से लेकर "वैष्णव जन तो तेने कहिये" स्थायी वाले नरसी मेहता के पद को राष्ट्रीय गीता का गौरव देने वाले राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी तक हमें वैष्णव धर्म और राष्ट्रीयता का अनिवार्य संबंध दिखलाई देता है। महावराह और विक्रमादित्य के प्रतीकों में विदेशी विजेताओं से राष्ट्र-भूमि का उद्धार करने वाले महाबली सेनानायकों और महावीरों का ही अभिनंदन है। आदित्य-पराक्रम और विक्रमांक के विरुद्ध ऋग्वैदिक विष्णु के तीसरे पद का वीराख्यान हैं।

आवश्यकता इस बात की है कि हम अपने राष्ट्रीय इतिहास को सम्यक् दृष्टि दें और वैष्णव धर्म को राष्ट्रीय धर्म के रूप में अपनी चेतना के केन्द्र में रखते हुए अपने जातीय गौरव, वीर दर्प तथा धर्म-संरक्षण की परंपराओं का पुनर्निर्माण करें। योगेश्वर कृष्ण और धनुर्धर पार्थ को श्री और विजय की अनिवार्यता में ढाल कर गीता आत्मा के अमरत्व को "युद्धस्व विगत-ज्वर" के वज्र-घोष में चरितार्थ कर देती है। युद्ध को धर्म-नीति बना कर कुरुक्षेत्र को धर्मक्षेत्र में बदलने की क्षमता जिस वैष्णव धर्म में है वह पलायन और पराजय से कहीं बड़ी चीज़ होगा। वैष्णवों के लिए यह जगत आनन्द-कानन है। वह माया नहीं, विष्णु का लीलागार है। साकेत और गोलोक इसी पृथ्वी की सार्थकता हैं। उनके इष्टदेव ऋषियों के अस्थि-पंजर देख कर भुज उठा कर प्रण करते हैं कि वह पृथ्वी का निशाचरों से हीन कर देंगे। यह श्रेष्ठ संकल्प ही वैष्णव की आस्था का चरम विषय है। राम-रावण के अपराजेय समर में ही वैष्णवत्व की कृतार्थता हैं क्योंकि राम हमारी राष्ट्रीयता के श्रेष्ठतम प्रतीक-पुरुष हैं। वह हमारे भाव-जगत में चिर-तरुण, कराल कोदण्डधारी, आर्यत्व के संरक्षक और राक्षस-हंता के रूप में नित्य वरेण्य हैं। युगपुरुष महात्मा गाँधी की वैष्णव-धर्मिता ही आधुनिक युग की राष्ट्रीयता बन गई है। भारतेन्द्र ने "वैष्णव धर्म और भारतवर्ष" शीर्षक अपने निबंध में वैष्णव धर्म की जिस भारतीयता की कल्पना की थी उसका मूर्त्त स्वरूप गाँधी जी का जीवन और चरित्र है जो सत्य का प्रयोग होकर ही सार्थक है। परन्तु यह सत्य कोई वायवी वस्तु नहीं है, यह गाँधी जी के वैष्णव व्यक्तित्व की चरितार्थता ही है। यदि हमारे राष्ट्रीय आदर्शों का सर्वश्रेष्ठ वैष्णव धर्म के भीतर संपुटित हुआ है तो उसे राष्ट्रीय धर्म माने बिना छुट-कारा नहीं है। यह इतिहास-चेतना इस संक्रांति-काल में हमें नई शक्ति दे।

कथा-साहित्य और मनोविज्ञान

बीसवीं शताब्दी की सबसे महत्वपूर्ण उपलब्धि मनोविज्ञान के अंतर्गत मनोविश्लेषण शास्त्र का विकास है। इस नए शास्त्र की उपपत्तियों ने मानव-जीवन संबंधी हमारी उस उदात्त धारणा को चुनौती दी है जो उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में प्राणी-शास्त्र और भौतिक विज्ञान की शोधों में जन्म लेती है और जो मनुष्य को जीवन-विकास के मूर्धन्य पर स्थापित करती है। उसने अवचेतन के गुहागर्त्त में छिपे हुए मानव के उस पशुत्व पर प्रकाश डाला है जो समाज-संस्कृति द्वारा दुर्दमनीय वासनाओं के दमन में हुंवारव भरता हुआ जीता है और जरा सी भी असावधानी पाकर हमारे नैतिक निरोधों को चकनाचूर कर डालता है। इसमें संदेह नहीं कि इस नए शास्त्र ने मानव-जीवन की सीमाओं को विस्तृति दी है और मनोविज्ञान को अंतस्थ जीवन का पर्याय बना दिया है। आधुनिक साहित्य में मनोविश्लेषण शास्त्र का सबसे अधिक प्रसाद कथा-साहित्य को मिला है। एक तरह से मनोवैज्ञानिक उपन्यास के रूप में उपन्यास की एक नई ही कोटि बीसवीं शताब्दी में जन्म लेती है और उपन्यास में ग्रहीत जीवन का रूप ही नहीं, औपन्यासिक कथा-शिल्प भी बदल जाता है।

कथा-साहित्य का उपजीव्य मानव-जीवन है। जहां मानवेतर जीवन को कथा का रूप दिया गया है, वहां उस पर मानव-जीवन की द्विधाओं, असंगतियों, भावनाओं और प्रक्रियाओं का ही आरोप है। मानव-सभ्यता के विकास के आरंभिक युगों में नाटक और महाकाव्य मानव-जीवन की अभिव्यक्ति के लिए चुने गए और उनमें पात्रों के वहिर्द्वन्द्वों, कार्य-कलापों एवं नैतिक असंगतियों को अभिव्यक्ति का विषय बनाया गया। यह नहीं कि मनुष्य का आंतरिक जीवन उनमें है ही नहीं, परन्तु वह अपनी सीमाओं के साथ है। ग्रीक-नाटकों की अनेक मनोग्रंथियों का उद्‌घाटन फ्राइड ने किया है और उसके आधार पर अपने मनोविश्लेषण-शास्त्र को पुष्टि दी है। परन्तु अभ्यंतर जीवन का सच्चा स्वरूप हमें कथा-साहित्य में ही मिलता है। सतरहवीं शताब्दी से उन्नीसवीं

शताब्दी के अंत तक अथवा फीलिंडग से लेकर दोस्तोवस्की तक कथा-साहित्य की प्रगति उपन्यास के अभ्यंतर प्रयाण की कथा है, परन्तु प्रारंभ से ही उपन्यास में मनोमयता की प्रधानता रही है। महान कथाकारों ने अपनी विचक्षण अंतर्दृष्टि के सहारे जीवन के सूक्ष्म और दुग्राह्य उतार-चढ़ाव रखे हैं और चेतना-प्रभाव की अतल गहराइयों का स्पर्श किया है। उन्होंने संपूर्ण अविभक्त और अखण्ड जीवन को वाणी दी है। अंतरंग जीवन को उन्होंने वहिरंगी क्रिया-कलापों की भूमिका पर से देखा है। वास्तव में तुर्गनेव (१८१८-१८८३) दोस्तोवेस्की (१८२१-१८८१), टॉल्सटाय (१८२८-१९१०), प्रॉउस्त (रचनाकाल, १९१३-२६), जार्ज सैंड, स्टेन्ड्हल (रचनाकाल, १८३०-३९) और हेनरी जेम्स (१८४३-१९१६) के उपन्यासों में अज्ञात रूप में मनोवैज्ञानिक स्थितियों एवं तथ्यों की जैसी अंतदृष्टिपूर्ण योजना है, वैसी नवीनतम कथाकारों की कृतियों में नहीं मिलती यद्यपि उनके पीछे कई दशकों की मनोवैज्ञानिक उप्पत्तियों और वृत्तेतिहासों की शृंखला है। गत्यात्मक जीवन के चेतनामूलक प्रवाह को इन कथाकारों ने अत्यंत निकट से और बारीकी से देखा है। इसी से हम उन्हें अलौकिक दृष्टि संपन्न कहते हैं।

परन्तु १८९५ में फ्राइड द्वारा जिस नवीन प्रयोगात्मक मनोविज्ञान और मनो-विश्लेषण की नींव पड़ी, वह शीघ्र ही मनोविदों की गोष्ठी से बाहर निकल कर कथाकारों की प्रेरणा बन गया और १९२० के बाद के कथा-साहित्य को इन नई उप्पत्तियों ने सज्ञान रूप से प्रभावित किया। पहले जहां मनोविज्ञान उपन्यासकार का साधन था, वहां अब वह साध्य बनता जा रहा है। उपन्यास आंतरिक जीवन में सिमट गया है और वह आज अंतर्जगत के पूर्वापर-विच्छिन्न अवचेतनमूलक, अहंजन्य विस्फोट का लीला-भवन बन गया है।

हिन्दी उपन्यास में मनोविज्ञान का प्रवेश प्रेमचंद के साथ होता है क्योंकि वे ही चारित्रिक उपन्यास के प्रथम पुरस्कर्त्ता हैं। प्रेमचंद के साहित्य पर मनोविज्ञान की प्रत्यक्ष छाप नहीं है, परन्तु कला-विकास के साथ उनकी सूक्ष्म अंतर्दृष्टि सूक्ष्मतर होती गई है और उन्होंने वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन की प्रक्रियाओं को विचारक की सूक्ष्मता और कलाकार की सहृदयता से पकड़ा है। वास्तव में प्रेमचंद उन्नीसवीं शती के महान कलाकारों के साथ हैं और उनके साहित्य में मनोविज्ञान साधन है, साध्य नहीं। मनुष्य के आंतरिक जीवन में उन्होंने सैर की है, उसमें कुत्सा और निरोध देखे हैं, परन्तु उनकी

कला में खण्ड मानव नहीं, संपूर्ण अंतर्योजित मानव ही उभरा है। मनोविश्लेषण का आग्रह (या दुराग्रह) जैनेन्द्र के पदार्पण से शुरू होता है और "परख" में उसकी पहली मनोवैज्ञानिक अभिव्यंजना है। स्वयं प्रेमचंद ने "परख" की शैली प्रशंसा की थी यद्यपि वे उसके अति-आदर्शवादी अंत से सहमत नहीं थे। जो हो, यह स्पष्ट है कि मनोविज्ञान और मनोविश्लेषण की उप्पत्तियों का सोद्देश्य उपयोग जैनेन्द्र से आरंभ होता है और अज्ञेय तथा इलाचंद में उसका संभार इतना बढ़ जाता है कि कथा-प्रवाह एवं चरित्र-विकास में बाधा पहुँचती है।

नए उपन्यास में उपन्यासकार की अंतर्दृष्टि का स्थान मनोविज्ञान और मनोविश्लेषण शास्त्र ने ले लिया है और कहीं प्रक्षेप से, जैनेन्द्र में, कहीं बलपूर्वक, जैसे अज्ञेय और इलाचंद जोशी में, मनोविश्लेषणीय सिद्धान्तों एवं परिस्थितियों का आरोप है। एक तरह से यह कहा जा सकता है कि जैनेन्द्र में जो अस्पष्ट, रहस्यप्राण और बुद्बुद् के रूप में है, जो धर्म-चिन्तन और गांधीवाद के मिश्रण से जटिल हो गया है, वह अज्ञेय और इलाचंद जोशी की रचनाओं में दिन की भांति स्पष्ट है। परन्तु इलाचंद जोशी का साहित्य नए ज्ञान को औपन्यासिक कला से मंडित नहीं कर सका है। वह उनके शास्त्रीय अध्ययन से बोझिल है। मनोविज्ञान का सबसे सुन्दर उपयोग अज्ञेय के "शेखर" और "नदी के द्वीप" उपन्यासों में मिलता है। यद्यपि अन्य कलाकारों में भी सुन्दर प्रकीर्णक मिल सकेंगे परन्तु इन दो रचनाओं में मनोविज्ञान और मनोविश्लेषण जीवन की विराट् भूमि और अंतर्मन की सूक्ष्मतम संवेदनाओं को लेकर सार्थक हो उठा है। इन दो रचनाओं को हम पश्चिमीय साहित्य के समकक्ष उपस्थित कर सकते हैं।

यह स्पष्ट है कि उपन्यासकार संपूर्ण मानव को न लेकर खण्ड मानसिक जीवन को लेकर चलते हैं और उनके हाथ में उपन्यास अपनी "महाकाव्यता" खो कर गीतात्मक, रहस्यमय, और भावाकुल बन गया है। स्पष्ट ही इससे हानि हुई है क्योंकि जीवन की अखण्डता, विशदता और ऊर्ध्वमूलकता की ओर से हमारी दृष्टि हट गई है और हम खण्डित, क्षुद्र और निम्नगा क्षणों के रहस्यमय आन्दोलनों के इतिहासकार बन कर रह गए हैं। कहा जाता है कि इससे उपन्यास की रसमूलकता और चरित्रनिष्ठा नष्ट हुई है तो उसे नई संवेद्यता, नई आंतरिकता और नई सांकेतिकता की प्राप्त हुई है। परन्तु उस

संवेद्यता का क्या मूल्य होगा जो हमें जीवन के प्रति संशयालु, विद्रोही और अनास्थापूर्ण बनाएगी और उस आंतरिकता से हम क्या सिद्ध कर सकेंगे जो अतर्क्य एवं असंगति पर आधारित होगी। जो हो स्पष्ट ही परिस्थिति विषम है और इसी विषमता को दृष्टि में रख कर कदाचित् पश्चिम में उपन्यास की मृत्यु की बात चली है।

यूरोप में अनास्था का युग पहले महायुद्ध के बाद आरंभ हुआ जिसमें पुरातन सभी मूल्य असिद्ध हो उठे थे। नई पीढ़ी को नैतिक और आध्यात्मिक जीवन में अराजकता का अनुभव हुआ परन्तु न तो उसमें नए मूल्यों के निर्माण की शक्ति थी, न तत्संबंधी धारणा के विकास की। फलस्वरूप सर्जनात्मक चिन्तन और सक्रियता का लोप हो गया। ऐसे समय में फ्राइड-एडलर-युंग के आविष्कार तंत्र बन गए और मानव-जीवन को "केस-हिस्टरी" कोष में ढूंढ़ा जाने लगा। रुग्ण और विकृत मनस् मानदण्ड बन गया क्योंकि मनोविश्लेषण की नई खोजों का वही आधार था। प्रतीक, स्वप्न, हिस्टीरिया, अंतर्स्वगत, चेतना-प्रवाह, "फलेश-बेक" आदि अभिव्यंजना-शैलियों को प्रधानता मिली और दुर्बल व्यक्तित्व, क्षयग्रस्त, स्वयं-पीड़ित, परास्त मानव के रूप में एक नया नायक उपन्यास को मिला। कथा-साहित्य हेमलेटों से भर गया और एक प्रकार से अस्पताल ही मानव-जीवन का प्रतिनिधि हो गया। फलस्वरूप, जीवन के प्रति हमारी आस्था डिगी और हम स्वयं अपने कला के शीश-महल में बंदी हो गए। यौन विकृतियों, रुग्ण मनःस्थितियों, और अतिभावुक क्षणों पर किसी स्वथ्य जीवन-दर्शन का निर्माण असंभव है। रोगी-मानस में पुनर्स्मरण-प्रक्रिया के द्वारा अवचेतन के उभारने का तंत्र अस्थायी और असाधारण है और रोगी के स्वस्थ होते ही वह समाप्त हो जाता है। परन्तु उपन्यासकारों ने रोग को ही उपचार मान लिया और नैतिक विरोधों एवं चेतन मन की सुबद्ध धारणाओं और मूल्यगत भावनाओं को एकदम अस्वीकार कर दिया। चेतना-प्रवाह पद्धति में चेतन मन की क्रियाओं और हृदय की सुबद्ध संवेदनाओं का उपयोग नहीं किया जाता और इसका फल यह हुआ है कि रूढ़ प्रतीकों और जड़ जीवनादर्श के स्थान पर हम एक दूसरे प्रकार की और भी जटिल रूढ़िबद्धता के शिकार हुए हैं। चेतन-अचेतन, अंतर्वहिर, चिन्तन-कर्म के द्वन्दों का समाहार आधुनिक कथा-साहित्य नहीं कर सका तो उपन्यास की

बोधगम्यता और प्रतीकात्मकता शीघ्र ही नष्ट हो जाएगी और वह प्रलाप मात्र रह जाएगा।

यह स्मरण रखना होगा कि जीवन का महदांश मनोविश्लेषण शास्त्रों और मनोवैज्ञानिक उप्पत्तियों से बाहर है और उसे किसी भी प्रकार "वादों" में नहीं बांटा जा सकेगा। साहित्य में जीवन की आंतरिकता और विश्रृंखलता भी है परन्तु न तो आंतरिकता कार्य-व्यापार की विरोधिनी है, न विश्रृंखलता अराजकता का दूसरा नाम है। कलागत सौष्ठव और बोधमयी सुचारुता के अभाव में आज का उपन्यास ऐसा तिलिस्म बना जा रहा है जिसकी कुंजी मनोवैज्ञानिकों के हाथ में है, साहित्यिकों के हाथ में नहीं और जो महान को क्षुद्र बना कर ही अपनी सार्थकता प्रगट कर सकता है। निश्चय ही यह परिणति चिन्त्य है। मनोविश्लेषण जहां तक उपन्यासकारों की अंतर्दृष्टि को पैनी और सूक्ष्म बनाता है, अंतर्जगत की भूलभुलैयों में उतरने के लिए धारणा-सूत्र देता है, अथवा जीवन की असंगतियों को संस्कारजन्य बना कर मनः-स्वास्थ्य के लौटाने में सहायक होता है, वहां तक उसकी उपादेयता में कोई संदेह नहीं हो सकता। वह उपन्यासकार की अंतर्दृष्टि का स्थान नहीं ले सकता। मनोविश्लेषण मनुष्य के मन को खण्ड-खण्ड कर उसकी परीक्षा करता है परंतु इन असंबंधित, अनगढ़ मनस्-खण्डों को अंतर्योजित कर चेतना-प्रवाह की चरित्रमूलक अभिव्यंजना उपन्यासकार का काम है। एफ० एल्० लुकास ने अपने ग्रंथ "लिट्रेचर ऐंड साइकॉलोजी" में शेक्सपिअर के प्रमुख नाटकों का विश्लेषण करते हुए जो "केस" (वृत्त) दिए हैं उनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि जहां महान कलाकार अपनी प्रतिभा के द्वारा त्रासकीय वैभव की सृष्टि करता है, वहां मनोविद् के पल्ले वास्तविक जीवन की अनगढ़ ट्रेजी-कॉमेडी ही पड़ती है। यह अवश्य है कि मनोशास्त्र के अध्ययन से जीवन के प्रति हमारे अभिजात निरोध नष्ट हो जाते हैं और अंतर्मन के क्षुद्रतम, कुत्सापूर्ण, असंतुलित स्पन्दन सत्य के अविभाज्य पहलू बन जाते हैं। परन्तु इस नए मनोज्ञान को हमें प्रत्यक्ष जीवनानुभूति से पुष्ट करना होगा और उसकी अभिव्यक्ति की कला औपन्यासिक परंपरा से सीखनी होगी। आज के अतिवादीय दृष्टिकोण से आगे बढ़ कर जब हम मनोविज्ञान और मनोविश्लेषण को चेतन मन की समष्टि से संबंधित कर सकेंगे तभी नई, स्वस्थ और प्रगतिशील औपन्यासिक कला की सृष्टि होगी। उस समय हम पीछे मुड़ कर अपने '३०'–६० के कथा-साहित्य में अनुकरण, आरोप और असंगतियां भी देख सकेंगे।

गांधी जी : हमारा उत्तरदायित्व

गांधी जी अहिंसा के प्रतीक हैं। परन्तु अहिंसा है क्या ? व्यापक रूप से हम अहिंसा की परिभाषा इस प्रकार उपस्थित कर सकते हैं कि वह जीवन के प्रति समादर की भावना है। अहिंसा का अर्थ है जीवनानुभूति का विस्तार। इसके विपरीत हिंसा की भावना में जीवनानुभूति का संकोच सन्निहित है। जीवनानुभूति का संकोच और विस्तार : इन दो शब्दों में मानव-जीवन के विकास की सारी चित्रपटी आ जाती है। ऐसा युग आता है जब मानव-जाति का जीवन के प्रति समादर कम हो जाता है, उसमें संकोच आता है। फलतः धर्म का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। परन्तु इसकी प्रतिक्रिया भी होती है और प्रतिक्रिया-स्वरूप एक बार फिर जीवन के प्रति समादर-भावना की प्रतिष्ठा होती है। संकोच का स्थान विस्तार ग्रहण करता है और अवरुद्ध स्रोत मुक्त होकर बहने लगता है। मानव-जाति के इतिहास-चक्र का निर्माण इसी प्रकार हुआ है। जिसे गीता ने "धर्म-संस्थापना" कहा है, वह जीवन के प्रति समादर की प्रतिष्ठा ही है। महापुरुषों के द्वारा हमारा संकोची जीवन विस्तार को प्राप्त होता है। इसी में धर्म-संस्थापना का तत्त्व निहित है।

गांधी जी हमारे अपने युग के ऐसे ही महामानव थे। उन्होंने शताब्दियों के हृदय-संकोच को दूर किया और विशद जीवनानुभूतियों का मार्ग प्रशस्त किया। भारतीय सांस्कृतिक जीवन में ६०० ई० तक के काल को हम जीवनानुभूतियों के विस्तार का काल कह सकते हैं। इसकी अंतिम शृंखला गुप्त युग थी जिसे स्वर्ण युग भी कहा जाता है। इसके बाद विदेशी जातियों के आक्रमण के फलस्वरूप राष्ट्र में संकोच आया और भाव-प्रसारिणी प्रवृत्तियां कुंठित हो गई। १२०० ई० तक यही स्थिति रही। इस समय के लगभग इस्लाम की चुनौती ने भीतर की शक्तियों को एक बार फिर झकझोरा और प्रथम ५० वर्षों के आत्मपीड़न और पलायन-भाव, के बाद देश नई भाव-दीप्ति की ओर अग्रसर हुआ। एक ओर रामानंद, कबीर, नानक, दादू, सूर, तुलसी और मीरा और दूसरी ओर हेमचंद्र सूरि, रामचंद्र सूरि और महासेन प्रभृति जैन आचार्यों और

साधकों ने कुंठा और वर्जना के गर्त्त से हमें उबारा और सद्भाव, प्रेम तथा अहिंसा के आधार पर नये मूल्यों का निर्माण किया। मध्य युग का वैष्णव आन्दोलन और जैन धर्म का पुनरुत्थानमूलक नवचरण हमारे लिए एक ही प्रकार महत्वपूर्ण है। इनमें से जैन आन्दोलन इसलिये भी महत्वपूर्ण है कि उसने समन्वयात्मक नए मानव-धर्म की नींव डाली और वैष्णव काव्य को काव्य-रूप, छंद और अहिंसात्मक जीवन-मूल्य दिए। गुजरात में ये दोनों आन्दोलन एकरूप हो गए। गांधी जी के व्यक्तित्व में इन दोनों आन्दोलनों का समीकरण हो गया है। माता के द्वारा जहां वह "हवेली" से परिचित हुए, वहाँ जैन कवियों और दलपति-नरसी जैसे वैष्णव कवियों को भी उन्होंने आत्मसात किया। उनके व्यक्तित्व के माध्यम से जैन समाज हिंदू समाज के पास आया और जैनों की अहिंसा आध्यात्मिक राष्ट्रीयता के आन्दोलन म एक नये सशक्त शस्त्र के रूप में प्रयोग में आई।

१८ वीं शताब्दी में वैष्णव और जैन धर्मान्दोलनों के शिथिल हो जाने के कारण समस्त भारतीय समाज में संकोचन आ गया था। फलतः सामाजिक उत्पीड़न और राष्ट्रीय क्षेत्र में हिंसा का प्राबल्य हुआ। छोटे-छोटे वर्ग बने। असंख्य संप्रदाय उठ खड़े हुए। अखण्ड चेतना का स्थान खण्ड चेतनाओं ने ले लिया। भारतीय मन के सौ टुकड़े हो गए। ऐसे समय में गांधी जी का अवतरण हुआ। उन्होंने अध्यात्म की शिखा जलाई और खण्ड चेतना को फिर अखण्ड बनाया। उनके व्यक्तितत्व में हमारी खण्डित चेतना के सौ-सौ सूत्र जुड़-जुड़ कर एक अखण्ड शक्तिशाली चेतना का रूप धारण कर सके। १९ वीं शती के आरम्भ में राममोहनराय से ही यह प्रक्रिया आरम्भ हो जाती है और रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द तथा लोकमान्य तिलक में होती हुई गांधी जी पर समाप्त होती है। इसप्रकार गांधी जी भारतवर्ष की नवोत्थानमयी अखण्ड चेतना के प्रतीक बन गए हैं।

परन्तु गांधी जी केवल भारतीय सांस्कृतिक परंपरा के ही प्रतिनिधि नहीं हैं, उनका संबंध यूरोपीय (पश्चिमी) चेतना से भी है। वहां वे समन्वय के नहीं, विरोध और चुनौती के प्रतीक बन गये हैं। पश्चिम की भौतिकतावादी-विज्ञानवादी संस्कृति ने ईसाई धर्म से चुनौती ली और उसे यूरोप की चेतना से

वहिष्कृत करने का प्रयत्न किया। यह नई संस्कृति नास्तिक थी। वह धरती से चिपटी थी। उसमें आदर्शवादी स्फुरण नाम मात्र को नहीं था। यूरोप में रूसो, रस्किन, गेटे और टालसटाय के कृतित्व और साहित्य में इसका विरोध परिलक्षित है। इस विरोध के लिए इन महापुरुषों को भारतीय जीवनादर्शों से प्रेरणा प्राप्त हुई और इसे हम पश्चिम के विरुद्ध पूर्व का अभियान ही कह सकते हैं। गांधी जी इस प्रतिक्रिया से पूर्णतः परिचित थे। उन्होंने रस्किन के "अन-टू दिस लास्ट" का अनुवाद "सर्वोदय" के रूप में किया और टालसटाय को अपना गुरु माना। इस प्रकार पश्चिमी जीवन-मूल्यों के सशक्त विरोध के रूप में वह प्रतिष्ठापित हुए। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में ये नए जीवन-मूल्य विकासवाद और मार्क्सवाद अथवा वर्गवाद के नाम से प्रचलित हुए और उन्होंने जीवन-संघर्ष, वर्गसंघर्ष और पशुत्व की भूमियों पर मानव-जीवन की व्याख्या की। कहने को तो मनुष्य को जीवन के केन्द्र में रखा गया परन्तु वह मनुष्य देवता नहीं, पशु था। देवत्व के आसन से मनुष्य को पशुत्व के गर्त्त तक पहुँचा कर नया भौतिकवादी-विज्ञानवादी आदर्श बुद्धिवाद की अतिवादिता ही घोषित करता था। स्वयं गांधी जी के सम-कालीन फ्राइड ने मानव-मन की इस प्रकार की व्याख्या की कि वह अवचेतना का क्रीड़ागार बन गया। पशुत्व की भूमि पर ही मनुष्यत्व की सार्थकता चरम सत्य मानी गई। गांधी जी ने इसके विपरीत देवत्व की घोषणा की और मानव के आध्यात्मिक तथा आदर्शवादी व्यक्तित्व की रक्षा उनके द्वारा हुई। वह पूर्व और पश्चिम की संधि पर खड़े युगपुरुष हैं जो भविष्य की ओर देखते हुए नये मानव-मूल्यों की संस्थापना के लिए हमें चुनौती देते हैं।

परन्तु क्या गांधी जी के जीवन-मूल्य एकदम नए थे। ऐसा नहीं कहा जा सकता। जैन धर्म में जिन्हें पंच महाव्रत कहा गया है, उन्हें गांधी जी ने उसी प्रकार स्वीकार कर लिया। नए व्रत जोड़ कर एकादश व्रत उन्होंने देश के सामने रखे। आदिनाथ (ऋषभदेव) से लेकर गांधी जी तक इन महाव्रतों की सूक्ष्म व्याख्या होती गई है और यह आवश्यक है कि प्रत्येक पीढ़ी उन्हें नये जीवन-मूल्य दे और चर्या तथा व्यवहार के द्वारा उन्हें व्यापकतम बनाए। ये आध्यात्मिक-नैतिक जीवन-मूल्य गांधी जी द्वारा राजनीति में प्रयुक्त होकर नवीन संदर्भों से विभूषित हुए और भारतवर्ष की आध्यात्मिक राष्ट्रीयता

के मूल मंत्र बने। आज यही पंचशील के रूप में अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में लागू हो रहे हैं। गांधी जी ने प्रत्येक प्रयोग के रूप में इन्हे अपनी चर्या का विषय बनाया और इनमें से अहिंसा के तो वह "कलाकार" ही थे।

आज गांधी जी का महत्व सर्वोपरि है। इसलिए कि उनके द्वारा कृषि-युग के सब से बड़े जीवन-मूल्य अहिंसा की महिमा उद्घोषित हुई है। मानव-जाति का सात हज़ार वर्षों का इतिहास हमें प्राप्त है जब मनुष्य आखेटक जीवन को पीछे छोड़ कर कृषि-जीवन में प्रवेश करता है और स्थायी रूप से सभ्यता-संस्कृति का निर्माण करता है। उस अत्यंत प्राचीन काल में मनुष्य ने जिन जीवन-मूल्यों का आविष्कार किया वे आज तक चले क्योंकि पिछले सात हज़ार वर्षों की मानव-सभ्यता कृषि-सभ्यता है। अठारहवीं शताब्दी में यूरोप में औद्योगिक क्रांति हुई और आज अणु-शक्ति के आविष्कार के द्वारा इस औद्योगिक, भौतिकवादी-विज्ञानवादी संस्कृति को सबसे चौड़ा फाट मिला है। लगता है हम नये आणविक युग में प्रवेश कर रहे हैं और हमारे कृषि-युग के मूल्य संकट में पड़ गए हैं। बुद्धिवाद ने हृदय-पक्ष को कुंठित कर दिया है और अणु-शस्त्रों ने सामूहिक संहार की चुनौती दी है। ऐसे समय में महात्मा गांधी की अवतारणा सचमुच ईश्वरीय अनुकंपा है। यदि नई आणविक संस्कृति में कृषि-युग के मूल्य समन्वित हो जाते हैं और उसकी हिंसा कुंठित हो जाती है तो इस पृथ्वी पर स्वर्ग अवतरित हो जाता है। ऐसा नहीं होता तो मनुष्य का भविष्य ही संकट में पड़ जाता है। कदाचित् प्रकृति ने गांधी जी के द्वारा विज्ञान और धर्म अथवा राजनीति और अध्यात्म के समन्वय का नया संदेश हमें दिया है। इस नये संदेश को हम नई भाषा दें और उसके आधार पर नये, सशक्त और सक्रिय जीवन-मूल्यों का निर्माण करें, तभी हम गांधी जी के उत्तराधिकार को सार्थक कर सकेंगे। गांधी जी की परंपरा अहिंसा, सत्य और आत्मदान की परंपरा है जो मानव की मूल परंपरा है। यही पूर्व-पश्चिम के धर्मग्रन्थों, मर्मियों और साधकों की परंपरा है। आणविक युग में इस थाती की हम रक्षा कर सकें और नये जीवन-मूल्यों में उसको स्थान दे सकें तो हमारे उत्तरदायित्व का निर्वाह हो जाता है।

कहा जाता है कि संसार दो बड़े वर्गों में बँट गया है : पूँजीवादी वर्ग और साम्यवादी वर्ग। परन्तु सच तो यह है कि ये दोनों दल मूलभूत रूप से एक

ही वर्ग का निर्माण करते हैं जिसका दृष्टिकोण भौतिकतावादी-विज्ञानवादी है। दोनों ही धर्म और अध्यात्म के विरोधी हैं और उनके मानदण्ड भौतिक सुख-सुविधा के मानदण्ड हैं। गांधी जी की आध्यात्मिक लोक-चेतना को इन दोनों वर्गों के विरुद्ध रखा जा सकता है। वास्तव में इस समय यंत्रवाद और गांधीवाद के रूप में दो आदर्श विश्व के सामने हैं। यूरोप और अमरीका में यंत्रवाद पूँजीवादी और व्यक्तिवादी है, रूस में साम्यवादी और समष्टि-वादी, परन्तु सच्चे अर्थों में व्यक्तितत्व की सुरक्षा दोनों में नहीं है। इस भूमिका पर गांधी जी और उनकी विचारधारा का महत्व और भी अधिक हो जाता है क्योंकि वहां भौतिक सुख-सुविधा के स्थान पर तपस्या, प्रेम और बलिदान के मानदंड हैं और शोषण के स्थान पर सेवा की प्रतिष्ठा है। रामराज्य की स्थापना अहिंसा के आधार पर ही हो सकती है, ऐसा गांधी जी मानते थे। इस रामराज्य में जड़-चेतन, प्रकृति और मानव का संपूर्ण रूप से सहयोग होगा। गांधी जी द्वारा प्रस्तावित इन श्रेष्ठ जीवन-मूल्यों की स्थापना आज हमारा कर्त्तव्य हो जाता है क्योंकि इनकी स्थापना का प्रश्न मानव-जाति के जीवन-मरण का प्रश्न बन गया है।

गीता और नव-निर्माण

आधुनिक जीवन की सब से बड़ी समस्या आंतरिक जीवन के पुर्ननिर्माण की समस्या है। यह समस्या सारे विश्व की समस्या है, केवल भारतवर्ष की समस्या नहीं है, परन्तु दो शताब्दियों की पराधीनता के बाद हम आज अपने भौतिक पुर्ननिर्माण में संलग्न हैं और आंतरिक जीवन के विघटन की समस्या को हम अभी महत्व नहीं दे सके हैं। समस्या जीवन के मूल्यों से संबंधित है। युग बदलता है तो जीवन बदलता है और जीवन के साथ मूल्य बदलते हैं। परन्तु बदलते हुए जीवन के साथ नए मूल्य एकदम नहीं आ जाते। इसके लिए भयंकर संघर्ष की आवश्यकता होती है। यह स्पष्ट है कि हम अभी भीतर के इस संघर्ष के प्रति अनुत्तरदायी बने हुए हैं। परन्तु भौतिक जीवन जब समृद्धि से सम्पन्न हो जायगा तो भी आंतरिक जीवन के विघटन की यह समस्या बनी ही रहेगी। अतः यह आवश्यक है कि नव निर्माण के भीतरी पक्ष को भी हम देखें। इस दिशा में गीता का योगदान महत्वपूर्ण सिद्ध होगा।

शताब्दियों तक हमने गीता को आध्यात्मिक दृष्टि से देखा है और अध्यात्म को पराविद्या माना है। आज आवश्यकता इस बात की है कि हम गीता के अध्यात्म को एहलौकिक दृष्टि दें और उससे अपने जीवन को पुष्ट करें। सच तो यह है कि गीता में लोक-परलोक की दो भिन्न भूमियां हैं ही नहीं। वह समग्र जीवनदर्शन है। लोक में परलोक और कर्म में अकर्म को देखने वाली दृष्टि ही जीवन की भौतिक और आध्यात्मिक भूमियों को एक साथ लेकर चल सकती है और गीता में ऐसी संपन्न दृष्टि है, यह स्पष्ट अंगीकार्य है। गीता के अध्यायों को खण्ड-खण्ड लेकर हम उसे ज्ञानयोग, कर्मयोग अथवा भक्तियोग का ग्रंथ कहते हैं, परन्तु गीता का समर्थ स्वर योगायोग में है, उस अव्ययी अंतर्दृष्टि में है जो द्वन्दों में समाहार उत्पन्न करती है और एकांगी अथवा पक्षधरीय संवेदना के स्थान पर संपूर्ण तथा अविकृत समग्रता देती है।

अध्यात्म से आज हम भागते हैं परन्तु गीता ने वस्तुओं के मूलगत स्वभाव या प्रकृति को ही अध्यात्म कहा है। पदार्थ जगत के पीछे जो सूक्ष्म जगत है, वही वास्तविक है, अविकृत तथ्य है। अंतदृष्टि से उसे जाना जा सकता है, ऐसा गीता मानती है। वस्तुओं की इस आत्मा का परिचय ही सच्चा परिचय है और यह परिचय ही वस्तुओं को आंतरिकता देता है। वैसे पदार्थ जड़ है। जड़ इसलिए कि असत्य है। जड़ पदार्थ को सत्यता देनेवाला तत्व तो सूक्ष्म, आंतरिक, अव्यक्त ही है और वही वस्तु-स्वभाव है, मूल प्रकृति है। इसी के सम्बन्ध में गीता में कहा गया है।

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्त्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः॥

अध्याय ९, श्लो० ४, ५।

'मुझ अव्यक्त मूर्ति ने ही इस समस्त जगत को व्याप्त कर रखा है। सभी पदार्थ मुझ में हैं, मैं उनमें नहीं हूं। मेरा ईश्वरत्व तो देखो कि ये पदार्थ मुझ में हैं भी नहीं। सभी पदार्थों को स्थिर रखने वाली मेरी आत्मा पदार्थों का भरण-पोषण भी करती हैं और उनमें देती भी नहीं।' इस अव्यक्त को ही गीताकार ने कभी प्रकृति से परे पुरुष, कभी क्षर और अक्षर के परे पुरुषोत्तम कहा है। यह पुरुषोत्तम उदास और तटस्थ रहने के कारण कर्मबंधन में नहीं पड़ता। (वही, ९) यही वस्तुओं का मूलतम और श्रेष्ठतम है। (वही, १६-१९) भारतीय दृष्टि जीवन की पापमूलकता के प्रति अविश्वासी है। उसने द्वन्द्वों की कल्पना की है और अव्यक्त को द्वन्द्वातीत माना है। इसीलिए भगवान कहते हैं कि मैं अमृत-मृत्यु और सत्-असत् में भी हूं। यही नहीं, "कालोस्मि" कह कर वे मूल चेतन-तत्व के नैरन्तर्य और सर्वभुकत्व को भी घोषित करते हैं। दसवें अध्याय में विभूतियों का वर्णन करने के बाद ग्यारहवें अध्याय में भगवान अर्जुन को दिव्य दृष्टि देकर अपना विराट रूप दिखलाते हैं जो वास्तव में काल-रूप ही है। इसे इन्होंने स्वयं तेजमय, अनन्त और मूलभूत (आद्य) कहा है। परन्तु अध्यात्म के इस सूक्ष्म, तरल, दुग्राह्य स्वरूप को देख

कर मनुष्य व्यथित न हो, यह भी वांछनीय है। इससे वह कर्म-अकर्म के सत्य स्वरूप को समझे और उच्चतर धर्मभूमियों पर संचरण करे। इस संदर्भ में गीता का अध्यात्म कर्मयोग (या कर्म-दर्शन) बन जाता है।

जीवन की मूलगत अध्यात्म-भूमि की कल्पना भारतीय दर्शन की सबसे बड़ी देन और इसे ही दैवी दृष्टि कहा गया है। इसके विपरीत है आसुरी दृष्टि जो जगत को असत्य में प्रतिष्ठित एवं ईश्वरविहीन, अपरस्पर संभूत एवं कामहैतुक मानती है। (अध्याय १६, श्लो० ८) इस आसुरी दृष्टिकोण को हम आधुनिक परिभाषा में आध्यात्मिक दृष्टिकोण के विपक्ष में भौतिकतावादी दृष्टिकोण भी कह सकते हैं जिससे उत्पन्न विडंबनाओं का गीता में व्यापक वर्णन है। (वही, श्लो० ११-२०) यह दृष्टि-द्वन्द्व आज भी चल रहा है और इस द्वन्द्व के कारण ही हमारे जीवन-मूल्यों में अस्थैर्य आ गया है।

इस अध्यात्मदृष्टि अथवा दैवी-दृष्टि की उपलब्धि मनुष्य को कैसे हो और अध्यात्मदृष्टि से संपन्न होने पर मनुष्य क्या हो जाता है, किन ऊँचाइयों पर उठ जाता है, गीता में इसी का विशद विवेचन है। जीवन-विकास के निमित्त गीता प्रकृति में तीन गुणों की कल्पना करती है : सत्व, रज और तम। मूल तत्व गुणातीत है और मनुष्य भी गुणातीत बन कर ही संसिद्धि को प्राप्त होता है। (अध्याय १४, श्लो० २३-२५) परन्तु फिर भी व्यावहारिक भूमि पर जीवन का श्रेणी-विभाजन माननीय है। इन तीनों गुणों के पार जाने पर ही मनुष्य जन्म-मृत्यु-जरा-दुख से विमुक्त होकर "अमृतत्व" को प्राप्त करता है, परन्तु लोकाचार में सात्विकी वृत्ति भी कम श्रेष्ठ नहीं है। इस सात्विकी वृत्ति को सात्विकी श्रद्धा से ही प्राप्त किया जा सकता है।

अध्यात्म-भूमि को स्पष्ट करने के लिए गीता ने अनेक पहलू बदले हैं। सांख्य दर्शन के विकासवादी दृष्टिकोण को पल्लवित करते हुए अक्षर तत्व अथवा पुरुष को क्षेत्रज्ञ कहा गया है और प्रकृतिजन्य पंचमहाभूत, अहंकार, बुद्धि, पंचेन्द्रिय आदि को क्षेत्र माना गया है। क्षेत्रज्ञ ही जानने योग्य है, वरेण्य है, ऐसा माना है, और उपनिषदों के ब्रह्म की तरह उसकी विरोधी-धर्माश्रियता स्थापित की गई है। (अध्याय १३, श्लो० १२–१७) परन्तु प्रश्न यह होता

है कि मनुष्य इस सूक्ष्म, अंतर्निहित जीवन-तत्व से अपना क्या संबंध जोड़े जिसे ब्रह्म, परात्पर, पुरुषोत्तम एवं अक्षर कहा गया है। गीता के दूसरे अध्याय में ही भगवान कृष्ण ने अर्जुन की देह-बुद्धि को धिक्कारा है और अविनाशी तथा अप्रमेय आत्मा का स्वरूप दर्शाया है। यह आत्मा मूलतः अजन्मा है। वह परमात्म से अभिन्न है। इस आत्म-तत्व को पहचानना ही "दर्शन" है। ज्ञान (सांख्य), योग (कर्म) और भक्ति (श्रद्धा) से यह पहचान संभव है। अभेदत्व की उपलब्धि होने पर ज्ञानी, कर्मयोगी (स्थितप्रज्ञ) और भक्त का व्यवहार समान रूप से उच्चतम नैतिक एवं मानवीय मूल्यों का आकलन करने में समर्थ होता है। नाम-भेद एवं प्रकार-भेद होने पर भी जीवनादर्श समान हैं। ये शाश्वत मानवीय तथा नैतिक मूल्य भारतीय अध्यात्मदृष्टि से ही संभूत हैं, अतः उसी से ओतप्रोत हैं। केवल बुद्धि के स्तर पर उन्हें ग्रहण नहीं किया गया है। पश्चिम की दृष्टि जिस व्यावहारिक नैतिकता पर ठहर जाती है उसी के आगे भारतीय नैतिकता का अध्यात्म-भूमि पर अपरिसीम प्रसार है।

परन्तु अध्यात्मदृष्टि संपन्न पुरुष के लिए सबसे बड़ी समस्या तो कर्म-अकर्म की है। कर्म के बिना जीवन असंभव है और कर्म के साथ फल लगे हैं और कर्मफल-चक्र का ही प्रकारांतर आवागमन-चक्र है। इस प्रकार कर्म बंधन बन जाते हैं जो काटे नहीं कटते। समस्या दार्शनिक ही नहीं है, व्यावहारिक भी है क्योंकि कर्म विषयमूलक है; उसमें राग का जन्म होता है, राग (आसक्ति) से काम (इच्छा) उपन्न होता है; काम से क्रोध, क्रोध से संमोह, संमोह का फल है स्मृति-भ्रंश (विस्मरण) तथा तज्जन्य विवेक-हानि (बुद्धिनाश)। (अध्याय २, श्लो० ६२–६६)। फलस्वरूप आत्मा की प्रसन्नता चली जाती है और दुःख-भूमियों की अवतारणा होती है। गीता दर्शन-ग्रंथ नहीं है, साधना-मार्ग है। अतः उसमें कर्म-विवेचन को बड़ा महत्व मिला है। उसके मूल में ही अर्जुन की कर्मसंबंधी किंकर्त्तव्य-विमूढ़ता है और समाधान भी कर्मसंबंधी चेतना (युद्ध-तत्परता) से हुआ है।

कर्म-अकर्म के इस द्वन्द्व को गीता में कई समाधान मिले हैं, जैसे (१) निष्काम कर्म (कर्मसंबंधी स्पृहा का अभाव) (२) भगवदर्पण कर्म (३) योगस्थ कर्म (आसक्ति-रहित कर्म) (४) विवेकबुद्धिसंपन्न कर्म (यह जान कर कि गुण

गुणों में वर्त्त रहे हैं, मैं नहीं कर रहा) । इस प्रकार कर्म अकर्म बन जाता है और वह बंधन नहीं रहता । कर्म-सन्यास के विरोध में गीता लोक-संग्रह के निमित्त कर्मतत्परता का आदेश देती है और विष को अमृत बना कर प्रस्तुत करती है । राग-द्वेष अथवा काम-क्रोध-मोह से निर्मुक्त तटस्थ आचरण ही गीता का व्यवहार-दर्शन है । हृदय के दौर्बल्य को पीछे छोड़ कर और कर्त्तव्या-कर्त्तव्य से ऊपर उठ कर जब मनुष्य स्वयं को निमित्त मात्र मान कर काम्य कर्म करता है तो उसे कोई पाप नहीं लगता, यह गीता का अक्षय मंगल-संदेश है । ऐसा कर्म वांछनीय ही नहीं, संग्रहणीय भी है । इससे ही धर्म का अभ्युत्थान होता है और आसुरी वृत्तियों के लोह-पाश से सद्वृत्तियों का त्राण होता है ।

यह है गीता का कर्म-दर्शन जो नए निर्माण में हमें सुस्पष्ट एवं सशक्त आधार-भूमि दे सकता है । धर्मनिरपेक्ष भावभूमि पर हम दैवी संपदा का स्वप्न चरितार्थ नहीं कर सकते क्योंकि उसमें अध्यात्मदृष्टि की अस्वीकृति है । उससे देह दृढ़ होगी, आत्मा क्षीण होगी । अध्यात्मपर मानस में ही प्रज्ञा सार्थक होगी क्योंकि तभी उसमें करुणा और मैत्री के कमल खिल सकेंगे । पश्चिम का प्रज्ञा-वाद भौतिक (आसुरी) दृष्टि से चमत्कारी है, परन्तु उसके भीतर सर्वनाश के अंकुर भी विकसित हैं । अपने देश के भौतिक पुनर्निर्माण के समय हमें योजनाओं के पीछे आने वाले "मनुष्य" को देखना होगा । क्या गीता इस नए मनुष्य के निर्माण में हमारी सहायता नहीं कर सकेगी ? नीत्से और शा के अतिमानव के समकक्ष क्या हमारे पास गीतोक्त "स्थितप्रज्ञ" का कोई पुरुषोत्तमीय आदर्श नहीं है ? और क्या हम उसे नए जीवनमूल्यों का बीज-मंत्र नहीं बना सकेंगे ?

: ललित निबंध :

कमल, गुलाब और केक्टस

कमल हमारी प्राचीन संस्कृति का प्रतीक है, गुलाब मध्ययुगीन संस्कृति का और केक्टस नई सामयिक संस्कृति का जो इलियटवादी है और शाद्वलों को मरुभूमियों में बदलना चाहती है। यह दूसरी बात है कि निराला केक्टस को नहीं, कुकुरमुत्ता को आज की संस्कृति का प्रतीक मानते हैं और उन्होंने बड़े उत्साह से कुकुरमुत्ता को गुलाब के प्रति चुनौती के रूप में खड़ा किया है। गुलाब उगाया जाता है, कुकुरमुत्ता खुद-रौ है। उसकी क़लम नहीं लगती, परन्तु जन-संस्कृति के इस युग में हमें वह क्यों चाहिये जिसकी क़लम लगे। क़लम संस्कार की प्रतीक है। क़लम लगानेकी कला ही मानव-संस्कृति के जन्म और विकास की कहानी है। परन्तु हम प्रकृति की ओर लौटना चाहते हैं, संस्कृति को अभिजात्य मान कर हम उसके प्रति संशयालु हैं। कमल और गुलाब अपने-अपने ढंग पर दो सामंती संस्कृतियों के प्रतीक हैं। वे संस्कृतियां अच्छा-बुरा देकर इतिहास के गर्भ में लीन हो गईं। उन्होंने कुछ के लिए बहुत कुछ किया, सब के लिए थोड़ा भी नहीं किया। इसीलिए हम उनके प्रति आक्रोश से भर उठे हैं। हमें ऐसी संस्कृति चाहिये जो सर्वहारा की हो, जन की हो, कुकुरमुत्ता और केक्टस की हो। कुकुरमुत्ता शुद्ध स्वदेशी चीज़ है, केक्टस विदेशी है। नागफनियां यहां भी उगने लगी हैं परन्तु वे निर्यात हैं जैसे फेक्टरियां, इलियट, फ्रायड और मार्क्स। अमृतराय ने "नागफनी का देश" उपन्यास लिख कर हमारे बंगलों के भीतर के दाम्पत्य का ऊपर सुन्दर चित्र खींचा है और फिर भुवनेश्वर प्रसाद का "ऊसर" एकांकी। उसका क्या कहना! निश्चय ही ऊसर को भुवनेश्वर ने खूब समझा था। उस प्रतिभावान मित्र की कभी-कभी बड़ी याद आती है। आत्मप्रवंचक था तो उससे क्या हुआ। वह एक कारवां के आगे-आगे तो चल रहा था। केक्टस हमें चाहिये, न हो तो कुकुरमुत्ता से ही काम चलेगा!

दिल्ली राजधानी ही नहीं, वह हमारे सभ्य समाज का अच्छा-खासा एलबम है। मेज पर केक्टस मिलेंगे, दीवारों पर उनकी बहार है। यहाँ तक कि मेज़ पर झुकी

हुई कुहनियों पर टिके चेहरे भी केक्टसी हैं। केक्टस को क्या चाहिये ! थोड़ा-सा रेत, कुछ पत्थर और शायद रासायनिक खाद्य । वह अणिमा की साधना है। लघु कहानी, लघु उपन्यास, "किंचित् काव्य" और "लघुत्तमाओं" के नए परिवेश में वह कैसा भला लगता है ? कुकुरमुत्ते की दुर्बलता यह है कि वह उगाया नहीं जाता परन्तु विदेश का केक्टस उगाया ही नहीं जा सकता, उसके अनेक रूप-रंग हैं। निर्गन्ध फूलों और कुंठित विकास के बहुपहली वैचित्र्य में क्या आनन्द है, यह कालिदास भी क्या जानें ! उन्होंने तो अशोक के पेड़ और कर्णिकार-मल्लिका-जवा जैसे पुष्पों का कीर्त्ति-गान किया है। कुंठित काम के इस युग में कामदेव के पंच शायकों में लगे हुए पांचों पुष्प निरर्थक हो गये हैं। संतति-निग्रह का युग है। यक्ष-मिथुन और युगनद्ध हमें मूर्च्छित कर सकते हैं। काम कभी पुरुषार्थ रहा होगा परन्तु अब तो वह न कला है, न स्वस्थ चेतना। बिल्लेसुर इस रहस्य को नहीं जानते थे, कुल्ली ने समझा। में सोचता हूँ, कुल्ली क्या इकेले थे।

गालब्रेथ संपन्न समाज (द एफ़्यूलेण्ट सोसाइटी) की बात कहते हैं। निश्चय ही अमरिका का समाज संपन्न है परन्तु इस संपन्नता का प्रमाण क्या यही केक्टस है। सोने और इस्पात के सौ-मंज़िला केक्टसों में स्वर्ग-विजय के स्वप्न देखे जाते हैं। विश्वामित्र ने त्रिशुंकु के लिए जैसा स्वप्न रचा था वैसा स्वप्न चरितार्थ होने जा रहा है। यह केक्टस की माया है। घर के कुकुरमुत्ते भी अपने साहस को ललकारें तो कुछ नया और सार्थक सामने आये। केक्टस हो या कुकुरमुत्ता बात एक ही है। हमारा सौन्दर्य-बोध मर गया है। हम उपयोगिता को देखते हैं। गुलाब से मैहरुन्निसां इत्र खींच सकती है परन्तु आज इत्र सूंघने का भी दिमाग़ कहां है ! हमारी जीभ को कुकुरमुत्ते के कबाब का स्वाद लग गया है। हमारी बहार की पीढ़ी है। अब हम फ़ारिस से गुलाब नहीं मँगाएंगे। हो सकेगा तो कुकुरमुत्ते की खेती उगायेंगे, नहीं तो केक्टस के बाग़ लगायेंगे।

कुकुरमुत्ता अपना है परन्तु केक्टस भी क्या बुरा है। एक सामान्य है, दूसरा विशिष्ट। कुकुरमुत्ता जनता के लिए हो, केक्टस हमारे जैसे विशिष्टों के लिए क्योंकि संस्कृतियां सामान्यों की नहीं होतीं, विशिष्टों की होती हैं। उधार से क्या

होता है ? पश्चिम से हमने क्या नहीं लिया है ? कीट्स, शैली, वर्डस्वर्थ से इलियट, काफ्का, रिल्के तक। असली चीज़ है लेने की क्षमता और इस विषय में हम दुस्साहसी नहीं तो साहसी तो अवश्य ही रहे हैं। एकदम ताज़ी पश्चिमी काट की संस्कृति हमें चाहिये तो वह केक्टसी संस्कृति ही हो सकती है। हमारे भीतर की ऊसरता यदि बाहर प्रगट नहीं हुई तो हमारी सर्जनात्मकता को धिक्कार है। जहां परिग्रह है और बद्धमुष्टि वाली चेतना मन पर छाई है वहां "परिमल" और "गीतिका" से काम नहीं चलेगा। कवियों का युग चला गया। आलोचक मूर्धन्य है। वह कमल को नहीं देखता, मृणाल-सूत्रों को देखता है, क्योंकि उनसे पाण्डुलिपियों के बांधने की सहूलियत हो जाती है। अंतिम विजय पाण्डवों की ही होगी क्योंकि वे कृष्णपक्षी हैं और द्रौपदियों से द्विपदियों तक उनका प्रसार है। योग नहीं, हमें नियोग चाहिये। हम सब द्वैपायनी ही हैं। "अज्ञेय" इसी सूत्र को पकड़ कर "नदी के द्वीप" तक पहुँचे हैं।

१६२२ में (द वेस्टलैण्ड) लिख कर इलियट ने पश्चिम में केक्टस का निर्यात आरंभ किया था। बीस वर्ष बाद अपने देश में यह पौधा पहुँचा और "नयी कविता" के नाम से उसकी खेती चल पड़ी। आढ़तें लगीं। थोक के व्यापारी पैदा हुए। आज कमल कालिदास के काव्य में ही रह गये हैं और गुलाब बिहारी की "सतसई" में या उर्दू कविता में। गांधी-युग छायावाद का युग था तो नेहरू-युग केक्टसवाद का युग है। नाम उसे कुछ और भी दे लो,—जैसे "प्रयोगवाद" या "नयीकवितावाद।" सूक्ष्म के विरुद्ध स्थूल के विद्रोह ने राजासाहेब को ठेंगा दिखा दिया है। "नकेन" का सिक्का चलने लगा है और "अज्ञेय" का असा शमशेर में ढ़ल गया है। मैं चमत्कृत हूं कि हम पिछले बीस वर्षों में कहाँ से कहाँ तक पहुँच गये हैं।

कमल, गुलाब, और अब केक्टस ! भारतीय संस्कृति के पिछले दो सहस्र वर्षों का इतिहास इन तीन प्रतीकों में समाहित है। जल से स्थल और स्थल से आकाश तक बढ़ने में ही मानव का पुरुषार्थ जागा है। आकाश शून्यधर्मी है। साहित्य और कला का इकेलापन इसी आकाशधर्मिता की अभिव्यक्ति है। पिकासो की कला हो या शमशेर की कविता या सुररियलिस्टों की कहानी, निरर्थकता और खालीपन को ही उजागर करने का प्रयत्न सब कहीं दिखलाई

पड़ता है। जिन मरुभूमियों को हमारे पूर्वज पीछे छोड़ आये थे वही आज राशि-राशि होकर हमारी उपचेतना में हाहाकार भर रही हैं। काकतालीय न्याय ही हमारे लिए सब कुछ हो गया है और हम सब काकपदीय बन गये हैं। ऐसी स्थिति में कुकुरमुत्ते या केक्टस में से किसी एक को चुनने से ही छुटकारा मिलेगा। बीच का मार्ग है ही नहीं। वैसे ऐसे भी अनेक लोग रहेंगे जो अब भी गुलाबों के सपने देखें और गुलाब-युग में तुलसीदास ने भी राम के शिखनख में कमलों का सपना देखा था। परन्तु ऐसे अपवादों से संस्कृति नहीं बनती। हम शायद कुकुरमुत्ते बन गये हैं जिन्हें अपनी सुरक्षा के लिए केक्टस से घिरे रहने की आवश्यकता है।

चाटु-धर्म

चाटुकारिता आज धीरे-धीरे धर्म का स्थान ले रही है। उसकी व्यापकता और शक्ति में ही नहीं, लोकप्रियता में भी कोई सन्देह नहीं रह गया है। वैष्णव धर्म के बाद आज शिष्ट समाज में इस चाटु-धर्म का ही प्रभाव है। जहां तंत्र का देवता भुक्ति-मुक्ति-दाता था, वहां परवत्ती युग में वैष्णवों ने केवल मुक्ति से ही उसका संबंध जोड़ा। वे परलोक की ओर ताकते रहे परन्तु अपने देवता से उन्होंने संसार के सुख नहीं मांगे। कबीर अपने इष्टदेव से प्रार्थना करते हैं कि वह उसे इतना दे कि किसी से मांगना नहीं पड़े और अतिथि भी द्वार से नहीं लौटे। सूरदास और तुलसीदास तो भव सागर से पार करने की ही प्रार्थना करते हैं और "विनयपत्रिका" का बड़ा समारंभ इसी एक नींव पर खड़ा है कि तुलसी आराध्य से भक्ति के सिवा और कुछ भी मांगते नहीं। वे मुक्ति को भक्ति पर निछावर कर देते हैं। आधुनिक युग में भक्तिवाद का स्थान भुक्ति-वाद ने ले लिया है और हम लौकिक समृद्धि और सुख के प्रति अप्रत्याशित रूप से आकांक्षावान हो उठे हैं। इसीलिए देवता से उतर कर हम मनुष्य पर टिक गये हैं। हम मानववाद के हामी हैं जिसका अर्थ है कि मनुष्य से बड़ा कोई देवता नहीं है और तर्क को आगे बढ़ाएँ तो उसी में देवता का निवास है। फलतः देवताओं के संख्या में वृद्धि हुई है और जिस से इष्ट सध सके वह देवता है। आणविक जगत के विस्फोट का आतंक हमारे मन पर भी छा गया है और आज वह भी विस्फोटित है। कांच के व्यक्तित्व की तरह हमारा व्यक्तित्व टूट-टूट कर बिखरा जा रहा है और इन टुकड़ों को समेटने का कोई साधन हमारे पास नहीं है। मध्य युग में राजा और सामन्त आश्रयदाता थे, भार-तेन्दु युग में गोष्ठी-पुरुष परन्तु आज कोई भी धन और शक्ति का केन्द्र बन कर देवता बन जाता है। आवश्यकतानुसार हम अपने देवता बदल भी लेते हैं क्यों कि मोक्षमूलर के "सर्वदैवतवाद" (हीनोथीइज़्म) के प्रति हमारी पूरी आस्था है और ऋग्वेद तो आर्य-जीवन का मूल मंत्र ही है। जब वहां पूजा-भाव के साथ इन्द्र, वरुण, अग्नि, सोम, द्यावा-पृथ्वी आदि देवता बदलते चलते हैं तो आज भी हम अनन्यता का ढोंग क्यों करें? फिर सत्य की सप्त भंगिमाएँ ही

क्यों हों ? और अधिक क्यों न हों ? जहां व्यक्तिवाद ही चरम धर्म है वहां प्रत्येक व्यक्ति का सुविधानुसार अपना अलग देवता होना चाहिये ! कोई हमें देवता बना ले तो हम अस्वीकार क्यों करें ? उसके विश्वास को ठुकरा कर हम उसके भीतर कुंठा को ही जन्म देंगे । इसीलिए आज के प्रजातंत्री युग में न कोई देवता बनने से इंकार कर सकता है, न देवता बनाने वाला दण्डित ही हो सकता है । दोनों अपने व्यक्तित्व के धर्म का पालन कर रहे हैं । अपने प्रति ईमानदार होना प्रशंसा का ही विषय हो सकता है ।

लोकेकैषणा के इस युग में चाटु-धर्म का संस्था बन जाना आश्चर्यजनक बात नहीं है क्योंकि सभी के लिए सब कुछ प्राप्य नहीं हो सकता । असन्तोष जीवन है, यह महामंत्र पश्चिम से आया है और इसी से यह भी सूत्र निकला है कि संघर्ष जीवन है । धन और शक्ति के लिए संघर्ष महाजनी सभ्यता का शंखघोष है और आज के अणुभाष्यी वैज्ञानिक प्राविधिक संसार में संघर्ष की क्या कमी ! तोड़ना ही जहां धर्म है वहां श्लेष अलंकार-शास्त्र में ही मिल सकेगा । बलग़मी दिमागों के लिए गर्म औषधियां चाहिये । कदाचित् इसीलिए शीतप्रधान पश्चिमी देशों ने संघर्ष-शक्ति का सिद्धिमंत्र हमें दिया है । आज सब कोई सब कुछ हो सकता है । परन्तु व्यवहार में सर्वसम्भाव्य आकांक्षा-जगत में ही सिद्ध है, भौतिक जगत में निचला धरातल ही सत्य है । पहाड़ों की चोटियां सब के लिए नहीं हैं । नीचे के मैदान में ही हमें रहना है । परन्तु हिमाच्छादित ऊँची चोटियों का स्वर्ण-किरीट हमें प्रतिक्षण दावत देता है । इसीलिए आज हम में से प्रत्येक दो ज़गतों में रहता है । एक है आकांक्षा-जगत और दूसरा वस्तु-जगत । दोनों में उतना ही अंतर है जितना हिमालय की चोटियों और गंगा-यमुना के काठे में । चाटु-धर्म इस अंतर को पाटता है और मैदान अपनी निचली स्थिति से उठ कर गौरीशंकर का स्वप्न देखने लगता है । वह आरोहण-व्रती बन जाता है । चाटुकार की चाटुकारिता हमें ऊपर उठाती है और सारी अंतर्निष्ठ आकांक्षाओं के कैलाश निरंतर ऊपर उठते चले जाते हैं । हम यह नहीं जानते कि ये हिमालय-शिखर शिव देवता के अट्टहास हैं । हमारे अवचेतन का फेनोच्छल व्यंग ही हमारे सामने आकांक्षित स्वर्ण-शृंगों की सृष्टि करता है । उसके नीचे चरणों में पड़े मानसरोवर और राक्षस-ताल हमें दिखलाई ही नहीं देते ।

चाटु को महावाक्य मान कर हम अपनी आकांक्षा के अनुसार उसकी टीका कर लेते हैं धीरे-धीरे हम वस्तु-जगत से विच्छिन्न होकर चाटुकार के द्वारा निर्मित अलकापुरी के यक्ष बन जाते हैं। हम आकांक्षाओं के शीशमहल में रहने लगते हैं और अपने मुख के असंख्य बिंबों में घिर कर अपने इकेलेपन को जन-संकुल जीवन मान लेते हैं। चाटुकार की सफलता इसी में है कि वह हमें हमारी सीमाओं के ज्ञान से मुक्त कर दे और हम सर्वशक्तिमान, सर्वगुणसंपन्न तथा सर्वज्ञ बन जाएँ। कलिकाल-सर्वज्ञों की परम्परा भगवान गौतम बुद्ध के समय से आचार्य हेमचन्द्र तक तो चली ही है आज भी वह बन्द नहीं हो गई है। अहं के दर्पणों से घिरे हुए जीना कितना असुविधाजनक है, यह वही जानें जो ऐसा जीवन जीने के आदी हैं। परन्तु स्वप्नों के संसार में हमारी अहं-तृप्ति के साधन भी कम नहीं है। वहां हम चेतन मन के तर्कजाल और अवचेतन मन के दवाव से मुक्त होकर इन्द्रियधर्मी जीवन जीते हैं। हम संस्कृति से प्रकृति की ओर लौट आते हैं।

फ्रायड, लारेन्स और सार्त्र हमारे ऋषि बन जाते हैं या हम मेलार्मे की भांति कूट जगत में खो जाते हैं। आखिर शब्द ही तो सब कुछ है क्योंकि वह नाद-ब्रह्म का मूर्त्त स्वरूप है। साक्षात्कारी अनुभूति हमें स्रष्टा बनने के लिए उकसाती है और अलात-चक्र की तरह जाज्वल्यमान शब्दों के इन्द्रजाल हमारे चारों मकड़ी के जाले बुनते चले जाते हैं। हम अपनी सर्जना से चमत्कृत होने लगते हैं। अब हम पथ के साथी नहीं, पथ के दावेदार हैं। हमारा सहजयान दूसरों के लिए वर्जयान बना जा रहा है इसका हमें थोड़ा भी आभास नहीं होता। यह है चाटुकार की सफलता। निःसन्देह वह उत्कृष्ट कोटि का कला-कार है क्योंकि कला का काम ही भ्रांति की सृष्टि है। जड़ सत्य को उड़ा कर सूक्ष्म स्वप्न बना देना ही तो कला है। चाटुकारिता उत्कृष्ट कोटि की कला है।

इस चाटु-जगत में अन्याय-न्याय, पाप पुण्य, मूर्खता-विद्वत्ता और अतर्क-तर्क है। हमारी धरती के गुरुत्वाकर्षण के नियम वहाँ लागू नहीं होते। वहाँ नियम की पाबन्दी भी नहीं है। नियम वस्तु-जगत में पीछे छूट जाते हैं। चाटु-जगत में विद्रूपता ही नियम है। स्वच्छंदतावाद से आगे बढ़ कर जब हम क्यूबिज़्म,

वॉरटिसिज़्म और सुररियलिज़्म के जगत में पहुँचते हैं तो जीवन की विद्रूपता ही हमें स्वाभाविक लगने लगती है। एब्स्ट्रेक्ट आर्ट में अर्थों को खो कर ही हम परमार्थ की प्राप्ति कर सकते हैं। शायद इसे ही दर्शन में सर्वमुक्ति कहा गया है। वहाँ हम परमहंस की तरह जीवनमुक्त होकर अनियमों के उस संसार में विचरते हैं जहाँ अणु-वैज्ञानिकों ने "अप्रत्याशित का नियम" लागू पाया है। हम ऐसे अश्वत्थ बन जाते हैं जिसकी जड़ें ऊपर आकाश में हैं और शाखाएँ-प्रशाखाएँ, पल्लव-पत्र नीचे त्रिशंकु-जगत में मर्मर भर रहे हैं। लोग इस मर्मर में ही अनहद की कल्पना कर लेते हैं। अपना-अपना भाग्य !

यह चाटु-धर्म ही की महिमा है कि गोरख मत्स्येन्द्र से भी आगे बढ़ गये और उन्हें ही ब्रह्मचर्य का पाठ पढ़ा गये। कदली-बन की किन्नरियों की माया कम बलवती नहीं थी परन्तु अवधूत योगी गोरखनाथ को इसकी क्या परवाह ! "नौ लख पातुरि आगे नाचैं पीछे सहज अखाड़ा।" यही क्यों, क्या कबीर को भी चाटु-धर्म ने ही "दास" से "स्वामी" नहीं बना डाला। शुद्धाद्वैत के उपासकों का भी अष्टछापी मुद्राओं के बिना काम नहीं चला। तात्पर्य यह है कि सब धर्मों से बड़ा चाटु-धर्म। भक्तिवाद का तो उसे प्राण ही समझिये। वह विशुद्ध भारतीय संस्कृति की चीज़ है क्योंकि भक्त और भगवान का गहरा नाता वहाँ भी है। अंतर केवल यह है कि आज देवता का स्थान मनुष्य ने ले लिया है। वही भक्त है, वही भगवान। यही सच्ची सहज साधना है। यही नया अद्वैतवाद है। भारतवर्ष ने किसको नहीं पूजा है। उसके अवतारों में मत्स्य, वराह, कूर्म, नृसिंह भी हैं। अश्वत्थ-पूजा और नागपूजा से कौन परिचित नहीं है। अपनी स्थिति के प्रति शंका से भय का जन्म होता है और भय के शमन के लिए ग्रहों की शांति चाहिये। अस्थिर युगों में अष्टग्रही-योग निरंतर लगा रहता है और यज्ञ-याग के द्वारा हम निसर्ग के आतंक से बचना चाहते हैं। ऐसे समय में भी चाटु-धर्म ही काम देता है और पंडों-पुरोहितों के द्वारा हमारी बलि आकाश के उपद्रवी देवताओं तक पहुँचती है। जो देवता बनना चाहते हैं वे ये भी जानते हैं कि हमारे भीतर की धरती कैसे हिलाई जाए। अपने व्यक्तित्व के प्रति दुर्बल और अपनी स्थिति के प्रति शंकालु होकर ही हम शरणागत होने का सौभाग्य पा सकते हैं। इसीलिए चाटु धर्म के प्रेमियों से मेरा निवेदन है—"दीन बनो क्योंकि तुम्हारी दीनता

में ही देवता का जन्म होगा।" गीता में भगवान कृष्ण ने "संभवामि युगे-युगे" का आश्वासन ग़लत नहीं दिया है। नए बौद्धिकों का धर्म हो चाटु-धर्म क्योंकि उसमें दैन्य की पूरी गुंजाइश है और वाचालता लोकतंत्र का मूलाधार है। हमें आचरण नहीं, चरण चाहिये।

चाटु-धर्म के दो ध्रुव हैं, एक है चाटुकार और दूसरा चाटुप्रिय। दोनों के बीच में है पहले की आत्महीनता और भीतरी संक्रांति तथा दूसरे की महत्वाकांक्षा। बांधने वाला सूत्र है शब्द क्योंकि सूक्ष्म को सूक्ष्म ही बांध सकता है। धन और शक्ति का आकांक्षी और उनके अभाव से ग्रस्त चाटुकार किसी का पल्ला पकड़ कर आत्महीनता को आत्मगौरव में बदलना चाहता है परन्तु जिस आत्मगौरव का वह आकांक्षी है वह पहले उच्चरित शब्द के साथ ही नष्ट हो जाता है। प्रणति, दासत्व, आत्महीनता और साष्टांग बन्दना के बदले में उसे धारणा की शक्ति नहीं मिलती, आराध्य की शक्ति की छाया मिलती है जो मरु-मरीचिका भी सिद्ध हो सकती है। सच तो यह है कि व्यक्तित्व की स्वतंत्रता का वहन करना दासता के बोझ के ढोने से कहीं कठिन है और इसी प्रकार अपनी सर्जनात्मक प्रतिभा पर टिकना धन और शक्ति के पीछे दौड़ने की अपेक्षा कहीं अधिक दुष्कर होता है। परन्तु अपनी आत्मा को बेच कर हम आत्महंता ही बन सकेंगे, व्यक्तित्व का सूर्य आत्मप्रवंचना और वाग्छल के गहरे कुहरे में ढका ही रहेगा। प्रश्न यह है कि क्या व्यक्तित्व हमें चाहिये ? क्या अहंता का नाश ही ब्रह्मानुभव का प्रथम सोपान नहीं है ? चाटु-धर्म आत्मसमर्पण और निवेदन नहीं तो क्या है ? हम उसे नया उपनिषद् क्यों न कहें ?

अभी दिल्ली दूर है

भवानी भट्टाचार्य की एक बहुप्रशंसित पुस्तक है—"ही हू राइड्स आन ए टाइगर।" शेर पर जो चढ़ गया वह उतरने से लाचार है। उतरा और मुँह में गया। दिल्ली की स्थिति भी कुछ ऐसी ही है। वैसे उसे एक विशाल कार्निवाल भी कह सकते हैं जो दिन भर और रात के कई घण्टे चलता रहता है। इसमें एक ओर योग, ऐश्वर्य, विलास और चमत्कार है तो दूसरी ओर महान कदर्थना, अपार आत्महीनता। सब कुछ नियमबद्ध जैसे "ताश का देश" हो। गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ने ताज के देश की इस माया को जाना था। तभी तो उन्होंने अपनी प्रतीकवादी शैली में व्यंग-विनोद के साथ वह सब कह डाला जो आज अणु-युग के इन दानव-महानगरों में प्रतिविंवित हो रहा है। कहते हैं गति इस युग का धर्म है। वह गति दिल्ली में पूरी है, प्रगति चाहे हो या नहीं हो। गतिधर्मा कलियुग सदैव ही शेर पर सवार रहता है। उसे बैठने का अवकाश ही कहां है?

सुना है कि दिल्ली की भी संस्कृति है। परन्तु सतही ढंग से देखने पर संस्कृति का पता नहीं लगता क्योंकि यहां मिश्रण है, रासायनिक योग नहीं है। दौड़ने में जितने संस्कार बटोरे जा सकते हैं, दिल्ली उन्हें बटोरती है और बिखेरती हुई दौड़ती हुई भागी चली जाती है। उसे इतना अवकाश कहां कि ठहरे और देख ले कि कन्था में क्या है, कहां है, कैसा है। इस व्यामिश्र संस्कृति में हम कहां हैं इसका पता भी नहीं होता क्योंकि सभी प्रांतों, जनपदों, वर्गों, संप्रदायों बड़े-छोटे बाबुओं और अफ़सरों का रस यहां छन कर महापान बन जाता है। सच तो यह है कि दिल्ली प्रभुसत्ता है और उसकी संस्कृति प्रभुसंस्कृति है। वह चौंधिया देती है, आतंकित कर देती है, परन्तु उसके प्राणों में ऊष्मा अधिक है, प्रकाश कम है। भिन्न-भिन्न धर्मों, देशों, संस्कृतियों और विभिन्न कालों से पौधे ला कर इस शीशमहल में रोप दिये गये हैं और सब बौने बन कर जापानी बनस्पति-शास्त्री की कलाकृति बन गये हैं। अजीब-सा लगता है। इस प्रभु-संस्कृति की भी अपने यहां एक परम्परा रही है—गुप्तयुग की संस्कृति या

मुग़ल-संस्कृति के रूप में उनकी बराबर प्रशंसा की जाती रही है। परन्तु कुंभनदास ने मुग़ल-ऐश्वर्य से जुगुप्सा दिखलाते हुए गाया था—"संतन को कहा सीकरी सो काम" ? उनकी अपनी संस्कृति थी, संत-संस्कृति या लोक-संस्कृति जो आत्मा को देखती है देह को नहीं। मैं सोचता हूँ आज भी इसी प्रकार दो संस्कृतियां उभर रही हैं और हमारी कल्याण-योजनाएँ अथवा नागर-ग्रामीण समाज के बीच की खाई पाटने की बात भ्रामक ही है। खाई पटती कहां है ? वह तो बढ़ती ही जाती है। आखिर संस्कृति के मूलाधार तो मानव-मूल्य ही है, परन्तु महानगरों में मानव-मूल्यों की रक्षा न गुप्त-मुग़ल-युग में हो सकी होगी, न आज के युग में सम्भव है। तभी तो मुग़ल-वैभव को तुच्छ बतलाते हुए तुलसी बाबा ने ढोल की पोल खोल कर रख दी। "कवितावली" में उन्होंने मुग़ल-समृद्धि का ख़ाका यों खींचा है :

किसबी, किसान-कुल, बनिक, भिखारी, भाट,
चाकर, चपल नट, चोर, चार, चेटकी।
पेट को पढ़त, गुन गढ़त, चढ़त गिरि,
अटत गहन-बन अहन अखेट की ॥
ऊँचे नीचे करम धरम अधरम करि,
पेट ही को पचत बेंचत बेटा बेटकी।
तुलसी बुझाइ एक राम घनश्याम ही तें,
आगि बड़वागि तें बड़ी है आगि पेट की ॥

(उत्तर, ९६)

आज भी क्या यह ख़ाका सत्य नहीं है। यह देश के स्वातंत्र्य-पारतंत्र्य का प्रश्न नहीं है, प्रश्न है जीवन-मूल्यों का। हम किन जीवन-मूल्यों को स्वीकार करते हैं, यह हमें देखना है। प्रभुसत्तात्मक ऐश्वर्य-विलासमयी नागर-संस्कृति हमारा लक्ष्य है या जनसत्तात्मक नीति-सौहार्द्यमयी जन-संस्कृति। यह ठीक है कि प्रभु-सत्ता से घबड़ा कर लोक परलोक की ओर देखने लगता है और उसकी सहज जीवन-चेतना कुंठित हो जाती है। गुप्त-युग की लोक-संस्कृति पुराणों में मिलेगी और पुराणों के कलिवर्णनों में साम्राज्यों के थप्पन-उथप्पन का जो व्यौरा मिलेगा, वह बड़ा लोमहर्षक है। वाह रे कालिदास, रघुवंश के महान ऐश्वर्य में गुप्त-युग का अमृत तो तुमने हमें दिया परन्तु विष छिपा ही गये।

हाँ, गुप्त-सम्राटों की अपार मर्म-निष्ठा और नैतिक चेतना में एक कल्पित स्वर्ग या मनोमय राष्ट्र तुमने अवश्य खड़ा कर दिया। परन्तु क्या सचमुच प्रभु-संस्कृति में रघु और दिलीप पनप सकते हैं ? क्या इस महार्घ, उच्चस्तरीय तथा निर्गन्ध पुष्प जैसी संस्कृति का न्याय पग-पग पर कुंठित नहीं होता, धर्म क्षण-क्षण अधर्म से समझौता नहीं करता। मुझे लगता है कि नागर और लोकसंस्कृति के बीच की खाई न कभी पटी है, न पटेगी क्योंकि दो विरोधी समानान्तर रेखाओं से ही वे आगे बढ़ सकती हैं।

गुप्तयुग ने पुराण लिख कर गुप्तों की स्वर्ण-संस्कृति को चुनौती दी तो मध्ययुग के मुग़ल वैभव में तुलसी ने गम्भीर उद्‌घोष किया कि जो चमकता है वह सदा कंचन नहीं होता और कांचन संस्कृतियाँ कमल-संस्कृतियां नहीं हैं। ये कमल झूठे हैं, सोने के हैं, इनमें रूप है, गंध नहीं। इनके आगे और सब अकिंचन बन जाता है। कांचन संस्कृति का वैभव कालिदास में मिलेगा तो अकिंचन-संस्कृति का अपार सहज सौन्दर्य तुलसीदास में। कमल और गुलाब को सोने में ढाल कर हम कैसे आशा कर सकते हैं कि उनमें जीवन पनपे, गंध उमड़े, भौंरे आयें और रस पियें। हमारे महानगर विशाल स्थलपद्मों की भांति निर्जीव पड़े हैं। उनमें सुषमा नहीं जागती, प्रणय का सहज व्यापार नहीं चलता।

सोचता हूँ, यह देश भी क्या विचित्र है जो अपने भीतर कथनी-करनी, ऐश्वर्य-त्याग, प्रभुत्व और जनत्व की एकदम विरोधी परंपराएँ सिमेट कर बैठा है और इस विडम्बना से ज़रा भी नहीं घबड़ाता। एक ओर वात्स्यायन का काम-सूत्र और कालिदास से बिहारी तक भोगविलासपरक देश की कहानी मुखरित है तो दूसरी ओर उपनिषद, गीता, भागवत, पुराण और संत-साहित्य आत्मा के चिन्मय अमरत्व को उद्‌घोषित करते हैं और दिग्विजयी महाप्रतापी छत्रपति सम्राटों के साथ-साथ सर्वत्यागी, अनाकांक्षी, वीतरागी आत्मशोधियों की परंपरा भी याज्ञवल्क्य-रैक्व से गांधी-अरविंद तक प्रसारमयी है। देह के अपरि-सीम उत्कर्ष के साथ-साथ आतमा का अक्षय वैभव हमने जाना है और जनक-अशोक-प्रताप जैसे धर्मप्राण, विदेह और संत सम्राटों को भी हमने जन्म दिया है। ये सम्राट् केवल भारत में ही संभव हैं, अन्यत्र नहीं क्योंकि यहाँ राजा धर्म का प्रतीक माना गया है और धर्म का श्रेष्ठतम स्वरूप संत में पल्लवित है। रामराज्य में इसी धर्मश्रेष्ठता की कल्पना मूर्त्तिमान है। राम का राज

अर्थात् धर्म का राज क्योंकि राम मूर्त्तिमान धर्म हैं। इससे इतर जो है वह कलि है। अपने इतिहास में बार-बार इस कलि ने सिर उठाया है और धर्म ने उसकी चुनौती स्वीकार कर उसे ललकार दी है। "यदायदाहि धर्मस्य" गीता का श्लोक थोथा आश्वासन मात्र नहीं हैं, वह शंकराचार्य जैसे ज्ञान-मार्गियों, तुलसी जैसे साधकों, कालिदास जैसे कवियों और अशोक-गांधी जैसे राजनीतिज्ञों में देशकालभेद के अनुसार चरितार्थ होता रहा है। आज की प्रभुसत्ता जन-सत्ता है तो उसमें जन-संस्कृति का श्रेष्ठतम प्रतिबिंबित होना आवश्यक है। लोकधर्म सा संतधर्म राजधर्म बन जाये तो हमारी अनेक समस्याऐं अप्रयास ही हल हो जायें। परन्तु ऐसा हो नहीं रहा। पश्चिम की भोगपरक संस्कृति हम पर हावी हुई जा रही है और हम बड़ी तीव्रता से कोकाकोला-हूलाहूप-स्काईस्क्रेपर संस्कृति अपना रहे हैं। दिल्ली की जगमगाहट, अशोक होटल और प्रस्तावित चालीस-मंज़िला इमारतें इसका प्रमाण हैं। अमरीका की भांति हम भी धरती से विद्रोह कर आकाश की ओर उठने के लिए प्रयत्नशील हैं परन्तु डर यह है कि कहीं हमारी यह नई सृष्टि नये विश्वामित्र की सृष्टि न बन जाये और हम अंत में त्रिशंकु बन कर महाशून्य में उलटे न लटकें। सोचने-समझने की बात है। भारत ने धरती का प्यार बटोरा है, प्रकृति को अपना हृदय दिया है। यहाँ ज़मीन कोलतार से मढ़ी नहीं जाती और काले रिबन की तरह फैली हुई जिह्न सड़कों का जाल मकड़ी के जाले नहीं बुनता। हमारे बाल्मीकि और वाणभट्ट महाकांतारों, अट्टवियों और महाशैलों में जीते हैं और तुलसी जैसा संत कवि चित्रकूट की प्राकृतिक सुषमा पर मुग्ध है। यहाँ आम्रकुंज लगाये जाते हैं, काँच के पौधे नहीं सजाये जाते।

परन्तु क्या यह कथन आज भी उसी मात्रा में सत्य है ? क्या हम उधार की संस्कृति की एक विषबेलि भारतवर्ष में नहीं बो रहे हैं ? क्यों हमारे नगर जनसंकुल हुए जा रहे हैं और हम उन्हें उपवनों, राष्ट्रीय पार्कों तथा कृत्रिम झीलों-पर्वतों से ढक नहीं पाते ? क्या हम ईंटों-चूने के बहुभुजी समकोणी विस्तार पर मुग्ध होकर खजुराहो से ताजमहल तक की सारी उपलब्धियों को नहीं भुला बैठे हैं और क्या हमारे भीतर उसी प्रकार मरुभूमि का आतंक बढ़ता नहीं जा रहा है जैसा दिल्ली को चारों ओर से घेर रहा है ? हम

असंपृक्त द्वीप बने जा रहे हैं, या छोटे-छोटे मरुखण्ड जो कोढ़ की तरह राष्ट्र-देह को क्षत-विक्षत कर रहे हैं और अशोभन बन रहे हैं। मूल्यहीन मानव-जीवन मरुभूमि ही तो है जहाँ जीव माया में लिप्त होकर कलुषित हो जाता है, जैसे "भूमि परत भा डाबर पानी।" आस्थाप्राण मूल्यवान जीवन का शाद्वल आज हमारे भीतर जन्म ही नहीं ले रहा है। फलतः आज हमारा राष्ट्रीय जीवन निर्माल्य का पुष्प न होकर कागज़ का फूल रह गया है। हमारी चेतना की भूमियाँ अनुर्वर, प्यासी तथा कंटकाकीर्ण हैं। उन्हें हम घृणा, आवेश तथा हिंसा के मठ्ठे से सींचते हैं और हमारी भावना के रहे-सहे दूर्वा-दल भी आंतरिक ऊष्मा से मुरझाये जा रहे हैं।

कहानी सुनी थी कि दिल्ली "ढिल्ली" ही रह गई क्योंकि मंत्रपूत कीली ठीक शेष नाग के मस्तक के मध्य में नहीं बैठ सकी। अनेक प्रयत्न हुए और हमारी शंकाएँ बार-बार हम पर जीतीं। बार-बार महाकाल विचलित हुए और उनके "शतशतफेनोच्छ्सित स्फीत फूत्कार" घूर्णमान अंबर में जड़ीभूत होकर रह गये। प्रश्न है कि क्या आज की दिल्ली ढिल्ली ही रहेगी ? राजघाट की समाधि के नीचे सत्य को दफ़ना कर हम किस वजरंग की उपासना करने जा रहे हैं ? क्या हमारे मानव-मूल्य उपनिषद्, गीता और गांधी के मूल्य हैं ? क्या हमारे नीराजन हमारे मनःतप से पूत और भावनैवेद्य से निर्मल हैं ? नई दिल्ली का वैभव-शिल्प क्या अलात-चक्र की तरह छलना-मात्र नहीं है ? आखिर हम अपने महाराष्ट्र के केन्द्र में इस गंधर्वनगर की रचना क्यों करते जा रहे हैं ? ये कुछ प्रश्न हैं जो दिल्ली हमसे पूछती है। "दिल्ली चलो" का नारा लगाते हुए जो शत-सहस्त्र सत्याग्रही जन बलिदान, त्याग और तपस्या की महती प्रेरणाओं से अभिमंत्रित होकर कभी देश के कोने-कोने से चल पड़े थे, वे आज पूछते हैं कि दिल्ली कहां है। क्या यही दिल्ली है ? उनका मन मानना नहीं चाहता कि यही दिल्ली है क्योंकि दिल्ली को जिस राष्ट्रीय संस्कृति का प्रतीक होना चाहिये था, वह संस्कृति यहाँ कहां है ? जहाँ सभी सिंहासनीय हैं, गरुत्मान हैं, वहाँ काल-प्रवाह में विभ्रम के भंवर ही पड़ेंगे, शांति, सत्य और अहिंसा का ताना-बाना कैसे बुना जा सकेगा ? जो देखा है उससे चमत्कृत होकर हम इस महाप्राण महानगरी के प्रति नमस्कृत अवश्य हैं, परन्तु अपने मन की दिल्ली (जो "ढिल्ली" न हो) अभी हमें नहीं मिली है। अभी दिल्ली दूर है।

खिड़कियां खोल दो

भारतीय काव्य-कक्ष में दो बड़े द्वार हैं—महाभारत और रामायण। २५०० वर्ष पहले व्यास और बाल्मीकि ने ये दो बड़े द्वार खोले थे। इन द्वारों से बह कर आये हुये मलय-पवन ने इस कक्ष को शताब्दियों बाद तक सुगंधित बनाए रखा है और अब भी इनकी सुगंध कम नहीं हुई है। इन द्वारों से भारतीय आर्य-मनीषा ने संसार की ओर झांकने की ही दृष्टि हमें नहीं दी, स्वयं अपने भीतर देखने की दृष्टि भी हमें दी। व्यास ने जीवन के यथार्थ स्वरूप को अखिल भारतीय विस्तार के साथ प्रस्तुत किया और प्रवृत्तियों के महान द्वन्द्वों एवं अंतश्चेतनीय वासनाओं की इन्द्रजाली विधाओं को महा-काव्यात्मक दीर्घाकार देकर सामने रखा। परन्तु महाभारत के बाद उन्होंने पंच पांडवों को उत्तर हिमालय में गलने के लिए छोड़ दिया और कृष्ण तथा भीष्म पितामह के मुख से प्रवृत्तियों के परिष्कार एवं अनासक्त कर्म के द्वारा मानव-जीवन को धर्म-संस्कार देने का श्लाघ्य प्रयत्न किया। भयंकर अनैतिकता पर नैतिक तत्वों एवं मानवीय आदर्शों की विजय ही व्यास का महान संदेश है। आज भी इस खुले द्वार से गीता और अणुगीता तथा अनेकानेक आख्यानों-उपाख्यानों के रूप में यह धर्म-संदेह हमें मिल रहा है। धर्म, दर्शन, चरित्र और काव्य के इस महावन में क्या नहीं है? जो यहां नहीं है वह कहीं भी नहीं है। परन्तु जो है उसके ऊपर व्यास के ये व्यथा-जड़ित शब्द ध्वनित हैं: ऊर्ध्वबाहु होकर कहता हूँ, धर्म के सिवाय और कुछ भी सत्य नहीं है परन्तु मेरी कोई भी नहीं सुनता, कोई भी नहीं सुनता। धर्म के लिए यह व्यथा ही महाभारत का प्राण है। दूसरा द्वार बाल्मीकि ने खोला जो "आदिकाव्य" के रूप में प्रसिद्ध हुआ। यह द्वार अयेक्षाकृत कम चौड़ा है। इसमें पच्चीकारी अधिक है। इस द्वार में होकर मलय जो गंध लाती है वह गंधमादन के पारिजात पुष्पों की मादक गंध नहीं है, भारतीय गृहस्थ के आंगन में श्रद्धा के थाले में सहज भाव से स्थापित तुलसी के बिरवे की भीनी-भीनी सुगंध है। सत् और असत्, तम और ज्योति, राक्षसत्व और देवत्व के महान संघर्ष की परिणति विजिगीषा और तज्जन्य अवसाद में नहीं, लोकधर्म और

राजधर्म के पालन और पारिवारिक कर्त्तव्यनिष्ठा में हुई है। राम-सीता के दाम्पत्य प्रेम की मूर्त्तिमान कर बाल्मीकि ने प्रेम, बलिदान और त्याग की उच्छृंखल और एकांतिक भावना को वह मर्यादा दी जो गार्हस्थ्य जीवन-दर्शन के रूप में भारतीय संस्कृति का मेरुदण्ड है। इस द्वार से चरित्र, जीवन-व्यवहार और काव्य की त्रिधाराएं बही हैं और भारतीय संस्कृति पुरुष की ऊर्ज्वस्वित महाप्राणता और कल्याणी नारी के अप्रतिम आत्मबलिदान से परिचित हुई है। ये दोनों द्वार संपूर्ण भारतीय इतिहास में कभी भी बंद नहीं हुए और सांस्कृतिक मूल्यों के विघटनशील युगों में इन द्वारों पर से झाड़-झंकाड़ हटाए गए हैं और प्रत्येक बार मलय-गंध नए आत्मविश्वास, नई चारित्रिक दीप्ति और नवीन प्रतिभा से संपन्न हुई है। कालिदास, मारवि, माघ, भवभूति, तुलसी और हमारे अपने युग में माइकेल मधुसूदनदत्त से मैथिलीशरणगुप्त तक इन द्वारों से मलयगंध के झकोरे पाते रहे हैं। आधुनिक हिंदी काव्य ने भी "कुरु-क्षेत्र", "अशोकबन" और अंधा युग" जैसी रचनाओं के रूप में इन द्वारों को खोले रखा है यद्यपि इन द्वारों से संपूर्ण लाभ हमारी नई पीढ़ी नहीं उठा सकी है।

हमारे काव्य-कक्ष में बहुत प्राचीन काल में कुछ खिड़कियां भी खुली थीं। इनमें से कुछ व्यास-बाल्मीकि से पहले ही खुली थीं और इन दोनों ने उनसे बाहर झांका अवश्य था। ये दोनों वैदिक और उपनिषिदिक काव्य की खिड़कियां हैं। इनमें विशुद्ध काव्य-तत्व नहीं है, परन्तु धर्म और दर्शन की सूक्ष्मतम प्रेरणाओं को काव्य का रूप मिला है। जिन भूमियों को ये काव्य छूते हैं वे विश्व-काव्य-साहित्य में कम ही दिखलाई पड़ती हैं। उनमें उच्च-तम आध्यात्मिक भूमियों पर कवि-मानस का अबाध और अप्रतिहत संचरण है। इनमें से वैदिक काव्य वाली खिड़की तो पहले ही बंद हो गई थी। कालिदास ने इस खिड़की के भीतर झांका था, ऐसा नहीं जान पड़ता। १६ वीं शती में आचार्य सायण ने इस खिड़की को खोलने का प्रयत्न किया परन्तु वह धर्म, दर्शन और काव्य की उतनी ऊंची संहृति तक उठ ही नहीं सका। वह अर्थवाद तक ही सीमित रह गया। वर्त्तमान युग में योगी अरविन्द ने इस खिड़की को खोलने की कुंजी हमें दी है, परन्तु क्या हम उसका उपयोग कर सके हैं।

दूसरी खिड़की उपनिषदों की है जो सत्य के आलोक से दैदीप्यमान है। यह प्राची दिशा में खुलती है और अद्वैत ज्ञान के तेजस्वी प्रभात-सूर्य की किरणों से अनुरंजित है। कुछ लोग इसे काव्य की खिड़की मानने के लिए तैयार नहीं हैं परन्तु सत्य के इस हिरण्यगर्भी आलोक को उस पुरुष का वरदान प्राप्त है जिसे "रसो वैः सा" कह कर राग की तंत्रियों में बांध दिया गया है। प्रतीक-रूप से पुराण, काव्य, धर्म और दर्शन इसी एकर्षि का ही प्रकाश है, इसे कौन अस्वीकार करेगा। इस खिड़की में रंग नहीं छनते, एकमात्र उज्ज्वल आत्मा का वर्ण प्रतिभासित होता है जिसकी कोई जाति नहीं, वर्ण नहीं, लिंग नहीं। यह आयौनज प्रकाश क्या काव्य की सर्वोत्तम दीप्ति नहीं है। राजपूत-युग में शंकराचार्य ने और इस्लामी भारत में रामानुज, मध्व, रामानन्द, कबीर, दादू और नानक ने इसी खिड़की को खोलकर कुंठा और अवसाद की सड़ांध को दूर किया था। सूर और तुलसी की सगुण भक्ति भी आत्मा के इसी अनावृत्त सौन्दर्य को रूप और लीला में बांधती है। हमारे अपने युग में राममोहनराय, तिलक, गांधी, भावे और योगी अरविंद जैसे कर्मयोगी इसी खिड़की के नीचे विश्राम पा सके हैं और महाकवि रवीन्द्रनाथ के काव्य में इसी खिड़की से आने वाला दक्षिण पवन नव जागरण की रहस्योन्मुख गुंजार बन गया है। नवीन युग की गीतांजलि में उपनिषद् का सत्य ही कविता की रंगीनी में बँध गया है।

संस्कृत महाकाव्यों, खण्डकाव्यों और मुक्तकों ने अनेक खिड़कियों और झरोखे खोले जिनमें होकर उत्कृष्ट और महत् काव्य, संगीत और स्वप्न के रंग-विरंगी विहग इस कक्ष में घुस आये और अनेक विचित्र ध्वनियों ने भारती-मंदिर मुखरित हो उठा। इन खिड़कियों और झरोखों की शोभा अद्भूत है और इनमें कला तथा अलंकृति का श्रेष्ठतम आदान हमें मिलेगा। इनमें महार्घतम कालिदास की कृतियां हैं जो भारतीय मन के सौन्दर्य की अप्रतिम झांकी प्रस्तुत करती हैं और रागात्मकता के परिष्कार के साथ तप और त्याग के द्वारा आत्मा के उन्नयन का मंत्र हमें देती हैं। बाद के युगों में जो भी खिड़-कियां खुलीं, जो झरोखे बने उनमें सज्जा अधिक थी, रंगीन परदे पड़े थे, काट-छांट थी परन्तु उनके बाहर झांकने पर कुछ नवीन दृश्य दिखलाई पड़ें जो हमारी मौलिकता को चुनौती दें, ऐसा नहीं था। इन खिड़कियों को खोलने

वाले कलाकार-कवि राजसभाओं के व्यवहार से परिचित सुधी पण्डित थे जो वात्स्यायन के "कामशास्त्र" और भामह, मम्मट, वामन, आनन्दवर्द्धन जैसे आचार्यों के काव्यशास्त्रों से छैनी का काम ले सकते थे और जिनकी तूलिका में उन्मुक्त विलास और कुतूहली जीवन का विद्रुमी रंग था।

दसवीं शताब्दी के बाद इस महाकक्ष में बहुत दिनों तक कोई नई खिड़की नहीं जुड़ी। हूणों-गुर्जरों, आभीरों-पह्लवों के दल-बादल इस देश पर छा गये और देश का कंठ-स्वर ही बदल गया। आर्ष संगीत के स्थान पर लोककंठ पर आधारित राग-रागिनियों के द्वारा देशी संगीत-कला की सृष्टि हुई। संस्कृत भाषा देवभाषा थी। उसमें समस्त महादेश के असंख्य प्राणियों का समवेत स्वर था। उसमें अपूर्व अभिजात्य था। अप्रतिम उल्लास, साहस तथा माधुर्य। भारोपीय भाषा की यह जेठी कन्या धर्म, दर्शन, साहित्य और संगीत की भाषा बन कर दिग्विजयिनी बन गई थी। सहसा पश्चिम की ओर से ववंडर फूट पड़ा जिसमें देश का शताब्दियों से संचित स्वारस्य खो गया। अखण्ड भारतीय चेतना खण्ड-खण्ड हो गई। आचार्य और राजपंडित आश्रयहीन हो कथावाचक बन कर ग्रामों में बिखर गये और पुराण-धर्म को ही सब कुछ मान बैठे। छोटी-छोटी एकदेशीय भाषाएँ खण्ड चेतना का प्रतीक बनीं। इन एकदेशीय अथवा जनपदीय भाषाओं में प्रारंभ में ऐसी सामर्थ्य नहीं थी कि वे भारतीय सांस्कृतिक चेतना के प्रकाशन का माध्यम बन सकतीं। उनमें आर्य संस्कृति में सद्यःदीक्षित यायावरीय जातियों का उल्लास, स्वच्छंद प्रेम-विहार, अमर्यादित शौर्य तथा प्रचण्ड साहस मुखरित हो रहा था। वज्रयान, शक्ति-वाद और जैनधर्म के नवीन समारंभ में इन एकदेशीय जनपदीय भाषाओं ने योग दिया परन्तु सार्वभौमिक स्वरूप इन्हें नहीं मिल सका। ५०० वर्षों के इस सुविस्तृत काल में भारती-कक्ष के द्वार बंद रहे और खिड़कियों पर परदे पड़े रहे। सार्वदेशिक संस्कारी जीवन का स्थान स्थानिक लोकजीवन ने ले लिया। इन कवियों की भाषा अपभ्रंश थी जिसने बाद में "षट्भाषा" के रूप में एक नया आदर्श अपने पीछे छोड़ा जिसकी परंपरा हिंदी के डिंगल अथवा चारण काव्य में सुरक्षित है। फल यह हुआ कि काव्य और साहित्य पण्डितों के घेरे में से बाहर निकल कर साधु-संन्यासियों, योगियों और बौद्ध-जैन साधकों के बीच में पहुँचा। वह आत्मा के विकास का साधन न रह कर

प्रचार मात्र का साधन रह गया। आश्चर्य होता है कि क्या यह कालिदास के देश का साहित्य है। परन्तु इस साहित्य में भी एक जीवंत चेतना है जो रूढ़ियों के विरोध में चुनौती की लुकाठी लेकर खड़ी हो जाती है और "सब के ऊपर मानव है" इस सत्य का उद्घोष करती है।

मध्ययुगीन हिंदी भक्ति-काव्य को यह श्रेय प्राप्त है कि उसने परंपरा की बंद खिड़कियाँ फिर एक बार खोल दीं और पाँच शताब्दियों बाद फिर संस्कृत काव्य के आदर्शों, स्वप्नों और अवचेतनीय स्वरों को रूप-रंग दिया। तुलसी, सूर और हितहरिवंश जैसे कवि-साधकों ने उपनिषद्, पुराण और संस्कृत काव्य की खिड़कियों से दिखलाई पड़ने वाले आकर्षक संसार से प्रेरणा ग्रहण की परन्तु सभी बंद खिड़कियाँ ये महामनीषी भी नहीं खोल सके। जो हो, स्वयं इन्होंने नई खिड़कियाँ अवश्य खोलीं। सूर, तुलसी और मीरां ने अपने आत्मनिवेदन को नये युग का चमत्कार बना दिया। उन्होंने अनंत आकाश में फैली हुई विस्तृत नीलिमा और उसमें झलमलाने वाले असंख्य नक्षत्रों तथा सहस्रों प्रकाश वर्ष दूर नीहारिकाओं की ओर हमारी दृष्टि उन्मुक्त की। ये झरोखे ठीक हमारे शीश पर खुले और इन्होंने बंद कक्ष को अलौकिक माधुर्य एवं अपार्थिवक परोक्ष-प्रकाश से आप्लावित कर दिया। महाकाश के महानंद को वाणी में बाँधने वाले ये श्रेष्ठ कलाकार धन्य थे। इसके बाद रीतिकवियों का युग आया। विलास-विभ्रम में पले हुए राजाश्रयी रीति-कवि ऊपर के आकाश से भय खाते थे, अतः भक्त कवियों द्वारा खोले आत्मा के झरोखे उन्होंने बंद कर दिये। राजवाटिका के पौधे महावन की स्वच्छंद पवन को सह ही कब सकते थे। इन कवियों ने संस्कृत काव्य की अलंकृत खिड़कियों और झरोखों को अपना प्रेम दिया परन्तु बीते युग को लौटाना उनके लिए भी असंभव था। सामन्तों के वे आदर्श ही नहीं रहे थे। ईरान और मध्यएशिया के भोगपरक उपकरणों की बाढ़ आ गई थी। गंभीर रसास्वादन का स्थान राजदरबारों की वाहवाही ने ले लिया था। यमक, श्लेष, अनुप्रास और उत्प्रेक्षा अलंकारों का काव्य में प्राचुर्य था। इन कवियों ने नारी की देश को काम-लिप्सा का विषय बनाया और नायिकाभेद तथा षट्ऋतुवर्णन के रूप में उसके भावों का व्यवसाय किया। उनकी कविता-कामिनी में पतिव्रता स्वकीया का

आत्मसमर्पण नहीं, सामान्या का चटुल भ्रूविलास था। ढाई-सौ वर्षों तक इस वाहवाही की गूँज रही परन्तु इस युग में भी मतिराम, घनानंद, ठाकुर और पद्माकर जैसे रससिद्ध कवि इस महाकक्ष में आये जो नारी में अतीन्द्रिय सौन्दर्य देख सके और जिनके विरह के गीत "प्रेम की पीर" में डूब कर नावक के तीर बन गये थे।

आज ये सब खिड़कियां बन्द हैं। भक्तिकाव्य लांक्षित है। रीतिकवि हमारी आत्मा को नहीं छूते क्योंकि नारी के सौन्दर्य को पहचानने की दृष्टि ही नहीं बची है। उसके अभिजात्य और आंतरिक स्वास्थ्य से हमारी कविता भय खाती है। पहले महायुद्ध के बाद पश्चिमी दिशा में एक नई खिड़की हमने खोली थी। यह "छायावाद" काव्य की खिड़की थी जो पश्चिम के रोमांटिक काव्य, रवीन्द्रनाथ के बंगला काव्य और भक्तिकाव्य के श्रेष्ठ उपकरणों से अलंकृत थी। इसमें विदेशी माल भी लगा था, कदाचित् शिल्प और प्रेरणा अंग्रेज़ीकाव्य से ग्रहीत थे परन्तु आत्मा स्वदेशी थी। राष्ट्रीय जागरण की भावोन्मुक्ति ही जैसे कल्पना और भावना के इस अप्रत्याहित प्रसार में गीतबद्ध हो उठी हो। यह नए मध्यवर्ग का काव्य था। उसमें सामंती युगों का सौन्दर्य भी अपने ढंग पर स्वीकार हो सका था परन्तु उसके केन्द्र में जातिवर्णहीन मूल मानव की सौन्दर्यदृष्टि थी और था विज्ञान-युग की नवीन कर्मण्यता का आह्वान। प्रसाद पंत, निराला और महादेवी का काव्य इस नई खिड़की के चार पटों की सूचना देता है। अनेक छोटे-बड़े कवियों ने इसकी सज्जा की निर्माण किया है और इसके बेलबूटे कई परम्पराओं और क़लमों से समृद्ध हुए हैं।

आज यह खिड़की भी बन्द हो गई है। छायावाद के बाद प्रयोगवाद आया, अर्थात् परम्परा एकदम अस्वीकृत हुई और पश्चिमी काव्यधाराओं तथा वादीय चेतनाओं के आधार पर नए-नए प्रयोग आरम्भ हुए। इसके साथ ही मार्क्सवादी काव्यदर्शन के सहारे प्रगतिवादी काव्य की नींव रखी गई। इन दोनों धाराओं को हम छायावाद के साथ-साथ समानान्तर चलता देखते हैं परन्तु आज इन धाराओं के स्थान पर "नई कविता" का गंगा-जमुनी प्रवाह ही अधिक दिखलाई देता है। नई कविता में सार्वभौमिकता का आग्रह है। कवि ने अपने मन को सब देशों, कालों और परम्पराओं के प्रति उन्मुक्त कर लिया है परन्तु ऐसा

जान पड़ता है कि कक्ष की पश्चिमी दीवार में ही असंख्य छोटे-बड़े झरोखे अधिक खुले हैं जो लारेन्स, रिल्के, काफ़्का, इलियट, ऐज़रा पाउन्ड आदि अनेक कवियों के क्षयी, रुग्ण और आत्मपीड़ित संसार की ओर खुलते हैं। झरोखे बुरे नहीं हैं, परन्तु हमारे सब झरोखे पश्चिम की ओर ही क्यो खुलें। क्या यह स्वास्थ्य का चिन्ह कहा जायेगा ?

मैं यह नहीं कहता कि पश्चिमी दीवार में अभी-अभी खुले ये झरोखे बन्द कर दिये जायें या वहां दस-बीस बड़ी खिड़कियां नहीं खुलें। परन्तु कठिनाई यह है कि हमने ढाई हज़ार वर्षों से खुले हुए कक्ष के दो प्रवेश-द्वारों में ताला लगा दिया है और भारतीय काव्य-परम्परा की सारी छोटी-बड़ी खिड़कियां बन्द कर दी हैं। फलतः कक्ष में बड़ी उमस है, बड़ी घुटन है। पश्चिमी दीवार के ये छोटे-छोटे विचित्र आकार-प्रकार के झरोखे इस घुटन को दूर नहीं कर पाते और बाहर का आकाश तो इनमें से दिखलाई ही नहीं पड़ता। इस स्थिति से उबरना होगा। कविता को नया जीवन देना होगा।

•

खिड़कियां खोल दो। परम्परा की सभी खिड़कियां खोल दो। नहीं तो जितनी भी बन सकें, खोल दो। ये खिड़कियां पूर्व की ओर खुलती हैं और धर्म, दर्शन नीति तथा काव्य के सहस्रों रूप-रंग इनसे बाहर झांकते हैं। उत्तर की ओर नगाधिराज हिमालय के दर्शन होने दो। देश के नव-निर्माण की गगा यहीं से निकल कर बहेगी। इन खिड़कियों से हमें स्वतंत्र भारत की जीवन्त चेतना और अक्षय कर्मण्ता की ओर झांकना होगा। यही नहीं, दक्षिणी पवन का भी हम उन्मुक्त हृदय से स्वागत करेंगे। कुंठा, अवसाद, दुर्नीति और पराजय को अस्वी-कार कर चैतन्य और प्रकाश के सभी स्रोतों का हमें आह्वान करना है।

कवि, खिड़.कयां खोल दो। चारों ओर से, सभी दिशाओं से प्रकाश, पवन और नीलाकाश का प्रवेश होने दो। अपनी परंपरा में भी बहुत कुछ ऐसा है जो महार्घ और संग्रहणीय है। अपने देश के वर्त्तमान को तुम वाणी नहीं दोगे तो कौन देगा। इसीलिए कहता हूँ, वाणी को उन्मुक्त करो, खिड़कियां खोल दो।

———